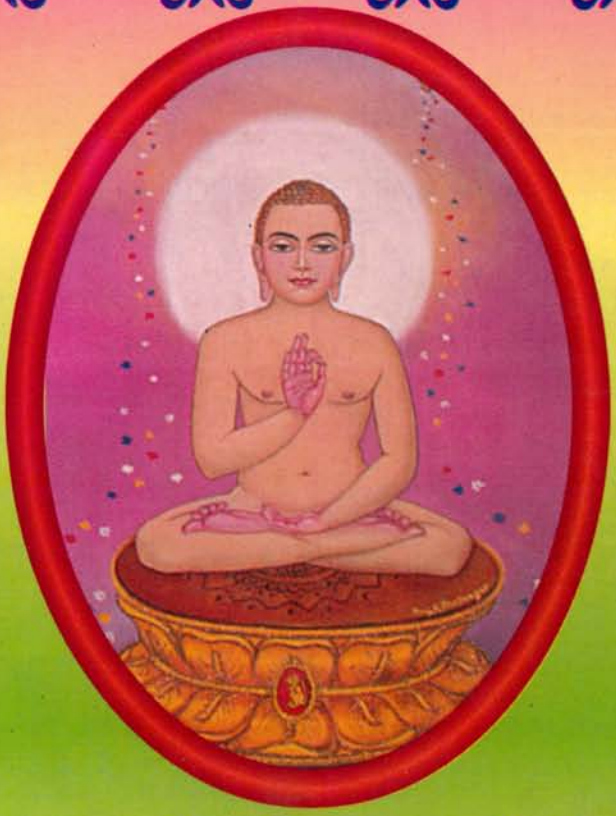

भगवान महावीर की अन्तिम धर्म - देशना

श्री उत्तराध्ययन सूत्र

प्रस्तुति

श्री शुभद्र मुनि

'उत्तराध्ययन सूत्र' भगवान् महावीर की अंतिम देशना है। जैन धर्म का मर्म है। जैन धर्म में इसका वही महत्त्व है जो बादलों में नीर का, पुष्पों में पराग– कोष का एवं दिन के लिए सूर्य का है। जैनत्व का ज्ञान–विज्ञान, आचार–विचार एवं साधना–साध्य आदि सम्पूर्ण ज्ञान यदि कोई जिज्ञासु एक ही स्थान पर समग्रतः प्राप्त करना चाहे तो उसके लिए एक ही शास्त्र ज्ञान–कोष के समान पर्याप्त है और वह है—'*उत्तराध्ययन सूत्र*'।

॥ॐ अर्हं॥

श्री महावीराय नमः

श्री उत्तराध्ययन सूत्र

(भगवान् महावीर की अंतिम धर्म-देशना का हिन्दी अनुवाद)

अनुवाद-प्रस्तुति :

परम पूजनीय संघशास्ता जैन शासन-सूर्य आचार्य कल्प
गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज
के सुशिष्य

श्री सुभद्र मुनि

(विद्या वाचस्पति, महाश्रमण, धर्म प्रभावक, जैनरत्न)

प्रकाशक :

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन
बी-137, कर्मपुरा, नई दिल्ली-110005

- *उत्तराध्ययन सूत्र* : हिन्दी अनुवाद
- *अनुवाद-प्रस्तुति* : विद्या-वाचस्पति महाश्रमण
  गुरुदेव श्री सुभद्र मुनि जी महाराज
- *सम्पादन* : मुनिरत्न श्री अमित मुनि जी महाराज
- *प्रकाशक* : यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, बी-137, कर्मपुरा,
  नई दिल्ली-110015
- प्रथम संस्करण : सन् 1999
- मूल्य : मात्र ग्यारह सौ रुपये
- लेसर टाईपसेटिंग : सिंगला कम्प्यूटर सर्विसेज़,
  एच. पी.-30, पीतमपुरा, दिल्ली
  फोन : 7141196
- मुद्रक : जय भारत प्रिंटिंग प्रेस,
  शाहदरा, दिल्ली-32
  फोन : 2295013

समर्पण

परम श्रद्धेय, प्रातः स्मरणीय, पतित पावन, कृपा-पुरुष,
श्रमण-धर्म के मुकुट, गुरुदेव
योगिराज श्री रामजीलाल जी महाराज
की अहैतुक कृपा ने मुझ लघु को
'उत्तराध्ययन सूत्र' की स्वाध्याय करवा कर
अनुवाद-प्रस्तुति कर पाने योग्य बनाया
उन विश्व-वत्सल मंगल-मूर्ति गुरुवर्य के

एवम्

परम पूजनीय, संघ-शास्ता, जैन शासन-सूर्य, आचार्य कल्प
गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज
की अपार कृपा, मार्ग-निर्देश एवम् अनन्त स्नेह ने
अपनी छत्र-छाया में
'उत्तराध्ययन सूत्र' का अनुवाद-कार्य
सम्पन्न करने का दुर्लभ अवसर मुझे प्रदान किया
उन प्रज्ञा पुरुषोत्तम दीनदयाल गुरुदेव के

पावन वरद् कर-कमलों में
उनके आशीर्वाद का फल
'उत्तराध्ययन सूत्र' का प्रस्तुत संस्करण
सादर
सभक्ति
सश्रद्धा समर्पित है।

—सुभद्र मुनि

प्रातः स्मरणीय गुरुदेव योगिराज

श्री रामजीलाल जी महाराज

(ध्यान एवं स्वाध्याय के प्रतिरूप तथा

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अव्यक्त व्याख्याता)

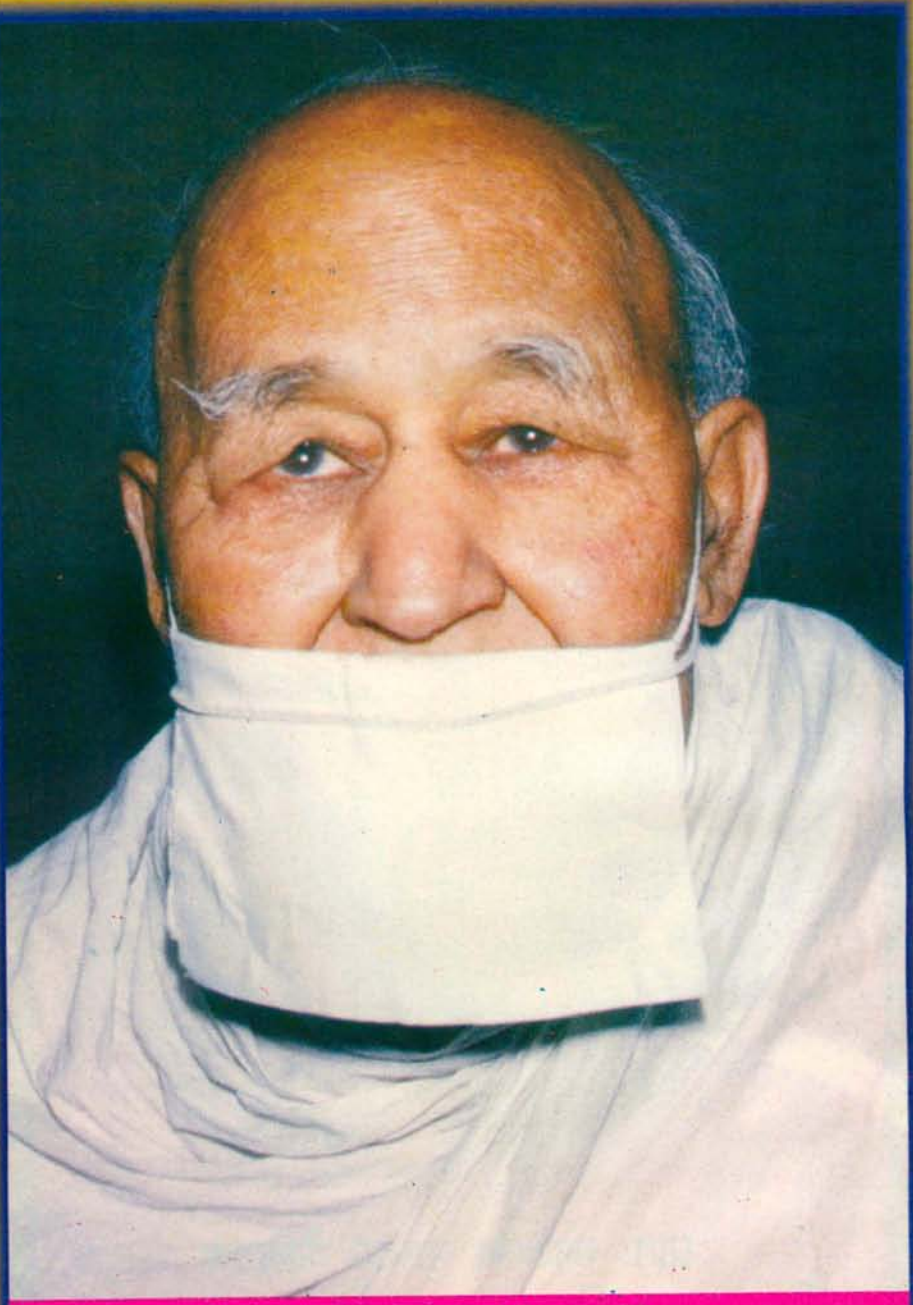

संघ शास्ता शासन सूर्य आचार्य कल्प

गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज

(प्रस्तुत हिन्दी टीका के दिशा निर्देशक)

प्रकाशकीय

'उत्तराध्ययन सूत्र' शासनपति श्रमण भगवान् महावीर की अंतिम धर्म-देशना तो है ही, उनकी सम्पूर्ण देशना का सार-रूप जैन धर्म का प्रतिनिधि आगम भी है। इस एक सूत्र की स्वाध्याय से जैन धर्म को समग्रत: जाना और समझा जा सकता है। अनेक भव्य आत्मायें इसके आधार पर आत्म-कल्याण कर चुकी हैं, कर रही हैं और करती रहेंगीं।

संयम सुमेरु चारित्र चूड़ामणि मुनि श्री मायाराम जी महाराज की पावन स्मृति में प्रस्तुत शास्त्र का प्रकाशन हो रहा है। सर्वविदित है कि मुनि श्री मायाराम जी महाराज का सम्पूर्ण जीवन आगम की व्याख्याओं का साकार रूप था। आगम उनके आचरण में अभिव्यक्ति एवम् जीवन्त हुए थे। उनके संयम की जय-जयकार से विगत पूरी शताब्दी निनादित है।

हमारा इस से बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है कि हमें 'उत्तराध्ययन सूत्र' जैसे महत्त्वपूर्ण आगम को प्रकाशित करने का अधिकार मिला! इसके लिये हम संघशास्ता शासन-सूर्य पूज्य गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज एवम् विद्या वाचस्पति महाश्रमण गुरुदेव श्री सुभद्र मुनि जी महाराज की कृपा-दृष्टि के ऋणी हैं। पाठकगण प्रस्तुत संस्करण से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे, ऐसी हमें आशा है।

—प्रकाशक

आचार्यकल्प संघशास्ता शासन-सूर्य
गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज का

मंगलमय आशीर्वचन

महापुरुष के वचन अमृत से भरे कलश होते हैं। यह अमृत, स्वर्ग से पाताल तक संसार की किसी भी वस्तु में सुदुर्लभ है। यह अमृत मनुष्य को संसार का विष पीने से रोकता है। महापुरुष की वाणी में सम्बोधि का प्रकाश प्रदीप्त होता है। वह संसार के लिए जो कुछ, जितना कुछ बोल गया, वह सब सिमट कर आगम के रूप में अन्तर्हित हो जाता है। तर्क-सम्मत धर्म-ग्रन्थ होता है। मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ सार-तत्व होता है। इस के आधार पर मनुष्य कमल-रूप जीवन का निर्माण करते हुए परम एवम् स्थायी सार्थकता प्राप्त करता है।

साधक के लिए आगम का बहुत बड़ा महत्त्व है। भौतिक शरीर में जो स्थान नेत्रों का है, साधक-जीवन में वही स्थान आगम का है। इसीलिए कहा भी है–'आगमचक्खू साहू'।

इस युग के परम तीर्थंकर भगवान् महावीर की परम धर्म-देशना है–'उत्तराध्ययन सूत्र'। यह पृथ्वी पर खड़ा प्रकाश-स्तम्भ है, जो अन्धकार को दूर कर मनुष्य के परम मार्ग को प्रकाश से स्पष्ट करता है। इसके प्रकाश से मनुष्य के मार्ग का कण-कण आलोकित हो उठता है। भ्रमित होने की प्रत्येक आशंका समाप्त हो जाती है। साधक के साध्य तक पहुंचने की प्रत्येक सम्भावना उजागर होने लगती है।

श्रमण-धर्म के मुकुट प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद गुरुदेव योगिराज श्री रामजीलाल जी महाराज की अदृश्य अनुकम्पा से प्रेरित हो कर सुभद्र मुनि ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' का यह हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने का सद्प्रयत्न किया है। आगम-प्रस्तुति की अन्य योजनायें भी उसने अपनी सजग आस्था से बनाई हैं। उसका श्रम फलीभूत हो, आगम की यह प्रस्तुति प्रभावक हो, और अपने पूर्वजों की कीर्ति-परम्परा को वह अपनी सम्यक् सक्रियता से सदैव गौरवान्वित करे, ऐसी मेरी भावना है। मेरा यह आशीर्वाद उसके साथ है।

–मुनि रामकृष्ण
(संघशास्ता)

गुरु-परम्परा

शासनपति श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से यात्रा करता हुआ वर्तमान तक पहुंचा। उस ज्ञान के गौरव-शिखर 'उत्तराध्ययन सूत्र' के प्रकाशन के पावन अवसर पर उस महान् गुरु-परम्परा के चरण-कमलों में अत्यंत कृतज्ञतापूर्वक नमन करना अपेक्षित भी है और वांछनीय भी। प्रस्तुत परिचय इस नमन-भाव का ही रूप है।

आचार्य सुधर्मा स्वामी महावीर-शासन के प्रथम पट्टधर थे। आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण इस शासन के सत्ताईसवें पट्टधर हुए। पंजाब मुनि परम्परा में वीर-शासन के छियासीवें आचार्य श्री अमरसिंह जी म. थे।

आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज :

पंचनद की ज्योतिर्मयी श्रमण-परम्परा के प्रभावक आचार्य हुए-श्री अमरसिंह जी म.। छत्तीस वर्ष की अवस्था में गुरुप्रवर पण्डित श्री रामलाल जी म. से संवत् 1898, वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन चांदनी चौंक, दिल्ली में इन्होंने मुनि-दीक्षा अंगीकार की। स्वाध्यायशीलता, धर्माभ्युदय-निष्ठा व समाज-सुधारक तेजस्विता के समन्वित स्वरूप श्री अमर सिंह जी म. ने संवत् 1913, वैशाख कृष्णा द्वितीया को आचार्य पद विभूषित किया। छिहत्तर वर्षीय यशस्वी जीवन जी कर आचार्य सम्राट् ने समाधिपूर्वक देह विसर्जित की। इन के बारह शिष्य हुए, जिन में चतुर्थ थे-श्री रामबख्श जी म.।

आचार्य श्री रामबख्श जी महाराज :

संवत् 1908 में जयपुर में पच्चीस वर्षीय श्री रामबख्श जी ने मुनि-दीक्षा ली। स्वाध्याय के सागर में ज्ञान-रत्न प्राप्त करने का आनन्द निरन्तर पाया। परिणामतः तल-स्पर्शी ज्ञान-गरिमा से आलोकित हुए। पंचनद श्रमण-परम्परा के लोक-विश्रुत महाश्रमण श्री मायाराम जी म. के ये आगम-धारणा-प्रदाता गुरु थे। संवत् 1939 में आचार्य पद पर आसीन हुए और मात्र 21 दिन पट्टधर रह कर, देह विसर्जित कर गये। इन के पांच शिष्यों में तृतीय थे-श्री नीलोपद जी म.।

तपस्वी श्री नीलोपद जी महाराज :

पैंतालीस वर्ष की तप-साधना से परिषक्व श्रावकावस्था में संवत् 1919 में मुनि-दीक्षा धारण की। निरन्तर एकान्तर तप किया। कड़ी से कड़ी सर्दी में भी

अवस्त्र हो शीत परीषह को जीता। पौत्र शिष्य मुनि मायाराम के स्वास्थ्य-लाभ की कामना से आजीवन बेले-बेले पारणे का क्रम जीया। जीवन के 25 चातुर्मासों में से प्रत्येक चातुर्मास को न्यूनतम मासखमण तप से अवश्य विभूषित किया। जीवन-भर मात्र छह द्रव्यों (रोटी, पानी, खिचड़ी, कढ़ी, छाछ, औषध) व सात वस्त्रों का ही प्रयोग किया। श्वासोच्छ्वास को तप का संगीत बना देने वाले तपस्वी जी म. ने संवत् 1944 में संल्लेखना-समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया। इन के एकमात्र शिष्य थे–श्री हरनामदास जी म.।

श्री हरनामदास जी महाराज :

निष्काम साधुता के प्रतिमान थे–श्री हरनामदास जी म.। यश की तनिक भी आकांक्षा जीवन के किसी कोने तक में न थी। इस का ही परिणाम है कि इन के जीवन-परिचय देने वाले तथ्य आज अनुपलब्ध हैं। दूसरे शब्दों में यश और स्तुति से पूर्णत: निरपेक्ष रहने वाली साधुता ही इन का जीवन-परिचय है। महाप्राण मुनि मायाराम जैसे तेजस्वी शिष्य की रचना के माध्यम से इन्होंने संयम का आगामी इतिहास रचा। स्वयं गुमनाम रह कर धर्म-प्रभावना का उज्ज्वल इतिहास रचने वाले इन महामुनि के तीन शिष्य हुए, जिन्होंने पंजाब श्रमण-परम्परा के रत्न-त्रय के रूप में ख्याति व प्रतिष्ठा अर्जित की। इन में प्रथम शिष्य थे–श्री मायाराम जी म.।

संयम-सुमेरु महामुनि श्री मायाराम जी महाराज :

तेईस वर्ष की युवावस्था में माघ शुक्ल 6, संवत् 1934 को मुनि-जीवन का शुभारम्भ करने वाले चारित्र-चूड़ामणि महाप्राण मुनि श्री मायाराम जी म. भगवान् महावीर की वाणी को अपने जीवन में प्रतिबिम्बित, साकार व सार्थक करने वाले मुनिराज थे। अत्यंत मधुर व तेजस्वी गायक थे। तीस जैन आगम उन्हें कण्ठस्थ थे। उठने वाला उनका एक-एक क्षण से जैन धर्म की अद्‌भुत प्रभावना हुई। निम्नवर्ग से राजा और युवकों से वेश्याओं तक समाज के प्रत्येक वर्ग ने अहिंसा का आलोक उन से पाया। सोते हुए भी जागृत रहने वाले इस युगपुरुष ने संवत् 1969 में नश्वर देह त्याग दी। लाखों-करोड़ों अनुयोइयों के मन-वचन-कर्म में गुणानुवाद बन कर वे अमर हो गये। उनके सात शिष्य हुए, जिन में अंतिम थे–श्री सुखीराम जी म.।

श्री सुखीराम जी महाराज :

संवत् 1959, पौष शुक्ल षष्ठी को पैंतालीस वर्ष की वैराग्य-परिपक्व अवस्था में संयम अंगीकार करने वाले श्री सुखीराम जी म. क्षमा-धर्म के साकार

रूप थे। अनेक उपसर्गों को समता-पूर्वक सह कर भिक्षाचरी तप जीया करते थे। कषायों को वे जीत चुके थे। आजीवन विगय ग्रहण नहीं किये। रस-परित्यागी थे। साधना, सेवा और क्षमा के आदर्श थे। संवत् 1979 में उन्होंने देह विसर्जित की। उसके तीन शिष्यों में द्वितीय थे–श्री रामजीलाल जी म.।

योगिराज श्री रामजीलाल जी महाराज :

पूज्य गुरुदेव श्री मायाराम जी म. के प्रभावक जीवन की अंतिम प्रतिबोधित कृति थे–गुरुदेव योगिराज। चौबीस वर्ष की युवावस्था में 16 नवम्बर, सन् 1914 को संयम-मार्ग पर कदम रखा। फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखा। निष्काम योग के शिखर तक पहुंचे। सेवा का आदर्श जीया। करुणा एवम् व्यापक वात्सल्य से सम्पन्न थे। समस्त पर-भाव से विमुक्त थे। एषणा-विजेता थे। आठों प्रवचन-माताओं के आराधक थे। निर्मल संयम के प्रतिरूप थे। ऊनोदरी, आतापना, प्रतिसंलीनता, विनय, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, व्युत्सर्ग आदि तप-साधनाओं से विभूषित थे। कषाय-विजेता थे। अनेक सिद्धियों से संपन्न थे। इनके चार शिष्य हुए, जिन में ज्येष्ठ शिष्य हैं–गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी म.।

संघ-शास्ता शासन-सूर्य आचार्य-कल्प गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी म.:

संयम, ज्ञान, सृजन व धर्म-प्रभावना के समन्वित रूप गुरुदेव श्री ने पच्चीस वर्ष की युवावस्था में चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, संवत् 1995 को 'महावीर जयन्ती' के पावन दिन मुनि-दीक्षा का वीर-व्रत धारण किया। वर्षों तक कठोर स्वाध्याय-साधना की। अनेक भाषाओं तथा ज्ञान के अनेक क्षेत्रों पर निर्भ्रान्त अधिकार अर्जित किया। विद्वद्जगत् पर अपनी बहुमुखी सर्जनात्मक प्रतिभा की अमिट छाप अंकित की। परम सहजावस्था और प्राणीमात्र पर करुणा को जीया। अहिंसा-विषयक नवीन चिन्तन प्रदान किया। सेवा को सामाजिक आन्दोलन बनाया। धर्म की युगानुरूप प्रेरणा को जीने में गुरुदेवश्री अब भी जागृत हैं।

पूज्य गुरुदेव के श्री चरणों में मुझे (सुभद्र मुनि को) दीक्षाभिव्रत स्वीकृत करने का परम सौभाग्य मिला। गुरु-चरणों के सेवक (इन पंक्तियों के लेखक) ने सन् 1964 में गुरुवर्य योगिराज श्री रामजीलाल जी म. की कृपा से यह सौभाग्य पाया। पूज्य संघशास्ता गुरुदेव श्री के सात प्रशिष्य हैं–श्री रमेश मुनि जी म., श्री अरुण मुनि जी म., श्री नरेन्द्र मुनि जी म., श्री अमित मुनि जी म., श्री हरि मुनि जी म., श्री प्रेम मुनि जी म. और श्री सुकृता मुनि जी म.।

—सुभद्र मुनि

भूमिका

उत्तराध्ययन का उद्गम :

'उत्तराध्ययन सूत्र' का उद्गम करुणा-कुशल शासनपति श्रमण भगवान् महावीर के मुखारविन्द से हुआ। यह भगवान् महावीर के जीवन की अन्तिम घटना है। प्रभु का अंतिम वर्षावास अपापापुरी में था। चातुर्मास का अंतिम चरण था। वर्तमान अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे को व्यतीत होने में तीस वर्ष व साढ़े आठ महीने का समय शेष था। पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा में षष्ठ-भक्त तप से सुशोभित भगवान् विराजमान थे। युग-युगों से प्यासी जीवात्माओं की भाव-भूमि पर परम कल्याण का अमृत निरन्तर बरसा रहे थे। वह अमृत-वाणी पाकर वहां उपस्थित सभी देवी-देवता, मनुष्य व पशु-पक्षी धन्य हो रहे थे। भविष्य में धन्य होने वाली अनेक आत्माओं के लिये परम मंगल का आधार निर्मित हो रहा था। प्रभु की देशना जारी थी।

भगवान् ने पुण्य-फल-दायक पचपन एवम् पाप-फल-दायक पचपन अध्ययनों का ज्ञान (विपाक सूत्र) लोक को प्रदान किया। तत्पश्चात् अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस उत्तर अध्ययनों का ज्ञानामृत बरसाया। 'प्रधान' नामक मरुदेवी के अध्ययन का वर्णन करते हुए प्रभु परम समाधि में लीन हो गये। सभी योगों का त्याग कर वे निर्वाण पद को प्राप्त हुए। परम मंगल-रूप आत्म-ज्योति इस धरा से विलीन हो गई।

महाप्रभु ने निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व परम कल्याण के स्रोत ज्ञानालोक को प्रदान किया। ज्ञान का वह अक्षय प्रकाश बना रहा। भव्य आत्माओं के पथ प्रकाशित करता रहा। आत्म-कल्याण सम्भव होता रहा। ज्ञान का वही अक्षय प्रकाश है—'उत्तराध्ययन सूत्र'। भगवान् की

वही अन्तिम देशना है यह जो अनेक जीवात्माओं के लिये आत्म-जागृति का····परम मंगल का अमोघ मंत्र बन गई····आज भी बन रही है···· कल भी बनेगी।

कहने को वह अमावस्या (कार्तिक कृष्णा) थी। परन्तु ज्ञान का जो प्रकाश सभ्यता को उस रात मिला, उस की समता समय की भला कौन-सी पूर्णिमा से संभव है?

उत्तराध्ययन का नामकरण

प्रभु की अन्तिम देशना के अक्षय ज्ञान-प्रकाश को 'उत्तराध्ययन' कहा गया। सचमुच उत्तर अध्ययन हैं ये। वे अध्ययन, जिन्हें भगवान् ने अपने जीवन के उत्तर-भाग में फरमाया। वे अध्ययन जो मुखर व मूक, सभी प्रश्नों के उत्तर बनते रहे। जिज्ञासाओं के समाधान बनते रहे। वे अध्ययन जो प्रधान व श्रेष्ठ ज्ञान के स्रोत हैं। वे अध्ययन जो प्रत्येक दृष्टि से उत्तर हैं। उनके लिये 'उत्तराध्ययन' से उचित नाम कोई और संभव नहीं था।

'अध्ययन' का अर्थ अध्याय या परिच्छेद तो है ही, पढ़ना भी है। आत्म-चिन्तन व आत्म-स्वाध्याय भी है। आत्मोपलब्धि का····आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता का, छत्तीस श्रेष्ठ उत्तर-दाता अध्यायों के रूप में, आधारभूत ज्ञान है—उत्तराध्ययन। एक नाम जो अनेक मोक्ष-मार्ग-पथिकों का आस्था-केन्द्र है। एक नाम जिसका प्रभाव अनेक दिशाओं में, अनेक स्थानों पर, समय के अनेक आयामों में जगमगाता है।

उत्तराध्ययन की यात्रा

प्रभु जीवन के अंतिम सोलह प्रहर में प्रभु-वाणी से जन्मे इस परम पावन ज्ञान की यात्रा इतिहास के अनेक उतार-चढ़ावों से होते हुए यहां तक पहुंची। गणधरों ने प्रभु द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को सूत्र-बद्ध किया। शब्द दिये। रूप दिया। वीर-शासन के प्रथम पट्टधर व भगवान् के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी ने प्रभु की ज्ञान-विरासत को सम्भाला। उसकी प्रभावना की। उन से यह ज्ञान आर्य जम्बू स्वामी ने पाया। उन से आचार्य प्रभव स्वामी ने। तत्पश्चात् गुरु-शिष्य-सम्बन्धों के माध्यम से मौखिक रूप में ज्ञान की यह यात्रा सतत जारी रही।

इस यात्रा के दौरान ज्ञान पूर्ववत् अक्षुण्ण नहीं रह सका। विशाल ज्ञान को धारण कर सकने की क्षमताओं का ह्रास होता गया। बीच-बीच में भयंकर दुष्काल पड़े। श्रुत-सम्पन्न मुनि काल-कवलित भी हुए। परिणामत: ज्ञान-परम्परा छिन्न-भिन्न हुई। गणधर सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रदत्त ज्ञान-सम्पदा का ह्रास हुआ। ज्ञान को अधिकतम संभव सीमा तक सुरक्षित रखने की आवश्यकता इतिहास ने उत्पन्न की।

इस आवश्कता के प्रति वीर-शासन के आचार्य व मुनि सचेत थे। इसीलिये समय-समय पर अनेक मुनि-सम्मेलन आयोजित किये गये। उन में आगमों की वाचनायें की गईं। प्रभु-निर्वाण के पश्चात् बारह वर्षों का दुष्काल पड़ा। उसके बाद पाटलिपुत्र में आचार्य सम्भूत विजय ने मुनि-सम्मेलन व आगम-वाचना आयोजित की। इस प्रथम वाचना में एकादशांगी के पाठ संकलित किये गये। बारहवें अंग-दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करने मुनि स्थूलिभद्र नेपाल में महाप्राण-साधना-लीन आचार्य भद्रबाहु के श्री-चरणों में पांच सौ मुनियों के साथ गये। अन्य मुनि दृष्टिवाद का अध्ययन करने में असमर्थ होने के कारण लौट आये। एकमात्र स्थूलिभद्र मुनि दत्त-चित्त हो वाचना ग्रहण करते रहे। उन्होंने दृष्टिवाद के प्रमुख अंग : चौदह पूर्वों में से दस पूर्वों का ज्ञान पाया। इतना ज्ञान पाकर भी वे अपने दर्शनों हेतु आईं साध्वी बहिनों के सम्मुख चमत्कार प्रदर्शन का मोह नहीं छोड़ सके। सिंह का रूप बना गुफा-द्वार पर बैठ गये। आचार्य भद्रबाहु ने यह जान कर उन्हें अपात्र माना और आगे वाचना देने से मना कर दिया। बारम्बार क्षमा मांगते हुए प्रार्थना करने पर आचार्य ने उन्हें शेष चार पूर्वों की मात्र शाब्दी वाचना प्रदान की। इस प्रकार वीर-निर्वाण के 160 वर्षों के बाद चार पूर्वों के ज्ञान का विच्छेद हो गया। शेष ज्ञान गुरु-शिष्य-परम्परा के रूप में प्रवाहित होता रहा।

आगमों की दूसरी वाचना उड़ीसा के इतिहास-प्रसिद्ध जैन सम्राट् खारवेल के सद्प्रयत्नों से उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर हुई। वीर निर्वाण के 300 से 330 वर्षों के मध्य संपन्न हुई इस वाचना में ज्ञान की व्यवस्था पुन: की गई। वीर-निर्वाण की नौवीं शताब्दी में पुन: भयानक दुष्काल पड़ा। दुष्काल-समाप्ति पर आचार्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा

में तथा आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वल्लभी (सौराष्ट्र) में वीर निर्वाण 827 से 840 के मध्य आगम-वाचनायें की गईं। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पुनः दुर्भिक्ष पड़ा। ज्ञान की व्यवस्था व सुरक्षा की चुनौती पुनः उत्पन्न हुई।

इस चुनौती को स्वीकार किया आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने। वीर निर्वाण 980 में वल्लभी नगरी में पांचवीं आगम-वाचना सम्पन्न हुई। विशेषता यह कि इस वाचना में इतिहास में प्रथम बार आगमों को लिखित रूप दिया गया। आगम-ज्ञान लिपिबद्ध हुआ। वर्तमान में उपलब्ध बत्तीस आगम इसी वाचना के कृपा-फल हैं। इन फलों में से एक महत्त्वपूर्ण फल है—उत्तराध्ययन सूत्र।

वर्तमान का सौभाग्य है कि ज्ञान के साथ इतिहास में समय-समय पर होने वाली दुर्घटनाओं से प्रभु-वाणी द्वारा प्रदत्त अंतिम ज्ञान 'उत्तराध्ययन सूत्र' के रूप में सुरक्षित रह गया। इस ज्ञान ने न जाने कितनों का वर्तमान और भविष्य सुरक्षित कर दिया। न जाने कितनों का कल्याण कर दिया। इसके लिये इतिहास आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का ऋणी है। जिन महान् मनीषियों के कारण 'उत्तराध्ययन सूत्र' भगवान् महावीर से हम तक पहुंचा, उन में आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ज्ञान-शृंखला को वर्तमान तक पहुंचाने वाले सभी महापुरुषों के पावन चरणों में सम्पूर्णतः नमित होकर मैं भी आनन्द अनुभव करता हूं।

उत्तराध्ययन : कुछ जिज्ञासायें

आनन्द के स्रोत 'उत्तराध्ययन सूत्र' के विषय में समय-समय पर अनेक जिज्ञासायें व्यक्त की जाती रही हैं। इन में से एक प्रमुख जिज्ञासा यह है कि इस सूत्र का रचनाकार कौन है? सर्वविदित है कि यह सूत्र अनेक शैलियों के रूप में सूत्रित है। इन में से एक प्रश्नोत्तर-शैली भी है। इसके जो अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली के रूप में हैं, उनके विषय में रचनाकार के प्रति जिज्ञासा अपेक्षाकृत अधिक प्रबल है। 'केशि-गौतमीय' और 'सम्यक्त्व-पराक्रम' ऐसे ही अध्ययन हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ये अध्ययन वस्तुतः स्थविर-कृत हैं और 'उत्तराध्ययन' अनेक-कर्तृक आगम है।

सर्वविदित है कि तीर्थंकर वस्तुतः अर्थ कहते हैं। गणधर उस अर्थ को सूत्र में पिरोते हैं। उसे गद्य या पद्य का रूप देते हैं। यह रूप विषयवस्तु की प्रकृति के आधार पर दिया जाता है। जो विषय-वस्तु जिस रूप में सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति पा सकती है, उसके लिये वही रूप गणधर चुनते हैं, उसी का प्रभावक अभिव्यक्ति के लिये प्रयोग करते हैं। प्रश्नोत्तर शैली भी गद्य का एक रूप है। इस रूप में भी गणधरों ने भगवान् द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही अभिव्यक्त किया है। गणधरों द्वारा भगवान् की स्तुति सम्भव ही नहीं, सहज और वांछनीय भी है। ऐसे में यह प्रश्न स्वयं ही निरर्थक हो जाता है कि भगवान् स्वयं अपने मुख से अपने लिये प्रशंसा या स्तुति परक शब्द कैसे कह सकते थे?

'केशि-गौतमीय' अध्ययन की प्रतिपाद्य अन्तर्वस्तु है—बदलते समय में धर्म का सर्वोचित एवम् सर्व-सम्मत रूप स्थिर करना। प्रत्येक तीर्थंकर अपने समय के अनुरूप धर्म-रूप निर्धारित किया करते हैं। भगवान् महावीर ने भी धर्म का युग-सम्मत रूप स्थिर किया था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में प्रचलित चातुर्याम धर्म का पंचयाम धर्म में रूपान्तरण किया था। उद्देश्य था—उस युग में धर्म-रथ की निरन्तर गतिशीलता। उस युग के मनुष्य की प्रकृति के लिये धर्म का जो रूप सहजता से बोधगम्य था, वही रूप सर्वज्ञ प्रभु ने प्रदान किया। इस ऐतिहासिक रूपान्तरण की अंतर्वस्तु को सांगोपांग अभिव्यक्ति देने के लिये जो रूप सर्वाधिक समर्थ था, वही रूप 'केशि-गौतमीय' अध्ययन का है। यह रूप किस के द्वारा निर्मित हुआ, यह निश्चित नहीं है। श्रुत-परम्परा से उपलब्ध आगम के रूप के विषय में यह निश्चित होना संभव भी नहीं है। यह पूर्णतः निश्चित है कि भगवान् ने अपने युग के मनुष्य को ध्यान में रखते हुए धर्म का स्वरूप पुनः निर्धारित किया। मूल सत्य यही है। 'केशि-गौतमीय' अध्ययन वस्तुतः इसी मूल सत्य का जय-घोष है। यह सत्य गणधरों व श्रुत-धर स्थविरों से होते हुए हम तक पहुंचा। यह भी सत्य है। ऐसे में उक्त अध्ययन के रचनाकार का नाम-निर्धारण हो या न हो, इस से मूल सत्य किंचित् भी प्रभावित नहीं होता। माध्यम चाहे गणधर हों या श्रुतधर स्थविर, सम्पूर्ण 'उत्तराध्ययन' में मूल स्वर भगवान् महावीर का ही है। आवश्यकता मूल स्वर पर ध्यान केन्द्रित करने की अधिक है, माध्यम पर नहीं। अस्तु।

इस संदर्भ में बीसवें अध्ययन 'महानिर्ग्रन्थीय' और इक्कीसवें अध्ययन 'समुद्रपालीय' की भी कुछ चर्चा अपेक्षित है। 'महानिर्ग्रन्थीय' के पूर्व-भाग में अनाथी मुनि व राजा श्रेणिक की कथा व दोनों के मध्य हुए संवाद वर्णित हैं। पैंतीस गाथाओं तक अनाथी मुनि अपनी जीवन-कथा राजा श्रेणिक को सुनाते हैं। छत्तीसवीं गाथा से सामान्यत: और अड़तीसवीं गाथा से विशेषत: मुनि-धर्म की व्याख्या-विवेचना प्रारम्भ होती है, जो बावन गाथाओं तक जारी रहती है। प्रश्न यह है कि मुनि-धर्म की व्याख्या-विवेचना करने वाले ये वचन भगवान् महावीर के हैं या अनाथी मुनि के? यह प्रश्न भी 'उत्तराध्ययन' की चर्चा में प्राय: उत्पन्न होता रहा है।

सर्वविदित है कि राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समकालीन थे। अत: यह घटना भी प्रभु के समय की ही है। अनाथी मुनि द्वारा बताये गये वृत्तान्त से जब राजा श्रेणिक इस निष्कर्ष तक पहुंचे कि मुनि-दीक्षा धारण करने से अनाथता मिट जाती है तो मुनि ने बतलाया कि अनाथता मिटाने के लिये मात्र मुनि-दीक्षा ले लेना ही पर्याप्त नहीं है। अनाथता तभी मिटती है जब सम्यक् मुनि-धर्म का पालन किया जाये। अब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सम्यक् मुनि-धर्म क्या है? इसी का समाधान अनाथी मुनि ने करते हुए सम्यक् मुनि-धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया। भगवान् महावीर द्वारा निरूपित सम्यक् मुनि-धर्म को उन्होंने कहा। स्पष्ट है कि ये वचन उनके द्वारा कहे गये भगवान् महावीर के वचन ही हैं।

इक्कीसवें अध्ययन 'समुद्रपालीय' में दसवीं गाथा तक समुद्रपाल की चरित्र-कथा वर्णित की गई है। ग्यारहवीं गाथा से मुनि-धर्म के स्वरूप सम्बन्धी उपदेश प्रारम्भ हो जाते हैं। यह उपदेश किस के द्वारा और किस को दिये गये, यह कहीं नही बताया गया। दूसरे शब्दों में दसवीं और ग्यारहवीं गाथाओं के बीच सम्बन्ध स्वयमेव स्थापित नहीं होता। इस के लिये योजक की आवश्यकता पड़ती है। योजक से दसवीं और ग्यारहवीं गाथाओं के बीच सम्बन्ध भी स्थापित होता है और इस प्रश्न का समाधान भी होता है कि मुनि-धर्म का यह उपदेश किस ने और किस को दिया।

योजक यह है कि समुद्रपाल मुनि ने मुनि-धर्म का जो ज्ञान भगवान् महावीर से प्राप्त किया था, उसी को कालान्तर में जनता को उपदेश देते हुए प्रकट किया। एक सम्भावना तो यह है। दूसरी सम्भावना यह है कि मुनि-दीक्षा धारण करने के उपरान्त समुद्रपाल मुनि भगवान् के चरणों में गये और उन से सम्यक् मुनि-धर्म की शिक्षा देने के लिये प्रार्थना की। तब सर्वज्ञ प्रभु ने उन्हें मुनि-धर्म की जो शिक्षा दी, वही ग्यारहवीं गाथा से 'समुद्रपालीय' अध्ययन में प्रस्तुत है। योजक की पहली सम्भावना के अनुसार समुद्रपाल मुनि भगवान् के उपदेशों के माध्यम बनते हैं। दूसरी सम्भावना के अनुसार भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्द से मुनि-धर्म का स्वरूप उजागर करते हैं। जहां तक मैं समझता हूं-दूसरी सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक संगत है। इसी को योजक रूप में स्वीकार करना अपेक्षित है। इसलिये कि 'उत्तराध्ययन' भगवान् की वाणी है और यही योजक रूप के स्तर पर भी हमें भगवान् के अपेक्षाकृत अधिक निकट पहुंचाता है।

उत्तराध्ययन और मैं

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' मुझे पूज्य गुरुदेव योगिराज श्री रामजीलाल जी महाराज के मुखारविन्द से पढ़ने का सौभाग्य मिला था। उन्हीं की उंगली थाम कर संयम के मार्ग पर मैंने खड़ा होना और चलना सीखा। उन्हीं से मैंने स्वाध्याय कर सकने वाली दृष्टि पायी। पहले-पहल आगम-ज्ञान का आनन्द अनुभव करना सीखा। जीवन के सत्य-असत्य को पहचानने का बोध पाया। विवेक-सम्मत सांसें पायीं। संयम-मूल्यों की धड़कनें पायीं। मेरे व्यक्तित्व का कण-कण उनकी कृपा के आधार पर जीवित है। आज भी उस आधार की ओर जब कभी मैं देखता हूं तो जीवन के प्रत्येक संदर्भ में प्रकाश मुझे मिल जाता है। वह प्रकाश कभी कम नहीं पड़ता। मेरी पात्रता भले ही कम पड़ जाये।

ऐसे समर्थ गुरु से शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करना वस्तुतः एक सम्पूर्ण अनुभव है, जिसकी स्मृति भी रोम-रोम में ऊर्जा भर देती है। मुझे अच्छी तरह याद है-'उत्तराध्ययन सूत्र' मुझे पढ़ाने से पूर्व उन्होंने इसकी महत्ता का प्रतिपादन मेरे सम्मुख किया था। बताया था-"भगवान् की परम पावन वाणी वर्तमान में बत्तीस शास्त्रों के रूप में उपलब्ध है।

यूं तो प्रभु-वाणी का संकलन प्रत्येक शास्त्र सुमंगल है, कल्याण का हेतु है और सर्वाधिक सार्थक जीवन जीने की कला प्रदान करने वाला है परन्तु सभी शास्त्रों का अभ्यास सभी व्यक्तियों के लिये होना कठिन है। यह 'उत्तराध्ययन सूत्र' एक ऐसा सूत्र है, जिसमें प्रभु वाणी का समस्त सार संग्रहीत है। तू ऐसे समझ जैसे घी-मक्खन-दही-छाछ, इन सब का स्रोत अकेला दूध है, ऐसे ही अकेला उत्तराध्ययन सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आधार हो सकता है। संसार, मुक्ति, संयम, साधना, जीव, कर्म आदि अनेक विषयों का निरूपण इसमें हुआ है। इस एकमात्र शास्त्र की सम्यक् स्वाध्याय के आधार पर भी व्यक्ति अपना परम कल्याण कर सकता है। इतना महत्त्वपूर्ण है यह शास्त्र।"

मैंने सुना। मेरा मस्तक शास्त्र के प्रति श्रद्धा से झुक गया। गुरु महाराज की वन्दना की। उन का स्नेह और गम्भीरता से परिपूर्ण आशीर्वाद पाया। शास्त्र खोला। कानों से होते हुए गुरु महाराज का स्वर हृदय में उतरा, **"संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।"** मुझे लगा, यह स्वर मैं सुनता ही जाऊँ·····सुनता ही जाऊँ परन्तु गाथा पूर्ण करते ही गुरु महाराज बोले, "तू इसकी हिन्दी पढ़।" मैंने पढ़ी। उन्होंने विस्तार से गाथा का भाव समझाया।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' जीवन में प्रथम बार मैंने इसी पद्धति से पढ़ना प्रारम्भ किया। गुरु महाराज मूल पढ़ते। मैं हिन्दी अर्थ पढ़ता और वे मुझे शास्त्र-गाथाओं का मर्म समझाते। कुछ दिन इसी तरह पढ़ाई चलती रही। एक दिन सहसा उन्होंने कहा, "अब मूल गाथा को तू पढ़।" मैंने मूल पढ़ने का प्रयत्न किया। मुझे कठिन लगा। मैं कह बैठा, "गुरुदेव! ये तो चलता नहीं। मैं हिन्दी-हिन्दी पढ़ लूंगा।" यह सुन वे हंसे। बोले,

"अभ्यास कर। ये तो खूब चलेगा।" आज भी उनके ये शब्द मेरे मानस में गूंज रहे हैं, "ये तो खूब चलेगा·····ये तो खूब चलेगा·····।" जो हौंसला इन शब्दों से मुझे उस समय मिला था, वह आज भी जीवित है। उसी की बदौलत मैं ज्ञान-मार्ग पर दो-चार कदम चल सका।

उस समय भी इन शब्दों ने मुझ पर जादू का-सा असर किया था। अपनी अल्प-मति के अनुसार मैं अभ्यास में जुट गया था। इसके

बाद, गुरुदेव की कृपा से, मेरा अभ्यास छूटा नहीं। दूसरों को शास्त्र पढ़ाने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त होता रहा। आज सोचता हूं तो लगता है कि जिसे मूल पढ़ना भी कठिन लगता था, उस से इस शास्त्र का अनुवाद हो गया। इसका आधार गुरु महाराज के वही वचन हैं, "अभ्यास कर। ये तो खूब चलेगा।"

'उत्तराध्ययन सूत्र' के विषय में यदि मुझसे मेरी राय पूछी जाये तो मैं कहूंगा–यह एक पुस्तक-मात्र नहीं है। यह तो अमृत का एक कलश है, जिसका स्वाध्याय द्वारा पान करने से अंतर व बाहर का रोम-रोम खिल उठता है। यह सूत्र मेरे जीवन की सांसें, मेरे हृदय की धड़कन और मेरी आंखों की ज्योति बन कर मेरे जीवन से जुड़ा है। इसके बिना मेरे लिये जीवन की कल्पना तक असम्भव है।

उत्तराध्ययन : प्रस्तुत प्रस्तुति

'उत्तराध्ययन' के जन्म से लेकर अब तक अनेक जिज्ञासु व मुमुक्षु मनीषी इसकी स्वाध्याय के माध्यम से भगवान् महावीर के निकट पहुंचते रहे हैं। ज्ञान के इस अप्रतिहत आलोक को अनुभव करते रहे हैं। इसके आधार पर निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य व टीकाओं की रचना समय-समय पर होती रही है। 'उत्तराध्ययन' के अनेक भाषाओं में अनेक अनुवाद वर्तमान में उपलब्ध हैं। न तो इसकी टीकाओं का कोई अभाव है और न ही इसके अनुवादों का। ऐसे में यह प्रश्न सहज ही है कि प्रस्तुत अनुवाद की क्या अपेक्षा बनी थी? प्रस्तुत प्रस्तुति को प्रस्तुत क्यों किया गया?

सहज रूप से इस संदर्भ में बिना किसी लाग-लपेट या भूमिका के मैं कहना चाहूंगा कि मैंने 'स्वान्तः सुखाय' ऐसा किया। यह मेरे मन का आनन्द है। इसे मैंने पाया। खूब पाया। प्रभूत मात्रा में अनुभव किया। यह आनन्द मेरे जीवन का एक सपना था। प्रस्तुत प्रस्तुति उसी सपने का प्रतिफल और साकार रूप है। इसके साथ एक अभिलाषा और भी थी। वह थी–'उत्तराध्ययन सूत्र' का हरियाणवी अनुवाद। गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि अन्य प्रादेशिक भाषाओं में इसके अनुवाद उपलब्ध थे परन्तु हरियाणवी में न तो इस शास्त्र का अनुवाद उपलब्ध था और न ही किसी अन्य शास्त्र का। हरियाणवी में भी 'उत्तराध्ययन'

का अनुवाद हो, यह मेरी उत्कट अभिलाषा थी। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद से हरियाणवी अनुवाद का कार्य सहज एवम् प्रशस्त हुआ। गुरु-कृपा से मैं हरियाणवी अनुवाद भी पूर्ण कर सका। इसे मैं अपने जीवन का ऐतिहासिक सुख अनुभव करता हूं। गुरु-कृपा से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। गुरु-कृपा से हरियाणवी अनुवाद भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

'उत्तराध्ययन' का प्रस्तुत अनुवाद जब पूर्ण हुआ तो पीतमपुरा, दिल्ली की जैन स्थानक में लघु संगोष्ठी भी आयोजित की गई। संगोष्ठी में अनेक सन्तों, साध्वियों, श्रावकों और श्राविकाओं ने रुचिपूर्वक भाग लिया। उस संगोष्ठी में इस अनुवाद की वाचना की गई। सन्तों व साध्वियों ने अन्य अनुवादों की पुस्तकें भी साथ रखते हुए इस अनुवाद को निकष पर कसा। वह ज्ञान-चर्चा उपयोगी भी रही और आनन्दपूर्ण भी।

अनुवाद करते हुए

'उत्तराध्ययन' की अनुवाद प्रक्रिया ने अनेक अनुभव प्रदान किये। अनुवाद करने से पूर्व और अनुवाद करते हुए 'उत्तराध्ययन' के अन्य लगभग सभी अनुवादों को गहराई से पढ़ने व देखने का सुअवसर मिला। प्रभु-वाणी का मर्म स्पष्टत: समझने में सहायता भी मिली। यह अनुमान भी हुआ कि अनुवाद करते हुए अनुवादकों को किन-किन और कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा!

वास्तव में अनुवाद का कार्य रचना से कम कठिन नहीं होता। अनेक अवसरों पर तो यह रचना से भी अधिक कठिन होता है। रचना करते हुए व्यक्ति स्वतंत्र होता है। अपनी क्षमताओं के अनुसार वह कुछ भी लिख सकता है। रचनात्मकता के आकाश में चाहे जिस दिशा की ओर उड़ान भर सकता है। अनुवाद करते हुए व्यक्ति स्वतंत्र नहीं होता। वह मूल पाठ से आबद्ध होता है। मूल पाठ के अनुरूप ही उसे चलना होता है। मूल पाठ के भावों के अनुरूप ही शब्द-चयन और प्रयोग करना होता है।

अनुवाद का अर्थ है–भाषान्तर या फिर से कहना। जो भाव एक बार अभिव्यक्त हो चुके हैं, उन्हें दूसरी भाषा में पुन: अभिव्यक्त करना

अनुवाद है। यह एक भाषा की रचना को दूसरी भाषा में ज्यों की त्यों रचने का प्रयत्न करना है। इस प्रकार प्रयत्न करना है कि अनूदित पाठ अनुवाद न लगे। वह अनूदित भाषा में रची गई मूल रचना ही प्रतीत हो। मूल रचना के भाव तो उसमें ज्यों के त्यों अभिव्यक्त हों ही, साथ-साथ रचना का सौंदर्य भी उसमें अप्रतिहत रहे। तभी अनुवाद मूल की प्रभा से आलोकित हो सकता है।

प्रस्तुत अनुवाद में मैंने अपनी क्षमताओं के अनुसार ऐसा ही करने का प्रयत्न किया है। अधिकतम सम्भव सीमा तक अर्थ मूल के अनुरूप अथवा मूल बन कर ही अभिव्यक्त हो, यह प्रस्तुत अनुवाद का लक्ष्य रहा है। जहां तक हो सका, शब्द भी मूल के निकट रखे गये हैं। मूल पाठ अधिक से अधिक स्पष्ट हो, इस प्रयोजन से मूल प्राकृत की संस्कृत छाया भी साथ-साथ दी गई है। अनुवाद करते हुए प्रयास यह भी रहा कि मूल पाठ का सौंदर्य हिन्दी में भी ज्यों का त्यों सुरक्षित रहे। यह प्रयास किस सीमा तक सफल हुआ, इस का निर्णय तो विद्वद्वर्ग ही करेगा। मैं तो यह अनुरोध ही कर सकता हूं कि मेरी त्रुटियों से मुझे अवगत कराने की कृपा करें ताकि आगामी संस्करण में उनका परिहार हो सके।

अनुवाद करते हुए जो अनुभव मुझे हुआ, उसके दो तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–पाठान्तर और अर्थ भेद। पाठान्तर एक पुरानी चली आने वाली समस्या है। किसी संस्करण में कोई शब्द है और किसी संस्करण में कोई और। सभी प्रतियों में एक जैसे शब्द नहीं हैं। जहां जो शब्द है, उसी के अनुरूप अनुवाद हो, यह सहज भी है और वांछनीय भी। कठिनाई कुछ अवसरों पर अर्थ-भेद में आती है। उदाहरण के लिये 'यज्ञीय' नामक पच्चीसवें अध्ययन की प्रथम गाथा में शब्द आया–'जमजन्नंमि'।

इस शब्द का भिन्न-भिन्न अनुवादकों ने भिन्न अर्थ किया है। कहीं 'यम' से मृत्यु का आशय लेकर 'हिंसापूर्ण यज्ञ' इसका अर्थ है तो कहीं 'पांतजलि सूत्र' के आधार पर 'यम' से नियम व पांच महाव्रत का आशय लेकर अर्थ किया गया है। इसके अनुसार इसका अर्थ है– 'अहिंसा आदि व्रतों की आराधना-रूप यज्ञ।' कहीं-कहीं यह कहते

हुए कि 'यह अर्थ भी हो सकता है और यह अर्थ भी हो सकता है' उक्त शब्द के दोनों ही अर्थ प्रतिपादित कर दिये गये हैं। दोनों अर्थों में थोड़ा-बहुत अन्तर होता तो विशेष कठिनाई न होती। सत्य यह है कि दोनों अर्थ एक-दूसरे से विपरीत हैं। ऐसे में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मुझ-सा अल्पज्ञ कौन से अर्थ को सही मानते हुए अनुवाद करे? ऐसे ही कुछ शब्द और भी हैं, जिन सभी का उल्लेख यहां करना न तो उचित है, और न ही संभव। यह उन कठिनाइयों का एक नमूना है, जो अनुवाद करते हुए आईं।

उपलब्ध अनुवादों में मेरा अनुवाद विशिष्ट है ऐसा मैं नहीं मानता। यह अवश्य मानता हूं कि प्रत्येक अनुवाद की अपनी उपयोगिता होती है। किसी न किसी रूप में यह अनुवाद भी उपयोगी होगा। और कुछ नहीं तो भगवान् की वाणी का प्रचार-प्रसार ही इस से और आगे बढ़ेगा। सभी श्रद्धालु अपने-अपने ढंग से भगवान् के प्रति श्रद्धा समर्पित करते हैं। प्रस्तुत अनुवाद के रूप में मैंने भी अपनी श्रद्धा समर्पित की है। वास्तव में धर्म-रथ, श्रुत-रथ तभी आगे बढ़ता है, जब प्रत्येक व्यक्ति उस में हाथ लगाये। श्रुत-रथ जन-जन तक पहुंचे, इस प्रयोजन से मैंने भी उसमें हाथ लगाने का प्रयास किया। प्रस्तुत अनुवाद वही 'हाथ' है। इस से अधिक कुछ नहीं।

उपसंहार

'उत्तराध्ययन सूत्र' भगवान् महावीर की अंतिम देशना है। जैन धर्म का मर्म है। जैन धर्म में इसका वही महत्त्व है जो बादलों में नीर का, पुष्पों में पराग-कोश का एवम् दिन के लिये सूर्य का है। जैनत्व का ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार एवम् साधना-साध्य आदि सम्पूर्ण ज्ञान यदि कोई जिज्ञासु एक ही स्थान पर समग्रतः प्राप्त करना चाहे तो उसके लिये एक ही शास्त्र ज्ञान-कोष के समान पर्याप्त है और वह है– **'उत्तराध्ययन सूत्र'।**

सागर कहने को 'रत्नाकर' है परन्तु सब जानते हैं कि रत्न, उसकी गहराई में खोजने पर ही प्राप्त होते हैं। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में रत्न खोजने की आवश्यकता नहीं। इसकी तो प्रत्येक पंक्ति रत्न है। एक-एक शब्द अमूल्य है। एक-एक वाक्य परिपूर्णकारी ज्ञान का पर्याय

है। एक-एक पद समग्र जीवन-दर्शन का द्वार है। आंखें खोलते ही स्वयमेव खुल जाने वाला द्वार है। कदम बढ़ाते ही प्रशस्त हो जाने वाला पथ है यह शास्त्र। साधना से साध्य तक, कर्म से फल तक तथा जीव से अजीव तक विस्तृत ज्ञान के गहनतम विपुल भण्डार का नाम है– 'उत्तराध्ययन सूत्र'। आत्म-परिचय से आत्मोपलब्धि तक, सभी सिद्धि-दायक प्रक्रियाओं की सम्पूर्ण विवेचना है यह। इसका पठन-पाठन, चिन्तन-मनन व आचरण पारस के समान है। इसके सम्पर्क से असंख्य लौह, स्वर्ण बन गये, असंख्य अज्ञानी, ज्ञानी हो गये और असंख्य बंधन, मुक्ति हो चले।

यह इसकी एक विशिष्ट शक्ति है कि अर्थ ज्ञान न होने पर भी किसी साधक द्वारा इसका नित्य-पाठ महान् आत्मिक-शुद्धि की दिशा में उसी प्रकार अचूक प्रभाव उत्पन्न करता है, जिस प्रकार सर्प द्वारा दंशित व्यक्ति पर, मंत्रों के अर्थ न जानने पर भी विशेष मंत्रों को सुनने का प्रभाव पड़ता है। फिर अर्थ-सहित स्वाध्याय की तो बात ही क्या है! मंत्र-श्रवण मात्र से सर्प-दंशित व्यक्ति के शरीर से विष का निवारण होता है। इसी प्रकार भगवान् की वाणी पढ़ने या सुनने से आत्मा पर आच्छादित कर्म-आवरणों का निवारण होता है। सभी सुख-दुःख कर्मों के फल हैं। अतः 'उत्तराध्ययन सूत्र' सभी लौकिक-अलौकिक समस्याओं के समाधान की शक्ति से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से 'परिशिष्ट' में विशिष्ट सामग्री यहां प्रकाशित की जा रही है।

इतने महत्वपूर्ण सूत्र का यह जो अनुवाद-रूप धर्म-कार्य सम्पन्न हुआ, यह मेरा अपना कार्य नहीं है। वस्तुतः यह तो गुरुदेव योगिराज की ही असीम कृपा का फल है। उन की कृपा न होती तो इस कार्य का संभव होना असंभव था। परम पूज्य संघ शास्ता शासन-सूर्य गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज का कदम-कदम पर मुझे दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ। उनके लिये मेरा रोम-रोम कृतज्ञ है। सरल आत्मा पूज्य श्री शिवचन्द जी (भगत जी) महाराज का स्नेहिल आशीर्वाद मुझे बराबर ऊर्जा देता रहा। मेरी स्वाध्याय में उनका भी आधारभूत योगदान है। श्री रमेश मुनि जी व श्री अरुण मुनि जी का स्वाध्याय-सहकार निरन्तर बना रहा। श्री नरेन्द्र मुनि जी, मुनि रत्न श्री अमित मुनि जी, श्री विनीत मुनि

जी, श्री हरि मुनि जी तथा श्री प्रेम मुनि जी की सेवायें मेरे लिये सदैव प्रस्तुत रहीं। महासाध्वी श्री सुन्दरी देवी जी महाराज की भी मधुर प्रेरणा रहती। वे हमेशा पूछतीं–"आपका 'उत्तराध्ययन' कब आ रहा है?" उनकी सुशिष्याओं साध्वी रत्न श्री सुशील जी, तपोनिधि साध्वी सुषमा जी, साध्वी संगीता जी, साध्वी सौरभ जी, साध्वी सुनीता जी आदि सभी साध्वियों ने इस कार्य में रुचि ली। संगीति में भाग लिया। प्रकाशन से पूर्व प्रस्तुत अनुवाद को पढ़ा-बाँचा। साध्वी रत्न श्री स्नेह कुमारी जी महाराज व साध्वी रश्मि जी आदि साध्वियों ने भी इसमें भरपूर रुचि ली। साध्वी मनोरमा जी, साध्वी यशा जी आदि की सहज उत्सुकता ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। साध्वी प्रियदर्शना जी की प्रतीक्षा ने भी इस कार्य-प्रेरणा को उद्दीप्त किया। जैन दर्शन के प्रबुद्ध मनीषी डा० दामोदर प्रसाद शास्त्री ने इस कार्य में अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया। डॉ. विनय विश्वास की श्रद्धा-भक्ति भरा सहयोग भी अविस्मरणीय है। जिन पूर्व अनुवादों का प्रस्तुत अनुवाद में सहयोग मिला, उन सभी के लिये, तथा जिन व्यक्तियों की इस कार्य में किंचित् भी भूमिका रही, उन सभी के लिये मैं हार्दिक आभार और साधुवाद प्रस्तुत करता हूं।

और अन्त में, स्पष्ट कर दूं कि मैं संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का विद्वान नहीं हूं। अपनी सीमित क्षमताओं के आधार पर जो यह कार्य मुझ से हुआ, इसमें त्रुटियों का रह जाना सहज है। भगवद्-वाणी के विपरीत यदि कोई प्ररूपणा हो गई हो तो उसके लिये मैं पूर्ण विनय-भाव से क्षमा-याचना करता हूं। 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' लेता हूं।

—सुभद्र मुनि

अनुक्रम

क्रमांक		विषय	पृष्ठ
1.	पहला अध्ययन	: विनय-श्रुत	1
2.	दूसरा अध्ययन	: परीषह-प्रविभक्ति	23
3.	तीसरा अध्ययन	: चतुरंगीय	47
4.	चौथा अध्ययन	: असंस्कृत	59
5.	पांचवां अध्ययन	: अकाम-मरणीय	69
6.	छठा अध्ययन	: क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय	85
7.	सातवां अध्ययन	: उरभ्रीय	97
8.	आठवां अध्ययन	: कापिलीय	113
9.	नौवां अध्ययन	: नमि प्रव्रज्या	125
10.	दसवां अध्ययन	: द्रुमपत्रक	153
11.	ग्यारहवां अध्ययन	: बहुश्रुत-पूजा	171
12.	बारहवां अध्ययन	: हरिकेशीय	191
13.	तेरहवां अध्ययन	: चित्रसम्भूतीय	213
14.	चौदहवां अध्ययन	: इषुकारीय	231
15.	पन्द्रहवां अध्ययन	: सभिक्षुक	255
16.	सोलहवां अध्ययन	: ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान	269
17.	सत्रहवां अध्ययन	: पाप श्रमणीय	295
18.	अठारहवां अध्ययन	: संजयीय	307
19.	उन्नीसवां अध्ययन	: मृगापुत्रीय	331
20.	बीसवां अध्ययन	: महानिर्ग्रन्थीय	367
21.	इक्कीसवां अध्ययन	: समुद्रपालीय	391
22.	बाईसवां अध्ययन	: रथनेमीय	405

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
23. तेईसवां अध्ययन	: केशी गौतमीय	425
24. चौबीसवां अध्ययन	: प्रवचन-माता	457
25. पच्चीसवां अध्ययन	: यज्ञीय	473
26. छब्बीसवां अध्ययन	: सामाचारी	493
27. सत्ताईसवां अध्ययन	: खलुंकीय	519
28. अट्ठाईसवां अध्ययन	: मोक्ष मार्ग गति	531
29. उनत्तीसवां अध्ययन	: सम्यक्त्व पराक्रम	549
30. तीसवां अध्ययन	: तपोमार्ग गति	611
31. इकत्तीसवां अध्ययन	: चरण-विधि	633
32. बत्तीसवां अध्ययन	: प्रमाद-स्थान	653
33. तेंतीसवां अध्ययन	: कर्म-प्रकृति	703
34. चौंतीसवां अध्ययन	: लेश्या अध्ययन	721
35. पैंतीसवां अध्ययन	: अनगार-मार्ग-गति	747
36. छत्तीसवां अध्ययन	: जीवाजीव-विभक्ति	759
परिशिष्ट :		
उत्तराध्ययन कथा-कोष		851
उत्तराध्ययन सूक्ति-कोष		871
उत्तराध्ययन : जिज्ञासा-समाधान		883
उत्तराध्ययन मंत्र-गाथायें		886
अस्वाध्याय काल : एक दृष्टि		890

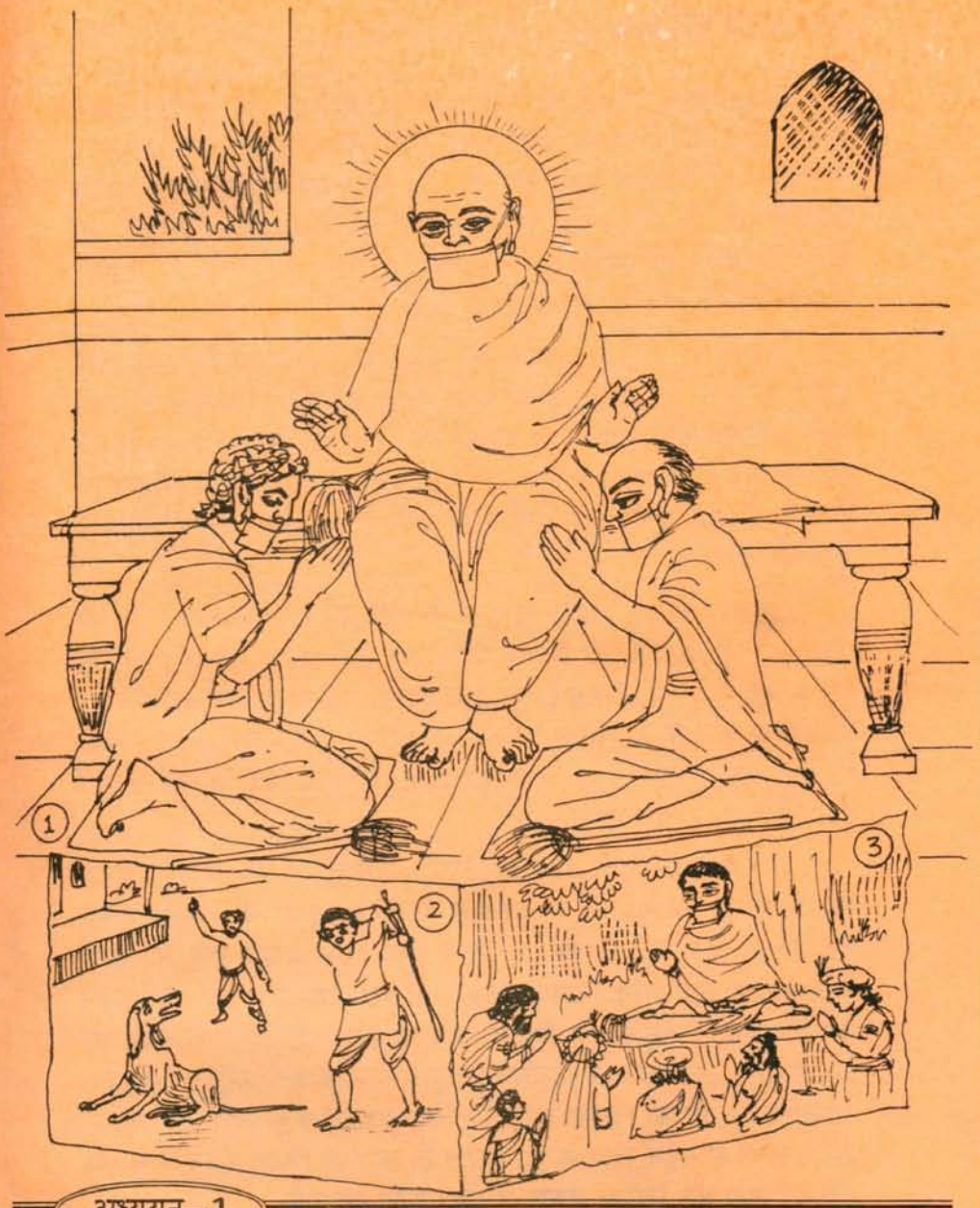

अध्ययन–1

विनय श्रुत

अध्ययन परिचय

अड़तालीस गाथाओं से निर्मित प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–विनय। इसीलिये इसका नाम 'विनय श्रुत' रखा गया। जैन साधना-पद्धति में 'विनय' को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। मोक्ष का प्रधान कारण सम्यक् चारित्र बतलाया गया है। यह सम्यक् चारित्र सम्यक् ज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं होता। ज्ञान की प्राप्ति विनय-पूर्ण व्यवहार से ही शिष्य को सम्भव हो पाती है। इसलिये विनय-धर्म का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

वास्तव में मोक्ष के साधक को संवर व निर्जरा–इन दो चक्रों वाले चारित्र-रूपी रथ पर आरूढ़ होकर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना होता है। संवर व निर्जरा का प्रमुख साधन तप को माना गया है। 'विनय' आभ्यन्तर तप का एक रूप है। क्लेशप्रद सकल कर्मों का विनय अर्थात् उन्मूलन करने वाला होने से ज्ञानार्थी शिष्य का अनुशासित तपोमय आचरण 'विनय' नाम से अभिहित होता है।

'विनय' वस्तुतः अहम्-भाव के विसर्जन की विशिष्ट साधना है। यह एक 'सूत्र' या धागा है, जो ज्ञानार्थी शिष्य और ज्ञान-प्रदाता गुरु–इन दोनों के मन को एकसूत्रता में जोड़ता है। यह एक आचार संहिता है, जो ज्ञानार्थी शिष्य के कर्त्तव्य व व्यवहार-सम्बन्धी विधि-निषेधों को रेखांकित करती है। संक्षेप में, यह आध्यात्मिक जीवन-यात्रा की प्रथम सीढ़ी है, जिसे आधार-रूप में अपनाये बिना उन्नति संभव नहीं।

विनय 'मानसिक दासता' नहीं, अपितु जीवन में निर्द्वन्द्वता, निरभिमानता, निश्छलता व सरलता आदि सद्गुणों की अभिव्यंजना है। 'विनय-धर्म' के माध्यम से शिष्य एक तरफ बाह्य रूप में अपनी आज्ञाकारिता, सेवा-वृत्ति, विनम्रता, कालोचित स्वाध्यायशीलता आदि से गुरुजनों की निकटता, अनुकूलता व प्रियपात्रता प्राप्त करता है, तो दूसरी तरफ वह अपनी सरल, निश्छल व अनुशासित मनोवृत्ति से स्वयं ज्ञान-प्राप्ति के अनुकूल आन्तरिक स्थिति का निर्माण करता है। वह विद्यार्जन में बाधक 'स्त्री-संपर्क' आदि कार्यों से सदैव स्वयं को दूर रखता है। साथ ही विद्या-प्राप्ति में साधक गुरु-प्रसन्नता हेतु विविध प्रकार से प्रयत्नशील रहता है।

विनय-सम्पन्न व्यक्ति लोकव्यापी यशस्विता, गुरुजनों व ज्ञान की प्रिय पात्रता एवम् लोक-पूज्यता आदि महनीय उपलब्धियों का स्वामी होता हुआ

व्यावहारिक धरातल पर भी लाभान्वित होता है। वह धर्माचरण में तत्पर अन्य साधर्मिकों के लिये भी एक आदर्श आधार या आश्रय बन जाता है। उक्त सभी दृष्टियों से 'विनय' को शिक्षा का फल तथा सर्व कल्याणों का मूल हेतु कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रथम अध्ययन में 'विनय' से सम्बन्धित समग्र अपेक्षित अंगों का सारगर्भित व प्रभावपूर्ण निरूपण किया गया है। भिक्षाजीवी श्रमण अनगार के लिये ज्ञातव्य विनय तथा अविनय का व्यावहारिक स्वरूप, विनय का लाभ, अविनय का दुष्फल, गुरुजनों के प्रति करणीय शिष्टाचार व अकरणीय अशिष्टाचार, भिक्षा-ग्रहण, आहार-सेवन व भाषणादि सामान्य चर्याओं में अपेक्षित विवेक, विद्या-प्राप्ति में बाधक तत्व—इत्यादि विषयों पर यहां यथोचित प्रकाश डाला गया है।

बताया गया है कि **विनय आत्म-कल्याण का आधार है। इस से साधक का ज्ञान भी विकसित होता है और चारित्र भी निर्मल होता है। द्वन्द्व-रहित आह्लादपूर्ण जीवन का यह स्रोत है। इस से ऋजुता और गुण-सम्पदा जैसी वास्तविक उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। व्यक्तिगत स्वार्थों का अन्धकार छंटता है।** वास्तविक उपलब्धियों से सम्पन्न जीवन, चाहे वह किसी का भी हो, की अनुमोदना करने के लिये सहृदयता से परिपूर्ण क्षमता मिलती है। विनयशील शिष्य अपने जीवन को गुरु के संकेतों की व्याख्या बनाते हुए जिनेन्द्र-प्ररूपित धर्म का साकार रूप हो जाता है। स्व-पर-कल्याण की सामर्थ्य अर्जित कर लेता है।

लौकिक और लोकोत्तर, ये विनय के दो भेद हैं। लौकिक विनय है—अर्थ-विनय, काम विनय, भय विनय, लोकोपचार-विनय। लोकोत्तर विनय को मोक्ष विनय भी कहा गया है। दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चरित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय, ये मोक्ष विनय के प्रकार हैं। इसी प्रकार—मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय आदि 'विनय' के अनेक भेद-प्रभेद आगमों में प्रतिपादित किये गये हैं। साधक के अंतर्बाह्य जगत् को आलोकित करने वाले इस व्यापक एवम् आधारभूत धर्म का स्वरूप अनेक दृष्टियों से उद्घाटित करने के कारण प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

विणयसुयं पढमं अज्झयणं

(विनयश्रुतं प्रथममध्ययनम्)

मूल : **संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।**
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ।।१।।

संस्कृत : संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः।
विनयं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ।।१।।

मूल : **आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।**
इंगियागारसंपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चइ ।।२।।

संस्कृत : आज्ञानिर्देशकरः, गुरूणामुपपातकारकः।
इङ्गिताकारसंपन्नः, स विनीत इत्युच्यते ।।२।।

मूल : **आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।**
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ।।३।।

संस्कृत : आज्ञाऽनिर्देशकरः, गुरूणामनुपपातकारकः।
प्रत्यनीकोऽसंबुद्धः, अविनीत इत्युच्यते ।।३।।

मूल : **जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।**
एव दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ।।४।।

संस्कृत : यथा शुनी पूतिकर्णी, निष्कास्यते सर्वतः।
एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः, मुखरो निष्कास्यते ।।४।।

मूल : **कणकुण्डगं चइत्ता णं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।**
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ।।५।।

संस्कृत : कणकुण्डकं त्यक्त्वा, विष्ठां भुंक्ते शूकरः।
एवं शीलं त्यक्त्वा, दुःशीले रमते मृगः ।।५।।

पहला अध्ययन :
विनय-श्रुत

१. (बाह्य व आन्तरिक) संयोगों (के वन्धनों) से विशेष-मुक्त अनगार भिक्षु के 'विनय' (अर्थात् आचार) धर्म को (मैं) क्रमशः प्रकट (निरूपण) करूंगा, जिसे (तुम) मुझसे सुनो।

२. जो (गुरु के) आज्ञा (उपदेश) व निर्देश (वचन) का पालन करता है, गुरु के समीपवर्ती (रहते हुए उनके) इंगित (संकेत) व आकार (चेष्टा) को समझता है, उसे 'विनीत' कहा जाता है।

३. जो (गुरु के) आज्ञा (उपदेश) व निर्देश (वचन) का पालन नहीं करता, गुरु के समीपवर्ती नहीं रहता, (गुरु के) प्रतिकूल आचरण करता है तथा गुरु के इंगित व चेष्टा को नहीं समझता - न समझने वाला अज्ञानी है, उसे 'अविनीत' कहा जाता है।

४. जैसे सड़े कान की कुतिया को सर्वत्र (सव स्थानों से) निकाला जाता है, उसी प्रकार दुराचारी, प्रतिकूल (आचरण करने वाले) तथा वाचाल (निरर्थक वोलने वाले शिष्य) को (सर्वत्र) निकाल दिया जाता है।

५. (जिस प्रकार) चावलों की भूसी को छोड़ कर सूअर विष्ठा को खाता है, उसी प्रकार पशु (के समान अज्ञानी शिष्य) शील (सदाचार) को भी छोड़कर, दुराचार में रमण करता है।

मूल : **सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।**
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ।।६।।

संस्कृत : श्रुत्वाऽभावं शुन्याः, शूकरस्य नरस्य च।
विनये स्थापयेदात्मानम्, इच्छन् हितमात्मनः।।६।।

मूल : **तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ।**
बुद्धपुत्त नियागट्टी, न निक्कसिज्जइ कण्हुई ।।७।।

संस्कृत : तस्माद् विनयमेषयेत् , शीलं प्रतिलभेत यतः।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी, न निष्कास्यते कुतश्चित्।।७।।

मूल : **निस्सन्ते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।**
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ।।८।।

संस्कृत : निःशान्तः स्यादमुखरिः, बुद्धानामन्तिके सदा।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत, निरर्थानि तु वर्जयेत्।।८।।

मूल : **अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंति सेविज्ज पण्डिए।**
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ।।९।।

संस्कृत : अनुशासितो न कुप्येत्, क्षांतिं सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः सह संसर्गं, हासं क्रीडां च वर्जयेत् ।।९।।

मूल : **मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।**
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो ।।१०।।

संस्कृत : मा च चण्डालिकं कार्षीः, बहुकं मा चालपेत् ।
कालेन चाधीत्य, ततो ध्यायेदेककः।।१०।।

मूल : **आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।**
कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ।।११।।

संस्कृत : आहत्य चण्डालिकं कृत्वा, न निह्नवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत, अकृतं नो कृतमिति च।।११।।

६. (उपर्युक्त) कुतिया, सूअर व (दुराचारी) व्यक्ति की दुर्गति (या दृष्टान्त) को सुनकर, आत्म-कल्याण का इच्छुक (साधु) स्वयं को 'विनय' में प्रतिष्ठित करे।

७. इसलिए 'विनय' का आचरण करे, जिसके फलस्वरूप 'शील' (रत्न) प्राप्त हो। बुद्ध पुत्र (अर्थात् आचार्यादि के पुत्रवत् प्रिय) एवं मोक्षार्थी (शिष्य) को कहीं से भी निष्कासित नहीं किया जाता।

८. आचार्य/गुरु के समीप सदा अतिशान्त-चित्त रहे, तथा वाचाल न बने। (उनसे) अर्थयुक्त (अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति आदि से सम्बद्ध उपयोगी व शास्त्रीय वचनों की) शिक्षा ग्रहण करे, किन्तु निरर्थक (वचनों) को छोड़ दे।

९. अनुशासन में रहता हुआ पण्डित/ज्ञानी (शिष्य) क्रोध न करे, (अपितु) क्षमाभाव का सेवन करे। क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हंसी (उपहास) तथा क्रीड़ा का त्याग कर दे।

१०. (शिष्य) क्रोधवश मिथ्या-भाषण (या नीच-कर्म) न करे, और न ही अत्यधिक बोले (बकवास न करे)। यथासमय अध्ययन करे और उसके बाद एकाकी 'ध्यान' करे।

११. (यदि) अकस्मात् क्रोध-वश असत्य-भाषण (या नीच-कर्म) हो जाए तो उसे कभी भी छिपाये नहीं। किये (कर्म) को किया है ऐसा कहे, और न किये (कर्म) को 'नहीं किया' ऐसा कहे।

मूल : **मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।**
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ।।१२।।

संस्कृत : मा गलिताश्व इव कशं, वचनमिच्छेत् पुनः पुनः।
कशमिव दृष्ट्वाऽऽकीर्णः, पापकं परिवर्जयेत् ।।१२।।

मूल : **अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चण्डं पकरंति सीसा।**
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयंपि ।।१३।।

संस्कृत : अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः, मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वते शिष्याः।
चित्तानुगाः लघुदाक्ष्योपपेताः, प्रसादयेयुस्ते खलु दुराश्रयमपि ।।१३।।

मूल : **नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।**
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ।।१४।।

संस्कृत : नापृष्टो व्यागृणीयात् किंचित्, पृष्टो वा नालीकं वदेत् ।
क्रोधमसत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम् ।।१४।।

मूल : **अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।**
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।।१५।।

संस्कृत : आत्मा चैव दमितव्यः, आत्मैव खलु दुर्दमः।
आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिंल्लोके परत्र च ।।१५।।

मूल : **वरं मे अप्पा दन्तो , संजमेण तवेण य।**
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य ।।१६।।

संस्कृत : वरं मयात्मा दान्तः, संयमेन तपसा च।
माऽहं परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च ।।१६।।

मूल : **पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।**
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ।।१७।।

संस्कृत : प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ।।१७।।

१२. जिस प्रकार अविनीत (अड़ियल) घोड़े को बार-बार चाबुक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार (शिष्य) बार-बार (आदेश या उपदेश रूप) वचन की अपेक्षा न रखे। चाबुक को देखते ही विनीत या प्रशिक्षित घोड़ा जैसे (उन्मार्ग-त्यागी) होता है, वैसे ही (विनीत शिष्य गुरु के संकेत-मात्र से) पाप-कर्म को छोड़ दे।

१३. (आज्ञा को) न सुनने वाले, बिना सोचे-समझे बोलने वाले तथा दुराचारी शिष्य (हों, तो वे) मृदुस्वभावी (गुरु) को भी क्रोधित कर देते हैं। (किन्तु गुरु के) मनोभावों के अनुकूल चलने वाले तथा निपुणता से युक्त शिष्य (हों, तो वे) उग्रस्वभावी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

१४. (शिष्य) बिना पूछे कुछ भी न बोले, पूछने पर झूठ न बोले। क्रोध (आ जाए तो उस) को 'असत्' (अर्थात् निर्मूल) कर दे, और गुरु जनों के प्रिय और अप्रिय (दोनों ही वचनों) को धारण करे, स्वीकार करे।

१५. (शिष्य को) स्वयं का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि (स्वयं अपनी) आत्मा का दमन कठिन होता है। दमित की गई आत्मा (ही) इस लोक और परलोक में भी सुखी होती है।

१६. (शिष्य चिन्तन करे) मेरे लिए यह श्रेष्ठ है कि संयम व तप के द्वारा मैं स्वयं आत्मा का दमन करूं। यह (अच्छा) नहीं कि दूसरे (लोग) बन्धन व वध के द्वारा मेरा दमन करें।

१७. (शिष्य) किसी के सामने, या एकान्त स्थान में भी, प्रबुद्ध जनों (आचार्यादि) के प्रतिकूल कार्य, वाणी से या कर्म से, कभी न करे।

मूल : **न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।**
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ।। १८ ।।

संस्कृत : न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्जीतोरुणोरुं, शयने नो प्रतिश्रृणुयात् ।। १८।।

मूल : **नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं च संजए।**
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए ।। १९ ।।

संस्कृत : नैव पर्यस्तिकां कुर्यात् , पक्षपिण्डं च संयतः।
पादौ प्रसार्य वापि, न तिष्ठेद् गुरुणामन्तिके ।। १९।।

मूल : **आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाइ वि।**
पसायपेही नियागट्टी, उवचिट्ठे गुरुं सया ।। २० ।।

संस्कृत : आचार्यैर्व्याहृतः, तूष्णीको न कदापि च।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी, उपतिष्ठेद् गुरुं सदा ।। २०।।

मूल : **आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।**
चइऊणमासणं धीरो, जओ जुत्तं पडिस्सुणे ।। २१ ।।

संस्कृत : आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदापि च।
त्यक्तासनं धीरः, यतो युक्तं प्रतिश्रृणुयात् ।। २१।।

मूल : **आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइ वि।**
आगम्ममुक्कडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ।। २२ ।।

संस्कृत : आसनगतो न पृच्छेत् , नैव शय्यागतः कदापि च।
आगम्योत्कटिकः सन् , पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ।। २२।।

मूल : **एवं विणयजुत्तस्स, सुत्तं अत्थं च तदुभयं।**
पुच्छमाणस्स सीसस्स, वागरिज्ज जहासुयं ।। २३ ।।

संस्कृत : एवं विनययुक्तस्य, सूत्रमर्थं च तदुभयम् ।
पृच्छतः शिष्यस्य, व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम् ।। २३।।

१८. आचार्यादि के न तो बराबर में बैठे, और न ही उनकी ओर पीठ करके बैठे। (उनकी) जांघ या घुटने से अपनी जांघ या घुटना न सटाए, और न ही शयनासन पर (बैठे-बैठे ही) उनके कथन को सुने/स्वीकृति दे। (आसन छोड़ कर समीप जाकर विनयपूर्वक उनके कथन को सुने)

१९. संयमी (शिष्य) गुरुजनों के समीप पालथी लगा कर न बैठे। दोनों हाथों से शरीर को बांधकर तथा पाँव पसार कर भी न बैठे।

२०. आचार्य के द्वारा बुलाने पर (शिष्य), कभी मौन (होकर बैठा) न रहे, अपितु गुरु-कृपा के प्रसाद का आकांक्षी व मोक्षार्थी (शिष्य) सदैव गुरु के पास सविनय समुपस्थित रहे।

२१. (गुरु द्वारा) एक बार या बार-बार बुलाये जाने पर (शिष्य) कभी भी बैठा न रहे। (बल्कि) धैर्य-युक्त (शिष्य) आसन छोड़ कर, संयत भाव से, जो कुछ भी (गुरु-आज्ञा) हो, उसको (क्रियान्विति हेतु) स्वीकृत करे।

२२. (शिष्य) अपने आसन पर बैठे-बैठे ही, और शय्या पर स्थित (बैठे या लेटे) हुए ही (गुरु से) कभी कोई बात न पूछे। (अपितु) समीप आकर, उकडूं बैठ कर, हाथ जोड़ कर (आज्ञा) पूछे।

२३. इस (उपर्युक्त) प्रकार से, विनय-युक्त शिष्य (यदि) सूत्र या अर्थ, एवं सूत्र व अर्थ-दोनों के विषय में पूछने आया हो (तो) उसे (गुरु) यथाश्रुत (जैसा सुना-समझा हो, वैसा) कहे।

मूल : **मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणिं वए।**
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया।। २४।।

संस्कृत : मृषां परिहरेद् भिक्षुः, न चावधारिणिं वदेत् ।
भाषादोषं परिहरेत् , मायां च वर्जयेत् सदा।। २४।।

मूल : **न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।**
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा।। २५।।

संस्कृत : न लपेत् पृष्टः सावद्यं, न निरर्थं न मर्मकम् ।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा।। २५।।

मूल : **समरेसु आगारेसु, सन्धीसु य महापहे।**
एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे।। २६।।

संस्कृत : समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ।। २६।।

मूल : **जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।**
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे।। २७।।

संस्कृत : यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिश्रृणुयात् ।। २७।।

मूल : **अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।**
हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो।। २८।।

संस्कृत : अनुशासनमौपायं, दुष्कृतस्य च चोदनम् ।
हितं तन्मन्यते प्राज्ञः, द्वैष्यं भवत्यसाधोः।। २८।।

मूल : **हियं विगयभया बुद्धा, फरुसंपि अणुसासणं।**
वेसं तं होइ मूढाणं, खन्तिसोहिकरं पयं।। २९।।

संस्कृत : हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वैष्यं तद् भवति मूढानां, क्षान्तिशुद्धिकरं पदम् ।। २९।।

२४. भिक्षु असत्य-भाषण का त्याग करे, और निश्चयात्मक भाषा (भी) न बोले,[1] भाषा सम्बन्धी दोषों का, तथा माया (कपट) का सदैव परित्याग करे।

२५. कोई पूछे, तो अपने लिए, दूसरों के लिए, या दोनों के (प्रयोजन की सिद्धि के) लिए, या निष्प्रयोजन भी सावद्य (पापकारक), निरर्थक व मर्मभेदी (वचन) नहीं बोले।

२६. समर-स्थल, लोहार-शाला में, (शून्य) घरों में, दो घरों की सीमाओं की सन्धि हो-उस (खाली) स्थान में, तथा राज-मार्ग में (अर्थात् कहीं भी) एकाकी (भिक्षु) किसी अकेली स्त्री के साथ न तो खड़ा हो और न वार्तालाप करे।

२७. प्रबुद्ध (आचार्य-जन) मुझे जो (कुछ भी) कठोर या शीतल-मृदु (वचनों से) शिक्षा देते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है - ऐसा विचार करते हुए, (शिष्य उनके अनुशासन को) प्रयत्नशील होकर (कर्तव्य रूप में) स्वीकार करे।

२८. (गुरु के समीप में रह कर प्राप्त और शिक्षादि का उपाय-भूत) 'अनुशासन' दुष्कृत्यों का निवारक होता है, उसे बुद्धिमान (शिष्य) हितकारी मानता है, (किन्तु) असाधु (अर्थात् अयोग्य शिष्य) के लिए (वही अनुशासन) द्वेष (या द्वेष का निमित्त) बन जाता है।

२९. (जो) निर्भीक व प्रबुद्ध (शिष्य हैं वे) कठोर अनुशासन को भी हितकारी मानते हैं, (किन्तु) क्षमा-भाव (सहनशीलता) तथा (मानसिक) शुद्धि को उत्पन्न करने वाला (यह अनुशासन-रूप) 'पद' (भी) मूढ़ (शिष्यों) के लिए द्वेष (का निमित्त) बन जाता है।

---

१. कहीं, कही हुई बात किन्हीं कारणों से घटित नहीं भी हो तो मिथ्या भाषण का दोष सम्भावित है - इस दृष्टि से 'निश्चयात्मक' भाषा का निषेध समझना चाहिए।

मूल : **आसणे उवचिट्ठेज्जा, अणुच्चे अकुए थिरे।**
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई, निसीएज्जप्पकुक्कुए ।। ३० ।।

संस्कृत : आसने उपतिष्ठेत् , अनुच्चे अकुचे स्थिरे।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी, निषीदेदल्पकुक्कुचः ।। ३०।।

मूल : **कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।**
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ।। ३१ ।।

संस्कृत : कालेन निष्क्रमेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रमेत् ।
अकालं च विवर्ज्य, काले कार्यं समाचरेत् ।। ३१।।

मूल : **परिवाडीए न चिट्ठेज्जा, भिक्खू दत्तेसणं चरे।**
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ।। ३२ ।।

संस्कृत : परिपाट्यां न तिष्ठेत्, भिक्षुर्दत्तैषणां चरेत् ।
प्रतिरूपेणैषयित्वा, मितं कालेन भक्षयेत् ।। ३२।।

मूल : **नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ।**
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ।। ३३ ।।

संस्कृत : नातिदूरमनासन्नः, नान्येषां चक्षुस्पर्शतः।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थं, लङ्घयित्वा तं नातिक्रमेत् ।। ३३।।

मूल : **नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।**
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ।। ३४ ।।

संस्कृत : नात्युच्चैर्नीचैर्वा, नासन्ने नातिदूरतः।
प्रासुकं परकृतं पिण्डं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।। ३४।।

३०. (शिष्य गुरु के समीप) ऐसे आसन पर बैठे जो (गुरु के आसन से) ऊँचा न हो, आवाज न करता हो, तथा स्थिर हो। (जब शिष्य) बैठे तो निष्प्रयोजन उठे नहीं, (और) कम उठना-बैठना करे, तथा (हाथ-पैर आदि से) असत् चेष्टाएं न करे।

३१. भिक्षु यथासमय (ही भिक्षार्थ) निष्क्रमण करे, और यथासमय (ही) लौट आये। अकाल (अयोग्य/अनुचित समय पर कार्य करने) का त्याग कर, समयोचित कार्य को यथासमय (ही) करे।

३२. (जीमनवार की) पंक्ति में भिक्षु खड़ा न रहे, (गृहस्थ द्वारा) प्रदत्त (भिक्षा) की एषणा (ग्रहण) करे, (और) यथोचित (मर्यादानुरूप) भिक्षा ग्रहण कर, यथोचित समय में परिमित भोजन करे।

३३. (किसी गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ जाने पर यदि अन्य कोई एक या अनेक भिक्षु वहां उपस्थित हों, तो ऐसी स्थिति में उन भिक्षुओं से) न तो अत्यन्त दूर और न ही अधिक निकट ही खड़ा रहे। अन्य (गृहस्थित) व्यक्तियों की दृष्टि के सामने भी न खड़ा रहे, बल्कि भिक्षा के लिए एकाकी (एकान्त में या राग-द्वेषरहित होकर) खड़ा (होकर प्रतीक्षा करता) रहे, (किन्तु) उस (पहले आए हुए भिक्षु) का अतिक्रमण न करे (अर्थात् पहले आए भिक्षु को लांघ कर, उससे पहले भिक्षा लेने का यत्न न करे)।

३४. संयमी मुनि प्रासुक (अचित्त - जीवादि - रहित) तथा परकृत (गृहस्थ द्वारा स्वयं के लिए बनाये गए, न कि मुनि के लिए बनाये गये) आहार को ग्रहण करे। अत्यधिक ऊँचे स्थान से (लाए गये आहार को), तथा अतिसमीप या अत्यन्त दूरी से (दिए गए आहार को भी) ग्रहण न करे।

मूल : **अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि, पडिच्छन्नम्मि संवुडे।**
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडियं।।३५।।

संस्कृत : अल्पप्राणेऽल्पबीजे, प्रतिच्छन्ने संवृते।
समकं संयतो भुञ्जीत, यतनमपरिशाटिकम् ।।३५।।

मूल : **सुक्कडित्ति सुपक्किति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।**
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी।।३६।।

संस्कृत : सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम् ।
सुनिष्ठितं सुलष्ठमिति, सावद्यं वर्जयेन्मुनिः।।३६।।

मूल : **रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।**
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए।।३७।।

संस्कृत : रमते पण्डितान् शासत् , हयं भद्रमिव वाहकः।
बालं श्राम्यति शासत्, गलिताश्वमिव वाहकः।।३७।।

मूल : **खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।**
कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठित्ति मन्नई।।३८।।

संस्कृत : खड्डुका मे चपेटा मे, आक्रोशाश्च वधाश्च मे।
कल्याणमनुशिष्यमाणः, पापदृष्टिरिति मन्यते।।३८।।

मूल : **पुत्तो मे भाय नाइ त्ति, साहू कल्लाण मन्नई।**
पावदिट्ठि उ अप्पाणं, सासं दासि त्ति मन्नई।।३९।।

संस्कृत : पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति साधुः कल्याणं मन्यते।
पापदृष्टिरत्वात्मानं शिष्यमाणो दास इति मन्यते।।३९।।

३५. (जो स्थान) प्राणियों से रहित हो, (शालि आदि) बीजों से रहित हो, ऊपर से ढँका हुआ हो, (दीवार आदि से) घिरा हुआ हो, ऐसे स्थान में, संयमी (मुनि) अन्य सहधर्मी मुनियों के साथ (अथवा समता-भाव से) आहार-कण को (भूमि पर) न गिराते हुए, यतना-पूर्वक भोजन करे।

३६. (आहार करते हुए भोज्य वस्तुओं के विषय में) 'बहुत ही अच्छा बना है', 'अच्छी तरह पकाया गया है', 'अच्छी तरह काटा गया है', 'अच्छी जगह से लाया गया है', या 'अच्छी तरह से इसकी मूल कड़वाहट आदि हटा दी गई है', 'अच्छी तरह 'प्रासुक' किया गया है', या 'घी आदि अच्छी तरह समाविष्ट किया गया है', 'यह बहुत रसपूर्ण बना है', 'यह सभी तरह से सुन्दर है' - इस प्रकार की सावद्य (भाषा) को मुनि छोड़ दे।

३७. जिस प्रकार भद्र (उत्तम/अच्छे) घोड़े को हांकता हुआ वाहक (अश्व शिक्षक) आनन्दित होता है, उस प्रकार पण्डित (मेधावी शिष्य) को सिखाता हुआ (गुरु भी) आनन्दित होता है। किन्तु बाल (अविनीत शिष्य) को शिक्षा देता हुआ (गुरु), अड़ियल घोड़े को हांकने वाले वाहक (अश्वशिक्षक) की भांति खिन्न होता है।

३८. (गुरु के) कल्याणकारी अनुशासन को पापमयी दृष्टि वाला शिष्य ऐसा समझता है कि 'यह मुझे ठोकर मारी गई है', 'यह मुझे थप्पड़ मारा गया है', 'यह मेरे लिए गाली है', तथा 'यह मुझ पर प्रहार किया गया है'।

३९. (किन्तु) साधु (योग्य शिष्य) 'यह मुझे पुत्र, भाई व आत्मीय जन समझ कर शिक्षा दी जा रही है' - ऐसा समझते हुए (उस अनुशासन को) कल्याणकारी मानता है, किन्तु पाप दृष्टि (शिष्य) अनुशासन प्राप्त करने की स्थिति में स्वयं को 'दास' (के समान) समझता है।

मूल : **न कोवए आयरियं, अप्पाणंपि न कोवए।**
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए।।४०।।

संस्कृत : न कोपयेदाचार्यम् , आत्मानमपि न कोपयेत् ।
बुद्धोपघाती न स्यात्, न स्यात् तोत्रगवेषकः।।४०।।

मूल : **आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।**
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वएज्ज न पुणुत्ति य।।४१।।

संस्कृत : आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रातीकेन प्रसादयेत् ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः, वदेत्र पुनरिति च।।४१।।

मूल : **धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।**
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ।।४२।।

संस्कृत : धर्मार्जितं च व्यवहारं, बुद्धैराचरितं सदा।
तमाचरन् व्यवहारं, गर्हां नाभिगच्छति।।४२।।

मूल : **मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ।**
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए।।४३।।

संस्कृत : मनोगतं वाक्यगतं, ज्ञात्वाऽऽचार्यस्य तु।
तं परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ।।४३।।

मूल : **वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।**
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वइ सया।।४४।।

संस्कृत : वित्तोऽनोदितो नित्यं, क्षिप्रं भवति सुनोदितः।
यथोपदिष्टं सुकृतं, कृत्यानि कुरुते सदा।।४४।।

मूल : **नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए।**
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा।।४५।।

संस्कृत : ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा।।४५।

४०. (विनयी शिष्य) न तो आचार्य को कुपित करे, और न स्वयं अपने को कुपित करे। वह (आचार्यादि) प्रबुद्ध जनों का उपघातक (अनशनादि करने के लिए बाध्य करने वाला, या उनके ज्ञान-दर्शनादि की अवमानना करने वाला) न बने, और न ही उन्हें व्यथित करने वाला छिद्रान्वेषण ही करे।

४१. आचार्य (गुरु) को कुपित जान कर (विनीत शिष्य उन्हें) विश्वास या प्रीति पैदा करने वाले वचनों से प्रसन्न करे। हाथ जोड़ कर उन्हें शान्त करे, तथा यह कहे कि ऐसा (अपराध या दोष) दुबारा नहीं होगा।

४२. जो व्यवहार 'धर्म' से अर्जित किया जाता है, तथा जिसका प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा सदा आचरण किया जाता है, उस 'व्यवहार' का आचरण करने वाला (मुनि) निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

४३. (शिष्य को चाहिए कि वह) आचार्य (गुरु) के मनोगत और वाणी में निहित (अभिप्राय) को जान कर उसे वाणी से (कर्तव्य रूप में) स्वीकार करे और कार्य रूप से सम्पादित/निष्पादित करे।

४४. विनयादि से युक्त शिष्य (गुरु से) प्रेरणा प्राप्त किए बिना (ही) नित्य (कार्यरत) रहता है, और यदि उसे गुरु की सम्यक् प्रेरणा प्राप्त हो जाए, तो (उपदिष्ट) कार्यों को उपदेशानुरूप तथा (और भी अधिक) अच्छी तरह से तुरन्त सम्पन्न करता है।

४५. मेधावी (शिष्य उपर्युक्त विनय-धर्म को) जान कर 'विनीत' हो जाता है, (तब) लोक में उसकी कीर्ति होती है। प्राणियों के लिए जिस प्रकार पृथ्वी (आधार) होती है, उसी प्रकार वह सत्यकार्यों (व उसके अनुष्ठाताओं के) लिए 'शरण' (आधार) हो जाता है।

मूल : **पुज्जा जस्स पसीयंति, संबुद्धा पुव्वसंथुया।**
पसन्ना लाभइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं।।४६।।

संस्कृत : पूज्या यस्य प्रसीदन्ति, संबुद्धाः पूर्वसंस्तुताः।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति, विपुलमार्थिकं श्रुतम्।।४६।।

मूल : **स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए, मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया।**
तवो समायारि-समाहिसंवुडे, महज्जुई पंच वयाइं पालिया।।४७।।

संस्कृत : स पूज्यशास्त्रः सुविनीतसंशयः, मनोरुचिस्तिष्ठति कर्मसंपदा।
तपःसमाचारी-समाधिसंवृतः, महाद्युतिः पंच व्रतानि पालयित्वा।।४७।।

मूल : **स देव-गंधव्व-मणुस्सपूइए, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।**
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए।।४८।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : स देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः, त्यक्त्वा देहं मलपङ्कपूर्वकम्।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः, देवो वाल्परजो महर्द्धिकः।।४८।।
इति ब्रवीमि।

४६. पूज्य तत्व-ज्ञानी आचार्य जिस (विनीत शिष्य के) पूर्वाचरण पर प्रसन्न हो जाते हैं, प्रसन्न होकर (वे उसे) मोक्ष प्राप्ति के उपाय-रूप (या सार्थक) विपुल श्रुतज्ञान का लाभ देते हैं।

४७. (विपुल श्रुत-ज्ञान प्राप्त कर) उसका शास्त्र-ज्ञान सम्माननीय हो जाता है (अथवा स्वयं पूज्य व प्रशंसनीय या अनुशास्ता बन जाता है, अथवा उसके शास्ता गुरु-जन पूज्य बन जाते हैं), उसके संशय मिट जाते हैं, वह (गुरुओं के) मन का प्रिय पात्र हो जाता है, कर्म-सम्पदा से (दशविध समाचारी से या योगजनित विभूतियों से) सम्पन्न हो जाता है, तथा तप-समाचारी व समाधि से संवर-युक्त होकर, पांच (महा) व्रतों का पालन करता हुआ महान् तेजस्वी हो जाता है।

४८. देव, गन्धर्व व मनुष्यों से पूजित होता हुआ वह (विनीत शिष्य) (कर्मरूपी) मल व पंक से निर्मित 'देह' को त्याग कर या तो शाश्वत 'सिद्ध' (अवस्था को प्राप्त) होता है, अथवा (कर्म शेष रह गए हों तो वह) अल्प कर्म वाला महर्द्धिक देव बनता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

विनय के आचरण से 'शील' की प्राप्ति होती है। इस 'शील' के अभाव में, दु:शील व्यक्ति की विष्ठाभोजी सूअर की तरह अशोभनीय स्थिति होती है, और वह सड़े कान की कुतिया की तरह सभी स्थानों से दुत्कारा जाता है। कुशील शिष्य मृदु स्वभाव के गुरु को भी क्रोधित कर देता है, जब कि सुशील व विनीत शिष्य उग्रस्वभावी गुरु को भी प्रसन्न/अनुकूल कर लेता है। इसलिए आत्म-हितेच्छु साधक को चाहिए कि वह स्वयं को विनय-धर्म में स्थापित करे।

विनीत शिष्य चाबुक को देखते ही उन्मार्ग छोड़ देने वाले उत्तम जाति के घोड़े की तरह होता है जो गुरु के इंगितादि को देखकर ही उन्मार्ग को छोड़ने की प्रेरणा ले लेता है, और जिसे अनुशासित करते हुए गुरु को भी खिन्नता नहीं होती, अपितु प्रसन्नता ही होती है। शिष्य के विनयाचरण से प्रसन्न होकर पूज्य गुरु-जन मोक्षोपयोगी श्रुत-ज्ञान का लाभ शिष्य को करवा देते हैं। फलस्वरूप, वह गुरुजनों का प्रिय पात्र, पूज्य-शास्त्र-सम्पन्न, संशय-हीन, धर्म-सम्पदायुक्त, तप-समाचारी व समाधि से सम्पन्न, पंच महाव्रतादि के पालन से महान् तेजस्वी हो जाता है। देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य देह-त्याग के बाद मुक्त या अल्पकर्मा देव होता है। लोक में विनयी की कीर्ति होती है, वह सत्कार्यों एवं सत्कर्मियों के लिए शरण (आधार) हो जाता है।

❑❑

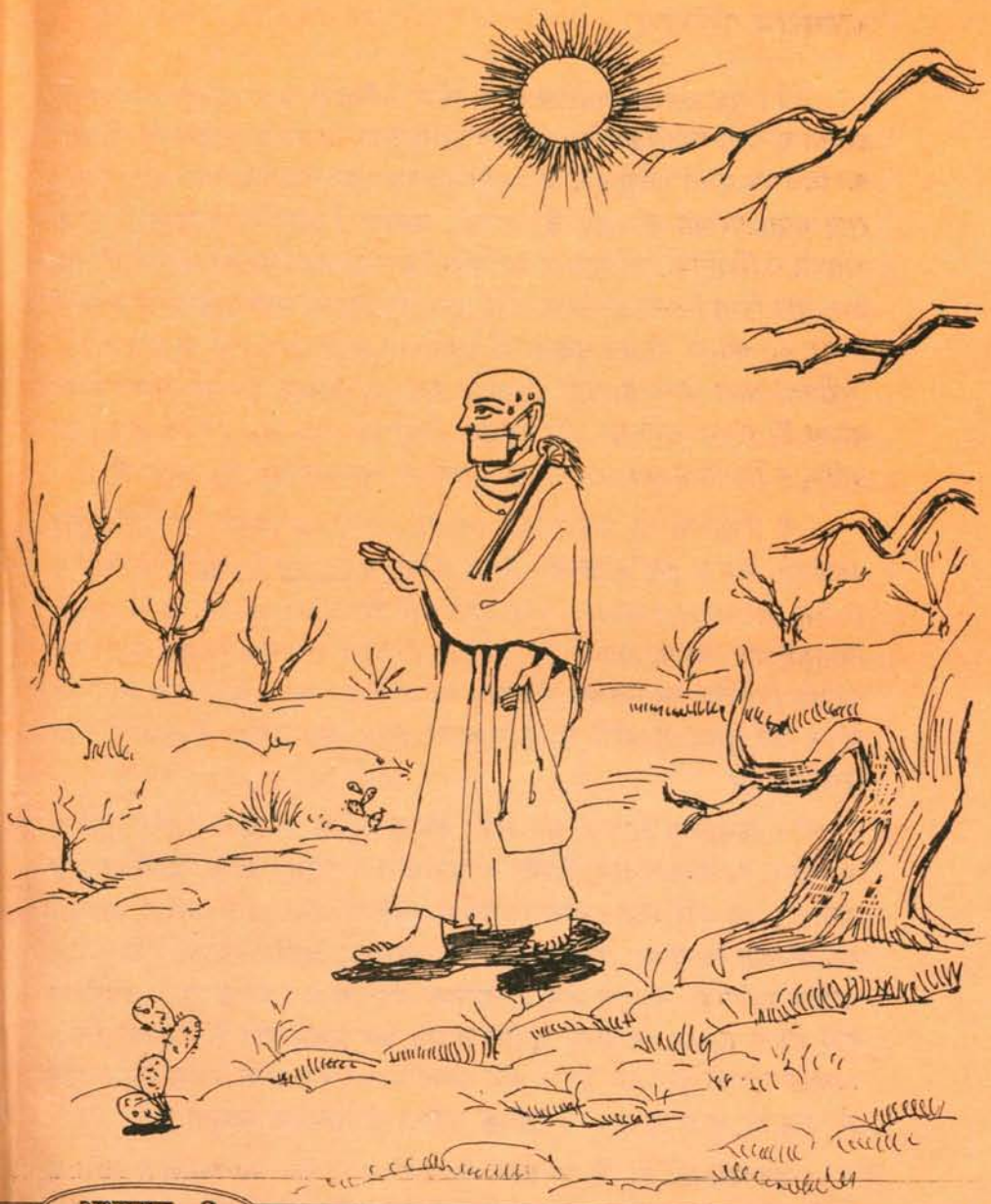

अध्ययन—2

परीषह-प्रविभक्ति

अध्ययन परिचय

तीन सूत्रों और छियालीस गाथाओं से निर्मित हुआ है–प्रस्तुत अध्ययन। इसका केन्द्रीय विषय है–साधक द्वारा परीषहों पर विजय प्राप्त करना। परीषहों का विवेचन करने वाला होने से प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'परीषह-प्रविभक्ति' रखा गया। परीषह का अर्थ है–साधक-जीवन में आने वाली ऐसी विशिष्ट अंतर्बाह्य स्थितियां, जो साधक को संयम-मार्ग से भ्रष्ट भी कर सकती हैं और उन्हें यदि बिना किसी आर्त्त-ध्यान के सम-भावपूर्वक सहा जाता है तो वे कर्म निर्जरा का कारण भी बन सकती हैं। समता से सहने योग्य होने के कारण इन्हें 'परीषह' कहा जाता है। इन्हें दृढ़ता से सह कर साधक इन पर विजय प्राप्त करता है। संयम-मार्ग पर और अधिक स्थिर होता है। कर्म-निर्जरा करता है। प्रतिकूल स्थितियों का भी आत्म-साधना में अनुकूल उपयोग करता है।

ये स्थितियां दो प्रकार की बतलाई गई हैं–अनुकूल और प्रतिकूल। आचारांग सूत्र में इन्हें शीत और उष्ण परीषह कहा गया है। बाईस परीषहों में से स्त्री और सत्कार-सम्मान, ये दो शीत तथा शेष बीस (अज्ञान, अरति, क्षुधा, पिपासा, दंश-मशक आदि) उष्ण परीषह हैं। शीत परीषह आकर्षण तथा उष्ण परीषह विकर्षण के माध्यम से संयम को खण्डित करने के प्रयास करते हैं। संयम की दृष्टि से दोनों ही साधक के लिये अवांछनीय तथा अनामंत्रित स्थितियां हैं।

ये स्थितियां साधक के अपने किसी न किसी कर्म (ज्ञानावरणीय, अन्तराय, दर्शन-मोहनीय, चारित्र-मोहनीय व वेदनीय) के उदय से प्रादुर्भूत होती हैं। प्रज्ञा और अज्ञान ज्ञानावरणीय से, अलाभ अन्तराय से, अरति, अचेल, स्त्री निषद्या, याचना, आक्रोश, सत्कार-पुरस्कार चारित्र मोहकर्म से, दर्शन परीषह दर्शनमोह से तथा शेष 11 परीषह वेदनीय कर्म के उदय से उपस्थित होते हैं। ये साधक के लिये चुनौतियां बन कर प्रकट होते हैं, जिनके समक्ष अयोग्य साधक घुटने टेक देता है और संक्लेशमय परिणामों के कारण संयम-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। सुयोग्य साधक इनका वीरतापूर्वक सामना करता है।

इन परीषहों पर विजय प्राप्त किये बिना साधक आध्यात्मिक यात्रा में प्रगति नहीं कर सकता। साधक धैर्य, अदीनता, सहिष्णुता, समभाव, अनासक्ति आदि सदगुणों का अवलम्बन लेकर, तथा आत्म-स्वरूप आदि से सम्बन्धित तात्त्विक चिन्तन के माध्यम से ज्ञाता-द्रष्टा बन कर इन परीषहों पर विजय

LN 29152

प्राप्त करता है। परीषहों पर विजय प्राप्त करते या उन्हें सहते हुए सुयोग्य साधक कष्ट का नहीं, अपितु प्रसन्नता व उत्साह का अनुभव करता है। उन्हें अपनी संयम-यात्रा के लिये बाधक नहीं, साधक मानता है। संयम की कसौटी पर खरा उतरने के अवसर मानता है। कर्म-निर्जरा के माध्यम मानता है। परीक्षा के रूप मानता है। चुनौतियों की तरह उन्हें स्वीकार करता है। अपनी दृढ़ता से यह प्रमाणित करता है कि कष्टों में उसे कष्ट देने की शक्ति नहीं है। कष्टों की वेदना से उसकी सहिष्णुता कहीं अधिक सक्षम है। परीषहों से उसका संयम कहीं अधिक सशक्त है।

ऐसी साधना करने वाले साधक का संयम सभी आपदाओं से सुरक्षित रहने की क्षमता अर्जित कर लेता है। अभय उसकी आदत हो जाता है। पराक्रम उसका स्वभाव बन जाता है। यह आश्वस्ति उसकी विशेषता बन जाती है कि बाधायें या कठिनाइयां कैसी भी हों, उसके संयम को कभी कम्पित नहीं कर सकतीं।

तप-साधना से साम्य रखते हुए भी परीषह-विजय तप-साधना की पर्याय नहीं है। तप-साधना का अर्थ है– साधक द्वारा कर्मों की उदीरणा कर उनकी निर्जरा करना। इस प्रक्रिया में होने वाला कष्ट साधक द्वारा आमंत्रित किया जाता है। परीषह कर्मोदय के परिणामस्वरूप स्वयं उपस्थित होते हैं। साधक उन्हें आमंत्रित नहीं करता। उन की इच्छा भी नहीं करता। दोनों में साम्य यह है कि दोनों के लिये साधक में साहस, दृढ़ता, धैर्य, सहिष्णुता, अनासक्ति और द्रष्टा हो सकने की क्षमता जैसी विशेषताएं चाहियें। दोनों की सार्थकता कर्म-निर्जरा एवम् संयम-सम्पदा की अभिवृद्धि में है।

परीषह-जेता साधक के लिये शरीर संयम का साधन-मात्र होता है। सुख या यश का स्रोत नहीं होता। परीषह उसकी देह को ही प्रभावित करते हैं, उसे नहीं। शरीर पर परीषहों के प्रभाव को वह आत्मा हो कर निर्लिप्त भाव से देखता रहता है। यह दृष्टि उसे परीषह-जेता बनाती है। सक्षम संयमी बनाती है।

विभिन्न परीषहों को जीतने के विभिन्न उपाय बतलाने के साथ-साथ मोक्ष-मार्ग का वेगवान् पथिक होने की कला बतलाने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह दुइअं परीसहज्झयणं

(अथ द्वितीयं परीषहाध्ययनम्)

मूल : **सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं-**
इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया
महावीरेणं कासवेणं पवेइया।
जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय,
भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ।। १ ।।

संस्कृत : श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्-
इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता
महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः।
यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा जित्वाऽभिभूय,
भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत् ।। १ ।।

मूल : **कयरे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया**
महावीरेणं कासवेणं पवेइया? जे भिक्खू सुच्चा,
नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए
परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ।। २ ।।

संस्कृत : कतरे खलु ते द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन
भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः? यान्
भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यायां
परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत् ।। २ ।।

मूल : **इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया**
महावीरेणं कासवेणं पवेइया। जे भिक्खू सुच्चा,
नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए
परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ।। ३ ।।

दूसरा अध्ययन
परीषह- प्रविभक्ति

(सूत्र-१) आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् ने इस प्रकार कहा है- इस (श्रमण-चर्या) में बाईस परीषह होते हैं, जिनका काश्यप (गोत्रीय) श्रमण भगवान् महावीर ने (साक्षात्कार कर) निरूपण किया है, जिन्हें सुनकर, जानकर, (अभ्यासादि से) जिनका परिचय/अनुभव प्राप्त कर, तथा जिन्हें (सहनशक्ति से) जीतकर, भिक्षा-चर्या हेतु परिव्रजन करता हुआ भिक्षु (परीषहों से) स्पृष्ट/ग्रस्त/आक्रान्त होने पर विहत/अभिभूत/ पराजित/विचलित नहीं होता।

(सूत्र-२) वे बाईस परीषह कौन-कौन से हैं (जिनका) काश्यप (गोत्रीय) श्रमण भगवान् महावीर ने (साक्षात्कार कर) निरूपण किया है, जिन्हें भिक्षु सुन कर, जानकर, (अभ्यासादि से) जिनका परिचय/अनुभव प्राप्त कर, तथा जिन्हें (सहनशक्ति से) जीतकर, भिक्षा-चर्या हेतु परिव्रजन करता हुआ (परीषहों से) स्पृष्ट/ग्रस्त/आक्रान्त होने पर विहत/अभिभूत/पराजित/विचलित नहीं होता ?

(सूत्र-३) वे बाईस परीषह ये हैं (जिनका) काश्यप (गोत्रीय) श्रमण भगवान् महावीर ने (साक्षात्कार कर) निरूपण किया है, जिन्हें सुन कर जानकर, (अभ्यासादि से) जिनका परिचय/अनुभव प्राप्त कर, तथा जिन्हें (सहनशक्ति से) जीतकर, भिक्षा-चर्या

संस्कृत : इमे खलु ते द्वाविंशतिः परीषहाः
श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः।
यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय,
भिक्षाचर्यायां परिव्रजन् स्पृष्टो नो विनिहन्येत् ।।३ ।।

मूल : **तं जहा-१ दिगिंछापरीसहे, २ पिवासापरीसहे, ३ सीयपरीसहे, ४ उसिणपरीसहे, ५ दंस-मसयपरीसहे, ६ अचेलपरीसहे, ७ अरइपरीसहे, ८ इत्थी-परीसहे, ९ चरियापरीसहे, १० निसीहियापरीसहे, ११ सेज्जापरीसहे, १२ अक्कोसपरीसहे, १३ वहपरीसहे, १४ जायणापरीसहे, १५ अलाभपरीसहे, १६ रोग-परीसहे, १७ तणफासपरीसहे, १८ जल्लपरीसहे, १९ सक्कारपुरक्कारपरीसहे, २० पन्नापरीसहे, २१ अन्नाणपरीसहे, २२ दंसणपरीसहे ।।४ ।।**

संस्कृत : ते यथा- १ क्षुधापरीषहः, २ पिपासापरीषहः, ३ शीतपरीषहः, ४ उष्णपरीषहः, ५ दंश-मशकपरीषहः, ६ अचेलपरीषहः, ७ अरतिपरीषहः, ८ स्त्रीपरीषहः, ९ चर्यापरीषहः, १० नैषेधिकीपरीषहः, ११ शय्यापरीषहः, १२ आक्रोशपरीषहः, १३ वधपरीषहः, १४ याचनापरीषहः, १५ अलाभपरीषहः, १६ रोगपरीषहः, १७ तृणस्पर्शपरीषहः, १८ जल्लपरीषहः, १९ सत्कारपुरस्कारपरीषहः, २० प्रज्ञापरीषहः, २१ अज्ञानपरीषहः, २२ दर्शन-परीषहः ।।४।।

मूल : **परीसहाण पविभत्ती, कासवेणं पवेइया।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ।।१ ।।**

संस्कृत : परीषहाणां प्रविभक्तिः, काश्यपेन प्रवेदिता।
तां भवतामुदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ।।१।।

हेतु परिव्रजन करता हुआ भिक्षु (परीषहों से) स्पृष्ट/ग्रस्त/आक्रान्त होने पर विहत/अभिभूत/ पराजित/विचलित नहीं होता।

वे इस प्रकार हैं- (१) क्षुधा परीषह, (२) पिपासा परीषह, (३) शीत परीषह, (४) उष्ण परीषह, (५) दंश-मशक परीषह, (६) अचेल परीषह, (७) अरति परीषह, (८) स्त्री परीषह, (९) चर्या परीषह, (१०) निषद्या परीषह, (११) शय्या परीषह, (१२) आक्रोश परीषह, (१३) वध परीषह, (१४) याचना-परीषह, (१५) अलाभ परीषह, (१६) रोग परीषह, (१७) तृण-स्पर्श परीषह, (१८) जल्ल परीषह, (१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह, (२०) प्रज्ञा परीषह, (२१) अज्ञान परीषह, (२२) दर्शन परीषह।

१. काश्यप गोत्रीय (भगवान् महावीर) ने परीषहों के जो विभाग (पृथक्-पृथक् भेद) बताए हैं, उन्हें तुम्हारे समक्ष उद्धृत करूंगा-कहूंगा, मुझसे सुनें।

मूल : **दिगिंछापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं।**
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए।।२।।

संस्कृत : क्षुधापरिगते देहे, तपस्वी भिक्षुःस्थामवान्।
न छिंद्यात् न छेदयेत्, न पचेत् न पाचयेत्।।२।।

मूल : **काली पव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।**
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे।।३।।

संस्कृत : कालीपर्वाङ्गसंकाशः, कृशो धमनिसंततः।
मात्रज्ञो ऽशनपानयोः, अदीनमनाश्चरेत्।।३।।

मूल : **तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।**
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे।।४।।

संस्कृत : ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः।
शीतोदकं न सेवेत, विकृतस्यैषणां चरेत्।।४।।

मूल : **छिन्नावाएसु पंथेसु, आउरे सुपिवासिए।**
परिसुक्कमुहा ऽदीणे, तं तितिक्खे परीसहं।।५।।

संस्कृत : छिन्नापातेषु पथिषु, आतुरः सुपिपासितः।
परिशुष्कमुखो ऽदीनः, तं तितिक्षेत् परीषहम्।।५।।

मूल : **चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया।**
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासणं।।६।।

संस्कण्तः चरन्तं विरतं रूक्षं, शीतं स्पृशति एकदा।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम्।।६।।

२. देह में क्षुधा उत्पन्न होने पर (भी) तपस्वी साधु (मानसिक व संयम-सम्बन्धी) बल से युक्त होता हुआ (सचित्त वनस्पतियों का) न (स्वयं) छेदन करे, न दूसरों से छेदन कराये, तथा न (स्वयं) पकाए और न दूसरों से पकवाए।

३. (भले ही भूख से पीड़ित शरीर) 'काकजंघा'[1] तथा (वनस्पति) के समान कृशता को प्राप्त हो जाए, और (मात्र) धमनियों का ढांचा रह जाए, (तो भी) आहार-पान की मात्रा (मर्यादा) का ज्ञाता (भिक्षु) मन में दीनता न लाता हुआ, विचरण करे।

४. और फिर, प्यास से पीड़ित होने पर (भी) (असंयम के प्रति) जुगुप्सा-भाव (घृणा या अरुचि) रखने वाला, तथा लज्जा से संयम से युक्त (भिक्षु) शीतोदक (सचित्त जल) का सेवन न करे, और 'विकृत' (अग्नि आदि से विकार प्रासुकता को प्राप्त जल) की एषणा हेतु विचरण करे।

५. (लोगों के) आवागमन से रहित मार्गों में अधिक प्यास से आतुर (व्याकुल) होने पर (भी) तथा मुंह सूख जाने की स्थिति में (भी भिक्षु) मन में दीनता न लाता हुआ उस (पिपासा) परीषह को सहन करे।

६. विचरणशील मुनि को - जो (अग्नि आदि सावद्य कार्यों से) विरत है, और रुक्ष (शरीर वाला या अनासक्त) है - कभी शीत-परीषह स्पृष्ट/पीड़ित करे तो (भी वह) मुनि जिन-उपदेश को सुन कर (ध्यान में रखकर) 'मर्यादा' का (या स्वाध्यायादि काल का) उल्लंघन न करे।

---

१. 'काक पर्वांग' अर्थात् 'काकजंघा', कौए की शुष्क/कृश टांग अथवा 'काकजंघा' नामक वनस्पति विशेष जिसका मध्य भाग बहुत पतला होता है और पर्व भाग कुछ मोटा होता है। तप से भिक्षु के उरु व बाहु आदि पतले हो जाते हैं, तथा घुटने, कोहनी आदि मोटे। इस दृष्टि से उक्त वनस्पति के साथ भिक्षु का सादृश्य यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

मूल : **न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई।**
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ।।७।।

संस्कृत : न मे निवारणमस्ति, छविस्त्राणं न विद्यते।
अहं तु अग्निं सेवे, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ।।७।।

मूल : **उसिणं परियावेणं, परिदाहेण तज्जिए।**
घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ।।८।।

संस्कृत : उष्णपरितापेन, परिदाहेन तर्जितः।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत ।।८।।

मूल : **उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।**
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ।।९।।

संस्कृत : उष्णाभितप्तो मेधावी, स्नानं नापि प्रार्थयेत्।
गात्रं नो परिसिंचेत्, न वीजयेच्चात्मानम् ।।९।।

मूल : **पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।**
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ।।१०।।

संस्कृत : स्पृष्टश्च दंशमशकैः, सम एव महामुनिः।
नागः संग्रामशीर्षे इव, शूरोऽभिहन्यात् परम् ।।१०।।

मूल : **न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए।**
उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंससोणियं ।।११।।

संस्कृत : न संत्रसेत् न वारयेत् , मनोऽपि न प्रदूषयेत् ।
उपेक्षेत न हन्यात्प्राणिनः, भुञ्जानान्मांसशोणितम् ।।११।।

मूल : **परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए।**
अदुवा सचेले होक्खामि, इइ भिक्खू न चिंतए ।।१२।।

संस्कृत : परिजीर्णैर्वस्त्रैः, भविष्यामीत्यचेलकः।
अथवा सचेलको भविष्यामि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ।।१२।।

७. (शीत-परीषह से पीड़ित होने पर भी) "मेरे पास (शीत के) निवारण का साधन (मकान आदि) नहीं, तथा 'छवित्राण' (शरीर की रक्षा करने वाला कम्बल आदि) भी नहीं है, इसलिए मैं तो 'अग्नि' का सेवन कर (ही) लूं"-इस तरह मुनि न सोचे।

८. उष्ण (भूमि आदि) के परिताप से, (प्यास या पसीने आदि के) दाह से, अथवा ग्रीष्मकालीन (सूर्यादि के) परिताप से पीड़ित होने पर (भी मुनि) "साता" (शीतकालीन सुख की प्राप्ति) के लिए विलाप न करे (आतुर या व्याकुल न हो)।

९. गर्मी से संतप्त होने पर (भी) मेधावी (मुनि) स्नान करने की इच्छा न करे। शरीर को सिंचित्-गीला न करे, और पंखे से स्वयं पर (थोड़ी भी) हवा न करे।

१०. डांस-मच्छरों से पीड़ित होने पर (भी) महामुनि समभाव से (अविचलित) रहे। युद्ध के मुहाने पर (खड़े हुए) हाथी की तरह 'शूर' (बनकर आन्तरिक) शत्रुओं का हनन करे (उन्हें पराजित करे)।

११. मांस व रक्त का भक्षण कर रहे (उन) प्राणियों (डांस-मच्छर आदि) को मारे नहीं, (बल्कि) उपेक्षा-भाव रखे। (उनसे) संत्रस्त नहीं हो (या हाथ-पैर भी न हिलाये-डुलाये)। उनका निवारण (भी) न करे, और मन में उनके प्रति द्वेष भाव भी न रखे।

१२. 'वस्त्रों के जीर्ण-शीर्ण हो जाने से मैं (तो) 'अचेलक' (वस्त्रहीन) हो जाऊंगा', या ('नये वस्त्र धारण कर) 'सचेलक' होऊंगा' - ऐसा (भी) भिक्षु न सोचे/विचारे।

मूल : **एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया।**
एयं धम्मं हियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए।।१३।।

संस्कृत : एकदाऽचेलको भवति, सचेलश्चापि एकदा।
एतं धर्मं हितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत।।१३।।

मूल : **गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं।**
अरई अणुप्पवेसेज्जा, तं तितिक्खे परीसहं।।१४।।

संस्कृत : ग्रामानुग्रामं रीयमाणं, अनगारमकिंचनम्।
अरतिरनुप्रविशेत्, तं तितिक्षेत् परीषहम्।।१४।।

मूल : **अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए।**
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणी चरे।।१५।।

संस्कृत : अरतिं पृष्ठतः कृत्वा, विरत आत्मरक्षकः।
धर्मारामे निरारम्भः, उपशान्तो मुनिश्चरेत्।।१५।।

मूल : **संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।**
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं।।१६।।

संस्कृत : संग एष मनुष्याणां, या लोके स्त्रियः।
येनैताः परिज्ञाताः, सुकृतं तस्य श्रामण्यम्।।१६।।

मूल : **एयमादाय मेहावी, पंकभूयाओ इत्थिओ।**
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जऽत्तगवेसए।।१७।।

संस्कृत : एवमादाय मेधावी, पंकभूताः स्त्रियः।
नो ताभिर्विनिहन्यात्, चरेदात्मगवेषकः।।१७।।

मूल : **एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।**
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए।।१८।।

संस्कृत : एक एव चरेल्लाढः, अभिभूय परीषहान्।
ग्रामे वा नगरे वापि, निगमे वा राजधान्याम्।।१८।।

१३. कभी (साधु) 'अचेलक (अल्प वस्त्र वाला, अथवा जिनकल्पी अवस्था में निर्वस्त्र) होता है और कभी 'सचेल' (वस्त्र-सहित)। इन (दोनों परिस्थितियों) को धर्म-साधना में (यथाप्रसंग) हितकारी समझ कर ज्ञानी परिदेवना न करे-खिन्नता प्रकट न करे।

१४. एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए (अपरिग्रही) अकिंचन, अनगार (साधु) को (यदि) अरति-भाव (संयम के प्रति अरुचि) उत्पन्न हो, तो (वह) इस (अरति-परीषह) को सहन करे।

१५. (उक्त) अरतिभाव को पीठ पीछे कर (अर्थात् मन से दूर कर) मुनि (हिंसादि से) विरत, आत्म-रक्षा में प्रवृत्त, धर्म-कार्य (धर्म उद्यान) में रमण-शील, तथा आरम्भ-प्रवृत्ति (हिंसादि) से रहित होता हुआ उपशान्त-भाव से विचरण करे।

१६. 'संसार में जो (भी) स्त्रियां हैं, वे मनुष्यों के लिए 'संग' (आसक्ति या बन्धन की कारण) हैं' - ऐसा 'परिज्ञान' (त्याग-बुद्धि व विवेक) जिसे हो गया, उसका साधुत्व सफल है।

१७. "स्त्रियां 'पंक' (दलदल या कीचड़) स्वरूप हैं' - ऐसा जान कर मेधावी (मुनि) उनसे आत्मा (के संयम) का हनन न होने दे, और 'आत्म-गवेषणा' (शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की खोज) करता हुआ विचरण करे।

१८. साधु-चर्या से प्रशंसित (या प्रासुक आहारादि से जीवन-यापन करने वाला मुनि) परीषहों को (सहन-शक्ति से) पराजित कर, ग्राम, नगर, निगम (व्यापारिक मण्डी आदि) या राजधानी में एकाकी (या रागद्वेष-रहित) होकर ही विहार करे।

मूल : **असमाणे चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।**
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए।।१६।।

संस्कृत : असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम्।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परिव्रजेत्।।१६।।

मूल : **सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।**
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं।।२०।।

संस्कृत : श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले चैककः।
अकुक्कुचः निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम्।।२०।।

मूल : **तत्थ से अत्थमाणस्स, उवसग्गाभिधारए।**
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं।।२१।।

संस्कृत : तत्र तस्य तिष्ठतः, उपसर्गानभिधारयेत्।
शंकाभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम्।।२१।।

मूल : **उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खू थामवं।**
नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई।।२२।।

संस्कृत : उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यति।।२२।।

मूल : **पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणमदुव पावयं।**
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए।।२३।।

संस्कृत : प्रतिरिक्तमुपाश्रयं लब्ध्वा, कल्याणमथवा पापकम्।
किमेकरात्रं करिष्यति, एवं तत्राधिसहेत।।२३।।

मूल : **अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।**
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले।।२४।।

संस्कृत : आक्रोशेत् परो भिक्षुं, न तस्मै प्रतिसंज्वलेत्।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत्।।२४।।

१९. भिक्षु (को चाहिए कि वह) 'असमान' (गृहस्थ आदि से विलक्षण) होकर विहार करे, परिग्रह तो करे ही नहीं, तथा गृहस्थों के साथ निर्लिप्त रहता हुआ 'अनिकेत' (अनगारी, गृह-बन्धन से मुक्त) हो विचरण करे।

२०. श्मशान में या सूने घर में, या फिर वृक्ष के नीचे मुनि एकाकी (या समभावी) एवं चपलता-रहित होकर (स्वाध्याय व कायोत्सर्ग आदि हेतु) बैठे, और किसी दूसरे को संत्रस्त न करे।

२१. उन (उक्त) स्थानों में बैठे हुए उस (मुनि) को (यदि) उपसर्ग हों, (तो वह) उन्हें धारण करे (अर्थात् सहन करे)। (अनिष्ट की) शंका से भयभीत हो, उठ कर (वहां से) अन्य स्थान पर न जाए।

२२. तपस्वी व समर्थ भिक्षु ऊंची-नीची (अच्छी-बुरी, विविध) शय्याओं (उपाश्रय-सम्बन्धी सुविधाओं) से समाचारी की नियत बेला का, अथवा समता-रूपी उत्कृष्ट मर्यादा का अतिक्रमण कर, समाचारी व समता-रूपी मर्यादा को नष्ट/भंग न करे। पाप दृष्टि वाला (साधु ही) समाचारी व उक्त मर्यादा को नष्ट/भंग करता है।

२३. रिक्त (अर्थात् खाली व एकान्त) उपाश्रय को पाकर, चाहे वह कल्याणकारी (अच्छा, सुन्दर, शान्तिप्रद, मंगलकारी) हो, या पापरूप (बुरा, असुन्दर, अशान्तिप्रद व अमंगलकारी), (मुनि) इस प्रकार सोचकर कि 'यह एक रात क्या (अच्छा-बुरा) करेगी?' वहां रहे (या समभावपूर्वक सुख-दुःख को सहन करे)।

२४. (यदि) भिक्षु पर कोई दूसरा आक्रोश करे (तिरस्कार करे व अपशब्द कहे) तो वह उसके प्रति (प्रतिक्रिया-स्वरूप) आक्रोश आदि भाव न रखे। (क्योंकि क्रोधादि के कारण) अज्ञानी-जैसा (व्यक्ति) हो जाता है इसलिए भिक्षु क्रोध-आविष्ट न हो।

मूल : **सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।**
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे।।२५।।

संस्कृत : श्रुत्वा परुषाः भाषाः, दारुणाः ग्रामकण्टकाः।
तूष्णीक उपेक्षेत, न ताः मनसि कुर्यात्।।२५।।

मूल : **हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।**
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं विचिंतए।।२६।।

संस्कृत : हतो न संज्वलेद् भिक्षुः, मनोऽपि न प्रदूषयेत्।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा, भिक्षुर्धर्मं विचिन्तयेत्।।२६।।

मूल : **समणं संजयं दंतं, हणिज्जा कोइ कत्थई।**
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एवं पेहेज्ज संजए।।२७।।

संस्कृत : श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित्।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं प्रेक्षेत संयतः।।२७।।

मूल : **दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।**
सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं।।२८।।

संस्कृत : दुष्करं खलु भो! नित्यं, अनगारस्य भिक्षोः।
सर्वं तस्य याचितं भवति, नास्ति किंचिदयाचितम्।।२८।।

मूल : **गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।**
सेओ अगारवासुत्ति,इइ भिक्खू न चिंतए।।२९।।

संस्कृत : गोचराग्रप्रविष्टस्य, पाणिः न सुप्रसारकः।
श्रेयानगारवास इति, इति भिक्षु र्न चिन्तयेत्।।२९।।

मूल : **परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए।**
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज पंडिए।।३०।।

संस्कृत : परेषु ग्रासमेषयेत्, भोजने परिनिष्ठिते।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा, नानुतप्येत पण्डितः।।३०।।

२५. दारुण (असहनीय) कांटे की तरह (कानों में) चुभने वाली (या ग्रामीण जनों की कठोर) भाषा को सुन कर (भी मुनि) मौन रहे, और उपेक्षा-भाव रखे, उसे अपने मन में (भी) नहीं रखे।

२६. आहत किये (मारे-पीटे) जाने पर (भी) भिक्षु (क्रोधादि के) आवेश में न आये, और (यहां तक कि) मन को भी दूषित (प्रतिशोधादि की दुर्भावना से ग्रस्त) न करे। तितिक्षा (क्षमा-भाव) को 'परम' (उत्कृष्ट) जानकर 'मुनि-धर्म' (क्षमा आदि दशविध धर्म) का चिन्तन करे।

२७. संयमी व जितेन्द्रिय श्रमण को कहीं कोई भी मारे-पीटे, तो (वह) संयमी इस प्रकार चिन्तन करे कि 'जीव का नाश होता ही नहीं'।

२८. "अरे! अनगार भिक्षु की (यह चर्या) हमेशा निश्चय ही (कितनी) दुष्कर है? सभी कुछ तो उसे मांगना पड़ता है, कुछ भी (तो उसके पास) बिना मांगा नहीं होता।" (-ऐसा मुनि न सोचे-विचारे।)

२९. "गोचरी के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट (मुनि) के लिए हाथ पसारना सरल नहीं होता। इससे तो अच्छा गृह-वास है" -ऐसा भिक्षु मन में न सोचे।

३०. दूसरों (गृहस्थों) के यहां भोजन बन जाने पर (ही मुनि) आहार-एषणा करे। आहार कम मिले या न मिले, संयमी (साधु) अनुताप/संताप न करे।

मूल : **अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया।**
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए।। ३१।।

संस्कृत : अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभः श्वः स्यात्।
य एवं प्रतिसमीक्षेत, अलाभस्तं न तर्जयेत्।। ३१।।

मूल : **नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।**
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थऽहियासए।। ३२।।

संस्कृत : ज्ञात्वोत्पतितं दुःखं, वेदनया दुखार्दितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां, स्पृष्टस्तत्राधिसहेत।। ३२।।

मूल : **तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए।**
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे।। ३३।।

संस्कृत : चिकित्सां नाभिनन्देत्, संतिष्ठेदात्मगवेषकः।
एवं खलु तस्य श्रामण्यं, यन्न कुर्यात् न कारयेत्।। ३३।।

मूल : **अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो।**
तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गायविराहणा।। ३४।।

संस्कृत : अचेलकस्य रूक्षस्य, संयतस्य तपस्विनः।
तृणेषु शयानस्य, भवेद् गात्र-विराधना।। ३४।।

मूल : **आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा।**
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया।। ३५।।

संस्कृत : आतपस्य निपातेन, अतुला भवति वेदना।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते, तंतुजं तृणतर्जिताः।। ३५।।

मूल : **किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।**
घिंसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए।। ३६।।

संस्कृत : क्लिन्नगात्रो मेधावी, पंकेन वा रजसा वा।
ग्रीष्मे वा परितापेन, सातं नो परिदेवेत।। ३६।।

३१. ''आज (भले ही) मुझे (भिक्षा) नहीं मिली, कल (तो) सम्भवतः मिल ही जाएगी'' -इस प्रकार जो (मुनि) चिन्तन/विचारणा करता है, उसे 'अलाभ' कष्टकारक नहीं होता।

३२. (रोगादि-जनित) वेदना से दुःख-ग्रस्त (साधु) दुःख को (कर्मोदय आदि से) उत्पन्न हुआ जानकर, अदीन भाव से प्रज्ञा को स्थिर करे और रोगग्रस्त होने की स्थिति में (वेदना को) समभाव से सहन करे।

३३. आत्म-गवेषक (मुनि) चिकित्सा का अभिनन्दन/समर्थन न करे, (अपितु) समाधिपूर्वक रहे। उसकी साधुता यही है कि (चिकित्सा) न तो करे और न कराए।

३४. अचेलक व रुक्ष (वृत्ति वाले) संयमी तपस्वी (मुनि) को घास-फूस पर सोते समय शरीर-विराधना (पीड़ा) होती है।

३५. आतप (गर्मी) पड़ने पर अतुल (तीव्र) वेदना होती है-ऐसा जान कर (भी) तृण-स्पर्श से पीड़ित मुनि तन्तु-जन्य (वस्त्र) का सेवन नहीं करता।

३६. गर्मी में मैल, धूल से शरीर के 'क्लान्त' (पसीने से गीला) हो जाने पर मेधावी (मुनि) साता (सुख) के लिए परिदेवना (खिन्नता) न करे।

मूल : **वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्ममणुत्तरं।**
जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए।। ३७।।

संस्कृत : वेदयेन्निर्जराप्रेक्षी, आर्यं धर्ममनुत्तरम्।
यावच्छरीरभेद इति, जल्लं कायेन धारयेत्।। ३७।।

मूल : **अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमंतणं।**
जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी।। ३८।।

संस्कृत : अभिवादनमभ्युत्थानं, स्वामी कुर्यान्निमन्त्रणम्।
ये तानि प्रतिसेवन्ते, न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः।। ३८।।

मूल : **अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।**
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं।। ३९।।

संस्कृत : अणुकषायी अल्पेच्छः, अज्ञातैषी अलोलुपः।
रसेषु नानुगृध्येत्, नानुतप्येत प्रज्ञावान्।। ३९।।

मूल : **से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा।**
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई।। ४०।।

संस्कृत : स नूनं मया पूर्वं, कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि।
येनाहं नाभिजानामि, पृष्टः केनचित् क्वचित्।। ४०।।

मूल : **अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽणाणफला कडा।**
एवमस्सासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं।। ४१।।

संस्कृत : अथ पश्चादुदेष्यन्ति, कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि।
एवमाश्वासयात्मानं, ज्ञात्वा कर्मविपाककम्।। ४१।।

मूल : **निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।**
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाणपावगं।। ४२।।

संस्कृत : निरर्थकमस्मि विरतः, मैथुनात्सुसंवृतः।
यः साक्षान्नाभिजानामि, धर्मं कल्याणपापकम्।। ४२।।

३७. कर्म-निर्जरा की अपेक्षा रखने वाला (मुनि) अद्वितीय (श्रेष्ठ) आर्य धर्म (को पाकर, उस) के अनुरूप, जब तक शरीर छूट न जाय, 'जल्ल' (पसीने आदि के मैल) को शरीर पर धारण किये रहे (और इस परीषह को सहता रहे)।

३८. स्वामी (राजा या शासक वर्ग) आदर से निमन्त्रित करे या अभिवादन व उठकर सत्कार करे, (तो उस सत्कार की) और जो उन (निमन्त्रणादि) को स्वीकार करें, उन (को देखकर निमन्त्रणादि की) की मुनि स्पृहा (लालसा) न करे।

३९. अल्प या मन्द कषाय वाला (अहंकार-क्रोधादि से रहित) अल्प इच्छा वाला (या निरीह, निःस्पृह), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, तथा लोलुपता-रहित होता हुआ (भिक्षु) सरस वस्तुओं में आसक्त न हो, (दूसरों को सम्मानित होते तथा स्वयं को सम्मान न मिलते देखकर भिक्षु) पश्चाताप/अनुताप/खेद न करे।

४०. "निश्चय ही मैंने पहले अज्ञान रूप में फलित होने वाले कर्म किये हैं, जिनके कारण, कोई किसी विषय में मुझसे (कुछ) पूछता है, तो (जिज्ञासित वस्तु के विषय में) मैं कुछ भी नहीं जानता।"

४१. "अज्ञान रूप फल देने वाले पूर्व-विहित कर्म (ही) (अपने परिपाक के) अनन्तर (अभी मेरे) उदय में आ रहे हैं"-इस प्रकार कर्म-विपाक (की स्थिति) को जानकर (मुनि) स्वयं को आश्वस्त करे।

४२. "मैं व्यर्थ ही मैथुन से विरत हुआ, और (इन्द्रियादि का) संवरण (निरोध भी मैंने) व्यर्थ किया, (क्योंकि) धर्म कल्याणकारी या पापकारी है (अथवा कल्याणकारी धर्म क्या है और पाप क्या है-) इसे मैं प्रत्यक्ष रूप से नहीं जान पाया हूँ" (-मुनि इस प्रकार न सोचे-विचारे)।

मूल : **तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ।**
एवंपि विहरओ मे, छउमं न नियट्टई।।४३।।

संस्कृत : तप उपधानमादाय, प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य।
एवमपि विहरतो मे, छदम् न निवर्तते।।४३।।

मूल : **नत्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।**
अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए।।४४।।

संस्कृत : नास्ति नूनं परो लोकः, ऋद्धिर्वापि तपस्विनः।
अथवा वञ्चितोऽस्मि, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।४४।।

मूल : **अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सई।**
मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए।।४५।।

संस्कृत : अभूवन् जिनाः सन्ति जिनाः, अथवाऽपि भविष्यन्ति।
मृषा ते एवमाहुः, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।४५।।

मूल : **एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया।**
जे भिक्खू न विहन्निज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई।।४६।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एते परीषहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः।
यान् भिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनाऽपि कुत्रचित् ।।४६।।
इति ब्रवीमि।

४३. "मैंने तप और उपधान (साभिग्रह तप) भी किया है, प्रतिमाओं को भी धारण किया है, इस तरह (साधना-मार्ग में) विहार करते हुए भी मेरी छद्मस्थता (ज्ञानावरणीयः कर्म-आवरण) दूर नहीं हो पा रही है" (-ऐसा मुनि चिन्तन न करे)।

४४. "निश्चय में न तो (कोई) परलोक है, और न ही तपस्वी को ऋद्धियां (प्राप्त) होती हैं" अथवा "मैं तो ठगा गया हूँ"-ऐसा (भी) मुनि चिन्तन न करे।

४५. "जिन' देव हुए थे, 'जिन' (वर्तमान में भी) हैं, अथवा (भविष्य में भी) होंगे-ऐसा वे झूठ (ही) कहते हैं"-ऐसा (भी) मुनि चिन्तन न करे।

४६. इन सभी परीषहों का काश्यप (गोत्रीय भगवान् महावीर) ने (साक्षात्कार कर) निरूपण किया है। (इनमें से) किसी (परीषह) के द्वारा भी कहीं ग्रस्त/आक्रान्त होने पर भिक्षु (इनसे) अभिभूत/पराजित/विचलित न हो।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

भगवान् महावीर ने श्रमण-जीवन में सम्भावित बाईस परीषहों का वर्णन किया है, जिन्हें परास्त कर साधु संयम-मार्ग से विचलित नहीं होता। क्षुधा व पिपासा से पीड़ित साधक दीन-भाव लाये बिना ऐषणीय आहार-पानी ही ग्रहण करे। शीत व ऊष्ण परीषह होने पर मर्यादा-विरुद्ध उष्णता व शीतलता की कभी इच्छा न करे। दंश-मशक परीषह को सम-भाव से सहे। अचेल परीषह की स्थिति में आसक्ति, आकांक्षा, अभिमान, हीन-भाव आदि से मुक्त रहे। संयम के प्रति अरुचि या उदासीनता का भाव आये तो धर्म-ध्यान के बल पर उपशम भावों से उसे जीते। स्त्रियां पुरुषों को तथा पुरुष स्त्रियों को अपने संयम का हनन, आत्म-स्वरूप की गवेषणा में लीन रहते हुए, न करने दें। विहार करते हुए साधक कांटों-कंकड़ों, थकान व प्यास जैसी स्थितियों को चुनौतियां मान कर स्वयं को राग-द्वेष-रहित स्थिति में अजेय बनाये रखे। गृह व परिग्रह बंधनों में आसक्त न हो। एकान्त स्थानों पर साधु किसी को भयभीत न करते हुए देव-मनुष्य-तिर्यंच के उपसर्गों को अडिग भाव से सहे। अनूकूल-प्रतिकूल शय्या व स्थान आदि प्राप्त होने पर हर्ष-शोक न करे। दुवर्चन सुन कर क्रोध न करे। मारे-पीटे जाने पर क्षमा-भाव व धर्म-ध्यान में रमण करे। याचना की स्थिति में दीन-हीन न हो। अपेक्षित वस्तु प्राप्त न हो तो खेद न करे। रोग होने पर समाधि-पूर्वक रहे। सावद्य चिकित्सा से दूर रहे। तृण-शय्या व सूर्य की प्रचण्ड किरणों की चुभन के जाल में श्रेष्ठ शय्या, वस्त्रादि की इच्छा कर न फंसे। पसीने व मैल के प्रति जुगुप्सा भाव न लाये। अपने या दूसरों के सम्मान या अपमान से अप्रभावित रहे। अधिक ज्ञान से गर्व एवं कम ज्ञान से विषाद या ग्लानि-भाव अनुभव न करे। साधना-फल ज्ञानावरणीय-कर्म-क्षय- रूप में तत्काल न मिलने पर निराश न हो। अपने संयम व जिन-देवों को निरर्थक न समझे। भिक्षु इन सभी परीषहों पर विजय प्राप्त करे।

❑❑

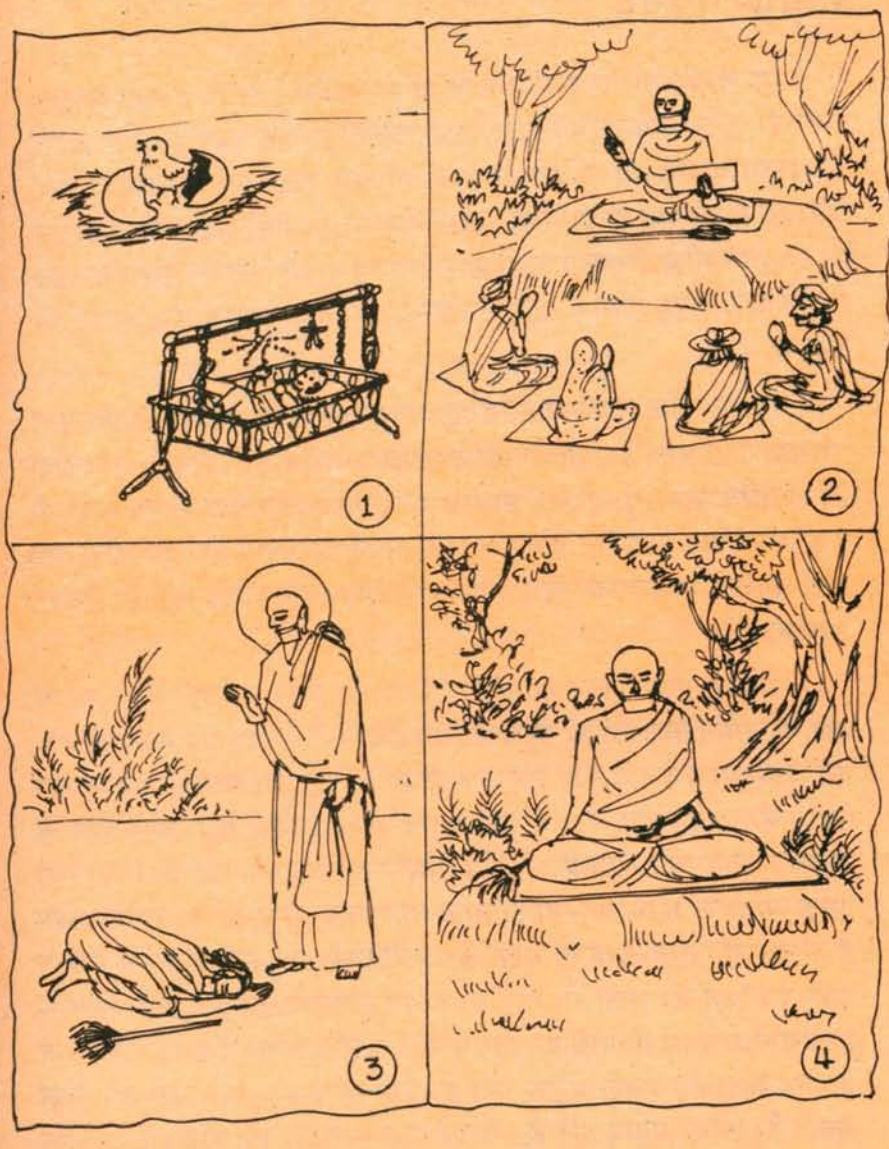

अध्ययन–3

चतुरंगीय

अध्ययन परिचय

यह तीसरा अध्ययन बीस गाथाओं से निर्मित हुआ है। इसका केन्द्रीय विषय है—दुर्लभ अवसरों की पहचान और उनका सम्यक् उपयोग। मोक्ष-प्राप्ति के अवसर दुर्लभ होते हैं। इन अवसरों को चार परम अंगों के रूप में यहां विवेचित किया गया है। इसीलिये इसका नाम 'चतुरंगीय' रखा गया। यह नाम इस अध्ययन की प्रारम्भिक गाथा के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'चत्तारि परमंगाणि'—इन दो पदों तथा अंतिम गाथा में प्रयुक्त 'चतुरंग' पद के अनुरूप होने के कारण भी उपयुक्त है।

मिथ्या-दृष्टि से जीवन को देखा जाये तो यह जन्म से प्रारम्भ होकर मृत्यु पर समाप्त हो जाता है। इसकी सभी उपलब्धियां लौकिक व इन्द्रिय-गम्य होती हैं। शारीरिक सुख-दु:ख और सम्बन्ध इसके लिए निर्णायक महत्त्व रखते हैं। इन्हीं पर जीवन आधारित होता है। अत: अपने या अपनों के लिए जीना तथा सुख-साधनों व यश के लिए जीना ही मनुष्य-जीवन का सार है। उसकी सार्थकता है।

सम्यक् दृष्टि जीवन को ऐसे नहीं देखती। जन्म से पहले और मृत्यु के बाद के जीवन तक उसकी पहुंच है। वह देखती है कि अनादि काल से जीव की जन्म-मरण रूप दु:खद संसार-यात्रा हो रही है। इस संसार-यात्रा के चार पड़ाव हैं—नरक, देव, तिर्यंच एवं मनुष्य गति। अपनी बद्ध-कर्म-दशा के अनुरूप इन्हीं चार पड़ावों में जीव भ्रमण करता रहता है। इधर से उधर आता-जाता या भटकता रहता है। नरक तरह-तरह के दु:खों का संगठित रूप है तो देव गति तरह-तरह के सुखों का। नारकियों को दु:खों से फुर्सत नहीं तो देवी-देवताओं को सुखों से। चारों परम अंग जीवात्मा को इन दोनों गतियों में प्राप्त होने असंभव हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच गति में जीव संयम में पराक्रम करने के अयोग्य होता है। केवल मनुष्य गति है, जहां जीव को चारों परम अंग मिल सकते हैं। केवल मनुष्य गति है, जिसमें परम कल्याण की संभावना का उदय हो सकता है।

संसार-यात्रा के चारों पड़ावों में मनुष्य-गति का जीव के लिए निर्णायक महत्त्व है। यह संसार-यात्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण दोराहा है, जहां जीव सम्यक्त्व या मिथ्यात्व में से अपने लिए एक राह चुन कर अपनी आगामी यात्रा की दिशा व दशा निर्धारित करता है। अपना

भविष्य बनाता या बिगाड़ता है। यह अवसर भी उसे सद्कर्मों के उदय से मिलता है। प्राय: अनेक गतियों में भ्रमण कर चुकने के बाद मिलता है। बहुत समय के बाद मिलता है। सदैव जीव की आकांक्षा से कम समय के लिए मिलता है। इसलिए मनुष्य-जन्म को प्रभु ने दुर्लभ कहा है।

उत्तम क्षेत्र, जाति व कुल का प्राप्त होना मनुष्य-जन्म प्राप्ति से भी दुर्लभ है। इस से भी दुर्लभ है मनुष्य-देह के सभी अंग मिलना। इस से भी दुर्लभ है पूर्ण आयु मिलना। इस से भी दुर्लभ है–ज्ञान की पात्रता मिलना।

उत्तरोत्तर दुर्लभता का यह क्रम जारी रहता है। मनुष्य-जन्म के साथ उपरोक्त सभी कुछ मिल भी जाये तो इन सब से दुर्लभ है–धर्म-श्रवण का अवसर। यह अवसर तब मिल पाता है, जब आलस्य, मोह, धर्म के प्रति उपेक्षा-भाव, अहंकार, वैर-भाव-युक्त क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्यस्तता व कार्याधिक्य से उपजी व्याकुलता, खेल-तमाशों में रुचि और क्रीड़ा-परायणता जैसी बाधायें जीवन में न रहें। इनमें से एक या अनेक बाधाओं से ग्रस्त व्यक्ति का मन विकथा में रमता है। विकथा का परिणाम है–धर्म-विमुखता। ऐसे में धर्म-कथा सुनने के अवसर का दुर्लभ होना स्वाभाविक है।

दुर्लभ धर्म-कथा-श्रवण के अवसर से भी दुर्लभ है धर्म में श्रद्धा का जागना। श्रद्धा जागने से भी दुर्लभ है श्रद्धा का स्थिर रहना। इस से भी दुर्लभ है–संयम में पराक्रम या धर्म में पुरुषार्थ। यह तब संभव है जब सशक्त आस्था व विश्वास के साथ-साथ सुदृढ़ आत्म-बल हो। धैर्य हो। संकल्प-शक्ति हो। साहस हो। समर्थ देह हो। उत्साह हो। सहनशक्ति हो। ऐसे ही अन्य अनेक गुणों के साथ-साथ अनुकूल बाह्य परिस्थितियां भी हों। यह सब दुर्लभ है। इसलिये संयम में पराक्रम भी दुर्लभ है।

चारों दुर्लभ संयोगों का एक ही समय में प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि मोक्ष-प्राप्ति-प्रक्रिया के चारों परम अंग उपलब्ध हो जायें तो कोई उपलब्धि शेष नहीं रहती। चारों अंगों की दुर्लभता का दुर्लभ ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर होने की दुर्लभ प्रेरणा प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह तइअं चाउरंगिज्जं अज्झयणं

(अथ तृतीयं चतुरङ्गीयमध्ययनम्)

मूल : **चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।**
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।१।।

संस्कृत : चत्वारि परमांगानि, दुर्लभानीह जन्तोः।
मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा, संयमे च वीर्यम्।।१।।

मूल : **समावन्नाण संसारे, नाणा-गोत्तासु जाइसु।**
कम्मा नाणा-विहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया।।२।।

संस्कृत : समापन्नाः संसारे, नानागोत्रेषु जातिषु।
कर्माणि नानाविधानि कृत्वा, पृथग् विश्वभृतः प्रजाः।।२।।

मूल : **एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।**
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ।।३।।

संस्कृत : एकदा देवलोकेषु, नरकेष्वप्येकदा।
एकदाऽऽसुरं कायं, यथा कर्मभिर्गच्छति।।३।।

मूल : **एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-बुक्कसो।**
तओ कीडपयंगो य, तओ कुन्थु पिवीलिया।।४।।

संस्कृत : एकदा क्षत्रियो भवति, ततश्चण्डालो बोक्कसः।
ततः कीटः पतंगश्च, ततः कुंथुः पिपीलिका।।४।।

मूल : **एवमावट्ट-जोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा।**
न निविज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया।।५।।

संस्कृत : एवमावर्त्तयोनिषु, प्राणिनः कर्मकिल्विषाः।
न निर्विद्यन्ते संसारे, सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः।।५।।

तीसरा अध्ययन : चतुरंगीय

१. इस लोक में चार परम (प्रधान) अंग (हैं, जो) प्राणियों के लिए दुर्लभ (हैं, वे) हैं- (१) मनुष्यता, (२) (सद्धर्म आदि का) श्रवण, (३) (सद्धर्म आदि पर) श्रद्धा, और (४) संयम में वीर्य (पुरुषार्थ व पराक्रम)।

२. अनेक प्रकार के कर्मों को करके, संसार में नाना प्रकार के गोत्र वाली जातियों में, (नाना कर्मों के परिणाम स्वरूप) पृथक्-पृथक् रूप से आये हुए जीव (प्रजा) विश्व में (सर्वत्र) भरे हुए हैं।

३. (अपने किये हुए) कर्मों के अनुरूप (प्राणी) कभी देव-लोकों में, कभी नरकों में, और कभी असुर-निकाय में जाता है (उत्पन्न होता है)।

४. (वह जीव स्व-कर्मानुरूप ही) कभी क्षत्रिय (कुल में उत्पन्न) होता है, फिर (कभी) चाण्डाल व वर्णसंकर होता है, फिर (कभी) कीट-पतंगा, और फिर कुन्थु व चींटी (भी होता है)।

५. इस प्रकार, (समस्त पदार्थों से निर्वेद-विरक्ति को प्राप्त न होने वाले) क्षत्रियों की तरह, (वे) संसार में कर्म-कलुषित (या कलुषित कर्म वाले) प्राणी योनि-चक्र में (परिभ्रमण करते हुए भी) निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त नहीं करते।

मूल : **कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।**
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ।। ६ ।।

संस्कृत : कर्मसंगैः संमूढाः, दुःखिता बहुवेदनाः।
अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः ।। ६ ।।

मूल : **कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।**
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ।। ७ ।।

संस्कृत : कर्मणान्तु प्रहान्या, आनुपूर्व्या कदाचन तु।
जीवाः शुद्धिमनुप्राप्ताः, आददते मनुष्यताम् ।। ७ ।।

मूल : **माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।**
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं ।। ८ ।।

संस्कृत : मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपःक्षान्तिमहिंस्रताम् ।। ८ ।।

मूल : **आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम दुल्लहा।**
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ।। ९ ।।

संस्कृत : कदाचिच्छ्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परम-दुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, बहवः परिभ्रश्यन्ति ।। ९ ।।

मूल : **सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।**
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए ।। १० ।।

संस्कृत : श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि, नो एतत्प्रतिपद्यते ।। १० ।।

मूल : **माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।**
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ।। ११ ।।

संस्कृत : मानुषत्वे आयातः, यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धते।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा, संवृतो निर्धुनोति रजः ।। ११ ।।

६. कर्मों के सम्बन्ध से अत्यन्त मूढ़, दुःखी एवं अत्यधिक वेदना वाले (वे जीव) मनुष्येतर योनियों में विशेषतः/बारंबार मार खाते रहते हैं (अर्थात् त्रस्त होते रहते हैं)।

७. कदाचित् काल-क्रम से, (विशेष क्लिष्ट) कर्मों के क्षय हो जाने पर, जीव (आत्मिक) शुद्धि प्राप्त कर पाते हैं, (तब कहीं) फिर मनुष्यता (मनुष्य-योनि) को पाते हैं।

८. मनुष्य-देह प्राप्त करने पर भी, धर्म का श्रवण (तो और भी अधिक) दुर्लभ है, जिसे सुनकर (प्राणी) तप, क्षमा और अहिंसा को अंगीकार करते हैं।

९. कदाचित् (संयोग-वश धर्म का) श्रवण प्राप्त करने पर भी, (धर्म पर) श्रद्धा (तो और भी) परम दुर्लभ है, (क्योंकि) बहुत-से लोग न्याय-संगत (या दुःखक्षय व संसार-सागर को पार कराने वाले) मार्ग को सुनकर (भी उससे) परिभ्रष्ट-विचलित हो जाते हैं।

१०. (धर्म-सम्बन्धी) श्रवण व श्रद्धा का लाभ होने पर (भी संयम में) पुरुषार्थ व पराक्रम होना (तो और भी) अतिदुर्लभ है, (क्योंकि संयम में) रुचि रखते हुए भी बहुत से लोग उस (संयम) को अंगीकार कर नहीं पाते हैं।

११. मनुष्यत्व (मनुष्य योनि) में आया हुआ जो (प्राणी) धर्म को सुनकर (उस पर) श्रद्धा करता है, (वह) तपस्वी (संयम में) पुरुषार्थ को प्राप्त कर, (कर्म) संवरण से युक्त हो, (कर्म) रज को धुन डालता है-दूर करता है।

मूल : **सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।**
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए।।१२।।

संस्कृत : शुद्धिः ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्तः इव पावकः।।१२।।

मूल : **विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।**
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं।।१३।।

संस्कृत : वेविन्धि कर्मणो हेतुं, यशः संचिनु क्षान्त्या।
पार्थिवं शरीरं हित्वा, ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम्।।१३।।

मूल : **विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर-उत्तरा।**
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं।।१४।।

संस्कृत : विसदृशैः शीलैः, यक्षाः उत्तरोत्तराः।
महाशुक्ला इव दीप्यमानाः, मन्यमाना अपुनश्च्यवम्।।१४।।

मूल : **अप्पिया देवकामाणं, कामरूव-विउव्विणो।**
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति, पुव्वा वाससया बहू।।१५।।

संस्कृत : अर्पिता देवकामानां, कामरूप-विकरणाः।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि।।१५।।

मूल : **तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।**
उवेन्ति माणुसिं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए।।१६।।

संस्कृत : तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुक्षये च्युताः।
उपयान्ति मानुषीं योनिम्, स दशांगोऽभिजायते।।१६।।

मूल : **खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।**
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई।।१७।।

संस्कृत : क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दास-पौरुषम्।
चत्वारः कामस्कन्धाः, तत्र स उपपद्यते।।१७।।

१२. ऋजुता (सरलता) से युक्त (प्राणी) को (आत्मिक) शुद्धि (प्राप्त होती है), और शुद्ध (आत्मा) में 'धर्म' ठहरता है। (स्थिर धर्म वाला आत्मा) घृत से सींची गई अग्नि की तरह (देदिप्यमान होकर) परम निर्वाण को प्राप्त करता है।

१३. 'कर्म' के हेतु-कारण को दूर कर, क्षमा से 'यश' (संयम) को संचित करो। (ऐसा करने वाला साधक) पार्थिव देह को छोड़ कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) की ओर प्रस्थान करता है।

१४. विविध प्रकार के 'शील' (की आराधना) के कारण (वे प्राणी) 'यक्ष'-अर्थात् (विशिष्ट कोटि के) देव होते हैं, और उत्तरोत्तर (क्रमशः) महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की भांति दीप्तिमान् होते हैं, तथा वे (अपनी अतिदीर्घकालिक स्थिति/आयु के कारण कदाचित्) मान लेते हैं कि (उनका स्वर्ग से) पुनः च्यवन नहीं होने वाला है।

१५. (वे) इच्छानुरूप 'रूप-विक्रिया' करने वाले तथा दिव्य (काम) भोगों में (स्वयं) अर्पित हुए रहते हैं, और ऊर्ध्ववर्ती देव-कल्पों में अनेक सैकड़ों 'पूर्व' वर्षों तक (अर्थात् दीर्घ अवधि तक) रहते हैं।

१६. वहां (वे) यक्ष-देव अपनी स्थिति (आयु) के अनुरूप (काल तक) निवास कर, आयुष्य के क्षीण होने पर 'च्युत' होते हैं, और मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं, तथा (वहां) 'दशांग' (दस अंगों वाली भोग सामग्री) से सम्पन्न स्थान में उत्पन्न होते हैं।

१७. (जिस स्थान में) (१) क्षेत्र (खेत या खुली भूमि) व वास्तु (घर, महल आदि), (२) स्वर्ण (सोना-चांदी आदि), (३) पशु, और (४) दास (पोषणीय भृत्य पुरुष तथा पैदल सैनिक वर्ग) - ये चार 'काम-स्कन्ध' (मनोज्ञ पदार्थ समूह) होते हैं, वहां वे उत्पन्न होते हैं।

मूल : **मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।**
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले।।१८।।

संस्कृत : मित्रवान्ज्ञातिमान्भवति, उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान्।
अल्पातंकः महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली।।१८।।

मूल : **भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।**
पुव्विं विसुद्ध-सद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया।।१९।।

संस्कृत : भुक्त्वा मानुष्कान्भोगान्, अप्रतिरूपान्यथायुषम्।
पूर्वं विशुद्ध-सद्धर्मा, केवलां बोधिं बुद्ध्वा।।१९।।

मूल : **चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया।**
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए।।२०।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : चतुरंगीं दुर्लभां ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः।।२०।।
इति ब्रवीमि।

१८. (वहां वे) उस काम स्कन्ध के अतिरिक्त, (२) सन्मित्रों से युक्त, (३) ज्ञातिमान् (अच्छी विनीत जाति वाले), (४) उच्चगोत्रीय, (५) सुन्दरवर्ण वाले, (६) रोग-रहित, (७) महाप्रज्ञ (मेधावी), (८) अभिजात-सत्कुलीन, (९) यशस्वी एवं (१०) बलशाली होते हैं।

१९.(अपनी) आयु-पर्यन्त मानवीय भोगों का उपभोग करने के बाद भी, पूर्व समय (जन्म) में विशुद्ध सद्धर्म के आराधक होने के कारण, विशुद्ध बोधि का अनुभव करते हैं।

२०. (पूर्व वर्णित) चार अंगों को दुर्लभ समझ कर (साधक) 'संयम' को अंगीकार कर, तप द्वारा कर्मों के समस्त अंशों को धुन कर शाश्वत 'सिद्ध' (अवस्था को प्राप्त) हो जाता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

मनुष्यत्व, धर्म-श्रमण, धर्म-श्रद्धा व संयम-पराक्रम प्राणियों के लिए दुर्लभ हैं। कर्मों के अनुरूप जीव विभिन्न गतियों में उत्पन्न होता है। देव, नारकी, असुर, कीट-पतंग आदि बनते हुए वह लोक में भ्रमण करता है। त्रास भोगता है। सुख-दु:ख भोगते हुए उसे संसार निवृत्ति की इच्छा नहीं होती। अति दीर्घ काल पश्चात् मनुष्य जन्म मिलता है। मनुष्य-जन्म, धर्म-श्रवण, श्रद्धा व संयम में पुरुषार्थ उत्तरोत्तर दुर्लभ होते हैं। ये दुर्लभ अंग प्राप्त करने वाला मनुष्य कर्म-रज दूर कर देता है। सरलता से शुद्धि, शुद्धि से धर्म और धर्म से निर्वाण मिलता है। शील्-व्रत-पाल कर जीव समृद्धिशाली दीर्घायु देव बनता है। देवलोक से च्यव कर वह दस प्रकार की भोग-सामग्री से युक्त मनुष्य बनता है।, क्षेत्र, गृह, पशु व दास; ये चार काम-स्कन्ध पाता है। सौंदर्य व सामर्थ्य पाता है। सुख भोग कर निर्मल बोधि पाता है। जो मनुष्य चार अंगों को दुर्लभ जान सजग रहता है, वह संयम व तप से कर्म-निर्जरा कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त करता है।

❑❑

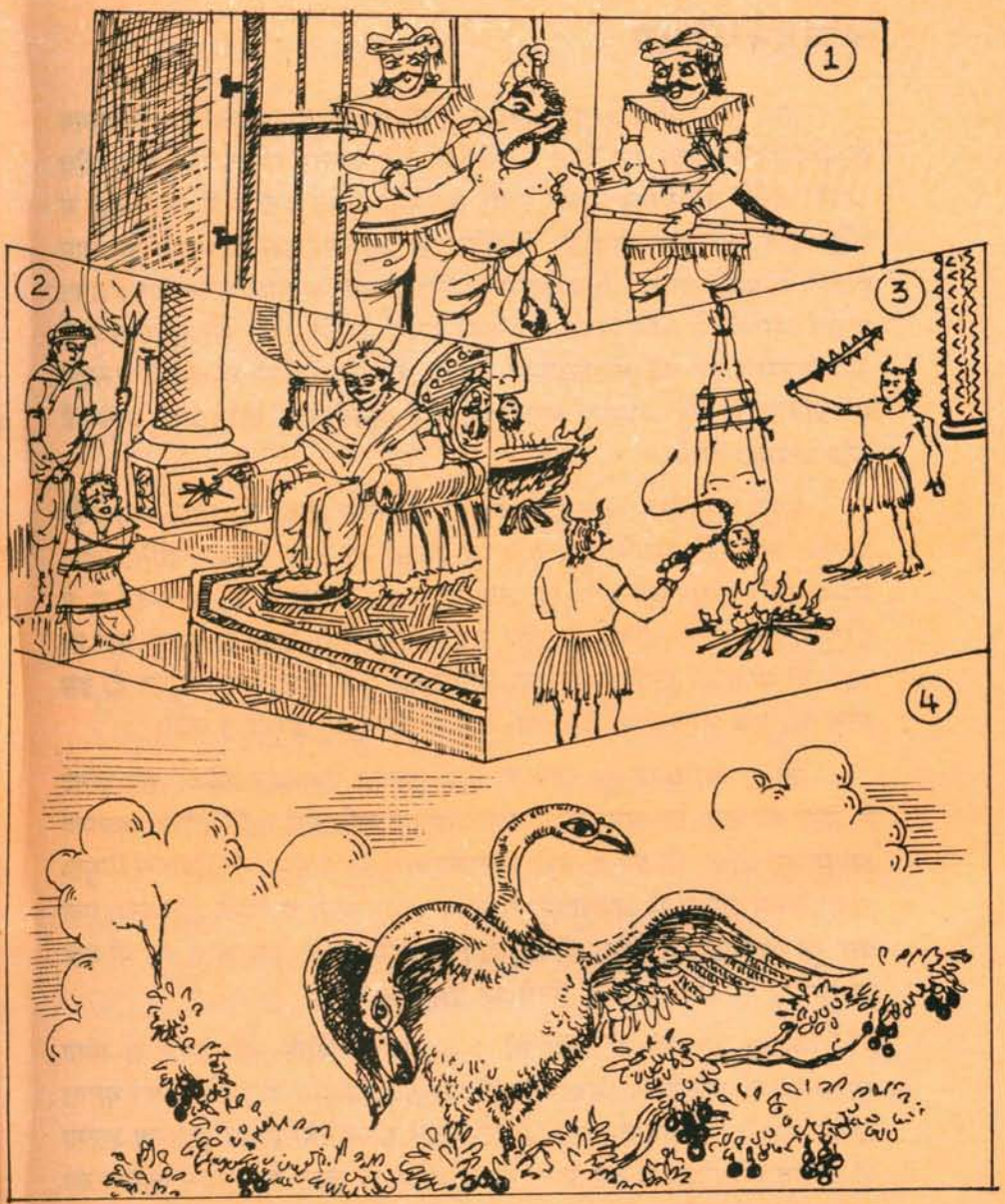

अध्ययन–4

असंस्कृत

अध्ययन परिचय

तेरह गाथाओं से प्रस्तुत अध्ययन निर्मित हुआ है। इसका केन्द्रीय विषय है–प्रमाद-अप्रमाद। इन दोनों में विवेक द्वारा अन्तर समझ कर भव्य जीव अपने जीवन को प्रमाद-मुक्त एवम् अप्रमाद-युक्त बनाता है। कर्म-मल से रहित होने का यही मार्ग है। निर्युक्ति के अनुसार इस अध्ययन का नाम इसीलिये 'प्रमादाप्रमाद' है। प्रमाद सतत निद्रा है और अप्रमाद सतत जागरूकता। प्रमाद असंयम है और अप्रमाद संयम। प्रमाद आत्म-गुणों की सुप्तावस्था है और अप्रमाद उन की जाग्रतावस्था। प्रमाद आत्मा को कर्म-बन्धनों में जकड़ने की प्रक्रिया है और अप्रमाद आत्मा को कर्म-मुक्त करने की। प्रमाद अधर्म है और अप्रमाद धर्म।

शरीर का जीवन नश्वर है। किसी भी समय मृत्यु उसे लील सकती है। आयुष्य कर्म की अवधि पूर्ण होने पर किसी भी तरह उसका जीवित रहना संभव नहीं। जीवन का धागा टूट जाने पर न धन से जुड़ता है, न ऐश्वर्य से, न बंधु-बांधवों से, न औषधि से और न ही किसी दैवी-कृपा से। मृत्यु आने पर जाना ही होता है। इसलिये मनुष्य-जीवन का एक-एक क्षण अमूल्य है। इस सत्य का एक ही सन्देश है–क्षण-मात्र के लिये भी प्रमाद न करो।

जीवन का धागा टूट जाने पर नहीं जुड़ता। एक बार जीवन यदि प्रमाद से ग्रस्त हो जाये तो आसानी से वह अप्रमाद की ओर नहीं मुड़ता। अप्रमाद आत्मा का जीवन है। प्रमाद-ग्रस्त होने का अर्थ है–आत्मा के जीवन से विमुख होना। सच्चे जीवन से आत्मा का सम्बन्ध जोड़ने वाले धागे को तोड़ देना। एक बार टूट जाने पर यह धागा भी सहजता से नहीं जुड़ता। इस सत्य का भी एक ही सन्देश है–क्षण-मात्र के लिये भी प्रमाद न करो।

प्रस्तुत अध्ययन में अप्रमादी या आत्मा के जीवन की प्रमाद से सतत सुरक्षा का भी प्रतिपादन किया गया है। संस्कृत का अर्थ होता है–जुड़ने योग्य। संवारे जाने योग्य। प्रमाद-ग्रस्त जीवन जुड़ने योग्य नहीं होता। टूटन या आत्मा के अहित की दिशा में वह प्राय: बढ़ता ही चला जाता है। ऐसे में व्यक्ति का शरीर भले ही जीवित रहे परन्तु वास्तव में वह जीवित नहीं रहता। सच्चे जीवन से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। टूट जाने पर यह सम्बन्ध पुन: जुड़ना कठिन हो जाता है। जुड़ने योग्य न रह जाने से ऐसे जीवन को असंस्कृत कहा गया है। ऐसे जीवन से यहां साधक को सचेत किया गया है। इसलिये इस अध्ययन का

नाम 'असंस्कृत' रखा गया। प्रसंगवश, इसकी पहली गाथा का पहला शब्द भी यही है–असंस्कृत। नामकरण का एक आधार यह भी है।

प्रमाद-ग्रस्त जीवन असंस्कृत जीवन है। प्रमाद व्यक्ति की कुप्रवृत्ति होने के साथ-साथ कुदृष्टि या मिथ्या-दृष्टि भी है। भ्रान्त धारणाओं का समूह भी है। भगवान् महावीर के युग में अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचलित थीं। माना जाता था कि मंत्र-तंत्र या देव पूजा आदि से टूटते हुए जीवन को जोड़ा जा सकता है। कर्म-फलों से बचा जा सकता है। धर्माराधन के लिये केवल वृद्धावस्था उपयुक्त है। इसी प्रकार की अन्य अनेक मिथ्या मान्यताओं का अंधकार प्रभु के ज्ञान से दूर हुआ। उन्होंने फरमाया कि मंत्र-तंत्र, देव-पूजा आदि से नहीं अपितु संयमी जीवन से टूटते जीवन को जोड़ना संभव है। कर्मों के फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। जिन अपनों के लिये व्यक्ति दुष्कर्म करता है, वे कर्म-फल भोगने में हिस्सा नहीं बांटते। सबके जीवन में वृद्धावस्था का आना अनिवार्य नहीं है। उस समय संयम में पराक्रम करने के लिये अपेक्षित शक्ति शरीर में नहीं रहती। वस्तुतः धर्माराधना की कोई निश्चित उम्र नहीं है। निश्चित है तो केवल यही कि मृत्यु न जाने कब आकर दबोच ले। इसलिये क्षण-मात्र को भी प्रमाद न करो। सभी पाप-कर्मों से बचाने वाला विवेक अचानक प्रकट नहीं होता। उसके लिये सजग प्रयास करना होता है। उसे अर्जित करना पड़ता है। सम्यक् श्रम से ही शरीर व आत्मा का भेद-विज्ञान अनुभव करने की शक्ति प्राप्त होती है। विवेक प्राप्त होता है।

विवेक सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न होने का मार्ग है। इस पर अग्रसर होने वाले साधक को कोई भय नहीं सताता। राग-द्वेष नहीं घेरते। कषाय प्रताड़ित नहीं करते। मिथ्या मान्यतायें प्रभावित नहीं करतीं। उसके लिये मनुष्य-जन्म दुर्गति का नहीं, सुगति का द्वार बन जाता है। शरीर विषय-भोगों का कूड़ाघर नहीं, संयम-साधना का मन्दिर या साधन बन जाता है। उसकी आत्मा की संसार-यात्रा छोटी से छोटी होने लगती है।

इसके लिये आवश्यक है–जीवन को सुसंस्कृत करना। प्रमाद से बचने तथा अप्रमाद को धारण करने की कला की तरह जीना। जीने के लिये आवश्यक है–कला को जानना। यह कला सिखाने के साथ-साथ भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह चउत्थं असंखयं अज्झयणं

(अथ चतुर्थम् असंस्कृतमध्ययनम्).

मूल : **असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।**
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते, कन्नु विहिंसा अजया गहिंति ।। १ ।।

संस्कृत : असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः, जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः, कन्नु विहिंसा अयता ग्रहीष्यन्ति ।। १ ।।

मूल : **जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा, समाययन्ती अमइं गहाय।**
पहाय ते पासपयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ।। २ ।।

संस्कृत : ये पापकर्मभिर्धनं मनुष्याः, समाददते अमतिं गृहीत्वा।
प्रहाय ते पाशप्रवर्तिता नराः, वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ।। २ ।।

मूल : **तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।**
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।। ३ ।।

संस्कृत : स्तेनो यथा संधिमुखे गृहीतः, स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एवं प्रजाः प्रेत्येह च लोके, कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति ।। ३ ।।

मूल : **संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।**
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उवेंति ।। ४ ।।

संस्कृत : संसारमापन्नः परस्यार्थात्, साधारणं च यत्करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले, न बान्धवा बन्धुत्वमुपयान्ति ।। ४ ।।

चौथा अध्ययन : असंस्कृत

१. जीवन संस्कार-रहित है, (अर्थात् एक बार विच्छिन्न होने पर इसे पुनः जोड़ना सम्भव नहीं, इसलिए) प्रमाद न करो। वृद्धावस्था को प्राप्त व्यक्ति की निश्चय ही कोई रक्षा (या शरण) नहीं है। यह भी विशेष रूप से जान-समझ लो कि प्रमाद करने वाले, विशेषतः हिंसा करने वाले और संयम न रखने वाले व्यक्ति किसकी (शरण) लेंगे?

२. जो मनुष्य अज्ञान को ग्रहण कर पाप-कार्यों से धन उपार्जित करते हैं, वे मनुष्य (धनादि को यहीं) छोड़ कर (राग-द्वेषादि के) पाश में पड़े हुए (हैं, उन पाप-प्रवृत्त लोगों को देख, वे) वैर-भावना (या पाप कर्मों की परम्परा) से बन्धे-जकड़े हुए, (अन्त में) नरक में जाते हैं।

३. जिस प्रकार (सेंध लगाता हुआ कोई) पापकारी चोर सेंध लगाने के मुख (छिद्र स्थान) पर पकड़ा गया (हो, तो वह) अपने कर्मों के कारण (ही) काटा-मारा (अंग-विच्छिन्न किया) जाता है, उसी प्रकार प्राणी इस लोक तथा पर-लोक में (भी) (अपने किये कर्मों के कारण काटा-मारा जाता है अर्थात् पीड़ित होता है, क्योंकि) किये हुए कर्मों से (बिना फल भोगे) छुटकारा नहीं है।

४. संसार में आया प्राणी दूसरे (बन्धु-बान्धवों) के निमित्त (और अपने लिए भी) साधारण कर्म (जिसका फल स्वयं को तथा दूसरे बन्धु-बान्धवों को समान रूप से प्राप्त होता हो) करता है, परन्तु वे बन्धु-बान्धव उस कर्म के वेदन-काल (कर्म-फल की प्राप्ति के समय) में बान्धव भाव (कर्म-फल में भागीदारी व भाई-चारे) को नहीं प्राप्त करते (अर्थात् नहीं निभाते)।

मूल : **वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।**
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।। ५ ।।

संस्कृत : वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः, अस्मिंल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्त मोहः, नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वैव ।। ५ ।।

मूल : **सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपन्ने।**
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्ते ।। ६ ।।

संस्कृत : सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोराः मुहूर्त्ता अबलं शरीरं, भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः ।। ६ ।।

मूल : **चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।**
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ।। ७ ।।

संस्कृत : चरेत्पदानि परिशंकमानः, यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा, पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ।। ७ ।।

मूल : **छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।**
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ।। ८ ।।

संस्कृत : छंदोनिरोधेनोपैति मोक्षम् , अश्वो यथा शिक्षित-वर्मधारी।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेदप्रमत्तः, तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ।। ८ ।।

मूल : **स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासय-वाइयाणं।**
विसीयई सिढिले आउयम्मि, कालोवणीए सरीरस्स भेए ।। ९ ।।

संस्कृत : स पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्, एषोपमा शाश्वत-वादिकानाम्।
विषीदति शिथिले आयुषि, कालोपनीते शरीरस्य भेदे ।। ९ ।।

५. इस लोक में या पर-लोक में, प्रमाद-युक्त (व्यक्ति) धन से (स्वयं की) रक्षा नहीं कर पाता है। (जैसे) दीपक बुझ गया हो (तब, अन्धकार में कोई व्यक्ति मार्ग को नहीं देख पाता) उसी तरह, अनन्त मोह (रूप अन्धकार) की स्थिति में न्याय-संगत (या दुःख क्षय व संसार-सागर को पार करने वाले) मार्ग को देख कर भी नहीं देख पाता है।

६. (मोह-निद्रा में) सोए हुए लोगों में भी आशुप्रज्ञ (प्रत्युत्पन्न मति) व पण्डित (साधक धर्माचरण-हेतु) जागता हुआ जीए। (प्रमादयुक्त आचरण पर) विश्वास (अर्थात् भरोसा) न करे। मुहूर्त अर्थात् 'काल' घोर (निर्दय) है, और शरीर दुर्बल है, (इसलिए) भारण्ड पक्षी की तरह प्रमाद रहित होकर विचरण करे।

७. (साधक) पग-पग पर (सम्भावित दोषों के प्रति) आशंकित होते हुए, तथा जो कुछ भी (प्रमाद या गृहस्थ आदि से संसर्ग आदि) हो, उसे 'पाश' (बन्धन) समझते हुए चले। नवीन गुणों के लाभ होने तक जीवन को संवर्धित/पोषित कर, और फिर (उक्त लाभ न आने की स्थिति में) 'परिज्ञान'-पूर्वक (अर्थात् देह की निरर्थकता निश्चित कर, उसे त्यागने की समझ के साथ) 'मल' (कर्म-मल या शरीर) को विनष्ट/समाप्त करने वाला बने।

८. जैसे प्रशिक्षित व कवच-धारी घोड़े (के लिए युद्ध-स्थल को सुरक्षित पार कर पाना सरल होता है, उस) की तरह, स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण करने के कारण (साधक भी) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। (साधना के) प्रारम्भ के वर्षों में प्रमाद-रहित होकर विचरण करे। ऐसा करने से मुनि शीघ्र 'मोक्ष' प्राप्त करता है।

९. (''भले ही) वह पूर्व जीवन (जीवन के पूर्व भाग) में (अप्रमादता को) प्राप्त न किया हो, बाद में, (अप्रमादता को प्राप्त कर लेगा'') ऐसी उपमा (धारणा) शाश्वतवादियों की (हो सकती) है (क्योंकि वे स्वयं को अज्ञानवश अजर-अमर समझते हैं)। (पूर्व जीवन में प्रमत्त रह चुका साधक) आयु के शिथिल होने पर, और (जबकि) 'काल' शरीर-नाश की स्थिति ला देता है, तब (वह) विषाद को प्राप्त करता है।

मूल : **खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।**
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणरक्खी चरेऽप्पमत्तो ।।१०।।

संस्कृत : क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं, तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान् ।
समेत्य लोकं समतया महर्षिः, आत्मरक्षी चरेदप्रमत्तः ।।१०।।

मूल : **मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं, अणेगरूवा समणं चरन्तं ।**
फासा फुसन्ति असमंजसं च, न तेसिं भिक्खू मणसा पउस्से ।।११।।

संस्कृत : मुहुर्मुहुर्मोहगुणान् जयन्तं, अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम् ।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमंजसं च, न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ।।११।।

मूल : **मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।**
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं ।।१२।।

संस्कृत : मन्दाश्च स्पर्शा बहुलोभनीयाः, तथा-प्रकारेषु मनो न कुर्यात् ।
रक्षेत्क्रोधं विनयेत् मानं, मायां न सेवेत प्रजह्यात्लोभम् ।।१२।।

मूल : **जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।**
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेउ ।।१३।।
त्ति बेमि ।

संस्कृत : ये संस्कृतास्तुच्छपरप्रवादिनः, ते प्रेमद्वेषानुगताः परवशाः ।
एतेऽधर्मा इति जुगुप्समानः, कांक्षेत् गुणान् यावच्छरीरभेदः ।।१३।।
इति ब्रवीमि ।

१०. (कोई भी व्यक्ति आत्म-) विवेक को शीघ्र प्राप्त नहीं कर सकता है इसलिए समुद्यत होकर कामनाओं को त्यागते हुए, लोक को सम-भाव से सम्यक्तया जान-समझ कर आत्म-रक्षक महर्षि (मोक्षार्थी) प्रमाद-रहित होकर विचरण करे।

११. मोह-गुणों (रागादि-विकारों) पर बार बार विजय प्राप्त करते रहने वाले विचरण-शील श्रमण को अनेक प्रकार के 'स्पर्श' (शब्दादि-विषय) प्रतिकूल रूप में स्पृष्ट/पीड़ित करते हैं (किन्तु) भिक्षु उन (प्रतिकूल इन्द्रिय-विषयों) के प्रति मन से (भी) द्वेष न रखे।

१२. 'मन्द स्पर्श' (ज्ञानी के उत्साह को मन्द/शिथिल करने वाले विषय, अथवा स्त्री-स्पर्श आदि) बहुत लुभावने होते हैं, (किन्तु साधक) वैसे स्पर्शों (शब्दादि-विषयों) में मन न लगाए। (साधक) क्रोध (से स्वयं) को बचाये, मान को दूर करे, माया का सेवन न करे तथा लोभ को छोड़े।

१३. जो पर-प्रवादी (अन्यतीर्थिक) लोग संस्कार-हीन हैं, तुच्छ हैं, वे राग व द्वेष से युक्त हैं, परतन्त्र (पर-पदार्थों में वशीभूत) हैं, वे अधर्मी हैं-इस प्रकार समझता हुआ, जब तक शरीर नष्ट न हो, (प्रशस्त) गुणों की आकांक्षा करता रहे।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

जीवन टूटने पर जुड़ना सम्भव नहीं। अत: प्रमाद छोड़ो। प्रमादी मनुष्य के लिये कोई शरण नहीं होती। पापों से धनोपार्जन करने वाले धन यहीं छोड़ दुर्गति में जाते हैं। जीव अपने कर्मों से दोनों लोकों में यातनायें पाता है। कर्म-फल भोग अपरिहार्य है। जीव 'अपनों' के लिये कर्म करता है, जो कर्म-फल-भोग के समय सहभागी नहीं होते। धन कभी कहीं शरण नहीं देता। अनंत मोही जीव मोक्ष-मार्ग देखकर भी नहीं देखता। आशु-प्रज्ञ साधक सोये हुओं के बीच भी जागता रहे। समय का मूल्य समझे। अप्रमत्त रहे। दोषों से बचे। शरीर का गुण-प्राप्ति के लिये ही उपयोग करे। उस के प्रति ममत्व न रखे। स्वेच्छाचारी न बने। साधना-यात्रा में प्रारम्भ से ही अप्रमत्त रहे। अन्यथा बाद में अप्रमत्त होना असम्भव होगा। विवेक तत्काल नहीं होता। अत: साधक काम-भोग-त्याग, मोक्ष-मार्ग-प्रगति व समभाव-धारण द्वारा विवेक अर्जित करे। प्रतिकूल विषयों से राग न रखे। क्रोध-मान-माया-लोभ से सुरक्षित रहे। अधर्मियों से सुरक्षित दूरी बनाये रखे। जीवन-पर्यन्त सद्‌गुणों के ही लिये जीये।

❑❑

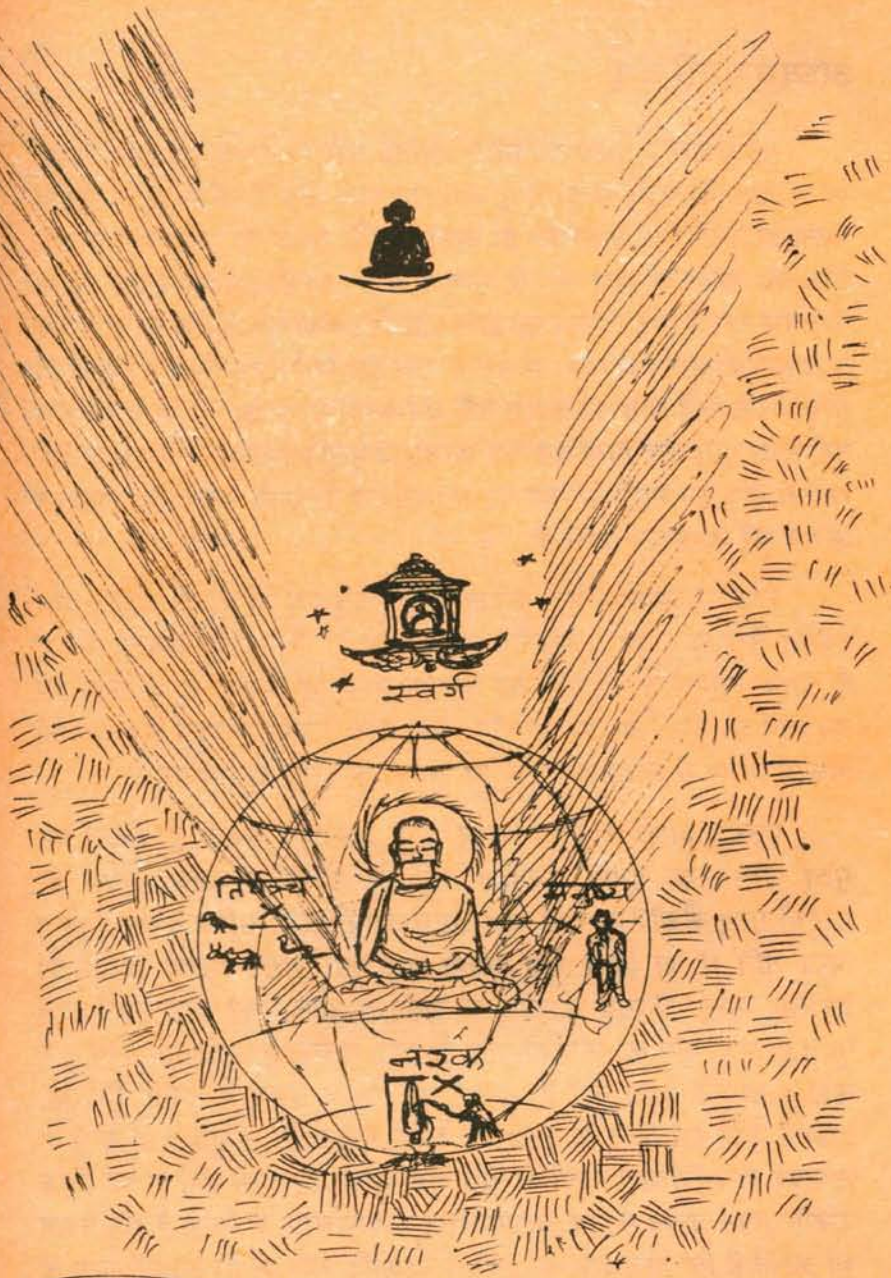

अध्ययन–5

अकाम-मरणीय

अध्ययन परिचय

यह बत्तीस गाथाओं से निर्मित अकाम-मरणीय नामक अध्ययन है। इस का केन्द्रीय विषय है—मृत्यु। मृत्यु जन्म लेने वाले जीव के जीवन की अनिवार्य घटना ही नहीं, एक कला भी है। अज्ञानी जीव सामान्यत: जीवन-भर, और विशेषत: जीवन के उत्तर भाग में, मृत्यु से त्रस्त रहते हैं। इस प्रकार एक जीवन में अनेक बार वे मृत्यु (भय) को प्राप्त होते हैं। इसका मूल कारण है—शारीरिक व सांसारिक जीवन से मोह। सत्यवेत्ता जीव इस मोह का अतिक्रमण करते हैं। मृत्यु उनके लिये त्रास का कारण नहीं बन पाती। मृत्यु-क्षण में भी वे भयभीत नहीं होते। मृत्यु उन्हें नियन्त्रित नहीं करती। वे मृत्यु को नियन्त्रित करते हैं। ऐसे साधक मृत्यु को मारने की राह पर अग्रसर होते हैं। मृत्यु, उनके लिये शाश्वत जीवन की कला बन जाती है।

प्रस्तुत अध्ययन में मृत्यु की तलस्पर्शी विवेचना की गई है। अज्ञान-ग्रस्त व्यक्ति जैसी मृत्यु को अवांछनीय बताया गया है। ऐसी मृत्यु 'अकाम-मरण' है। इसके कारणों व परिणामों का व्यापक ज्ञान यहां मिलता है। इसलिये इस अध्ययन का नाम 'अकाम-मरणीय' रखा गया। इसका उद्देश्य है—जीव को अकाम-मरण से सचेत कर 'सकाम-मरण' की ओर उन्मुख करना।

प्रत्येक प्राणी के लिये 'मृत्यु' एक अनिवार्य घटना है। किन्तु यह मृत्यु जीवन का पूर्णत: विनाश नहीं है। आत्मा तो अजर-अमर है, उसकी मृत्यु कैसी? मृत्यु के बाद आत्मा मरती नहीं, अपितु स्वकर्मानुरूप अन्य गति में या अन्य भव धारण कर नया शरीर धारण करती है। इसलिए 'मृत्यु' वास्तव में जीव के शरीर व आत्मा को जोड़े रखने वाले पूर्वबद्ध आयु-कर्म का क्षीण हो जाना है। अत: तत्वज्ञानी व्यक्ति के लिये मृत्यु कोई दु:ख की घटना नहीं है, अपितु एक सहज घटना है। इसके विपरीत, अज्ञानी जीव इसे कष्ट या दु:ख की घटना मानता है। अज्ञानी द्वारा मृत्यु के कष्टप्रद या अनिच्छित मानने के पीछे कुछ कारण हैं। उनमें एक तो यह है कि उन्होंने अपने जीवन में प्राय: अधर्माचरण या पापाचरण ही किया है और वे यह भी जानते हैं कि पापाचरण का दुष्फल नरकादि-गति ही है। अज्ञानी मृत्यु के समय अपने अनेक दुष्कर्मों को सोच कर या भावी दुर्गति की कल्पना कर और भी अधिक कष्ट का अनुभव करते हुए आगामी भव में भी दुर्गति से कष्ट पाते हैं। उक्त अज्ञानी/बाल जनों का मरण 'अकाम-मरण' होता है, क्योंकि वे

अनिच्छा से मृत्यु का वरण करने के लिए बाध्य होते हैं। मृत्यु-समय दुर्ध्यान-वश तथा पूर्व दुष्कर्मों के फलस्वरूप उन्हें दुर्गति भोगनी ही पड़ती है। 'अकाम-मरण' को 'बाल-मरण' भी कहा जाता है। बाल—अर्थात् अधार्मिक, असंयमी व कषाय-ग्रस्त अज्ञानी प्राणी।

बाल-मरण से विपरीत पण्डित-मरण या सकाम मरण होता है। धर्म-साधक-अणुव्रती या महाव्रती व्यक्ति-का निर्भय हो मृत्यु का स्वागत करना 'सकाम-मरण' है। निर्भयता की पृष्ठभूमि में मृत्यु के स्वरूप से इनका अवगत होना, दुर्गतिदायक कार्यों से जीवन में बचे रहना तथा अन्त समय में दुर्ध्यान व कषायादि से ग्रस्त न होना आदि होता है। यह सकाम मरण धार्मिक व सुव्रती को सुलभ होता है, अर्थात् इस मरण को कोई बिरले ही पुण्यशाली गृहस्थ व भिक्षु प्राप्त कर पाते हैं। मृत्यु के बाद वे स्व-पुण्यकर्मानुरूप या तो उच्च देव-गति प्राप्त करते हैं, या (भिक्षु) कर्म-क्षय होने की स्थिति में मुक्ति भी प्राप्त करते हैं। इनमें गृहस्थ व्रती श्रावक को 'बालपण्डित मरण', तथा महाव्रती मुनि को 'पण्डित मरण' प्राप्त हो सकता है। शेष व्यक्ति-अज्ञानी/मिथ्यात्वसम्पन्न, इन्द्रिय-सुखों में अविवेकपूर्वक-संलग्न, पापरत-हिंसक आदि 'बाल-मरण' ही प्राप्त करते हैं। कुछ अज्ञानी लोग सांसारिक दु:खों से ऊब कर आत्महत्या, अज्ञानवश स्वर्गादि के लाभ हेतु गिरि पतन, अग्नि-प्रवेश आदि कर मृत्यु का वरण करते हैं—वह भी 'बाल मरण' ही कहा जाता है।

इन दोनों मरणों की गुण-दोष सम्बन्धी तुलना कर, अकाम मरण व बाल मरण को त्याज्य तथा पण्डित मरण या सकाम मरण को उपादेय मानते हुए जीवन को धार्मिक बनाने का प्रयास करना चाहिए तथा मृत्यु-भय का त्याग करते हुए संल्लेखना आदि द्वारा शरीर-त्याग करने के लिए सन्नद्ध भी रहना चाहिए। यह प्रबल प्रेरणा इस अध्ययन में दी गई है। इसके साथ-साथ मृत्यु-सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान भी यहां प्राप्त होता है। इस ज्ञान के सम्यक् उपयोग से जीवन को सार्थक स्वरूप प्रदान करने की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह अकाममरणिज्जं
पञ्चमं अज्झयणं
(अथाकाममरणीयं पञ्चममध्ययनम्)

मूल : **अण्णवंसि महोहंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे।**
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पण्हमुदाहरे ।। १ ।।

संस्कृत : अर्णवान्महौघाद्, एके तीर्णा दुरुत्तरात्।
तत्रैको महाप्रज्ञः, इमं प्रश्नमुदाहृतवान् ।। १ ।।

मूल : **सन्ति मे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।**
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा ।। २ ।।

संस्कृत : स्त इमे च द्वे स्थाने, आख्याते मारणान्तिके।
अकाममरणं चैव, सकाममरणं तथा ।। २ ।।

मूल : **बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।**
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ।। ३ ।।

संस्कृत : बालानामकामं तु, मरणमसकृद् भवेत्।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ।। ३ ।।

मूल : **तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।**
कामगिद्धे जहा बाले, भिसं कूराइं कुव्वई ।। ४ ।।

संस्कृत : तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम्।
कामगृद्धो यथा बालः, भृशं क्रूराणि करोति ।। ४ ।।

मूल : **जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।**
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ।। ५ ।।

संस्कृत : यो गृद्धः कामभोगेषु, एकः कूटाय गच्छति।
न मया दृष्टः परो लोकः, चक्षुर्दृष्टेयं रतिः ।। ५ ।।

पाँचवाँ अध्ययन :
अकाम-मरणीय

१. (इस) महाप्रवाह वाले दुस्तर संसार-सागर से कुछ (महापुरुष) पार हो चुके हैं। उनमें एक महाप्राज्ञ (भगवान् महावीर) ने इस (बात/प्रश्न) का स्पष्ट विवेचन/समाधान किया था:-

२. मृत्यु रूप 'अन्त' समय के ये दो स्थान (भेद) कहे गए हैं- (१) अकाम-मरण और (२) सकाम मरण।

३. बाल (व्रत-नियमादि-रहित जीवों) के तो 'अकाम-मरण' बार बार हुआ करता है। किन्तु 'पण्डितों' (चारित्री पुरुषों) का 'सकाम-मरण' (होता है, और वह भी) उत्कृष्टतः (जैसे 'केवली' के) एक बार होता है।

४. (भगवान्) महावीर ने इनमें से प्रथम 'स्थान' (अकाम-मरण रूप भेद) का (इस प्रकार) उपदेश किया है-

काम-भोगों में आसक्ति रखने वाला 'बाल' (अज्ञानी) व्यक्ति अत्यधिक क्रूर (हिंसादि) कर्म किया करता है।

५. जो कोई काम-भोगों में आसक्ति रखता है, वह 'कूट' (झूठ बोलना, पशु आदि की हिंसा करने से नरक-प्राप्ति) की ओर गतिशील हो जाता है। (वह सोचता है कि) "परलोक तो मैंने देखा नहीं, (परन्तु) यह 'रति' (विषय-सुख तो) आंखों से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है।

मूल : **हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।**
को जाणइ परे लोए? अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।। ६ ।।

संस्कृत : हस्तागता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः।
को जानाति परो लोकः? अस्ति वा नास्ति वा पुनः ।। ६ ।।

मूल : **जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।**
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ।। ७ ।।

संस्कृत : जनेन सार्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते।
काम-भोगानुरागेण, क्लेशं सम्प्रतिपद्यते ।। ७ ।।

मूल : **तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य।**
अट्ठाए व अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ।। ८ ।।

संस्कृत : ततः स दण्डं समारभते, त्रसेसु स्थावरेषु च।
अर्थाय चानार्थाय, भूतग्रामं विहिनस्ति ।। ८ ।।

मूल : **हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।**
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ।। ९ ।।

संस्कृत : हिंस्रो बालो मृषावादी, मायी च पिशुनः शठः।
भुञ्जानः सुरां मांसं, श्रेय एतदिति मन्यते ।। ९ ।।

मूल : **कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।**
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागो व्व मट्टियं ।। १० ।।

संस्कृत : कायेन वचसा मत्तः, वित्तो गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मलं संचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ।। १० ।।

मूल : **तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई।**
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ।। ११ ।।

संस्कृत : ततः स्पृष्टः आतंकेन, ग्लानः परितप्यते।
प्रभीतः परलोकात्, कर्मानुप्रेक्षी आत्मनः ।। ११ ।।

६. "ये काम-भोग तो (मेरे) हाथ में हैं, (किन्तु) भविष्य के (पर लोकादि-सुख) अनियत काल में प्राप्त होने वाले (अर्थात् संदिग्ध) हैं। (और फिर) पर लोक है (भी) कि नहीं- (इसे) कौन जानता है?"

७. "मैं (तो सब) लोगों के साथ रहूंगा (चलूंगा)"-इस तरह अज्ञानी व्यक्ति धृष्टता करता है, और काम-भोगों में (अपनी) अनुरक्ति के कारण 'क्लेश' (ही क्लेश) पाता है।

८. फिर वह त्रस व स्थावर प्राणियों में 'दण्ड' (हिंसा का प्रयोग) प्रारम्भ करता है। (वह) सप्रयोजन या निष्प्रयोजन (भी) प्राणियों के समूह का वध करने लगता है।

९. (वह) हिंसक, असत्यभाषी, मायावी, चुगलखोर व धूर्त अज्ञानी व्यक्ति मद्य व मांस का भोग (सेवन) करता हुआ (अपने उक्त कार्य को) 'यह कल्याणकारी है'-ऐसा (ही) मानता है।

१०. वह शरीर व वचन से मदमत्त होकर, धन व स्त्रियों में आसक्ति रखता हुआ, द्विविध रूप से (अर्थात् राग-द्वेष से, मन-वचन से, तथा इहलोक-परलोक हेतु) (कर्म) मल को उसी प्रकार संचित करता रहता है जैसे 'शिशुनाग' (केंचुआ/अलसिया मुख व शरीर से) मिट्टी को (मुख से खाता है, और शरीर में लपेटता भी है)।

११. परिणामतः, रोगादि (आतंक) से आक्रान्त होकर खिन्न होता हुआ परिताप करता है, और (अपने) कर्मों की अनुप्रेक्षा (चिन्तन-स्मरण) करते हुए परलोक से भयभीत होता है।

मूल : **सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।**
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा।।१२।।

संस्कृत : श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गतिः।
बालानां क्रूर-कर्मणाम्, प्रगाढा यत्र वेदना।।१२।।

मूल : **तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।**
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पई।।१३।।

संस्कृत : तत्रौपपातिकं स्थानं, यथा मयानुश्रुतम्।
यथाकर्मभिर्गच्छन्, सः पश्चात् परितप्यते।।१३।।

मूल : **जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।**
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई।।१४।।

संस्कृत : यथा शाकटिको जानन्, समं हित्वा महापथम्।
विषमं मार्गमुत्तीर्णः, अक्षे भग्ने शोचति।।१४।।

मूल : **एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।**
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ।।१५।।

संस्कृत : एवं धर्मं व्युत्क्रम्य, अधर्मं प्रतिपद्य।
बालो मृत्युमुखं प्राप्तः, अक्षे भग्न इव शोचति।।१५।।

मूल : **तओ से मरणंतम्मि, बाले संतस्सई भया।**
अकाममरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए।।१६।।

संस्कृत : ततः स मरणान्ते, बालः संत्रस्यति भयात्।
अकाममरणं म्रियते, धूर्त इव कलिना जितः।।१६।।

मूल : **एयं अकाममरणं, बालाणं तु पवेइयं।**
इत्तो सकाममरणं, पण्डियाणं सुणेह मे।।१७।।

संस्कृत : एतदकाममरणं, बालानां तु प्रवेदितम्।
इतः सकाममरणं, पण्डितानां श्रृणुत मे।।१७।।

१२. (वह चिन्तन करता है कि) "शील (सदाचार से) रहित तथा क्रूर (हिंसादि) कर्म करने वाले अज्ञानी जीवों की जो (नरक रूप अप्रशस्त) गति है, और जहां अत्यन्त तीव्र वेदना (प्राप्त होती) है, उन नरकों के विषय में मैंने सुना है।"

१३. "जैसा कि मैंने परम्परा से सुना है (कि) वहां 'औपपातिक' (अन्तर्मुहूर्त भर में ही जन्म प्राप्त कर महावेदना-ग्रस्त होने के) स्थान हैं, और (मृत्यु के) बाद में अपने कर्मों के अनुरूप (वहां प्राणी) जाकर पश्चाताप करता रहता है।

१४. जैसे कोई गाड़ीवान्, जानकार होकर (भी), समतल-सीधे-सपाट राजपथ को छोड़कर विषम (टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़) रास्ते पर उतर जाता है, और (फलतः) गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोकाकुल होता है।

१५. इसी प्रकार, जो अज्ञानी धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को अंगीकार करने के बाद, मृत्यु के मुख में पड़ता है (तब वह) धुरी टूटने की स्थिति वाले (गाड़ीवान्) की तरह शोक करता है।

१६. फिर वह अज्ञानी मृत्यु के समय (परलोक-सम्बन्धी) भय से संत्रस्त होता है, और 'कलि' (हार के दाँव) से पराजित जुआरी (धूर्त) की तरह (शोकग्रस्त होता हुआ) अकाम-मरण से मृत्यु को प्राप्त करता है।

१७. इस प्रकार (अब तक) अज्ञानी जीवों के अकाम-मरण का निरूपण किया गया है। अब यहां से 'पण्डित' जनों के सकाम-मरण को मुझसे सुनो।

मूल : **मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मे तमणुस्सुयं।**
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ।। १८ ।।

संस्कृत : मरणमपि सपुण्यानां, यथा मयानुश्रुतम्।
विप्रसन्नमनाघातं, संयतानां वश्यवताम् ।। १८ ।।

मूल : **न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु।**
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ।। १९ ।।

संस्कृत : नेदं सर्वेषां भिक्षूणां, नेदं सर्वेषामु अगारिणाम्।
नानाशीला अगारस्था, विषमशीलाश्च भिक्षवः ।। १९ ।।

मूल : **सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।**
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ।। २० ।।

संस्कृत : सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, गृहस्थाः संयमोत्तराः।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ।। २० ।।

मूल : **चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं।**
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ।। २१ ।।

संस्कृत : चीराजिनं नाग्न्यं, जटित्वं संघाटी मुण्डित्वम्।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायागतम् ।। २१ ।।

मूल : **पिंडोलए व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई।**
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ।। २२ ।।

संस्कृत : पिण्डावलगोऽपि दुःशीलो, नरकात्र मुच्यते।
भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतः क्रामति दिवम् ।। २२ ।।

मूल : **अगारि-सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए।**
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ।। २३ ।।

संस्कृत : अगारि-सामायिकांगानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति।
पौषधं द्वयोः पक्षयोः, एकरात्रं न हापयेत् ।। २३ ।।

१८. जैसा कि मैंने परम्परा से सुना है-पुण्यशाली, संयमी व इन्द्रियजयी (या साधु-गुणधारी) जीवों का मरण प्रसन्नतापूर्वक आकुलता-रहित और (मानसिक) व्याघात-रहित होता है।

१९. यह (सकाम-मरण) सभी गृहस्थों को (तो प्राप्त होता ही) नहीं, सभी भिक्षुओं को (भी) नहीं (प्राप्त होता)। (क्योंकि) गृहस्थ नाना (विविध, अनियत व एकरूपता से रहित) शील (स्वभाव, रुचि, अभिप्राय, व्रत, नियमादि) वाले होते हैं, और भिक्षु भी विषम (पृथक् -पृथक् अनियत विकृत, सातिचार, अति दुर्लक्ष्य) शील (व्रत-नियमादि) वाले हुआ करते हैं।

२०. कुछ-एक (मात्र वेष-धारी) भिक्षुओं से गृहस्थ (भी) संयम की अपेक्षा आगे (बढ़े) होते हैं, किन्तु (सामान्यतः) सभी गृहस्थों से (सर्वव्रती) साधु संयम में आगे बढ़े हुए (श्रेष्ठ) होते हैं।

२१. (साधु-दीक्षा) पर्याय को प्राप्त हुए दूषित शील (आचार) वाले (साधु) की चीवर (वल्कल आदि वस्त्र), चर्म (मृगछाला आदि), नग्नता, जटा, गुदड़ी या उत्तरीय, सिर मुंडाना-ये (बाह्य वेष) भी (नरक में जाने से) रक्षा नहीं करते।

२२. भिक्षा-वृत्ति से जीविका चलाने वाला (साधु भी यदि) दुःशील है तो नरक (गति) से नहीं छूट सकता, (जबकि) गृहस्थ हो या भिक्षुक, (यदि वह) सम्यक् व्रत-धारी (है तो) स्वर्ग में जाता है।

२३. श्रद्धालु गृहस्थ (श्रावक) सामायिक के (सभी) अंगों का शरीर से स्पर्श करे (-अर्थात् सक्रिय आराधना करे)। (कृष्ण व शुक्ल - इन) दोनों पक्षों में (करणीय) प्रौषध (व्रत) को एक (दिन या) रात के लिए (भी) न छोड़े।

मूल : **एवं सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए।**
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्ख-सलोगयं।। २४।।

संस्कृत : एवं शिक्षासमापन्नः, गृहवासेऽपि सुव्रतः।
मुच्यते छविपर्वाद्, गच्छेद् यक्ष-सलोकताम्।। २४।।

मूल : **अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हमन्नयरे सिया।**
सव्वदुक्खप्पहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए।। २५।।

संस्कृत : अथ य संवृतो भिक्षुः, द्वयोरन्यतरस्मिन् स्यात्।
सर्वदुःखप्रहीणो वा, देवो वाऽपि महर्द्धिकः।। २५।।

मूल : **उत्तराइं विमोहाइं, जुइमन्ताऽणुपुव्वसो।**
समाइण्णाइं जक्खेहिं, आवासाइं जसंसिणो।। २६।।

संस्कृत : उत्तरा विमोहाः, द्युतिमन्तोऽनुपूर्वशः।
समाकीर्णा यक्षैः, आवासा यशस्विनः।। २६।।

मूल : **दीहाउया इड्ढिमन्ता, समिद्धा कामरूविणो।**
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा।। २७।।

संस्कृत : दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोपपन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः।। २७।।

मूल : **ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं।**
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा।। २८।।

संस्कृत : तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा संयमं तपः।
भिक्षादा वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृताः।। २८।।

मूल : **तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ।**
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया।। २९।।

संस्कृत : तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां, संयतानां वश्यवताम्।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते, शीलवन्तो बहुश्रुताः।। २९।।

२४. इस प्रकार शिक्षा (बार-बार व्रताभ्यास) से युक्त सम्यक् व्रतधारी (श्रावक) गृहस्थावस्था में (रहता हुआ) भी चमड़ी-हड्डी से बने (औदारिक) शरीर से छूट कर, देवों के लोक में चला जाता है।

२५. अब, जो संवृत (अर्थात् कर्मों के आस्रव को रोकने वाला) भिक्षु होता है, (वह इन) दो में से किसी एक (दशा को प्राप्त) होता है-या तो वह समस्त दुःखों से रहित 'मुक्त' (होता है) या महान् ऋद्धिसम्पन्न देव (होता है)।

२६. (देवों के वे) आवास क्रमशः ऊपर-ऊपर 'विमोह' (अर्थात् मिथ्यात्व रूप या कामवासना-रूप या स्त्री-रूप 'मोह' की मन्दता या अभाव की स्थिति वाले), विशेष दीप्तिमान, तथा उन देवों से भरे हुए हैं, (जो) यशस्वी हैं।

२७. (वे देव) दीर्घ आयु वाले, ऋद्धि-सम्पन्न, अत्यन्त दीप्ति वाले, इच्छानुसार 'रूप' बनाने वाले, हमेशा नवजात-जैसी कान्ति वाले, और सूर्य जैसी अत्यधिक प्रभा (तेज) वाले हुआ करते हैं।

२८. जो 'शान्ति' (अर्थात् उपशम भाव) से परिनिर्वृत (सम्पन्न) हैं (या परिनिवृत्त-अर्थात् पापों से सर्वथा निवृत्त हो चुके हैं), वे तप व संयम की 'शिक्षा' (बार बार आसेवना) करने के अनन्तर उन (पूर्वोक्त देवलोक रूप) स्थानों को जाते हैं, चाहे वे भिक्षु हों या गृहस्थ।

२९. उन संयमी, इन्द्रियजयी व सत्पूजनीय (मुनियों) का (सकाम-मरण) सुनकर, शीलवान् व बहुश्रुत (भिक्षु), मृत्यु-समय में (भी) संत्रस्त (अर्थात् उद्वेग, भय, चिन्ता आदि से ग्रस्त) नहीं हुआ करते।

मूल : **तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खंतिए।**
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा।। ३०।।

संस्कृत : तोलयित्वा विशेषमादाय, दयाधर्मस्य क्षान्त्या।
विप्रसीदेन्मेधावी, तथाभूतेनात्मना।। ३०।।

मूल : **तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए।**
विणएज्ज लोमहरिसं, भेअं देहस्स कंखए।। ३१।।

संस्कृत : ततः कालेऽभिप्रेते, श्रद्धी तादृशमन्तिके।
विनयेल्लोमहर्षं, भेदं देहस्य कांक्षेत।। ३१।।

मूल : **अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।**
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी।। ३२।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : अथ काले संप्राप्ते, आघातयन् समुच्छ्रयम्।
सकाममरणेन म्रियते, त्रयाणामन्यतरेण मुनिः।। ३२।।
इति ब्रवीमि।

३०. मेधावी (साधक) तुलना के साथ 'विशेष' का ग्रहण करे। अर्थात् दोनों प्रकार के मरणों की हीनता-उच्चता को हृदयंगम कर, उत्साहादि को जांच-तौल कर, इन दोनों मरणों में विशेष लाभप्रद-'सकाम-मरण' को या 'भक्तपरिज्ञा' आदि किसी मरण को अपनाए, और द्रव्यप्रधान धर्म (के अंगभूत) क्षमा (सहिष्णुता) के साथ, तथा भूत (उपशान्त भाव युक्त) आत्मा से विशेष रूप में प्रसन्न रहे।

३१. और फिर, जब मृत्यु सन्निकट हो (या मृत्यु का जो अभीष्ट काल समुपस्थित जान पड़े) तब (गुरु के) समीप पहले जैसी श्रद्धा लिए हुए, (मृत्यु-पीड़ा से सम्भावित) रोमांच को दूर करे तथा देह के भेद (छूटने) की प्रतीक्षा करता रहे।

३२. और फिर, मृत्यु-समय आने पर, (कार्मण व औदारिक) शरीर का (संलेखना द्वारा) विघात/त्याग करता हुआ, (भक्त परिज्ञा, इङ्गिनी या पादोपगमन इन) तीनों में से किसी एक 'मरण' (के अंगीकार-पूर्वक) मुनि 'सकाम-मरण' से मरता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

मरण दो प्रकार का होता है–(1) अकाम मरण, और (2) सकाम मरण। इनमें अज्ञानी व्यक्तियों का 'अकाम-मरण' होता है, और (ज्ञान के अभाव में) अनेक बार होता रहता है, किन्तु 'सकाम मरण' पण्डितों–ज्ञानी जीवों को प्राप्त होता है और उत्कृष्ट रूप से ज्ञान-सम्पन्न केवली सर्वज्ञ को एक ही बार प्राप्त होता है। प्रथम अकाम मरण के अधिकारी वे अज्ञानी जीव होते हैं जो परलोक की उपेक्षा करते हुए विषयासक्त, सप्रयोजन या निष्प्रयोजन हिंसा आदि क्रूर कर्म करने वाले एवं तन-मन-वचन से कर्म-मल को संचित करने वाले होते हैं और मृत्यु के समय रोगादि से ग्रस्त होकर दुष्कर्मों के भावी दुष्फल को प्राप्त करते हैं। नरक आदि की भीषण यातनाओं की कल्पना से ही उसकी सन्तप्त मनोदशा उस गाड़ीवान की तरह होती है जो मार्ग में ही गाड़ी की धुरा टूट जाने पर शोक-सन्तप्त होता रहता है या उस जुआरी की तरह होती है जो जुए में अपना सर्वस्व हार चुका होता है।

इसके विपरीत पुण्यवान् व संयमी व्यक्तियों को जो सकाम मरण प्राप्त होता है, जो विषाद से रहित व प्रसन्नता से पूर्ण होता है। यह सभी अणुव्रती गृहस्थों एवं सभी व्रती साधुओं को भी प्राप्त नहीं हो पाता, क्योंकि दुराचारी साधुवेश व्यक्ति को भी नरक की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। सुव्रती श्रद्धावान् गृहस्थ भी सामायिक साधना व अणुव्रतों-शिक्षाव्रतों की आराधना करता हुआ भय रहित सकाम मृत्यु का वरण कर स्वर्ग में जाता है। संत्रास-रहित सकाम मृत्यु का वरण करने वाले संयमी साधु की दो स्थितियां सम्भावित हैं। या तो वह कर्म-क्षय कर मुक्ति प्राप्त करते हैं, या उच्च देव-लोकों में जाते हैं। अतः साधक के लिए उचित है कि उक्त दोनों मरणों की दोष-गुण-विषयक तुलना करते हुए, क्षमा-भाव से दया-धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि और मृत्यु-समय संल्लेखना आदि द्वारा शरीर-मोह का त्याग कर 'सकाम मरण' का वरण करे।

❑❑

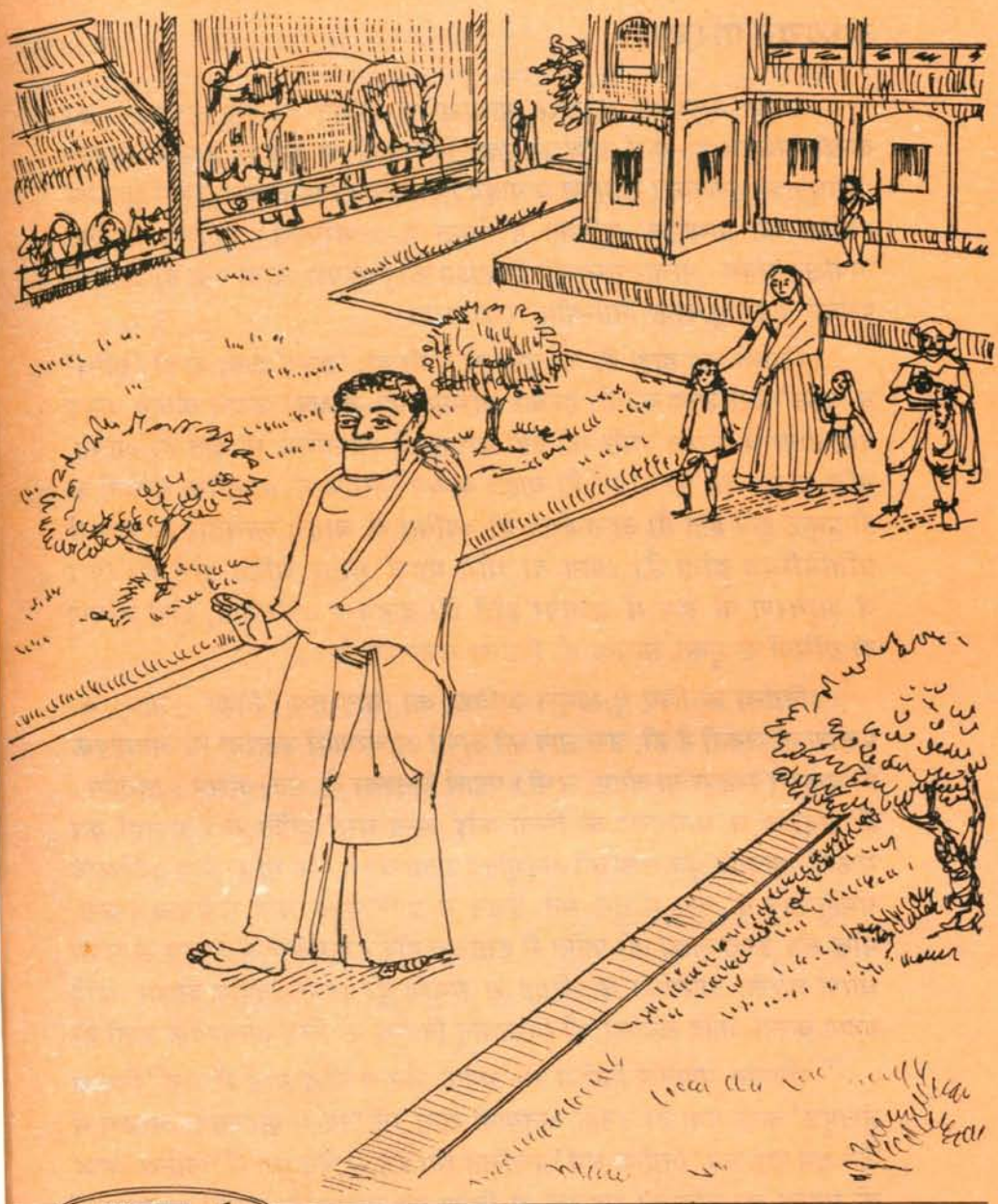

अध्ययन–6

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन अट्ठारह गाथाओं से निर्मित है। इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–कर्म-ग्रंथि से मुक्त होने वाले या होने के इच्छुक निर्ग्रन्थ (साधु) के क्षुल्लक (सामान्य व बाह्य) आचार का प्रतिपादन। इसमें क्षुल्लक (संयम की प्राथमिक भूमिका में स्थित व अपरिपक्व) निर्ग्रन्थ के लिए अपेक्षित संयम-आचार सम्बन्धी शिक्षाओं का निरूपण किया गया है। इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय' रखा गया।

निर्ग्रन्थ वह होता है, जो ग्रन्थ से मुक्त हो। 'ग्रन्थ' शब्द से ही 'ग्रन्थि' व 'गांठ' जैसे शब्द बने हैं। इनका अभिप्राय है–बन्धन। बन्धन केवल बाह्य नहीं होते। वे केवल शरीर को नहीं बांधते। वे आन्तरिक भी होते हैं। आत्मा, बुद्धि व मन को भी बांधते हैं। बाह्य बन्धन वास्तव में आन्तरिक बन्धनों के ही प्रकट रूप होते हैं। **अन्तर्जगत् ही व्यक्ति के बाह्य व्यवहार के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। त्याग या भोग पहले भीतर घटित होते हैं। फिर वे आचरण के रूप में उजागर होते हैं।** बाह्य व आन्तरिक, दोनों बन्धनों या ग्रंथियों से मुक्त साधक ही निर्ग्रन्थ कहलाता है।

निर्ग्रन्थ के लिए दु:खमूल अविद्या का त्याग तथा 'विद्या' (ज्ञान) का प्रकाश तो जरूरी है ही, उस ज्ञान को अपने आचरण में उतारना भी आवश्यक है। बाह्य (स्थावर या जंगम, सभी) पदार्थ विनश्वर हैं, अंत: असार (सारहीन) हैं, सद्ज्ञान व धर्माचरण के सिवा कोई अन्य वस्तु दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकती–इत्यादि ध्रुव सत्य की अनुभूति (सत्यान्वेषण) के साथ-साथ अहिंसादि धर्मानुष्ठान के रूप में तन-मन-वचन से प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखना, मोक्ष रूप उच्च लक्ष्य की प्राप्ति में दत्तचित्त होकर कर्मक्षय के उद्देश्य से संयम धारण करना, आसक्ति व परिग्रह से सर्वथा दूर रहना, निर्दोष आहार आदि ग्रहण करना आदि क्रियाएं भी विद्यावान् निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यक होती हैं।

भगवान् महावीर निर्ग्रन्थ थे। अनेक जैन व बौद्ध ग्रंथों में उन्हें 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' कहा गया है। उनके अनुयायी सन्त भी निर्ग्रन्थ कहलाये। आरम्भ में जैन धर्म का नाम 'निर्ग्रन्थ धर्म' प्रचलित था। इस से जैन धर्म में 'निर्ग्रन्थ' शब्द के महत्त्व का अनुमान सहजता से किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में इसका सांगोपांग अर्थ उद्घाटित किया गया है।

निर्ग्रन्थ होना वस्तुत: परम स्वतन्त्रता या मुक्ति की ओर तीव्र गति

से अग्रसर होना है। मुक्ति के आनन्द को शरीर में रहते हुए भी अनुभव करना है, शरीर छोड़ते हुए भी अनुभव करना है और शरीर छोड़ने के बाद भी अनुभव करना है। सत्य को सत्य और असत्य को असत्य समझना है। भ्रान्तियों और भटकावों से स्वयं को सुरक्षित रखना है। मोह और आसक्ति से मुक्त होना है। कषायों से मुक्त होना है। राग-द्वेष से रहित होना है। आकांक्षा से मुक्त होना है। परिग्रह, चोरी, हिंसा, काम-वासना और मिथ्यात्व से मुक्त होना है। सभी बाह्य और आभ्यन्तर बन्धनों से, बन्धनों के मूल कारणों से, मुक्त होना है। सर्व-बन्धन-मुक्त आचरण ही आत्मा को कर्मों से मुक्त कर निर्मल स्वरूप प्रदान करने में सक्षम है। ऐसे आचरण से सम्पन्न साधक को सुख-दुःख नहीं व्यापते। समभाव उसका स्वभाव बन जाता है। अप्रमत्त भाव से वह कर्म-मुक्ति-यात्रा में दत्त-चित्त रहता है। उसकी आत्मा उज्ज्वलतर होती चली जाती है।

उज्ज्वलतर होते रहने की इस प्रक्रिया के साकार होने में सबसे बड़ी बाधा है—अविद्या। अविद्या का अर्थ है—अज्ञान में ज्ञान का भ्रम होना। यह भ्रम यदि जीवन का सत्य हो तो ज्ञान-प्राप्ति की सम्भावना भी नष्ट हो जाती है। ज्ञान के अभाव में ज्ञान के अनुरूप आचरण का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। ऐसे में परतन्त्रता से ही जीवन संचालित होने लगता है। अंतर्बाह्य बन्धन प्रबल होते चले जाते हैं। सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु के बीच भटकते रहना ही जीवात्मा का सत्य बन जाता है। दुर्गतियां उसके लिए हाथ फैलाये खड़ी रहती हैं। कर्म उसे घेरते ही चले जाते हैं।

अविद्या से सजग रहते हुए विद्या से सम्पन्न होने की प्रबल प्रेरणा व प्रशस्त राह प्रदान करने के साथ-साथ एक क्षुल्लक या नवदीक्षित मुनि को निर्ग्रन्थ होने के साधना-शिखर तक पहुंचाने के लिए सोपान प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह खुड्डागनियंठिज्जं
छट्ठं अज्झयणं
(अथ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनम्)

मूल : **जावन्त ऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।**
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए।।१।।

संस्कृत : यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः, सर्वे ते दुःखसंभवाः।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारेऽनन्तके।।१।।

मूल : **समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाईपहे बहू।**
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए।।२।।

संस्कृत : समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून्।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत्।।२।।

मूल : **माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।**
नालं ते मम ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा।।३।।

संस्कृत : माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्राश्चौरसाः।
नालं ते मम त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा।।३।।

मूल : **एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे।**
छिन्दे गिद्धिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं।।४।।

संस्कृत : एतमर्थं स्वप्रेक्षया, पश्येत् शमित-दर्शनः।
छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च, न कांक्षेत् पूर्वसंस्तवम्।।४।।

मूल : **गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दासपोरुसं।**
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि।।५।।

संस्कृत : गवाश्वं मणिकुण्डलं, पशवो दासपौरुषम्।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा खलु, कामरूपी भविष्यसि।।५।।

छठ अध्ययन : क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

१. जितने (भी) 'अविद्या' (यथार्थ ज्ञान के अभाव से, या मिथ्याज्ञान) से युक्त पुरुष होते हैं, वे सब दुःखों (या दुःख-जनक पापों) के पात्र (या सर्जक) होते हैं। (अविद्या से) मूढ़ बने हुए (वे प्राणी) अनन्त संसार में अनेकों बार लुप्त होते हैं-विनाश को प्राप्त होते हैं।

२. इसलिए 'पण्डित' (विद्यासम्पन्न व्यक्ति) विविध (कर्म) बन्धनों और जन्म (व मरण) के मार्गों (८४ लाख जीव योनियों, तथा उनके स्रोत-कारणों) की समीक्षा करे, स्वयं 'सत्य' (आत्महित, संयम व यथार्थ ज्ञान) की खोज करे, तथा प्राणियों के प्रति मैत्री भाव बनाए रखे।

३. अपने (स्वयं के ही) कर्मों से विनष्ट हो रहे मेरे जीवन की रक्षा करने में माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, पत्नी तथा औरस (अपने सगे) पुत्र-ये सभी समर्थ नहीं होते हैं।

४. सम्यग्द्रष्टा (पुरुष) इस अर्थ (उक्त कथन) को अपनी सम्यक् बुद्धि से देखे-विचारे, (धनादि के प्रति) आसक्ति व (बन्धु-जनों के प्रति) स्नेह का उच्छेद करे, तथा (किसी के साथ अपने) पूर्व-परिचय की (भी) आकांक्षा न रखे।

५. गौ, घोड़े, मणि-कुण्डल (आदि आभूषण), पशु, दास व (सेवारत) पुरुषों के समूह-इन सब को त्याग कर (ही) तू कामरूपधारी (इच्छानुसार रूप धरने में समर्थ देव या ऋद्धिसम्पन्न व्यक्ति) हो जाएगा।

मूल : **थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।**
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोअणे।। ६ ।।

संस्कृत : स्थावरं जंगमं चैव, धनं धान्यमुपस्करम्।
पच्यमानस्य कर्मभिः, नालं दुःखान्मोचने।। ६ ।।

मूल : **अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।**
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए।। ७ ।।

संस्कृत : अध्यात्मस्थं सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा प्राणान्प्रियात्मकान्।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्, भयवैरादुपरतः।। ७ ।।

मूल : **आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि।**
दोगुञ्छी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोअणं।। ८ ।।

संस्कृत : आदानं नरकं दृष्ट्वा, नाददीत तृणमपि।
जुगुप्स्यात्मनः पात्रे, दत्तं भुञ्जीत भोजनम्।। ८ ।।

मूल : **इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं।**
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई।। ९ ।।

संस्कृत : इहैके मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकम्।
आर्यत्वं विदित्वा, सर्वदुःखात् विमुच्यते।। ९ ।।

मूल : **भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो।**
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं।। १० ।।

संस्कृत : भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्ष-प्रतिज्ञिनः।
वाग्वीर्यमात्रेण, समाश्वासयन्त्यात्मानम्।। १० ।।

६. कर्मों से (दुःखादि) 'विपाक' को प्राप्त हो रहे व्यक्ति को दुःख से छुड़ाने में, अचल तथा चल सम्पत्ति, धन-धान्य व (अन्य बहुमूल्य) घरेलू साधन (भी) समर्थ नहीं हुआ करते।

७. सब (प्राणियों) को (इष्ट-अनिष्ट आदि) सभी की ओर से (होने वाला सुख-दुःखादि) 'आत्म-केन्द्रित' हुआ करता है और (इसलिए) सभी प्राणियों को अपनी 'आत्मा' (तथा अपनी आयु व स्व-रक्षा) प्रिय होती है-इसे देख-समझ कर, भय व वैर (भावना) से विरत (साधक भिक्षु) प्राणियों के प्राणों का घात न करे।

८. 'आदान' (परिग्रह या अदत्तादान) को 'नरक' (या नरक का कारण) देख-समझ कर (एक) तृण का भी 'आदान' (परिग्रह या चुराने का काम) न करे। (धर्मादि में असमर्थ शरीर, असंयम या पाप के प्रति) जुगुप्सा (अरुचि) रखने वाला (या आत्म-निन्दक मुनि) स्वयं के पात्र में (गृहस्थादि) द्वारा दिए गए (आहार) का (ही) सेवन करे।

९. इस संसार में कुछ (एकान्तवादी) तो ऐसा मानते हैं कि पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) किये बिना ही 'आर्य' या आचार (तत्वज्ञान या स्व–स्वसम्प्रदाय-सम्मत आचार-व्यवहार) को जानकर (ही प्राणी) सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

१०. (कुछ एकान्त-ज्ञानवादी) बन्ध व मोक्ष (दोनों) की प्रतिज्ञा (प्रतिपादन) करने वाले बोलते (तो बहुत-कुछ) हैं, किन्तु (सिद्धान्त को) क्रियान्वित नहीं करते, (ऐसे लोग) वाणी-मात्र की शक्ति से स्वयं अपने को आश्वस्त करते रहते हैं।

मूल : **न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।**
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो।।११।।

संस्कृत : न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषण्णाः पापकर्मभिः, बालाः पण्डितमानिनः।।११।।

मूल : **जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।**
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा।।१२।।

संस्कृत : ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवाः।।१२।।

मूल : **आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए।**
तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए।।१३।।

संस्कृत : आपन्ना दीर्घमध्वानं, संसारेऽनन्तके।
तस्मात् सर्वदिशं पश्यन्, अप्रमत्तः परिव्रजेत्।।१३।।

मूल : **बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।**
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे।।१४।।

संस्कृत : बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदाचिदपि।
पूर्वकर्मक्षयार्थम्, इमं देहं समुद्धरेत्।।१४।।

मूल : **विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए।**
मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए।।१५।।

संस्कृत : विविच्य कर्मणो हेतुं, कालकांक्षी परिव्रजेत्।
मात्रां पिण्डस्य पानस्य, कृतं लब्ध्वा भक्षयेत्।।१५।।

मूल : **सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए।**
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए।।१६।।

संस्कृत : संनिधिं च न कुर्वीत, लेपमात्रया संयतः।
पक्षी-पत्रं समादाय, निरपेक्षः परिव्रजेत्।।१६।।

११. विविधता-भरी भाषाएं रक्षा नहीं करतीं, विद्याओं का अनुशासन (शिक्षण) (तो) कहां (रक्षा कर पाएगा)? स्वयं को पण्डित मानने वाले 'बाल' (अज्ञानी, जो इन्हें रक्षक मानते हैं) पाप-कर्मों से अवसाद-ग्रस्त हुआ करते हैं।

१२. (निष्कर्ष यह है कि) जो कोई (भी) मन, तन व वचन से शरीर में तथा (सुन्दर) रंग-रूप (आदि विषयों) में सर्वथा आसक्ति रखते हैं, वे सभी दुःख (दुःखों या पापों) के पात्र (या सर्जक) होते हैं।

१३. (वे इस) अनन्त संसार में (जन्म-मरणादि के) लम्बे मार्ग को प्राप्त होने वाले हैं। इसलिए सब दिशाओं (जीवोत्पत्ति-स्थानों तथा पृथ्वीकाय आदि अठारह भाव-दिशाओं) को देख-भाल कर (साधक मुनि) अप्रमाद-युक्त हो विचरण करे।

१४. 'ऊर्ध्व' (मोक्ष) को अपना कर, बाह्य (विषयों) की आकांक्षा न रखे, तथा पूर्व-बद्ध कर्मों के क्षय-हेतु (ही) इस शरीर को धारण करे।

१५. 'कालकांक्षी' (अवसर-विज्ञ, आजीवन-संयमधारण का इच्छुक, स्वसंयमानुष्ठान के उचित अवसर की आकांक्षा रखने वाला साधक) कर्म के हेतु (मिथ्यात्वादि) को दूर कर विचरण करे, तथा (गृहस्थादि द्वारा अपने लिए) तैयार किये गये आहार व जल को (उचित) मात्रा में ग्रहण कर सेवन करे।

१६. संयमी (मुनि) लेप-मात्र (अर्थात् चुपड़ने लायक मात्रा) भी संग्रह/परिग्रह न करे और (अपने मात्र पंखों को लेकर उड़ने वाले) पक्षी (की भांति) निरपेक्ष होकर (मात्र संयम-साधक) 'पात्र' लेकर विचरण करे।

मूल : **एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।**
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ।। १७ ।।

संस्कृत : एषणासमितो लज्जावान्, ग्रामेऽनियतश्चरेत्।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः, पिण्डपातं गवेषयेत् ।। १७ ।।

मूल : **एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।**
अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए ।। १८ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः भगवान् वैशालिको विख्यातः ।। १८ ।।
इति ब्रवीमि ।

१७. एषणा-समिति से युक्त लज्जावान् (अर्थात् संयमशील मुनि) ग्राम (आदि) में अनियत (निवास वाला) होकर विचरण करे, और अप्रमादयुक्त रहते हुए प्रमत्तों (अर्थात् गृहस्थों) से (निर्दोष) भिक्षा की गवेषणा करे।

१८. अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धारी, अर्हन्त (त्रैलोक्य पूज्य या सर्वज्ञ) (तत्व) व्याख्याता ज्ञात-पुत्र वैशालिक (विशाला/त्रिशला के पुत्र, विशाल प्रवचन, तीर्थ, यश वाले) भगवान् (महावीर) ने ऐसा कहा है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन—सार :

अविद्यावान् व्यक्ति दु:ख-चक्र से मुक्त नहीं हो पाता और बार-बार अनन्त संसार-सागर में डूबता-उतराता रहता है। पाप-कर्मों के कष्टप्रद फल-भोग से न तो माता-पिता आदि स्वजन ही रक्षक हो सकते हैं, और न ही चल-अचल सम्पत्ति-वैभव; इसलिए चौरासी लाख जन्म-योनियों (जाति-पथों) तथा कर्म-बंधनों की समीक्षा करता हुआ निर्ग्रन्थ सत्यान्वेषी हो, और प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव का आचरण करे।

निर्ग्रन्थ इस सद्विवेक को जीवन में उतारे कि सभी प्राणियों को अपने प्राण प्यारे होते हैं। किसी भी प्राणी का घात न करे, और वैरभाव का त्याग करते हुए न तो किसी प्राणी से भयभीत हो और न ही किसी को भयभीत करे। निर्ग्रन्थ मोक्ष-प्राप्ति जैसा उच्च लक्ष्य लिए हुए चले, और आसक्ति को दु:ख का मूल तथा परिग्रह को नरक-तुल्य समझते हुए अप्रमत्त होकर क्षणिक भोगों में, परिचित व्यक्तियों एवं उनके सौन्दर्यपूर्ण शरीर, वर्ण व रूप के प्रति अपनी आसक्ति व ममत्व भाव का त्याग करे।

मात्र ज्ञान प्राप्त करना और पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) न करना दु:ख से मुक्ति नहीं दिला सकता। आचरण शून्य ज्ञानी कोरा 'वाग्वीर्य' है। आचरण-शून्य पाण्डित्य दु:खों से त्राण नहीं दिला सकता। अत: निर्ग्रन्थ को चाहिए कि वह कर्म-बंधन के हेतुओं को समझे-बूझे, और अप्रमाद-पूर्वक संयम-धर्म का पालन करे, निर्दोष आहारादि का सेवन करे, तथा पक्षी की भांति कल की अपेक्षा न रखते हुए संग्रह-वृत्ति से दूर रहे एवं अनियत विहार करे। भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है।

❑❑

अध्ययन–7

उरभ्रीय

अध्ययन परिचय

तीस गाथाओं से बना है—प्रस्तुत अध्ययन। इस का केन्द्रीय विषय है—दुर्लभ मनुष्य-जीवन के सदुपयोग व दुरुपयोग में अन्तर समझ कर विषयासक्ति से बचते हुए विवेक व धर्म-सम्मत जीवन जीना। पांच दृष्टान्तों के माध्यम से इस विषय का प्रतिपादन हुआ है, जिन में से प्रथम दृष्टान्त एक उरभ्र या ऐलक (मेमने) का है। इसीलिये इस अध्ययन का नाम 'उरभ्रीय' रखा गया।

मनुष्य-जीवन को जीने की मुख्यत: दो दृष्टियां हैं। एक दृष्टि के अनुसार अधिकतम शारीरिक सुख की येन-केन-प्रकारेण प्राप्ति ही नश्वर मानव-जीवन का लक्ष्य व सर्वोत्तम उपयोग है। दूसरी दृष्टि के अनुसार आत्मा की सर्व-कर्म-मुक्त या सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिये दुर्लभ मनुष्य-जीवन का साधन-रूप में उपयोग ही इसका लक्ष्य व सर्वोत्तम उपयोग है। एक ओर आसक्ति है तो दूसरी ओर अनासक्ति। एक ओर लोभ है तो दूसरी ओर त्याग। एक ओर सांसारिकता है तो दूसरी ओर आध्यात्म। एक ओर स्वार्थ है तो दूसरी ओर स्वार्थहीनता। एक ओर भाग-दौड़ है तो दूसरी ओर शान्ति। एक ओर राग-द्वेष है तो दूसरी ओर समभाव। एक ओर असीम इच्छाओं की अतृप्ति है तो दूसरी ओर इच्छाओं को जीतने से प्राप्त होने वाला अनन्त सन्तोष। एक ओर अज्ञान या मिथ्या ज्ञान है तो दूसरी ओर जन्म से पहले व मृत्यु के बाद की स्थितियां भी देख सकने में समर्थ ज्ञान या सम्यक् ज्ञान। एक ओर सारे जीवन को प्रभावित करने वाला मृत्यु का भय है तो दूसरी ओर मृत्यु-क्षण में भी खण्डित न होने वाला अभय। एक ओर दुर्गति तक पहुंचाने वाली जीवन-शैली है तो दूसरी ओर सुगति सुनिश्चित करने वाली जीवन-पद्धति। दूसरा पक्ष जैन धर्म का पक्ष भी है और प्रस्तुत अध्ययन का पक्ष भी।

दीर्घ काल के पश्चात् कठिनाई से मिलने वाले मनुष्य-जीवन को विषयासक्ति व काम-भोगों की आग में स्वाहा करने वाले अज्ञानी हैं। वे उस मेमने की तरह हैं, जो खूब खा-पीकर हृष्ट-पुष्ट होता है और किसी मांस-भोजी का भोजन बनता है। उन्हें इन्द्रियों के सुख ही दिखाई देते हैं। उनका परिणाम दिखाई नहीं देता। वे उस व्यापारी की तरह हैं, जो एक काकिणी के लोभ में हज़ार कार्षापण गंवा बैठे। नश्वर सांसारिक सुखों के लिये वे जीवन भर पाप कमाते हुए हज़ार कार्षापणों जैसे उस बहुमूल्य मनुष्य जीवन को गंवा देते हैं, जो दिव्य, अखण्ड व अतुलनीय आनन्द तक पहुंचने का माध्यम भी हो सकता

था। वे उस राजा की तरह हैं, जो रस-लोलुपता के वशीभूत हो कर कुपथ्य आम्र-फल का सेवन कर प्राण छोड़ देता है। उनके लिये आम्र-फल जैसे क्षणिक स्वाद राजकीय व दिव्य सुखों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। वे उस वणिक-पुत्र की तरह होते हैं, जो मूलधन को बढ़ाने या ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने के स्थान पर नष्ट या समाप्त कर देता है। वे देव-गति की सुव्यवस्था कर मनुष्य-जीवन-रूपी मूलधन को नहीं बढ़ाते। मनुष्य-गति का उपार्जन कर मूलधन ज्यों का त्यों भी नहीं रखते। तिर्यंच या नरक गति तक पहुंचाने वाले कर्म करते हुए वे मूलधन भी खो देते हैं। कुशाग्र-स्थित जल-बिन्दु जैसे क्षणिक सुखों के लिये वे महासागर जैसे गहन व व्यापक दिव्य सुखों को छोड़ देते हैं।

विषयासक्त रहना वस्तुतः इसी प्रकार के अज्ञान-पूर्ण जीवन को जीना है। पाप-पूर्ण जीवन को जीना है। दुर्गति-निर्धारक जीवन को जीना है। कुल्हाड़े पर स्वयं अपना पांव मारना है। अपने लिये अनेक वेदनाओं व यातनाओं का प्रबन्ध करना है। अपनी आत्मा को कर्म-मल से लादते रहना है। उसके स्वरूप को विकृत करते रहना है। उसे संसार-सागर में भटकाते रहना है। उसके कल्याण को असम्भव बनाने में लगे रहना है। उसे परतन्त्र बनाये रखना है।

आत्मा को स्वतंत्रता, निर्मलता व मुक्ति की ओर अग्रसर करने वाला मार्ग है—अनासक्ति का मार्ग। संयम का मार्ग। इस मार्ग पर चलने वाला साधक इन्द्रियों की दासता से मुक्त होता है। वह मन पर शासन करता है। विवेक-सम्मत जीवन जीता है। पाप-मल रहित जीवन जीता है। सुगति-निर्धारक जीवन जीता है। अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करने वाला जीवन जीता है। उसे उसका स्वरूप प्रदान करने वाला जीवन जीता है। उसके परम कल्याण को सम्भव बनाने में वह क्षण-प्रतिक्षण दत्त-चित्त रहता है। उसकी स्वतन्त्रता उसके लिये मूल्यवान् होती है। उसी का मनुष्य-जन्म प्राप्त करना सार्थक होता है।

प्रस्तुत अध्ययन के रूप में उजागर होने वाला ज्ञान सार्थकता का स्रोत है। निरर्थकता व सार्थकता में भेद करने वाली दृष्टि प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह एलयं सत्तमं अज्झयणं

(अथौरभ्रीयं सप्तममध्ययनम्)

मूल : **जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं।**
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयंगणे।।१।।

संस्कृत : यथादेशं समुद्दिश्य, कोऽपि पोषयेदेलकम्।
ओदनं यवसं दद्यात्, पोषयेदपि स्वकांगणे।।१।।

मूल : **तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे।**
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए।।२।।

संस्कृत : ततः स पुष्टः परिवृढः, जातमेदः महोदरः।
प्रीणितो विपुले देहे, आदेशं परिकांक्षति।।२।।

मूल : **जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही।**
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई।।३।।

संस्कृत : यावन्नैत्यादेशः, तावज्जीवति स दुःखी।
अथ प्राप्त आदेशे, शीर्षं छित्वा भुज्यते।।३।।

मूल : **जहा से खलु उरब्भे, आएसाए समीहिए।**
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं।।४।।

संस्कृत : यथा स खलूरभ्रः, आदेशाय समीहितः।
एवं बालोऽधर्मिष्ठः, ईहते नरकायुः।।४।।

मूल : **हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए।**
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे।।५।।

संस्कृत : हिंस्रो बालो मृषावादी, अध्वनि विलोपकः।
अन्यादत्तहरः स्तेनः, मायी कन्नु हरः शठः।।५।।

सातवाँ अध्ययन : उरभ्रीय

१. जैसे कोई (व्यक्ति) 'आदेश' (संभावित अतिथि या पाहुने) के उद्देश्य से मेमने (बकरी या भेड़ के बच्चे) का पोषण करता है, (उसे) चावल, मूंग, उड़द आदि धान्य (खाने के लिए) देता है, और (उसका) पोषण भी अपने (घर के) आंगन में (ही) करता है।

२. इस प्रकार से वह हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ, अधिक चर्बी वाला तथा मोटे-पेट वाला, तृप्त एवं विशाल देह वाला हो जाता है, और अतिथि या पाहुने (के आने) की आकांक्षा/प्रतीक्षा कर (ने के लिए बाध्य या विवश हो) रहा होता है।

३. जब तक (वह) अतिथि या पाहुना नहीं आता है, तब तक (तो) वह (मेमना) दुःखी (भावी दुःख की कल्पना से त्रस्त) होकर जीवित रहता है, (किन्तु) अतिथि या पाहुने के आ जाने पर, सिर काट कर खा लिया जाता है।

४. वह मेमना (भेड़ या बकरी का बच्चा) जिस प्रकार (भोज्य रूप में) अतिथि या पाहुने के लिए ही वास्तव में संकल्पित/अभीप्सित होता है, उसी तरह अधर्मरत अज्ञानी (असंयमाचरण आदि से हृष्ट-पुष्ट होता हुआ) भी (यथार्थ में) 'नरक' आयु (की प्राप्ति) हेतु आकांक्षा (या चेष्टा) कर रहा होता है।

५. हिंसक, अज्ञानी, असत्यभाषी, मार्ग में लूट-मार करने वाला, दूसरों के माल को (चोरी से) लेने वाला, कहीं से भी धन-हरण कर लेने वाला, मायावी, धूर्त व चोर (उक्त मेमने की तरह नरकायु की आकांक्षा कर रहा होता है)।

मूल : **इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे।**
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ।। ६ ।।

संस्कृत : स्त्री-विषय-गृद्धश्च, महारंभ-परिग्रहः।
भुञ्जानः सुरां मांसं, परिवृढः परंदमः ।। ६ ।।

मूल : **अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।**
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ।। ७ ।।

संस्कृत : अजकर्करभोजी च, तुन्दिलः चितलोहितः।
आयुर्नरकाय कांक्षति, यथाऽऽदेशमिवैडकः ।। ७ ।।

मूल : **आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया।**
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ।। ८ ।।

संस्कृत : आसनं शयनं यानं, वित्तं कामांश्च भुक्त्वा।
दुःखाहृतं धनं त्यक्त्वा, बहु संचित्य रजः ।। ८ ।।

मूल : **तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे।**
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ।। ९ ।।

संस्कृत : ततः कर्मगुरुर्जन्तुः, प्रत्युत्पन्नपरायणः।
अज इवागत आदेशे, मरणान्ते शोचति ।। ९ ।।

मूल : **तओ आउपरिक्खीणे, चुयदेहा विहिंसगा।**
आसुरीयं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं ।। १० ।।

संस्कृत : तत आयुःपरिक्षीणे, च्युतदेहा विहिंसकाः।
आसुरीं दिशं बालाः, गच्छन्ति अवशाः तमः ।। १० ।।

मूल : **जहा कागिणीए हेउं, सहस्सं हारए नरो।**
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ।। ११ ।।

संस्कृत : यथा काकिण्या हेतोः, सहस्रं हारयेन्नरः।
अपथ्यमाम्रकं भुक्त्वा, राजा राज्यं तु हारयेत् ।। ११ ।।

६. स्त्री तथा (इन्द्रिय-) विषयों में आसक्ति रखने वाला, महा-आरम्भ व परिग्रह वाला, मद्य-मांस का उपभोग करने वाला, बलिष्ट तथा दूसरों को पीड़ा देने वाला (उक्त मेमने की तरह नरकायु की आकांक्षा कर रहा होता है।)

७. बकरे (भेड़ व मेढ़े) की तरह 'कर-कर' शब्द करते हुए (अभक्ष्य) खाने वाला, मोटी तोंद वाला, (शरीर में) रक्त के (अधिक) संग्रह वाला (व्यक्ति उसी प्रकार) नरक आयु की आकांक्षा कर रहा होता है जैसे कि (वह) मेमना (भेड़ या बकरी का बच्चा) अतिथि या पाहुने की (आकांक्षा कर रहा होता है।)।

८. आसन, शैय्या, वाहन, धन तथा काम-भोगों को भोग कर, दुःख या कठिनता से (अथवा स्वयं को व दूसरों को दुःखी कर) संचित किये गये धन को छोड़कर (या गंवाकर) तथा प्रचुर (कर्म) रज का संचय कर (मृत्यु-समय शोक करता है)।

९. और फिर, प्रत्युत्पन्न-परायण (अर्थात् इन्द्रियगोचर वर्तमान व प्रत्यक्ष जगत् पर ही विश्वास रखते हुए तत्काल भोग्य विषय-भोगों में तत्पर रहने वाला) तथा कर्मों (के भार) से भारी बना हुआ (वह) जीव मृत्यु के समय में वैसे ही शोक करता है जैसे अतिथि या पाहुने के आने पर मेमना।

१०. और फिर, विविध हिंसा करने वाले (वे) अज्ञानी (जीव) आयु के क्षीण होने पर, शरीर छोड़ते हुए, अन्धकार-सदृश असुर-दिशा (रौद्र कर्म वालों को प्राप्त होने वाली सूर्यादिहीन नरक-गति) की ओर (कर्मों के कारण) विवश होकर प्रयाण करते हैं।

११. जैसे (कोई) व्यक्ति (अल्प मूल्य वाली) 'काकिणी' के लिए हजार (कार्षापणः रुपये) गंवा दे, और (जैसे कोई) राजा अपथ्यः आम को खाकर (अपने) राज्य को गंवा बैठे।

मूल : **एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए।**
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउ कामा य दिव्विया ।। १२ ।।

संस्कृत : एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके।
सहस्रगुणिता भूयः, आयुःकामाश्च दिव्यकाः ।। १२ ।।

मूल : **अणेगवासानउया, जा सा पण्णवओ ठिई।**
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ।। १३ ।।

संस्कृत : अनेकवर्षनयुतानि या सा प्रज्ञावतः स्थितिः।
यानि जीयन्ते दुर्मेधस ऊने वर्षशतायुषि ।। १३ ।।

मूल : **जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।**
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ ।। १४ ।।

संस्कृत : यथा च त्रयो वणिजः, मूलं गृहीत्वा निर्गताः।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेनागतः ।। १४ ।।

मूल : **एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।**
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ।। १५ ।।

संस्कृत : एको मूलमपि हारयित्वा, आगतस्तत्र वणिक्।
व्यवहार उपमैषा, एवं धर्मे विजानीत ।। १५ ।।

मूल : **माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।**
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ।। १६ ।।

संस्कृत : मानुषत्वं भवेन्मूलं, लाभो देवगतिर्भवेत्।
मूलच्छेदेन जीवानां, नरक-तिर्यक्त्वं ध्रुवम् ।। १६ ।।

मूल : **दुहओ गई बालस्स, आवई-वहमूलिया।**
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे ।। १७ ।।

संस्कृत : द्विधा गतिर्बालस्य, आपद्-वधमूलिका।
देवत्वं मनुष्यत्वञ्च, यस्माज्जितो लोलताशठः ।। १७ ।।

१२. देवों के काम-भोगों के सामने मनुष्य (जीवन से सम्बन्धित) काम-भोग भी उसकी तरह (हजार कार्षापणों की तुलना में काकिणी के समान नगण्य) हैं, (क्योंकि मनुष्य-आयु व मानवीय काम-भोगों की तुलना में) दिव्य (देवों के) कामभोग व आयुष्य हजार गुणा अधिक होते हैं।

१३. प्रज्ञावान् (ज्ञानी) व्यक्ति की (देवलोकादि में) अनेक 'नयुत' वर्ष (असंख्यात काल) की जो (दीर्घकालीन दिव्य सुख की) स्थिति होती है, उसे जानते-समझते हुए भी उन (दिव्य सुखों या वर्षों) को दुर्बुद्धि (प्राणी) सौ वर्षों से भी कम आयु (के पापमय जीवन) में हार जाता है।

१४. जैसे, तीन बनिए (व्यापारी) 'मूल' पूँजी लेकर (व्यापार-हेतु घर से) निकले, उनमें से एक (तो मूल से अतिरिक्त) लाभ प्राप्त करता है, (जबकि) एक (सिर्फ) 'मूल' (पूँजी) के साथ लौटता है।

१५. (उनमें से) एक बनिया 'मूल' (पूँजी) को भी गंवा कर लौट आता है। व्यवहार में (जो) यह उपमा (उदाहरण) है, उसी तरह 'धर्म' के विषय में (भी) जानना-समझना चाहिए।

१६. मनुष्यत्व 'मूल' (धन के समान) है, देव-गति (की प्राप्ति हो जाना) 'लाभ' है। जीवों के 'मूल' (मनुष्य योनि) को नष्ट कर देने से-गंवा देने से, (तो) नरक व तिर्यञ्च गति (की प्राप्ति) निश्चित है।

१७. अज्ञानी (जीव) के लिए वध-मूलक (जीव-वध आदि से प्राप्य, वध-घात आदि की प्रमुखता से युक्त) तथा आपदा-रूप (नरक व तिर्यञ्च-ये) दो गतियां (प्राप्य रह जाती) हैं, (क्योंकि) रस लोलुपता व वंचकता से युक्त (व्यक्ति) देवत्व और मनुष्यत्व (-इन दो सुगतियों) को (तो पहले ही) हार चुका होता है।

मूल : **तओ जिए सई होइ, दुविहं दुग्गइं गए।**
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ।। १८ ।।

संस्कृत : ततो जितः सकृद् भवति, द्विविधां दुर्गतिं गतः।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा, अद्धायां सुचिरादपि ।। १८ ।।

मूल : **एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पंडियं।**
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ।। १९ ।।

संस्कृत : एवं जितं संप्रेक्ष्य, तोलयित्वा बालं च पण्डितम्।
मौलिकं ते प्रविशन्ति, मानुषीं योनिं यान्ति ये ।। १९ ।।

मूल : **वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया।**
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ।। २० ।।

संस्कृत : विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नराः गृहि सुव्रताः।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, कर्मसत्याः हु प्राणिनः ।। २० ।।

मूल : **जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया।**
सीलवन्ता सविसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ।। २१ ।।

संस्कृत : येषां तु विपुला शिक्षा, मौलिकं तेऽतिक्रान्ताः।
शीलवन्तः सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ।। २१ ।।

मूल : **एवमदीणवं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया।**
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणो न संविदे ।। २२ ।।

संस्कृत : एवमदैन्यवन्तं भिक्षुम्, अगारिणं च विज्ञाय।
कथं नु जीयेत ईदृक्षं, जीयमानो न संविद्यात् ।। २२ ।।

१८. (उक्त) द्विविध गतियों को प्राप्त (अज्ञानी जीव) सदैव पराजित रहता है, उसका वहां से निकल (उद्धार हो) पाना दीर्घ काल के बाद भी (प्रायः) दुर्लभ होता है।

१९. इस प्रकार हारे हुए (उक्त अज्ञानी की दशा पर स्वबुद्धिपूर्वक) सम्यक् विचारणा करके, तथा अज्ञानी व पण्डित (इन दोनों) में तुलना करके जो प्राणी मनुष्य योनि में आते हैं, वे (सुरक्षित) मूल धन के साथ (प्रविष्ट बनिये की तरह मनुष्य-भव में) प्रविष्ट होते हैं।

२०. जो मनुष्य विविध तरतमताओं वाली शिक्षाओं के साथ गृहस्थोचित सद्व्रतों (प्रकृतिभद्रता आदि प्रतिज्ञाओं, 'मार्गानुसारी' सद्गुणों ब्रह्मचर्यव्रत) से युक्त होते हैं, वे (आगामी भव में) मनुष्य-योनि पाते हैं, (क्योंकि) प्राणी 'कर्मसत्य' होते हैं-अर्थात् उनके कर्म- सत्य-अमोघ रूप से स्वानुरूप फलदायक हुआ करते हैं।

२१. किन्तु जिन प्राणियों की शिक्षा (शास्त्रीय ज्ञान) 'विपुल' (अणुव्रत-महाव्रत आदि विषयक होने से व्यापक) होती है, जो शीलवान् (चारित्र सम्पन्न) हैं, तथा (उत्तरोत्तर गुण प्राप्ति-रूप) विशेषताओं से युक्त हैं, वे 'मूल' (धन रूप मनुष्य-योनि) का अतिक्रमण कर दीनता (व्याकुलता आदि) से रहित हो, देवत्व (रूप लाभ) को प्राप्त होते हैं।

२२. इस प्रकार दीनता (व्याकुलता) से रहित भिक्षु और गृहस्थ (की सुगति) को जान कर कैसे कोई ऐसे (लाभ) को हारेगा या गंवा देगा? और (कभी) पराजित हो रहा होगा तो उसका संवेदन (सोच-विचार या पश्चाताप भी) न करेगा?

मूल : **जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।**
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए।।२३।।

संस्कृत : यथा कुशाग्र उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके।।२३।।

मूल : **कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।**
कस्स हेउं पुरोकाउं, जोगक्खेमं न संविदे।।२४।।

संस्कृत : कुशाग्रमात्रा इमे कामाः, सन्निरुद्धे आयुषि।
कं हेतुं पुरस्कृत्य, योगक्षेमं न संविद्यात्।।२४।।

मूल : **इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।**
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई।।२५।।

संस्कृत : इह कामाऽनिवृत्तस्य, आत्मार्थोऽपराध्यति।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, यं भूयः परिभ्रश्यति।।२५।।

मूल : **इह कामणियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई।**
पूइदेहनिरोहेणं, भवे देवे त्ति मे सुयं।।२६।।

संस्कृत : इह काम-निवृत्तस्य, आत्मार्थो नापराध्यति।
पूतिदेहनिरोधेन, भवेद् देव इति मया श्रुतम्।।२६।।

मूल : **इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं।**
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई।।२७।।

संस्कृत : ऋद्धिर्द्युतिर्यशो वर्ण, आयुः सुखमनुत्तरम्।
भूयो यत्र मनुष्येषु, तत्र स उत्पद्यते।।२७।।

मूल : **बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।**
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई।।२८।।

संस्कृत : बालस्य पश्य बालत्वं, अधर्मं प्रतिपद्य।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः, नरक उत्पद्यते।।२८।।

२३. जैसे कुश के अग्रभाग (नोंक) पर स्थित जल (बिन्दु) की तुलना समुद्र के साथ करें (तो जल बिन्दु अतिक्षुद्र ठहरेगा), उसी प्रकार देव-भोग्य काम-भोगों के सामने मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोग (अतिक्षुद्र) हैं।

२४. (मनुष्य-भव की) अतिसंक्षिप्त आयु में ये (मानवीय) कोम-भोग (भी) कुश की नोंक (पर स्थित जल-बिन्दु) जितने (क्षुद्र) हैं, (तथापि) किस निमित्त को सामने रख कर योगक्षेम (अप्राप्त लाभ की प्राप्ति, तथा प्राप्त 'मूल' के संरक्षण की बात) को नहीं समझता?

२५. इस (मनुष्य-भव) में काम-भोगों से विरत न होने वाले का आत्म-प्रयोजन (स्वर्गादिप्राप्ति) विराधित/दूषित अर्थात् नष्ट हो जाता है, क्योंकि (वह) न्यायसंगत (या दुःखक्षय व संसार-सागर को पार कराने वाले) मार्ग को सुन कर भी बार-बार भ्रष्ट हो जाता है।

२६. (किन्तु) काम-भोगों से विरत होने वाले का आत्म-प्रयोजन विराधित/दूषित अर्थात् नष्ट नहीं होता, और वह पूतिदेह (मलिन औदारिक शरीर) का निरोध (त्याग) करने के साथ (ही) 'देव' हो जाता है-ऐसा मैंने सुना है।

२७. (वहां से च्युत होकर) वह पुनः उन मनुष्यों में उत्पन्न होता है, जहां श्रेष्ठ-ऋद्धि (स्वर्णादि की प्रचुरता), द्युति (शरीर-कान्ति), यश (पराक्रमादि की कीर्ति), वर्ण (उत्तम वर्ण या प्रशंसा), (दीर्घ) आयु तथा सुख (विषय-सुख से जन्य आह्लाद) मिलता है।

२८. अज्ञानी (जीव) की अज्ञानता को (तो) देखो ! वह (विषय-निवृत्ति रूप) धर्म को छोड़, अधर्म (विषय प्रवृत्ति रूप) को अंगीकार कर, अधर्मरत (होता हुआ) नरक में उत्पन्न होता है।

मूल : **धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।**
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ।। २९ ।।

संस्कृत : धीरस्य पश्य धीरत्वं, सर्वधर्मानुवर्तिनः।
त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठः, देवेषूत्पद्यते ।। २९ ।।

मूल : **तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पंडिए।**
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणी ।। ३० ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : तोलयित्वा बालभावम्, अबालं चैव पण्डितः।
त्यक्त्वा बालभावम्, अबालं सेवते मुनिः ।। ३० ।।
इति ब्रवीमि।

२९. समस्त धर्मों (क्षमा आदि दश) का अनुवर्तन/पालन करने वाले 'धीर' (परीषहों से अविचलित व बुद्धिमान्) व्यक्ति के धैर्य को (तो) देखो! वह अधर्म को छोड़ धर्मरत (होता हुआ) देवों में उत्पन्न होता है।

३०. बाल भाव (अज्ञान अवस्था) तथा अबाल भाव (ज्ञान अवस्था) इन दोनों की (गुण-दोष की दृष्टि से) तुलना कर, (विवेक-दृष्टि से) अज्ञान को छोड़कर, पण्डित (ज्ञानी) मुनि ज्ञान का सेवन/आश्रय (ग्रहण) करता है।

–ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

मांसलोलुप परिवार द्वारा किसी मेमने (या मेढे) को खिला-पिला कर हृष्ट-पुष्ट किया जाता है। किन्तु एक दिन उसी मेमने का वध कर अतिथि को खाने के लिए परोस दिया जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति अपने जीवन में भले ही हिंसा, असत्य, चोरी, मांस-मदिरा सेवन एवं विषय-भोग-अनुरक्ति की क्रियाओं में लिप्त होने से कुछ दिन सुखी व प्रभावपूर्ण जीवन व्यतीत कर ले, किन्तु जीवन के अन्त में उसे नरक-गति का दु:ख भोगना ही पड़ता है। उसे मृत्यु के समय अपनी काया और चल-अचल सम्पत्ति को यहीं छोड़ना पड़ता है और मात्र अपने पाप-कर्मों का बोझ लिए वह नरक-गति में दु:ख भोगने के लिए बाध्य होता है।

सांसारिक तुच्छ व अल्पकालिक विषय-सुख के लिए नरकादि दुर्गति को वरण करना उसी तरह मूर्खता है, जिस प्रकार कोई काकिणी (दमड़ी या उससे भी अल्पमूल्य) के लोभ में कोई कार्षापण (सोने के बहुमूल्य सिक्के) को गंवा बैठे, या कोई राजा रसनेन्द्रिय के वशीभूत हो अपथ्य आम्र-फल का सेवन कर, अपने राज्य वैभव से ही नहीं, जीवन से भी हाथ धो बैठे।

मनुष्य-जीवन मूलधन के समान है, जिसका सधर्माचरण आदि में सदुपयोग कर, ज्ञानी व्यक्ति देव-गति-सम्बन्धी दीर्घकालिक दैवी सुख रूप महनीय लाभ अर्जित करता है। इस दैवी सुख के समक्ष मानवीय जीवन के सुख उसी प्रकार नगण्य हैं, जिस प्रकार समुद्र की अगाध जल-राशि के समक्ष कुशा के अग्रभाग पर स्थित क्षणिक जल-बिन्दु। अज्ञानी व्यक्ति हिंसा आदि पापों में संलग्न हो, मानव-जीवन रूपी मूलधन को नष्ट कर देते हैं, और उस दुर्गति (नरक या तिर्यंच गति) का वरण करते हैं जहां से निकल पाना चिरकाल तक कठिन होता है। अत: विवेकशील व धीर व्यक्ति धर्म-शिक्षाओं का अनुसरण कर संयम-व्रत का पालन कर, या तो पुन: मनुष्य-जीवन धारण करते हैं, या (मुक्ति-सुख के लिए अपेक्षित व्रताचरण सम्भव न होने की स्थिति में) देव-गति प्राप्त करते हैं। देव-गति से च्युत होकर भी पुन: विशिष्ट सुख-वैभव से पूर्ण मनुष्य-जीवन प्राप्त करते हैं। किन्तु अविवेकी व्यक्ति अधर्ममय जीवन अंगीकार कर नारकीय दु:ख भोगते हैं। अत: मुनि-चर्या का साधक ज्ञानी-अज्ञानी के उक्त अन्तर को सम्यक्तया हृदयंगम करे और विषय-सुख के अनिष्टकारी प्रलोभनों में न फंस कर तथा संयम में तत्पर होकर ज्ञानी/पण्डित जैसा जीवन व्यतीत करे। ❑❑

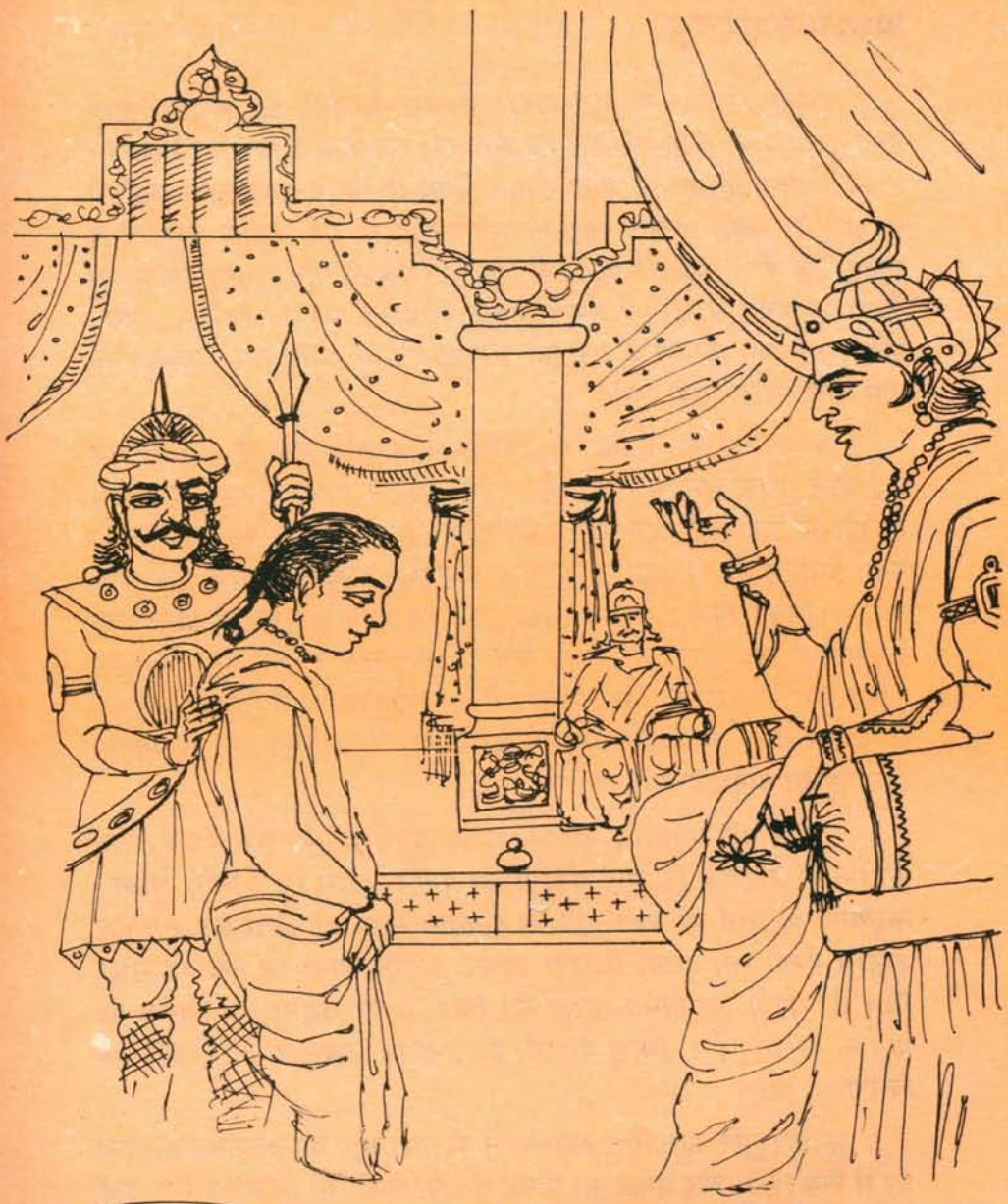

अध्ययन–8

कापिलीय

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन में बीस गाथायें हैं। इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–मिथ्यात्व का त्याग व संयम का स्वीकार। संसार के लिए जीना मिथ्यात्व है ओर आत्मा के हित में जीना संयम। संयम ही मानव-जीवन का सर्वोत्तम उपयोग है। सर्वज्ञ कपिल मुनि के मुखारविन्द से यह उपदेश श्रावस्ती व राजगृही के बीच अट्ठारह योजन के जंगल में पांच सौ चोरों ने ग्रहण किया था। वैराग्य व संयम से परिपूर्ण श्रमण-जीवन अंगीकार कर उन सभी ने आत्म-कल्याण किया। कपिल केवली का उपदेश होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'कापिलीय' रखा गया।

इसकी विशेषता है कि यह उपदेश आत्मानुभूतिपरक है। गेय है। चार पदों वाले ध्रुवक छन्द में निबद्ध है। कपिल मुनि ने इसे गाया था। सामान्यतः उपदेश को गाया नहीं जाता। गद्य में प्रतिपादित किया जाता है। यह उपदेश गाया गया। इसलिये कि यह कपिल मुनि का स्वानुभूत सत्य था। इसके एक-एक अंश से उनका जीवन प्रत्यक्षतः संबद्ध था। यह उनके अनुभव से उपजा था। अनुभूतियां उनके ज्ञान का विषय बनी थीं और ज्ञान उनकी अनुभूतियों का विषय बना था। इसीलिये यह गेय रूप में उजागर हुआ। चोरी जिनका धर्म था, वे भी इसे जान, समझ और अनुभव कर बदल गये। अनुभूत ज्ञान अनुभूतियों तक पहुंचा। अनुभूतियां खिल उठीं।

कपिल मुनि सांसारिक अवस्था में एक दासी के प्रेम-पाश में बंधे थे। वे अनुभव से जानते थे कि **पूर्व संयोगों का पूर्णतः त्याग किये बिना आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ा नहीं जा सकता। मोह की खोह का अंधकार उन्होंने देखा था। इसके शिकार होकर उन्होंने जाना था कि यह मधुर विष है। पहले आकर्षित करता है। फिर तड़पा-तड़पा कर मारता है। पाप के अंधे कुएं में ढकेल देता है।** इस तरह कि उद्धार के उजाले की एक किरण भी दुर्लभ हो जाये।

कपिल मुनि सांसारिक अवस्था में दो माशे सोने की आकांक्षा के साथ घर से निकले थे। चोर समझ कर पकड़े गये थे। छोटी-सी आकांक्षा ने ही उन्हें चोरी के आरोप में फंसा दिया था। फिर उन्हें राजा से मुंह मांगा वरदान मिला अपने सत्य के कारण, अपनी सरलता के कारण। सत्य का परिणाम भी उन्होंने अनुभव किया। उन्होंने सोचना शुरू किया कि क्या मांगा जाये, जिस से सारे

दु:ख सदा के लिये दूर हो जायें? दो माशे सोने से आरम्भ होने वाली आकांक्षा पूरा राज्य मांगने तक जा पहुंची और फिर भी सन्तुष्ट नहीं हुई। लोभ से लाभ, लाभ से लोभ और लोभ से लाभ बढ़ता चला जाता है। तृष्णा का यह चक्र मनुष्य को समाप्त कर देता है। स्वयं समाप्त नहीं होता। यह उनकी अनुभूति का विषय था। ऐसा विषय जो परम ज्ञान का स्रोत बन गया।

काम-भोग, परिग्रह, हिंसा, रस-लोलुपता, मिथ्या ज्ञान, तृष्णा.....इन सभी के रूप में मिथ्यात्व के दंश कपिल मुनि ने सांसारिक अवस्था में स्वयं सहे थे। फिर तीन करण-तीन योग से उनका त्याग किया था। उस त्याग का आनन्द अपने रोम-रोम में खिलते देखा था। मिथ्यात्व के दंश और संयम का आनन्द, दोनों उनके अनुभूत सत्य थे। सत्य का यह ज्ञान उनके अनुभव से आया था।

यही ज्ञान जब उन्होंने दूसरों को दिया तो दूसरों तक पहुंचते ही यह उन सब का अनुभव भी बन गया। इस अनुभव को उन सब ने जीया। परिणामत: उन सब के भाव-क्षितिज से भी ज्ञान का सूर्य उगा। उनका भी रोम-रोम प्रकाश के आनन्द से खिल उठा। उनका भी जीवन परम सार्थकता का सोपान बन गया।

कपिल केवली का वही ज्ञान प्रस्तुत अध्ययन की गाथाओं में मुखरित है। इस ज्ञान के परिचय-क्षेत्र में आने वाली किसी भी भव्य आत्मा को सांसारिकता में फंसने से बचाना और भवसागर में संयम की छिद्र-रहित् नौका प्रदान करना इसका प्रयोजन है।

भव-बंधन सशक्त होते हैं। सांसारिकता आसानी से नहीं छूटती। कपिल मुनि की कथा स्पष्टत: कहती है कि जो साधक अपने सांसारिक अनुभवों पर चिन्तन करता है, वही संसार का सत्य समझकर उसके सशक्त बन्धनों से मुक्त होने की दिशा में आगे बढ़ सकता है। सांसारिक आकांक्षा से प्रेरित विद्या-अध्ययन भी सुखद फलप्रद नहीं होता। अपने पिता जैसी पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा से कपिल मुनि द्वारा सांसारिक अवस्था में किया गया अध्ययन उनके ज्ञान का स्रोत नहीं बना। उनके ज्ञान का स्रोत बनी वह साधना, जो उन्होंने सांसारिकता को त्याग कर की। उसी के परिणामस्वरूप वे सर्वज्ञ हुए।

सांसारिकता को अनेक संदर्भों में यहां स्पष्ट किया गया है। उसकी शक्ति से साधक को सचेत किया गया है। दुर्गति के विविध कारणों का ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ सद्गति के निर्धारक जीवन को जीने की सबल प्रेरणा व प्रभावोत्पादक कला प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है। ❑❑

अह काविलीयं अट्ठमं अज्झयणं

(अथ कापिलिकमष्टममध्ययनम्)

मूल : **अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।**
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ।।१।।

संस्कृत : अध्रुवेऽशाश्वते, संसारे दुःखप्रचुरे।
किं नाम तद्भवेत्कर्मकं, येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ।।१।।

मूल : **विजहित्तु पुव्वसंजोयं, न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।**
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ।।२।।

संस्कृत : विहाय पूर्वसंयोगं, न स्नेहं क्वचित् कुर्वीत।
अस्नेहः स्नेहकरेषु, दोषप्रदोषेभ्यो मुच्यते भिक्षुः ।।२।।

मूल : **तो नाणदंसणसमग्गो, हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।**
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासइ मुणिवरो विगयमोहो ।।३।।

संस्कृत : ततो ज्ञानदर्शनसमग्रः, हितनिःश्रेयसाय सर्वजीवानाम्।
तेषां विमोक्षणार्थं, भाषते मुनिवरो विगतमोहः ।।३।।

मूल : **सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।**
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ।।४।।

संस्कृत : सर्वं ग्रन्थं कलहं च, विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।
सर्वेषु कामजातेषु, प्रेक्ष्यमाणो न लिप्यते त्रायी ।।४।।

आठवाँ अध्ययन : कापिलीय

१. अध्रुव (अस्थिर), आशाश्वत (अनित्य) एवं दुःखबहुल (इस) संसार में वह कौन सा कर्म (अनुष्ठान) है, जिस (के आश्रयण) से मैं दुर्गति में न जाऊं?

२. भिक्षु (असंयम या सगे-सम्बन्धियों आदि के साथ) पूर्व (में स्थापित) सम्बन्धों को छोड़ने के अनन्तर, किसी (पदार्थ) में भी स्नेह (आसक्ति भाव) न करे। (यहां तक कि) स्नेह करने वालों के प्रति (भी) स्नेहरहित होता हुआ भिक्षु 'दोषों' (इस लोक के दुःखों) से, तथा 'प्रदोषों' (पर लोक में प्राप्त होने वाले दुःखों) से मुक्त हो जाता है।

३. इसलिए, ('केवल') ज्ञान व ('केवल') दर्शन से परिपूर्ण, मोह रहित, मुनिश्रेष्ठ (कपिल) ने सभी प्राणियों के हित व मोक्ष (या हितकारी मोक्ष) हेतु, तथा उन[1] (पांच सौ चोरों) को (कर्मों के बन्धन से) छुड़ाने के लिए (इस प्रकार) कहा :-

४. भिक्षु इस प्रकार के (कर्म-बन्ध के हेतुभूत) सभी परिग्रहों तथा 'कलह' (क्रोध, वाक्कलह आदि, तथा इनके कारणों) का परित्याग करे। सभी प्रकार के काम (मनोज्ञ रूप-रसादि) भोगों के समूह में (कटु परिणति को) देखता हुआ, स्वयं का तथा षट्काय-जीवों का रक्षक (तायी/त्रायी मुनि उनमें) लिप्त नहीं हुआ करता।

---

१. एक बार कपिल मुनि को विहार करते हुए मार्ग में ५०० चोर मिले। उन चोरों को प्रतिबोध देने के लिए महामुनि कपिल ने यह उपदेश दिया।

मूल : **भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।**
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ।। ५ ।।

संस्कृत : भोगामिषदोषविषण्णः, हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः ।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ।। ५ ।।

मूल : **दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।**
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ।। ६ ।।

संस्कृत : दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुत्यजा अधीरपुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिज इव ।। ६ ।।

मूल : **समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणन्ता ।**
मन्दा नरयं गच्छंति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।। ७ ।।

संस्कृत : श्रमणाः (स्मः) वयमू एके वदन्तः, प्राणवधं मृगा अजानन्तः ।
मन्दा नरकं गच्छन्ति, बालाः पापिकाभिर्दृष्टिभिः ।। ७ ।।

मूल : **न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।**
एवं आयरिएहिं अक्खायं, जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ।। ८ ।।

संस्कृत : न खलु प्राणवधमनुजानन्, मुच्येत कदाचित्सर्वदुःखैः ।
एवमाचार्यैराख्यातं, यैरयं साधुधर्मः प्रज्ञप्तः ।। ८ ।।

मूल : **पाणे य नाइवाएज्जा, से समिए त्ति वुच्चई ताई ।**
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ।। ९ ।।

संस्कृत : प्राणान् यो नातिपातयेत्, स समित इत्युच्यते त्रायी ।
ततोऽथ पापकं कर्म, निर्यातीत्युदकमिव स्थलात् ।। ९ ।।

५. (जिस प्रकार) श्लेष्म (कफ, थूक) में मक्खी (फंस जाती है, उसी) की तरह, आमिष-रूप (आसक्ति-उत्पादक) भोगों के दोषों में निमग्न (या विषादग्रस्त), हित व परम कल्याण में विपरीत बुद्धि रखने वाला, अज्ञानी, मन्द (धर्म में आलसी) व मूढ़ (जीव) भी (कर्मों के बन्धन में) बंध जाता है।

६. काम-भोगों का त्याग करना दुष्कर है, अधीर (सामर्थ्यहीन या बुद्धिहीन) लोगों के द्वारा (तो ये औरें भी अधिक) सुत्याज्य नहीं हुआ करते। (फिर भी) सुव्रती साधु होते हैं जो (दुस्तर कामभोगों को) उसी तरह तर जाते हैं-पार कर जाते हैं जिस प्रकार पोत-वणिक् (समुद्र के व्यापारी) दुस्तर (समुद्र) को (पार कर जाते हैं)।

७. पशु (के समान) मन्दमति व अज्ञानी कुछ-एक (लोग) 'हम श्रमण हैं' ऐसा कहते हुए (भी) प्राणिवध (के स्वरूप व दोष) को नहीं जानते हुए, अपनी पापपूर्ण दृष्टियों के कारण नरक में जाते हैं।

८. "प्राणियों के वध का अनुमोदन (भी) करता हुआ व्यक्ति समस्त (कर्म रूप या नरकादि गति रूप) दुःखों से कभी छूट नहीं सकता"-ऐसा (उन) 'आर्य' (समस्त हेय धर्मों से दूर तीर्थंकर या आचार्य परमेष्ठी) महापुरुषों द्वारा कहा गया है जिन्होंने इस साधु-धर्म की प्ररूपणा की है।

९. (जो जीवों के) प्राणों का अतिपात (विराधना या घात) नहीं करे-(ऐसे) उस 'त्रायी' (स्वयं के तथा षट्काय जीवों के रक्षक मुनि) को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्ति रूप 'समिति' से सम्पन्न) कहा जाता है, और फिर उस (मुनि) से पाप-कर्म उसी प्रकार दूर निकल जाता है जिस प्रकार (ऊंचे ढलान) स्थल से पानी (बह कर निकल जाता है)।

मूल : **जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।**
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ।। १० ।।

संस्कृत : जगन्निश्रितेषु भूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च।
न तेषु दण्डमारभेत, मनसा वचसा कायेन चैव ।। १० ।।

मूल : **सुद्धेसणाउ नच्चाणं, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।**
जायाए घासमेसेज्जा, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ।। ११ ।।

संस्कृत : शुद्धैषणां ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्।
यात्रायै ग्रासमेषयेत्, रसगृद्धो न स्याद् भिक्षादः ।। ११ ।।

मूल : **पंताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।**
अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ।। १२ ।।

संस्कृत : प्रान्तानि चैव सेवेत, शीतपिण्डं पुराण-कुल्माषान्।
अथ बुक्कसं पुलाकं वा, यापनार्थं निषेवेत मन्थुम् । १२ ।।

मूल : **जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजंति।**
न हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ।। १३ ।।

संस्कृत : ये लक्षणं च स्वप्नम्, अंगविद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति।
न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते, एवमाचार्यैराख्यातम् ।। १३ ।।

मूल : **इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।**
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ।। १४ ।।

संस्कृत : इह जीवितं अनियम्य, प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः।
ते कामभोगरसगृद्धाः, उपपद्यन्ते आसुरे काये ।। १४ ।।

मूल : **तत्तो वि य उवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति।**
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होई सुदुल्लहा तेसिं ।। १५ ।।

संस्कृत : ततोऽपि च उद्वृत्य, संसारं बहुमनुपर्यटन्ति।
बहुकर्मलेपलिप्तानां, बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम् ।। १५ ।।

१०. जगत् पर आश्रित (जितने भी) त्रस व स्थावर नाम (कर्म के) प्राणी हैं, (साधक) उनके प्रति मन-वचन और शरीर से 'दण्ड' (रूप हिंसा) का समारम्भ (प्रयोग) न करे।

११. भिक्षु शुद्ध एषणाओं (निर्दोष आहार-ग्रहण के नियमों) को जाने और फिर उनमें स्वयं को स्थापित (स्थिर) करे। भिक्षाजीवी (साधु) (संयम-मार्ग की) यात्रा के लिए (जितना अपेक्षित हो, उतने ही) आहार (ग्रास) की 'एषणा' करे, और रसों में आसक्त नहीं हो।

१२. (मात्र जीवन-) यापन के उद्देश्य से "प्रान्त' (अर्थात् नीरस व अतिरुक्ष पदार्थ) का सेवन करे, और (इसी प्रकार गोचरी में प्राप्त) ठंडे, सारहीन या 'पुलाक' (चना या नष्ट बीज भाग वाले अनाज आदि रूखे आहार) का, तथा 'कुल्माष' (राजमाष-अर्थात् बड़े उड़द, कुलथी, कांजी आदि) और बेर व सत्तू आदि के चूर्ण का सेवन करे।

१३. जो (मुनि) लक्षणशास्त्र (सामुद्रिक शास्त्र), स्वप्न शास्त्र और अंगविद्या (अंग स्फुरण आदि की शुभाशुभता बताने वाला शास्त्र या आरोग्य शास्त्र) का प्रयोग करते हैं-वे 'श्रमण' नहीं कहलाते, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४. (जो साधक) इस जन्म को नियन्त्रित/संयमित नहीं रखकर, समाधि योग (चित्त-स्वस्थता से युक्त शुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति, या शुभ चित्त एकाग्रता व प्रतिलेखन आदि व्यापार) से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे काम-भोगों तथा (श्रृंगारादि) रसों में (या कामभोग-सम्बन्धी आसक्ति रूप रस में) आसक्ति रखने वाले (साधक) असुर-काय (निकृष्ट देवयोनि) में उत्पन्न हुआ करते हैं।

१५. वहां से निकल जाने पर भी (वे) विस्तृत (या बहुत काल तक) (चतुर्गति रूप या ८४ लाख जीवयोनि रूप) संसार में (ही) परिभ्रमण करते हैं। बहुत अधिक कर्मों के लेप से लिप्त होने वाले उन को बोधि (ज्ञान-दर्शन-चारित्र बोधि, या परलोक में रत्नत्रय-धर्म) की प्राप्ति अत्यधिक दुर्लभ होती है।

मूल : **कसिणंपि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।**
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ।। १६ ।।

संस्कृत : कृत्स्नमपि य इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।
तेनापि स न संतुष्येत्, इति दुष्पूरकोऽयमात्मा ।। १६ ।।

मूल : **जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।**
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ।। १७ ।।

संस्कृत : यथा लाभस्तथा लोभः, लाभाल्लोभः प्रवर्धते।
द्विमाषकृतं कार्यं, कोट्याऽपि न निष्ठितम् ।। १७ ।।

मूल : **नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासु णेगचित्तासु।**
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ।। १८ ।।

संस्कृत : न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु।
याः पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा वै दासैः ।। १८ ।।

मूल : **नारीसु नोवगिज्झिज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे।**
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं ।। १९ ।।

संस्कृत : नारीषु नोपगृध्येत्, स्त्रीर्विप्रजह्यादनगारः।
धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ।। १९ ।।

मूल : **इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।**
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति, तेहिं आराहिया दुवे लोग ।। २० ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : इत्येष धर्म आख्यातः, कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति, तैराराधितौ द्वौ लोकौ ।। २० ।।
इति ब्रवीमि।

१६. यदि यह भरा-पूरा समस्त लोक भी (किसी) एक को दे दिया जाए (तो) उससे भी वह सन्तुष्ट नहीं हो पाएगा, ऐसी 'दुष्पूर' (कठिनता से तृप्त होने वाली) है यह आत्मा।

१७. जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ भी (समृद्ध) होता है। लाभ से लोभ (और भी अधिक) बढ़ जाता है। दो माशे (सोने से पूरा) होने वाला कार्य करोड़ (सुवर्ण-मुद्राओं) से भी पूरा नहीं हो पाया।

१८. छाती में फोड़े (की तरह स्तनों) वाली, विविध चित्त (कामनाओं) वाली तथा (उन) राक्षसी (जैसी ज्ञानादिरूप सर्वस्व धन का हरण करने वाली तथा काम–वासना में उत्तेजक स्त्रियों) में आसक्ति न रखे, जो पुरुषों को प्रलोभित कर, (उन्हें खरीदे गए) दासों के समान (बना कर उनसे) खेलती रहती हैं।

१९. स्त्री-सम्पर्क का त्यागी अनगार (साधु) स्त्रियों में आसक्ति न रखे, और (साधु जीवनोचित) धर्म को (ही) हितकारी व सुन्दर जानकर, भिक्षु उसमें अपने को स्थापित करे।

२०. इस प्रकार से, विशुद्ध प्रज्ञा के धारक कपिल (केवली मुनिवर) ने यह धर्म कहा है। जो इसका अनुष्ठान करेंगे, वे तो (संसार सागर को) पार करेंगे, और उन (लोगों) के द्वारा (ही) दोनों लोक (इहलोक व परलोक) आराधित (अर्थात् सफल) कर लिए गए।

–ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

स्नेह व आसक्ति से दूर रह कर ही दोषों से मुक्त रहा जा सकता है। विषय-वासना से भरे विवेक-शून्य जीवन वाला व्यक्ति कफ में मक्खी की तरह फंस कर दुर्गति को प्राप्त होता है, किंतु धीर पुरुष ही काम-भोगों का अतिदुष्कर त्याग कर सकते हैं।

सदाचारी व संयमी व्यक्ति प्राण-वध से सर्वथा दूर रहता है। फलस्वरूप पाप-भावनाएं उसमें उसी प्रकार नहीं ठहर पातीं जिस प्रकार ऊंचे टीले पर पानी स्वतः बह जाता है। साधु-जीवन अपनाने वाले को रस-लोलुपता से अवश्य बचना चाहिए, और निर्दोष, संयम-सहायक नीरस आहार का ही ग्रहण करना चाहिए।

लक्षण-शास्त्र, निमित्तशास्त्र आदि विद्याओं का प्रयोग कर जीवन-निर्वाह करने वाला व्यक्ति 'श्रमण' कहलाने योग्य नहीं होता। साधु होकर भी सांसारिक सुख-आसक्ति से पूर्ण व संयमहीन जीवन व्यतीत कर वह निम्न कोटि के देवों में जन्म लेता है, और उसके लिए 'बोधि' दुर्लभ हो जाती है।

यह एक महत्त्वपूर्ण 'सत्य' है कि चाहे कितना ही लाभ होता चला जाये, परन्तु 'लोभ' में कमी नहीं आती, प्रत्युत् लोभ में और भी अधिक वृद्धि होती चली जाती है, यहां तक कि समस्त लोक की सम्पदा को प्राप्त कर भी व्यक्ति सर्वथा अतृप्त बना रहता है।

लोभ के त्याग के साथ-साथ साधु के लिए यह भी अनिवार्यतः अपेक्षित है कि वह स्त्री-सम्पर्क का भी सर्वथा त्याग करे, ताकि संयमी जीवन दुष्प्रभावित न हो।

उपर्युक्त धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले संसार-समुद्र को पार करते हैं और दोनों लोकों को सफल बनाते हैं-सम्यग् आराधित करते हैं।

❑❑

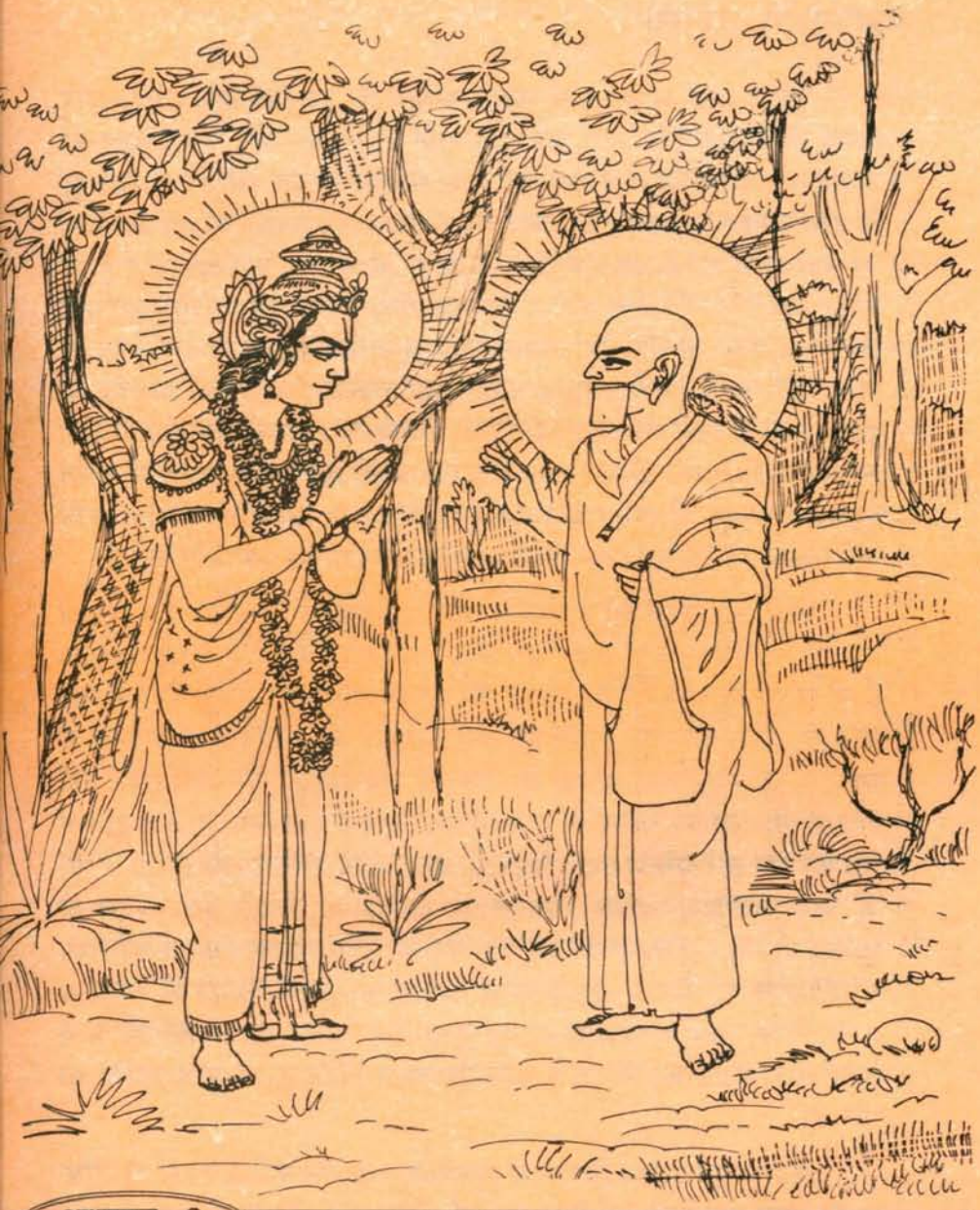

अध्ययन–9

नमिप्रव्रज्या

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत नौवें अध्ययन में बासठ गाथायें हैं। इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है—सांसारिकता त्याग कर मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर होने के औचित्य की स्थापना। राजर्षि नमि के महान् चरित्र के माध्यम से यह स्थापना साकार हुई है। इसलिये इस अध्ययन का नाम 'नमिप्रव्रज्या' रखा गया। नमि का एक अर्थ वह व्यक्तित्व भी है, जिसके तेज या प्रताप के सम्मुख शक्तिशाली शत्रु भी नमित हो जायें। नमि जब राजा थे तो शत्रु-राजा उनके समक्ष नमित हुए और जब वे ऋषि हुए तो राग, द्वेष, कषाय आदि आन्तरिक शत्रुओं पर उन्होंने विजय प्राप्त की। वे भी उनके सम्मुख नमित हुए। शक्रेन्द्र जब उनकी प्रव्रज्या की दृढ़ता परखने आये तो उनकी विविक्त प्रव्रज्या व सशक्त युक्तियों से तथा सम्यक् ज्ञान-संपन्न उनके उत्तरों से प्रभावित हो कर उनके चरणों में नमित हुए। शक्रेन्द्र को भी नमित कर सकने वाली प्रव्रज्या का वृत्तान्त प्रस्तुत करने वाला अध्ययन 'नमिप्रव्रज्या' शीर्षक की सार्थकता का एक और पक्ष है।

सत्रह सागरोपम की दीर्घ आयु वाले देवलोक के 'पुष्पोत्तर-विमान' से च्यव कर मानव-भव में आए 'नमि राजा' प्रत्येकबुद्ध थे। प्रत्येकबुद्ध वह होता है जो बाह्य घटना का निमित्त प्राप्त कर आत्म-बोध प्राप्त करता है। दाह ज्वर से ग्रस्त 'नमि' की दाह-शान्ति हेतु चन्दन घिसने वाली रानियों के कंकणों के घर्षण से जो मधुर शब्द हो रहा था, वह भी, वेदनाग्रस्त 'नमि' को सहन नहीं हो रहा था। इसलिए रानियों ने मात्र सौभाग्य सूचक एक-एक कंकण हाथ में रख कर शेष सारे कंकण उतार दिए। इस तरह जो निःशब्दता हुई, उस से 'नमि' के लिए कोलाहल-जनित अशान्ति दूर हो गई थी, यद्यपि ज्वर-वेदना तो पूर्ववत् ही थी। इस घटना ने 'नमि' के मन को आध्यात्मिक चिन्तन की दिशा में गतिशील कर दिया। अनुप्रेक्षात्मक चिन्तन के कारण 'नमि' के अन्तर में आध्यात्मिक सत्य का प्रकाश उद्भूत हुआ। वह 'सत्य' यह था कि अनेकत्व व संघर्ष ही दुःख का कारण है, और एकत्व व निर्द्वन्द्वता ही सुख-शान्ति का मूल है।

वैराग्य पूर्ण एकत्व चिन्तन से मानसिक तथा चन्दन विलेपन से शारीरिक शान्ति प्राप्त कर राजा को निद्रा आ गई। निद्रावस्था में राजा ने एक विशिष्ट स्वप्न देखा, जिससे उन्हें पूर्वजन्म का ज्ञान हो गया। इससे नमि राजा ने मुनि-दीक्षा लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया और वे प्रातः उठते ही राज-वैभव,

परिवार का परित्याग कर वन में चले गये। नमि राजर्षि का वैराग्य कितना दृढ़ है, इसे परखने के लिये देवराज इन्द्र ब्राह्मण का वेश धारण कर उनके सामने उपस्थित हुए और उन से दस प्रश्न किये। उनका समाधान नमि ने महान आध्यात्मिक, दार्शनिक दृष्टि से दिया। देवेन्द्र द्वारा 'नमि' राजर्षि के समक्ष जो प्रश्न उपस्थापित किये गये, उन में ब्राह्मण संस्कृति के अनुरूप आग्रह छिपा है। देवेन्द्र यह प्रतिपादित करना चाहते थे कि ब्राह्मण (वर्णाश्रम) संस्कृति के अनुरूप यज्ञों का सम्पादन तथा क्षत्रियोचित प्रशासनिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए गृहस्थाश्रम का सम्यक् पालन कर जीवन के उत्तरार्ध में संन्यास-आश्रम स्वीकार करना उचित होता है। किन्तु नमि राजर्षि श्रमण संस्कृति की दृष्टि से अपने प्रव्रजित होने का पूर्ण औचित्य सिद्ध करते हैं। देवेन्द्र व नमि के उक्त संवाद के माध्यम से प्रस्तुत अध्ययन में वैदिक/ब्राह्मण व श्रमण संस्कृति के तात्विक ज्ञान की पृष्ठभूमियों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। **किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, विरक्ति का भाव जब भी उठे, तभी वह मुनि-प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। सांसारिक प्रभुता, राज्य-विस्तार व विषय-भोग की तुलना में अनासक्ति व अपरिग्रह के माध्यम से की जाने वाली आत्मिक विजय व आत्मिक शुद्धि अधिक श्रेष्ठ है।** ये तथा श्रमण संस्कृति के अन्य मूल आधार अकाट्य युक्तियों के साथ यहां उजागर हुए हैं। उक्त दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का समूचे 'उत्तराध्ययन' में एक विशिष्ट स्थान माना जाता है।

राजर्षि नमि व देवेन्द्र के बीच हुए प्रश्नोत्तर श्रमण व ब्राह्मण संस्कृति के साथ-साथ सम्यक्त्व व सांसारिकता के बीच होने वाले प्रश्नोत्तर भी हैं। राजर्षि नमि के उत्तर वस्तुतः सम्यक् ज्ञान द्वारा प्रदत्त समाधान हैं। इनके आलोक में अपने जीवन को वांछनीय व सम्यक् स्वरूप देने की प्रेरणा के साथ-साथ इसका मार्ग प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह णवमं नमिपवज्जाणामज्झयणं

(अथ नवमं नमिप्रव्रज्यानामाऽध्ययनम्)

मूल : **चइऊण देवलोगाओ, उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि।**
उवसन्तमोहणिज्जो, सरई पोराणियं जाइं।।१।।

संस्कृत : च्युत्वा देवलोकात्, उपपन्नो मानुषे लोके।
उपशान्तमोहनीयः, स्मरति पौराणिकीं जातिम्।।१।।

मूल : **जाइं सरित्तु भयवं, सयसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।**
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया।।२।।

संस्कृत : जातिं स्मृत्वा भगवान्, स्वयंसंबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे।
पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये, अभिनिष्क्रामति नमिराजा।।२।।

मूल : **सो देवलोगसरिसे, अन्तेउर-वरगओ वरे भोए।**
भुंजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयई।।३।।

संस्कृत : स देवलोकसदृशान्, अन्तःपुरवरगतो वरान्भोगान्।
भुक्त्वा नमिराजा, बुद्धो भोगान् परित्यजति।।३।।

मूल : **मिहिलं सपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं।**
चिच्चा अभिनिक्खन्तो, एगन्तमहिट्ठिओ भयवं।।४।।

संस्कृत : मिथिलां सपुरजनपदां, बलमवरोधं च परिजनं सर्वम्।
त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः, एकान्तमधिष्ठितो भगवान्।।४।।

मूल : **कोलाहलगभूयं, आसी मिहिलाए पव्वयंतम्मि।**
तइया रायरिसिम्मि, नमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि।।५।।

संस्कृत : कोलाहलकभूतम्, आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति (सति)।
तदा राजर्षौ नमौ, अभिनिष्क्रामति।।५।।

नौवाँ अध्ययन :
नमि-प्रव्रज्या

१. देव लोक से च्यवन कर, ('नमि' राजा के जीव ने) मनुष्य-लोक में जन्म लिया। (उनका) मोह (दर्शन-मोहनीय) उपशान्त हो गया था। (जिसके कारण, उन्हें) पहले के (अपने पूर्व) जन्म का स्मृति-ज्ञान हो आया।

२. भगवान् (अतिशय, ज्ञान, धैर्य व बुद्धि से सम्पन्न) 'नमि राजा' (पूर्व-) जन्म का स्मरण कर 'अनुत्तर' (सर्वोत्कृष्ट) धर्म (की आराधना) में 'स्वयं सम्बुद्ध' हुए। (उन्होंने) राजगद्दी पर पुत्र को बैठा कर (प्रव्रज्या-हेतु) अभिनिष्क्रमण किया।

३. उत्तम अन्तःपुर में रहते हुए देव-लोक (के भोगों) के समान सुन्दर भोगों को भोग कर वे 'नमि' राजा (एक दिन स्वतः) प्रबुद्ध हुए (और उन्होंने) भोगों का परित्याग कर दिया।

४. भगवान् (नमि) ने नगर-जनपद सहित 'मिथिला' (राजधानी) का, तथा सेना, अन्तःपुर व समस्त परिजनों का त्याग कर अभिनिष्क्रमण किया (और वे) 'एकान्त' (अर्थात् निर्जन स्थान, एकत्व-भावना या 'रत्नत्रय' रूप मोक्ष-साधन व 'मोक्ष') में अधिष्ठित हो गए।

५. राजर्षि नमि (द्रव्य व भाव रूप से) अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो रहे थे, उस समय मिथिला में (विलाप आदि के कारण, चारों ओर) कोलाहल होने लगा।

मूल : **अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं।**
सक्को माहणरूवेणं, इमं वयणमब्बवी।।६।।

संस्कृत : अभ्युत्थितं राजर्षिं, उत्तमं प्रव्रज्यास्थानं (प्रति)।
शक्रो ब्राह्मणरूपेण, इदं वचनमब्रवीत्।।६।।

मूल : **किण्णु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला।**
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य।।७।।

संस्कृत : किन्नु भो अद्य! मिथिलायां, कोलाहलकसंकुलाः।
श्रूयन्ते दारुणाः शब्दाः, प्रासादेषु गृहेषु च ?।।७।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी।।८।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।८।।

मूल : **मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।**
पत्तपुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया।।९।।

संस्कृत : मिथिलायां चैत्यवृक्षे, शीतच्छाये मनोरमे।
पत्रपुष्पफलोपेते, बहूनां बहुगुणे सदा।।९।।

मूल : **वाएण हीरमाणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे।**
दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो! खगा।।१०।।

संस्कृत : वातेन ह्रियमाणे, चैत्ये मनोरमे।
दुःखिता अशरणा आर्ताः, एते क्रन्दन्ति भो! खगाः।।१०।।

६. उत्तम प्रव्रज्या (रूपी मोक्ष-दायक गुणों) के 'स्थान' (अर्थात् मुनि-पद की प्राप्ति या दीक्षा-स्थल) के लिए उद्यत होने वाले राजर्षि (नमि) को इन्द्र ने ब्राह्मण के रूप (वेश) में (आकर) यह वचन कहा-

७. ("हे राजर्षि!) क्या बात है (जो) आज मिथिला में, महलों में और (सामान्य) घरों में, कोलाहल से भरे दारुण (हृदयविदारक) शब्द सुनाई पड़ रहे हैं?"

८. इस अर्थ (से भरी बात) को सुनकर, 'नमि' राजर्षि ने (अपने अभिनिष्क्रमण के औचित्य के साधक) 'हेतु' और (उक्त कोलाहल के वास्तविक) 'कारण' (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित होते हुए तब देवेन्द्र को यह कहा:-

९. "मिथिला में (एक) चैत्यवृक्ष (चित्ताह्लादक उद्यान में स्थित वृक्ष, या 'चैत्य' नाम से अभिहित विशिष्ट वृक्ष था, जो) ठण्डी छाया (देने) वाला, (देखने में) मनोहर, पत्र-पुष्प व फलों से समृद्ध तथा बहुत (पक्षियों आदि) के लिए सर्वदा अति-उपकारी था।

१०. "हे (ब्राह्मण! प्रचण्ड) वायु द्वारा (उस) मनोरम 'चैत्य' (चित्ताह्लादक उद्यान या वृक्ष) के नष्ट कर दिए जाने पर ये पक्षी (के समान आश्रित जन) दुःखी, शरण-हीन व पीड़ित होकर आक्रन्दन (रोना-पीटना) कर रहे हैं।[1]"

---

१. नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि जैसे पक्षियों के आर्तनाद में उस वृक्ष की निर्दोषता है, वैसे ही मेरा अभिनिष्क्रमण आश्रित जनों के आर्तनाद के कारण नहीं, अपितु उनको स्वार्थ-विनाश का जो भय है, वह उस आर्तनाद में कारण है। अभिनिष्क्रमण तो स्वपर-कल्याण का हेतु है अतः वह उचित है।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं , देविन्दो इणमब्बवी।।११।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।११।।

मूल : **एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मन्दिरं।**
भयवं! अन्तेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खह?।।१२।।

संस्कृत : एषोऽग्निश्च वायुश्च, एतं दह्यते मन्दिरम्।
भगवन्! अन्तःपुरं तेन, कस्मान्नावप्रेक्षसे?।।१२।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी।।१३।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।१३।।

मूल : **सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं।**
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं।।१४।।

संस्कृत : सुखं वसामो जीवामः, येषां नो नास्ति किंचन।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किंचन।।१४।।

मूल : **चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो।**
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई।।१५।।

संस्कृत : त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, निर्व्यापारस्य भिक्षोः।
प्रियं न विद्यते किंचित्, अप्रियमपि न विद्यते।।१५।।

मूल : **बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।**
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ।।१६।।

संस्कृत : बहु खलु मुनेर्भद्रं, अनगारस्य भिक्षोः।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य, एकान्तमनुपश्यतः।।१६।।

११. इस 'अर्थ' (से भरी बात) को सुनकर, (अपने प्रिय व निजी अन्तःपुर को दाह से न बचा कर अभिनिष्क्रमण करने से सम्बन्धित) 'हेतु' व 'कारण' (की जिज्ञासा) से प्रेरित होकर तब देवेन्द्र ने 'नमि' राजर्षि से यह कहा-

१२. "भगवन्! यह अग्नि और (यह) वायु है, और (इनके द्वारा) (आपका अपना ही) यह राजभवन (जो) जल रहा है, उसके कारण अन्तःपुर (भी जल रहा है, इस) को आप क्यों नहीं देखते?"

१३. (देवेन्द्र के) इस 'अर्थ' (से भरी बात) को सुनकर (अपने निजी व प्रिय अन्तःपुर को भी न बचा कर अभिनिष्क्रमण करने से सम्बन्धित) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र को यह कहाः-

१४. ("हे ब्राह्मण!) जिनके (पास अपना) कुछ नहीं होता, ऐसे हम लोग सुख से रहते हैं और जीते हैं। मिथिला के जलते रहने पर, मेरा (तो अपना) कुछ जल नहीं रहा।"

१५. "पुत्र, पत्नी (आदि) को छोड़ देने वाले, (गृहस्थोचित सावद्य) व्यापार से मुक्त रहने वाले भिक्षु के लिए न तो कोई (वस्तु) प्रिय होती है, और न ही (कोई) अप्रिय होती है।"

१६. "सभी तरह (के बाह्य व आभ्यन्तर बन्धनों) से मुक्त, एकान्त-द्रष्टा (अर्थात् एकत्व-भावना में लीन, मोक्ष-साधक रत्नत्रय की साधना में तत्पर, या मोक्ष को लक्ष्य रूप में देखते रहने वाले) अनगार व भिक्षु (भिक्षासेवी) मुनि के लिए (तो) अत्यधिक सुख (या कल्याण ही) है!"

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी।।१७।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।१७।।

मूल : **पागारं कारइत्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य।**
उस्सूलग सयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया।।१८।।

संस्कृत : प्राकारं कारयित्वा, गोपुराट्टालकानि च।
उप्सूलकाः शतघ्नीः, ततो गच्छ क्षत्रिय!।।१८।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी।।१९।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।१९।।

मूल : **सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।**
खन्तिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं।।२०।।

संस्कृत : श्रद्धां नगरं कृत्वा, तपः संवरमर्गलाम्।
क्षान्तिं निपुणप्राकारं, त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षिकम्।।२०।।

मूल : **धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।**
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमंथए।।२१।।

संस्कृत : धनुः पराक्रमं कृत्वा, जीवां चेर्यां सदा।
धृतिं च केतनं कृत्वा, सत्येन परिमथ्नीयात्।।२१।।

मूल : **तव नारायजुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं।**
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए।।२२।।

संस्कृत : तपोनाराचयुक्तेन, भित्त्वा कर्मकंचुकम्।
मुनिर्विगतसंग्रामः, भवात्परिमुच्यते।।२२।।

१७. इस अर्थ (से भरी बात) को सुनकर, (नगर-रक्षा के क्षत्रियोचित कर्तव्य को पूरा न कर अभिनिष्क्रमण करने के विषय में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि से यह कहा-

१८. "हे क्षत्रिय! (इस मिथिला की रक्षा के लिए) परकोटा, बुर्जवाले नगर-द्वार, अट्टालिकाएं, (किले की) खाई, तथा सैकड़ों (शत्रुओं) को मारने वाली तोप आदि (की व्यवस्था) करवा दें, उसके बाद (दीक्षा हेतु) जाएं।"

१९. इस अर्थ (से भरी बात) को सुनकर, (अध्यात्म-नगरी की रक्षा आदि से ही क्षत्रियोचित कर्तव्य का निर्वाह श्रेयस्कर है-इस तथ्य को सिद्ध करने वाले) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र को यह कहा:-

२०. ("हे ब्राह्मण!) (आत्मजयी क्षत्रिय के लिए उचित जो कर्त्तव्य है, उसे ही मैं कर रहा हूँ, वह इस प्रकार है-) श्रद्धा (सम्यक्त्व) को नगर बना कर (उसकी रक्षा हेतु) तप रूप संवर को 'अर्गला' (सहित महाद्वार बना कर), क्षमा (आदि दशविध धर्मों) के तीन (मनवचन-काय सम्बन्धी गुप्तियों) से सुरक्षित प्राकार (परकोटा/दुर्ग) को अजेय व (सुरक्षा में) समर्थ/दृढ़ (बना कर और)।

२१. सदैव (संयम रूप, या आत्मोल्लास-रूप) पराक्रम को धनुष बनाकर, ईर्या (आदि) समितियों की प्रत्यंचा, और धृति (निश्चलता) को उसकी मूठ बना कर सत्य (रूप डोरे) से उस (धनुष)को बांधे।

२२. तप रूपी बाणों से युक्त (उस धनुष) से कर्म रूपी कवच को भेद कर, (कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त कर) संग्राम से विरत मुनि 'भव' (संसार) से परिमुक्त हो जाता है।"

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी।।२३।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।२३।।

मूल : **पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य।**
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया।।२४।।

संस्कृत : प्रासादान्कारयित्वा, वर्धमानगृहाणि च।
बालाग्रपोतिकाश्च, ततो गच्छ क्षत्रिय!।।२४।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी।।२५।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।२५।।

मूल : **संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।**
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं।।२६।।

संस्कृत : संशयं खलु स कुरुते, यो मार्गे कुरुते गृहम्।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्, तत्र कुर्वीत शाश्वतम्।।२६।।

मूल : **एयट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी।।२७।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।२७।।

२३. (नमि राजर्षि की) इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर (प्रेक्षावान् होते हुए भी महल आदि न बनवा कर, दीक्षा लेने का क्या औचित्य है- इस विषय में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि से यह कहाः-

२४. "हे क्षत्रिय! (अपने वंश के भावी उज्ज्वल भविष्य के लिए सोचते हुए, पहले आप) महल, वर्द्धमान गृह (जैसे विशिष्ट निर्माण), चन्द्रशालाएं या तालाब में निर्मित छोटे महल बनवाएं, उसके बाद (दीक्षा हेतु आप) प्रस्थान करें।"

२५. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (प्रेक्षावान् होते हुए भी, महल आदि न बनवाकर, अभिनिष्क्रमण करने में क्या औचित्य है- इस विषय में) हेतु और कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र से यह कहाः-

२६. ("हे ब्राह्मण!) जो (पुरुष) 'मार्ग' में घर बनाता है, वह निश्चय रूप से संशय (की स्थिति का निर्माण) करता है। (इसलिए) अपने (शाश्वत) आश्रय (का निर्माण) वहां करना चाहिए, जहां जाने (पहुंचने) की इच्छा हो।"[1]

२७. इस अर्थ (से भरी बात) को सुनकर, (अधार्मिक व्यक्तियों का निग्रह कर शान्ति स्थापना करते हुए अपने शासकोचित कर्तव्य को पूरा करना चाहिए, किन्तु उसे न कर, अभिनिष्क्रमण करना क्यों उचित है- इस विषय में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि को यह कहा :-

---

१. नमि राजर्षि ने यहाँ स्पष्ट किया है कि यह संसार तो एक रास्ता है, लक्ष्य/मंजिल नहीं है, इसलिए यहाँ पर सदा रहना तो है नहीं। अतः मकान आदि तो वहीं बनाना चाहिए जहाँ स्थायी रूप से रहना हो। विवेकी पुरुष के लिए तो शाश्वत स्थान मुक्ति या सिद्धालय है, जिसके लिए वे प्रवृत्त हुए हैं।

मूल : **आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे।**
नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया! ।। २८ ।।

संस्कृत : आमोषान् लोमहरान्, ग्रंथिभेदांश्च तस्करान् ।
नगरस्य क्षेमं कृत्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ।। २८ ।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ।। २९ ।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ।। २९ ।।

मूल : **असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पजुज्जई ।**
अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ।। ३० ।।

संस्कृत : असकृत्तु मनुष्यैः, मिथ्यादण्डः प्रयुज्यते ।
अकारिणोऽत्र बध्यन्ते, मुच्यते कारको जनः ।। ३० ।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ।। ३१ ।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ।। ३१ ।।

मूल : **जे केइ पत्थिवा तुज्झं, नानमन्ति नराहिवा ।**
वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया! ।। ३२ ।।

संस्कृत : ये केचन पार्थिवास्तुभ्यं, न नमन्ति नराधिप! ।
वशे तान्स्थापयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ।। ३२ ।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ।। ३३ ।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ।। ३३ ।।

२८. "हे क्षत्रिय! (पहले आप) लुटेरों, प्राणघातक (तरीकों से सर्वस्व हरण करने वाले) (गिरहकटों) व चोरों (को दण्डित कर,) नगर का क्षेम (अमनचैन) स्थापित करें, उसके बाद (दीक्षा हेतु) जाएं।"

२९. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (भौतिक सम्पत्ति लूटने वालों की अपेक्षा, आत्मिक गुणों का अपहरण करने वालों के निग्रह में ही वास्तविक धार्मिक कुशलता है-इस सम्बन्ध में) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र से यह कहा-

३०. ("हे ब्राह्मण!) अनेक बार (तो) लोग मिथ्यादण्ड का प्रयोग (अर्थात् अज्ञान व अहंकारादि के कारण, निरपराध को दण्डित करना, व अपराधी को छोड़ देना) कर देते हैं। (फलस्वरूप) इस (भौतिक संसार) में (अपराध) न करने वाले (भी) बंध जाते हैं (दण्डित होते हैं,) और (वस्तुतः अपराध) करने वाला छूट जाता है।"

३१. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर (समर्थ शासक होते हुए भी राजाओं को वश में न कर दीक्षा लेने के विषय में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि से यह कहा:-

३२. "हे नराधिपति क्षत्रिय! जो कुछ राजा तुम्हारे आगे (विनय से) नहीं झुकते, (पहले) उन्हें वश में (अर्थात् अपनी अधीनता में) लाएं, उसके बाद (ही) (दीक्षा हेतु) प्रस्थान करें।"

३३. इस अर्थ से (भरी बात) को सुनकर (आत्मिक शत्रुओं को पराजित करने में ही वास्तविक वीरता व सामर्थ्य की स्थापना अन्तर्निहित है-इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र से यह कहा-

मूल : **जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।**
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।।३४।।

संस्कृत : यः सहस्रं सहस्राणां, संग्रामे दुर्जये जयेत्।
एकं जयेदात्मानं, एष तस्य परमो जयः।।३४।।

मूल : **अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ?**
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए।।३५।।

संस्कृत : आत्मनैव सह युद्ध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः।
आत्मनैवात्मानं, जित्वा सुखमेधते।।३५।।

मूल : **पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।**
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं।।३६।।

संस्कृत : पंचेन्द्रियाणि क्रोधं, मानं मायां तथैव लोभं च।
दुर्जयं चैवमात्मानं, सर्वमात्मनि जिते जितम्।।३६।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी।।३७।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।३७।।

मूल : **जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समणमाहणे।**
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया।।३८।।

संस्कृत : याजयित्वा विपुलान् यज्ञान्, भोजयित्वा श्रमणान् ब्राह्मणान्।
दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च, ततो गच्छ क्षत्रिय!।।३८।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी।।३९।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।३९।।

३४. "दुर्जय संग्राम में दस लाख (योद्धा वीरों) को कोई जीत (भी) ले, (किन्तु इसकी तुलना में) एक आत्मा को (अर्थात् स्वयं को) (जो) जीत लेता है, उसकी यह जीत (ही) परम (श्रेष्ठ जीत) है।

३५. (इसलिए स्वयं अपनी) आत्मा से ही जूझो-युद्ध करो, बाह्य (भौतिक) युद्ध से तुझे क्या (लाभ होने वाला) है? (अपनी) आत्मा को (स्वयं अपनी) आत्मा द्वारा जीत कर (ही व्यक्ति) सुख (शाश्वत् सुख मोक्ष या शुभ-पुण्य की वृद्धि का लाभ) प्राप्त करता है।

३६. पांच इन्द्रियां, तथा क्रोध-मान-माया व लोभ- ये (चार कषाय), एवं यह आत्मा (अर्थात् मन)ये दुर्जेय हैं। (इनमें एक) आत्मा को-अपने स्वयं को-जीत लेने पर (उक्त) सभी जीत लिए जाते हैं।"

३७. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (ब्राह्मण-संस्कृति में मान्य पारलौकिक सुख-प्राप्ति के साधनों, जैसे लौकिक यज्ञ व गोदान आदि कार्यों, में प्रवृत्त न होकर दीक्षा लेने में क्या औचित्य है-इस विषय में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि को यह कहा-

३८. "हे क्षत्रिय! (पहले आप) विपुल (बड़े-बड़े दीर्घकालीन) यज्ञ कराएं, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराएं, दान दें, भोग भोगें, (और स्वयं) यज्ञ करें, उसके बाद (दीक्षा-हेतु) जाएं।"

३९. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (परिमित प्राणियों की रक्षा या उपकार करने की अपेक्षा संयम-साधना से अनन्त जीवों का उपकार हो सकता है-इस विषय में) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र को यह कहा-

मूल : **जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।**
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण।। ४०।।

संस्कृत : यः सहस्रं सहस्राणां, मासे मासे गवां दद्यात्।
तस्मादपि संयमः श्रेयः, अददतोऽपि किञ्चन।। ४०।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी।। ४१।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।। ४१।।

मूल : **घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं।**
इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा।। ४२।।

संस्कृत : घोराश्रमं त्यक्त्वा, अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम्।
इहैव पोषधरतः, भव मनुजाधिप!।। ४२।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी।। ४३।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।। ४३।।

मूल : **मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।**
न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।। ४४।।

संस्कृत : मासे मासे तु यो बालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्हति षोडशीम्।। ४४।।

४०. "जो (व्यक्ति) प्रत्येक मास दस लाख गायों को (भी) दान करे, उसके (कार्य की अपेक्षा) कुछ भी दान (आदि) न देने वाले (मुनि) का संयम श्रेयस्कर है।

४१. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी तो धर्म-साधना सम्भव है, फिर क्यों सन्यास स्वीकार किया जा रहा है- इस विषय में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि से यह कहा-

४२. "हे मनुजाधिप! आप घोर आश्रम[1] (गृहस्थ आश्रम, या वैदिक परम्परा में मान्य चान्द्रायण आदि व्रत, या तापस-सम्प्रदाय में प्रचलित कठोर तपस्या) को त्याग कर (अर्थात् स्वीकार न कर) अन्य (मुनि-चर्या वाले श्रमणोचित) आश्रम की प्रार्थना (इच्छा) कर रहे हैं, (क्या यह उचित है? मेरा तो निवेदन यही है कि आप) इसी (गृहस्थाश्रम) में रह कर पौषध (अनशनादि व्रतों) में रत-तत्पर हों।"

४३. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (बाल तपस्या के घोर/दुष्कर होते हुए भी उसकी अपेक्षा जिन-धर्म श्रेष्ठ है- इस तथ्य के प्रतिपादक) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र को यह कहा-

४४. "जो (कोई) अज्ञानी (साधक) महीने-महीने भर के तप कर, कुश की नोंक (से या उस) पर जितना आये, उतना ही (पारणा में) आहार ग्रहण करे, किन्तु 'सु-आख्यात' (जिनेन्द्र द्वारा सम्यक् प्रतिपादित सर्वसावद्य-विरति रूप मुनि) धर्म की सोलहवीं कला (की समानता) को (भी) नहीं पा सकता।"

---

१. विविध सांसारिक समस्याओं व उत्तरदायित्वों के कारण दुष्कर होने से गृहस्थाश्रम को 'घोर' कहा गया प्रतीत होता है। घोर आश्रम का अर्थ 'तापसादि की उग्र बाल तपस्या' भी किया गया है।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ।। ४५ ।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ।। ४५ ।।

मूल : **हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।**
कोसं वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया! ।। ४६ ।।

संस्कृत : हिरण्यं सुवर्णं मणिमुक्तं, कांस्यं दूष्यं च वाहनम् ।
कोशं वर्धयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय! ।। ४६ ।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ।। ४७ ।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ।। ४७ ।।

मूल : **सुवण्णरुप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।**
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।। ४८ ।।

संस्कृत : सुवर्णस्य रुप्यस्य च पर्वता भवेयुः, स्यात्कदाचित्खलु कैलाशसमा असंख्यकाः ।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्, इच्छा खलु आकाशसमा अनन्तिका ।। ४८ ।।

मूल : **पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।**
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ।। ४९ ।।

संस्कृत : पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिः सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ।। ४९ ।।

४५. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर (राज्य-कोष-वृद्धि या भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने की अपेक्षा, अकिंचनता की स्थिति स्वीकार करना क्यों उचित है-इसके सम्बन्ध में) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि से यह कहा-

४६. "हे क्षत्रिय! आप हिरण्य[1] -सुवर्ण[2] मणि-मुक्ता, कांसे (आदि के बर्तन), वस्त्र, वाहन व राज्य-कोष को बढ़ा कर (अर्थात् समृद्ध करने के बाद) (दीक्षा-हेतु) जाएं"।

४७. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (भौतिक समृद्धि की आकांक्षा अपूरणीय होती है, तथा तपश्चर्या सर्वमनोरथों की साधिका है-इस तथ्य के विषय में) हेतु व कारण (को बताने के उद्देश्य) से प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र को यह कहाः-

४८. "भले ही कैलाश पर्वत के समान, चांदी-सोने के असंख्य पर्वत (प्राप्त) हो जाएं, फिर भी लोभी व्यक्ति को उनसे कुछ भी (तृप्ति व सन्तोष आदि) नहीं होता। वास्तव में इच्छा (तृष्णा) आकाश के समान अनन्त (अन्त-रहित) हुआ करती है।"

४९. ("यह समस्त) पृथ्वी, चावल-जौ, (एवं अन्य धान्य), तथा पशुओं के अतिरिक्त सोना, (चांदी आदि धातुएं) - ये सब (मिल कर भी) एक (व्यक्ति) की भी इच्छा पूरी करने में पर्याप्त नहीं हो पातीं-यह जान कर, (विद्वान् साधक जिनोक्त) तपश्चरण (का अनुष्ठान ही) करे (यही श्रेयस्कर है)।"

---

१. हिरण्य अर्थात् चांदी, या घड़ा हुआ सोना।

२. सुवर्ण अर्थात् सोना या सुंदर वर्ण का विशिष्ट सोना या कि घड़ा हुआ सोना।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी।।५०।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।५०।।

मूल : **अच्छेरगमब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा।**
असन्ते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि।।५१।

संस्कृत : आश्चर्यमद्भुतान्, भोगांस्त्यजसि पार्थिव।
असतः कामान्प्रार्थयसे, संकल्पेन विहन्यसे।।५१।।

मूल : **एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।**
तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी।।५२।।

संस्कृत : एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।५२।।

मूल : **सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।**
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं।।५३।।

संस्कृत : शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः।
कामान्प्रार्थयमानाः, अकामा यान्ति दुर्गतिम्।।५३।।

मूल : **अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।**
माया गई-पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं।।५४।।

संस्कृत : अधो व्रजति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः।
मायया सुगतिप्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम्।।५४।।

५०. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (प्रत्यक्ष उपलब्ध भोगों को छोड़कर, अदृश्य व संदेहास्पद भोगों की कामना में क्या औचित्य है-इसे स्पष्ट करने के लिए) हेतु व कारण (की जिज्ञासा) से प्रेरित देवेन्द्र ने तब 'नमि' राजर्षि को यह कहा-

५१. "हे पार्थिव! (पृथ्वीपते) आश्चर्य की बात है कि आप अभ्युदय में भोगों को (इतने अधिक धन वैभव के होते हुए भी, प्रत्यक्ष में सहजतया उपलब्ध या अद्भुत काम-भोगों को तो) छोड़ रहे हैं, और अनुपलब्ध (संदिग्ध सत्ता वाले) काम-भोगों की चाह कर रहे हैं (संभवतः आप निरर्थक) संकल्प-विकल्पों से (ही स्वयं) प्रताड़ित हो रहे हैं-कष्ट पा रहे हैं।"

५२. इस अर्थ (भरी बात) को सुनकर, (प्राप्त भौतिक भोगों की चाह तो मुझ में नहीं है, अप्राप्त पारलौकिक भोगों की भी चाह नहीं है, क्योंकि मैं मोक्षाभिलाषी हूँ-इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए) हेतु व कारण (को उपस्थापित करने के उद्देश्य से) प्रेरित 'नमि' राजर्षि ने तब देवेन्द्र को यह कहा:-

५३. "(सभी प्रकार के) काम-भोग 'शल्य' (कांटे की तरह पीड़ाकारक) हुआ करते हैं, (ये) काम-भोग 'विष' (जैसे आध्यात्मिक जीवन को हरण करने वाले) हैं, काम-भोग 'आशीविष' सर्प के समान (सुन्दर होते हुए भी स्पर्श मात्र से प्राणहारक) होते हैं। (जो) काम-भोगों की चाह रखते हैं, (वे) अकाम (परिस्थितिवश काम-सेवन का अवसर प्राप्त न कर सकने वाले) हों, (तब भी) दुर्गति में जाते हैं।

५४. "क्रोध से (नरक आदि) नीच गति में (व्यक्ति) जाता है, मान से अधम गति (प्राप्त) हुआ करती है। माया (भी प्रशस्त/शुभ) गति (की प्राप्ति) की प्रतिघात करती है, तथा लोभ से (इस लोक व परलोक) दोनों ओर (की दुर्गतियों) का भय बना रहता है।"

मूल : **अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इन्दत्तं।**
वन्दइ अभित्थुणन्तो, इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं ।। ५५ ।।

संस्कृत : अपोह्य ब्राह्मणरूपं, विकृत्येन्द्रत्वम्।
वन्दतेऽभिष्टुवन्, आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ।। ५५ ।।

मूल : **अहो! ते णिज्जिओ कोहो, अहो! माणो पराजिओ।**
अहो! निरक्किया माया, अहो! लोभो वसीकओ ।। ५६ ।।

संस्कृत : अहो! त्वया निर्जितः क्रोधः, अहो! मानः पराजितः।
अहो! निराकृता माया, अहो! लोभो वशीकृतः ।। ५६ ।।

मूल : **अहो! ते अज्जवं साहु, अहो ते! साहु मद्दवं।**
अहो! ते उत्तमा खन्ती, अहो! ते मुत्ति उत्तमा ।। ५७ ।।

संस्कृत : अहो! ते आर्जवं साधु, अहो! ते साधु मार्दवम्।
अहो! तवोत्तमा क्षान्तिः, अहो! ते मुक्तिरुत्तमा ।। ५७ ।।

मूल : **इहं सि उत्तमो भन्ते! पेच्चा होहिसि उत्तमो।**
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ।। ५८ ।।

संस्कृत : इहास्युत्तमो भगवन्! प्रेत्य भविष्यस्युत्तमः।
लोकोत्तमोत्तमं स्थानं, सिद्धिं गच्छसि नीरजः ।। ५८ ।।

मूल : **एवं अभित्थुणन्तो, रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए।**
पयाहिणं करेन्तो, पुणो पुणो वन्दई सक्को ।। ५९ ।।

संस्कृत : एवमभिष्टुवन्, राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया।
प्रदक्षिणां कुर्वन्, पुनःपुनर्वन्दते शक्रः ।। ५९ ।।

मूल : **तो वन्दिऊण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स।**
आगासेणुप्पइओ, ललियचवलकुंडलकिरीडी ।। ६० ।।

संस्कृत : ततो वन्दित्वा पादौ, चक्रांकुशलक्षणौ मुनिवरस्य।
आकाशेनोत्पतितः, ललितचपलकुण्डलकिरीटी ।। ६० ।।

५५. देवेन्द्र (तब) ब्राह्मण-रूप को त्याग कर, एवं विकुर्वणा-शक्ति से इन्द्र-रूप को प्रकट कर, इन मधुर वचनों से ('नमि' राजर्षि की) स्तुति करते हुए वन्दना करने लगा-

५६. "अहो! (राजर्षि! आप धन्य हैं जो) आपने क्रोध को जीत लिया, अहो! आपने मान को भी पराजित कर दिया! अहो! आपने माया का (भी) निराकरण कर दिया है। अहो! आपने लोभ को (भी) वशीभूत कर रखा है।

५७. अहो! आपकी सरलता उत्तम है! अहो! आपकी मृदुता (भी) उत्तम है! अहो! आपकी क्षमा (भी) उत्तम है! अहो! आपकी निर्लोभता (भी) उत्तम है।

५८. भन्ते (भगवन्!) आप इस (लोक) में भी श्रेष्ठ हैं, परलोक में भी श्रेष्ठ (ही) रहेंगे। आप (कर्म) रज से रहित होकर, लोक में उत्तमोत्तम स्थान-"मुक्ति' को प्राप्त करेंगे।"

५९. इस प्रकार, उत्तम श्रद्धा के साथ राजर्षि की स्तुति करते हुए (तथा उनकी) प्रदक्षिणा करते हुए, देवेन्द्र ने बार-बार वन्दना की।

६०. इसके पश्चात्, मुनिवर (नमि राजर्षि) के चक्र व अंकुश के चिन्ह वाले चरणों में वन्दना करने के बाद, ललित व चपल कुण्डल व मुकुट धारण करने वाला (देवेन्द्र) आकाश (मार्ग) से उड़ कर चला गया।

मूल : **नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।**
चइऊण गेहं च वेदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ।। ६१ ।।

संस्कृत : नमिर्नमयत्यात्मानं, साक्षाच्छक्रेण चोदितः।
त्यक्त्वा गृहं च वैदेहीं, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ।। ६१ ।।

मूल : **एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।**
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ।। ६२ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स नमी राजर्षिः ।। ६२ ।।
इति ब्रवीमि।

६१. (इस प्रकार) नमि (राजर्षि) ने अपनी आत्मा को (अर्थात् स्वयं को, आत्मतत्व-भावना से संयमादि के प्रति) झुका दिया- समर्पित कर दिया। साक्षात् इन्द्र ने भी (संयम से विचलित करने हेतु) प्रेरित किया, (तो भी) घर-बार तथा वैदेही (मिथिला नगरी व राज्यश्री) को छोड़कर श्रामण्य (मुनि-चर्या) में प्रतिष्ठित हो गए।

६२. (मिथ्यात्व नष्ट होने से) सम्बुद्ध, पण्डित (शास्त्रज्ञ) व विचक्षण (मुनि-चर्या में अभ्यास अर्जित प्रवीणता वाले) साधक ('नमि' की तरह) ऐसा ही (मुनि-दीक्षा स्वीकार करने का) कार्य किया करते हैं। उन (नमि राजर्षि) की तरह (वे) भोगों से निवृत्त हो जाते हैं।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

मिथिला के राजा 'नमि' पूर्वजन्म की स्मृति होने से स्वयं सम्बुद्ध हो गये। उन्होंने अपने पुत्र को राज्याभिषिक्त कर, प्रव्रज्या हेतु निष्क्रमण किया। नमि राजर्षि के समक्ष देवेन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर उपस्थित हुए और उन्होंने कुछ प्रश्न पूछे। नमि राजर्षि ने समीचीन युक्तियों से उनका समाधान किया। राजर्षि ने कहा, "मुझ पर आश्रित परिवार व राज्याश्रित प्रजा मोह व राग-वश शोक कर रही है। यह शोक उपेक्षा के योग्य है। प्रव्रज्या धारण कर मैं मोह व राग के बन्धन तोड़ने की दिशा में स्व-पर-हित-साधन की दृष्टि से बढ़ रहा हूं। महल व अंत: पुर के जलने से मेरा कुछ नहीं जलता। मैं अकिंचन हूं। बाह्य सुरक्षा से आत्मिक सुरक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। कर्म-शत्रुओं से आत्मिक सुरक्षा हेतु मैंने श्रद्धा-रूपी नगरी के प्रथम आदि द्वारों पर तप व संवर की अर्गला लगा दी है। क्षमा का दृढ़ कोटा बना दिया है। तीनों गुप्तियों (की खाइयों) से इसे सुरक्षित व अपराजेय बना दिया है। मेरे आत्म-पराक्रम के धनुष की प्रत्यंचा ईर्या समिति है। इस पर तप रूपी बाणों के संधान से कर्म-शत्रुओं के कवच भेदने मैं निकला हूं। यह संसार तो रास्ता है और रास्ते में घर बनाना मूर्खता है। मुक्ति-धाम में पहुंच कर मैं शाश्वत घर बनाऊंगा। स्वच्छन्द इन्द्रियां व मन ही वास्तविक चोर, डाकू, लुटेरे हैं। इन्हीं का दमन सच्ची सुरक्षा है। आंतरिक शत्रु ही वास्तविक शत्रु हैं। इन्द्रियों व कषायों पर विजय ही सच्ची विजय है। यज्ञ-दान आदि से संयम-पालन श्रेयस्कर है। मासखमण करते हुए पारणे में कुश-नोक पर आने जितना आहार लेने वाले गृहस्थ का व्रत सम्यक् चारित्र रूपी धर्म की सोलहवीं कला की समता भी नहीं कर सकता। वास्तविक तृप्ति धन-धान्य से नहीं अपितु निराकांक्षता से ही सम्भव है। तप व संयम से निराकांक्षता का उदय होता है। समस्त काम-भोग विष व आशीविष के तुल्य हैं। दुर्गति-कारक हैं। त्याज्य हैं। अत: मेरा प्रव्रज्या ग्रहण करना सर्वथा उचित है।" वास्तविक रूप में आ कर देवेन्द्र ने राजर्षि नमि की प्रव्रज्या व उनके गुणों की स्तुति करते हुए वन्दना की और आकाश-मार्ग से स्वस्थान की ओर चला गया। प्रबुद्ध साधक राजर्षि नमि के समान श्रामण्य-भाव में स्थिर व आत्म-साधना में लीन होते हैं।

❑❑

अध्ययन–10

द्रुमपुत्रक

अध्ययन परिचय

सैंतीस गाथाओं से निर्मित हुआ है प्रस्तुत अध्ययन। इस का केन्द्रीय विषय है–नश्वर जीवन के सम्यक् उपयोग हेतु सतत जागरूकता। पेड़ का सूखा पत्ता जीवन की नश्वरता का प्रतीक भी है और प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा का प्रथम शब्द भी। सूख जाने पर पत्ता हवा के हल्के झोंके से ही पेड़ से अलग हो जाता है। आयुष्य-कर्म भोग लेने पर जीव भी शरीर से अलग हो जाता है। जिसने शरीर धारण किया, वह उसे छोड़ेगा भी। जन्म के साथ ही मृत्यु निश्चित हो जाती है। मृत्यु जन्म का ही दूसरा पक्ष है।

पूर्णत: प्रमाद-ग्रस्त व्यक्ति के लिये यह एक तथ्य मात्र है। उपेक्षणीय है। थोड़े-से भी जागरूक व्यक्ति के लिये यह एक ऐसा सत्य है, जिस में पूरे जीवन को निर्धारित करने की शक्ति है। क्षण-प्रतिक्षण व्यतीत होते जीवन का सदुपयोग शीघ्रातिशीघ्र कर लेने की चेतावनी है। आत्मा की आगामी यात्रा को मंगलमय बनाने के लिये इस जीवन के एक-एक क्षण में सचेत रहने का बहुमूल्य सुझाव है। नश्वर संसार व शरीर से स्वयं को उन्मुख कर अक्षय आत्मा व धर्म के सम्मुख करने का दिशा-निर्देश है। आत्मा को निर्मल अवस्था तक पहुंचाने वाला वैराग्य का आधार है।

नश्वरता एक तथ्य मात्र नहीं है। नश्वरता एक विचार भी है। ज्ञान भी है। प्रेरणा भी है। नश्वरता को सम्यक् दृष्टि से देखने वाला साधक नश्वरता का भी अनश्वर प्रयोजन-सिद्धि के हित में उपयोग करता है। जीवन को वह जन्म-मृत्यु से मुक्ति का साधन बना देता है। यह तभी संभव है जब वह क्षण-मात्र के लिये भी प्रमाद-ग्रस्त न हो। कण-मात्र प्रमाद भी उसके जीवन में न हो। नश्वरता से मुक्ति का लक्ष्य सदैव उसके मानस-नेत्रों में रहे। उसे संचालित करता रहे।

भगवान् महावीर के प्रथम गणधर और ज्येष्ठ शिष्य थे–इन्द्रभूति गौतम। वे तपस्वी थे। तेजस्वी थे। अनेक लब्धियों से सम्पन्न थे। निश्छल थे। धर्म-संघ को समर्पित थे। प्रभु-वाणी के विलक्षण व्याख्याता थे। अनेक भव्य आत्माओं के उद्धारक थे। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-विभूषित थे। जिन-शासन के आदर्श प्रभावक थे। उन्होंने अपने से कनिष्ठ साधु-पर्याय वाले अनेक मुमुक्षुओं को भी अपने से पहले केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त करते देखा था। उन्हें वन्दना की थी। इस वन्दना के प्रकाश में अपनी आत्मा की मुक्ति-यात्रा पर प्रश्न-चिन्ह लगाया था।

जीवन के इस मोड़ पर भी भगवान् महावीर ने उन्हें समाधान प्रदान किया था। उन के माध्यम से सभी मुमुक्षुओं को रास्ता दिखाया था। व्यक्ति और युग को एक साथ प्रतिबोधित किया था। वर्तमान और भविष्य को एक साथ सम्यक्त्व की दिशा प्रदान की थी। नश्वरता को अप्रमाद का स्रोत बताया था। नश्वरता का सार्थकतम उपयोग किया था।

गौतम स्वामी का भगवान् महावीर के प्रति सूक्ष्म राग था, जो उन के 'यथाख्यात चारित्र' का प्रतिबन्धक होते हुए उनकी केवल-ज्ञान-प्राप्ति में बाधक था। भवसागर में स्वयं तैरते और दूसरों को तैराते हुए गौतम सागर के किनारे तक पहुंच चुके थे। पानी टखनों तक उतर चुका था। वहीं वे ठिठक गये। जिन्हें उन्होंने तैरना सिखाया था, उन्हें किनारे तक जाते हुए देखते रहे। अपने से आगे निकलते देखते रहे। प्रभु ने उन पर अंतिम कृपा भी की। ज्ञान का हाथ उनकी ओर बढ़ाया। गौतम ने उसे थामा। उस हाथ के प्रति उनका सूक्ष्म राग समाप्त हुआ। थोड़ा-सा शेष प्रमाद भी समाप्त हुआ। थोड़ा सा शेष पानी भी समाप्त हुआ। कैवल्य प्राप्त हो गया। यथाख्यात चारित्र जगमगाने लगा।

प्रस्तुत अध्ययन भगवान् महावीर द्वारा गौतम स्वामी को दिया गया उद्‌बोधन है। यह प्रत्येक मुमुक्षु और प्रत्येक जिज्ञासु के लिये प्रासंगिक है। **इस से मनुष्य को अपनी दुर्लभ एवम् वास्तविक सम्पदा का बोध होता है। समय की मूल्यवत्ता का अनुभव होता है। उसके सच्चे उपयोग की दृष्टि मिलती है। यह आश्वस्ति मिलती है कि इस दृष्टि से जी कर कोई भी गौतम हो सकता है।**

क्षण-मात्र के प्रमाद का भी यहां बारम्बार निषेध किया गया है। यह आवृत्ति ही नहीं है। वस्तुत: प्रत्येक निषेध के अर्थ में पहले किये गये निषेध या निषेधों की अर्थ-ऊर्जा भी सम्मिलित है। इसलिये प्रमाद-निषेध वही होने पर भी उसकी गम्भीरता उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती जाती है। उसका प्रकाश उत्तरोत्तर सघन होता जाता है। उसकी प्रभाव-क्षमता उत्तरोत्तर व्यापक और गहन होती जाती है। यह एक महान् कविता का कलात्मक ढांचा है।

अनेक सत्य हैं जीवन के, जिन का एक ही निष्कर्ष है—अप्रमत्त रहो। वे सभी सत्य यहां उजागर हुए हैं। उन का ज्ञान देने के साथ-साथ प्रमाद के अनेक रूपों से बचने, दुर्लभ सच्ची सम्पदा का सदुपयोग करने और सम्यक् राह पर क्षण-प्रतिक्षण जीवन के अग्रसर होते रहने की वांछनीय अनिवार्यता को रेखांकित करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह दुमपत्तयं दसमं अज्झयणं

(अथ द्रुमपत्रकं दशममध्ययनम्)

मूल : **दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।**
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ।। १ ।।

संस्कृत : द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये।
एवं मनुष्याणां जीवितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १ ।।

मूल : **कुसग्गे जह ओसविंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।**
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ।। २ ।।

संस्कृत : कुशाग्रे यथावश्यायबिन्दुः, स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः।
एवं मनुजानां जीवितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। २ ।।

मूल : **इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।**
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम! मा पमायए ।। ३ ।।

संस्कृत : इतीत्वर आयुषि, जीवितके बहुप्रत्यपायके।
विधुनीहि रजः पुराकृतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। ३ ।।

मूल : **दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।**
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए ।। ४ ।।

संस्कृत : दुर्लभः खलु मानुषो भवः, चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।
गाढाश्च विपाककर्मणां, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। ४ ।।

मूल : **पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ।। ५ ।।

संस्कृत : पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। ५ ।।

दसवाँ अध्ययन :
द्रुमपत्रक

१. (जिस प्रकार, दिवस और रात्रियों) के समूह बीत जाने पर, वृक्ष का पत्ता सफेद-पीला होता हुआ (डाली से) गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है (जो आयु-काल का अन्त आने पर एक दिन समाप्त हो ही जाता है, इसलिए) हे गौतम! समय (क्षण) भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२. जिस प्रकार, कुश की नोक पर अवलम्बित ओस का बिन्दु थोड़ी (ही) देर (वहां) ठहर पाता है, उसी तरह मनुष्यों का जीवन (क्षणिक या अल्प अवधि तक ही स्थायी) है। (अतः) हे गौतम! समय (क्षण) भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३. इस तरह, अल्पकालीन आयु में, और बहुत-से विघ्नों वाले जीवन में पूर्व-कृत (कर्म) रज को दूर करो। (इस कार्य में) हे गौतम! समय (क्षण) भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

४. सभी प्राणियों को चिर समय तक भी मनुष्य-भव (की प्राप्ति) निश्चय ही दुर्लभ है। कर्मों का विपाक (भी) प्रगाढ़ (तीव्र) होता है, (इस दृष्टि से) हे गौतम! समय (क्षण) भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

५. पृथ्वीकाय में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः (अधिक से अधिक) असंख्यात (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) काल तक (वहीं अनवरत मरते-जन्मते हुए) रहता है, (इसलिए) हे गौतम! समय (क्षण) भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

मूल : **आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए।।६।।

संस्कृत : अप्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।।६।।

मूल : **तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए।।७।।

संस्कृत : तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।।७।।

मूल : **वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए।।८।।

संस्कृत : वायुकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।।८।।

मूल : **वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालमणंतदुरंतं, समयं गोयम! मा पमायए।।९।।

संस्कृत : वनस्पतिकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालमनन्तं दुरन्तं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।।९।।

मूल : **बेंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए।।१०।।

संस्कृत : द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।।१०।।

मूल : **तेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए।।११।।

संस्कृत : त्रीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।।११।।

६. (इसी तरह) अप्काय में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः असंख्यात (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

७. (इसी तरह) तेजस्काय (अग्नि) में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः असंख्यात (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

८. (इसी तरह) वायुकाय में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः असंख्यात (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

९. (इसी तरह) वनस्पति-काय में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः दुरन्त (दुःख से व्यतीत होने वाले) अनन्त काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१०. द्वीन्द्रिय-काय (तिर्यञ्च) में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः 'संख्यात' काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

११. त्रीन्द्रिय-काय (तिर्यञ्च) में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः 'संख्यात' काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

मूल : **चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम! मा पमायए ।। १२ ।।

संस्कृत : चतुरिन्द्रियकायमतिगतः उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १२ ।।

मूल : **पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
सत्तट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम! मा पमायए ।। १३ ।।

संस्कृत : पंचेन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
सप्ताष्टभवग्रहणानि, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १३ ।।

मूल : **देवे नेरइए य अइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।**
इक्केक्कभवगहणे, समयं गोयम! मा पमायए ।। १४ ।।

संस्कृत : देवान्नैरयिकांश्चातिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
एकैकभवग्रहणं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १४ ।।

मूल : **एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।**
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम! मा पमायए ।। १५ ।।

संस्कृत : एवं भवसंसारे, संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः।
जीवः प्रमादबहुलः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १५ ।।

मूल : **लद्धूण वि माणुसत्तणं, आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।**
बहवे दसुया मिलेक्खुया, समयं गोयम! मा पमायए ।। १६ ।।

संस्कृत : लब्ध्वापि मानुषत्वं, आर्यत्वं पुनरपिदुर्लभम्।
बहवो दस्यवो म्लेच्छाः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। ।१६ ।।

मूल : **लद्धूण वि आयरियत्तणं, अहीणपंचेंदियया हु दुल्लहा।**
विगलिंदियया हु दीसई, समयं गोयम! मा पमायए ।। १७ ।।

संस्कृत : लब्ध्वाप्यार्यत्वं, अहीनपंचेन्द्रियता हु दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता हु दृश्यते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १७ ।।

१२. चतुरिन्द्रिय-काय (तिर्यञ्च) में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः 'संख्यात' काल तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१३. पञ्चेन्द्रिय-काय (तिर्यञ्च) में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः सात-आठ भव (जन्म) ग्रहण करने तक (वहीं, अनवरत मरते-जन्मते हुए) रह जाता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१४. देव और नरक योनि में गया (जन्मा) हुआ जीव तो उत्कृष्टतः (मात्र) एक-एक भव (जन्म) ग्रहण करने तक रह पाता है। (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१५. इस प्रकार, प्रमाद की बहुलता वाला जीव (अपने ही) शुभ-अशुभ कर्मों के कारण 'भव' (अर्थात् जन्म-मरणमय) संसार में परिभ्रमण करता रहता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१६. मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी ''आर्यत्व' की प्राप्ति (तो) और भी (अधिक) दुर्लभ होती है। (क्योंकि मनुष्य होकर भी) बहुत-से (प्राणी) डाकू व म्लेच्छ (अर्थात् कर्म, क्षेत्र व जाति आदि से संस्कार-हीन-अनार्य) होते हैं। (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१७. 'आर्यत्व' प्राप्त करके भी पांचों इन्द्रियों की अविकलता (पूर्णता व स्वस्थता) का प्राप्त होना (तो) निश्चय ही दुर्लभ है। (क्योंकि अनेक मनुष्यों में) इन्द्रियों की विकलता (अपूर्णता-अस्वस्थता) दृष्टिगोचर होती है। (इसलिए) हे गौतम! समय (क्षण) भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

मूल : **अहीणपंचेंदियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।**
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए ।। १८ ।।

संस्कृत : अहीनपंचेन्द्रियत्वमपि स लभेत्, उत्तमधर्मश्रुतिर्हु दुर्लभा।
कुतीर्थिनिषेवको जनो, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १८ ।।

मूल : **लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।**
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए ।। १९ ।।

संस्कृत : लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं, श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। १९ ।।

मूल : **धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहया काएण फासया।**
इह कामगुणेहिं मुच्छिया, समयं गोयम! मा पमायए ।। २० ।।

संस्कृत : धर्ममपि हु श्रद्दधतः, दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः।
इह कामगुणेषु मूर्च्छिताः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। २० ।।

मूल : **परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।**
से सोयबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ।। २१ ।।

संस्कृत : परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्छोत्रबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। २१ ।।

मूल : **परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।**
से चक्खुबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए ।। २२ ।।

संस्कृत : परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्चक्षुर्बलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः ।। २२ ।।

१८. (यदि मनुष्य-भव में) पंचेन्द्रियों की अहीनता (पूर्णता-स्वस्थता) भी प्राप्त हो जाये, (तो भी) उत्तम धर्म का श्रवण (तो) निश्चय से (और भी अधिक) दुर्लभ होता है, (क्योंकि मनुष्यों में कई लोग विषयासक्त जनों की रुचि के अनुकूल विषय-सेवन आदि के उपदेशक तथाकथित) 'कुतीर्थिकों' की सेवा-उपासना करने वाले (दृष्टिगोचर) होते हैं। (इसलिए) हे गौतम! (जिन-धर्मानुष्ठान में) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

१९. उत्तम (धर्म की) श्रुति प्राप्त होने पर भी 'श्रद्धान' (तो) और भी (अधिक) दुर्लभ है। (क्योंकि धार्मिकों में कई) मिथ्यात्व का सेवन करने वाले हो जाते हैं। (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२०. (उत्तम) धर्म पर 'श्रद्धा' रखने वाले होने पर भी (उनमें) काया से स्पर्श करने वाले (अर्थात् तदनुरूप आचरण करने वाले) निश्चय ही दुर्लभ हैं। (क्योंकि) इस जगत् में अधिकतर श्रद्धालु (लोग) भी काम-गुणों में आसक्त (ही प्रायः दृष्टिगोचर) होते हैं। (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२१. (हे गौतम!) तेरा शरीर (प्रतिक्षण) जीर्ण (जराग्रस्त) होता जा रहा है, तुम्हारे केश (भी) सफेद होते जा रहे हैं, और सुनने की वह शक्ति भी (जो पहले थी, अब) क्षीण होती जा रही है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२२. तेरा शरीर (प्रतिक्षण) जीर्ण (जराग्रस्त) होता जा रहा है, तुम्हारे केश (भी) सफेद होते जा रहे हैं, और देखने की वह शक्ति भी (जो पहले थी, अब) क्षीण होती जा रही है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

मूल : **परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।**
से घाणबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए।। २३ ।।

संस्कृत : परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तद्घ्राणबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २३ ।।

मूल : **परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।**
से जिब्भबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए।। २४ ।।

संस्कृत : परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तज्जिह्वाबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २४ ।।

मूल : **परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।**
से फासबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए।। २५ ।।

संस्कृत : परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् स्पर्शबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २५ ।।

मूल : **परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।**
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए।। २६ ।।

संस्कृत : परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् सर्वबलं च हीयते, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २६ ।।

मूल : **अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते।**
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम! मा पमायए।। २७ ।।

संस्कृत : अरतिर्गण्डं विसूचिका, आतंका विविधाः स्पृशन्ति ते।
विपतति विध्वस्यते ते शरीरकं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २७ ।।

मूल : **वोच्छिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।**
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम! मा पमायए।। २८ ।।

संस्कृत : व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः, कुमुदं शारदमिव पानीयम्।
तत्सर्व-स्नेह-वर्जितः, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २८ ।।

२३. तेरा शरीर (प्रतिक्षण) जीर्ण (जराग्रस्त) होता जा रहा है, तुम्हारे केश (भी) सफेद होते जा रहे हैं, और सूंघने की वह शक्ति भी (जो पहले थी, अब) क्षीण होती जा रही है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२४. तेरा शरीर (प्रतिक्षण) जीर्ण (जराग्रस्त) होता जा रहा है, तुम्हारे केश (भी) सफेद होते जा रहे हैं, और जिह्वा की (रस चखने की) वह सामर्थ्य (जो पहले थी, अब) क्षीण होती जा रही है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२५. तेरा शरीर (प्रतिक्षण) जीर्ण (जराग्रस्त) होता जा रहा है, तुम्हारे केश (भी) सफेद होते जा रहे हैं, और स्पर्श (अर्थात् मृदु-कठोर, शीत-उष्ण आदि विविध स्पर्श सम्बन्धी अनुभव) की वह शक्ति (जो पहले रही, अब) क्षीण होती जा रही है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२६. तेरा शरीर (प्रतिक्षण) जीर्ण (जराग्रस्त) होता जा रहा है, तुम्हारे केश (भी) सफेद होते जा रहे हैं, और सभी (तरह की शारीरिक) वह शक्ति (जो पहले थी, अब) क्षीण होती जा रही है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२७. 'अरति' (अर्थात् वात-पित्त रोग आदि से उत्पन्न उद्विग्नता), फोड़ा-फुन्सी, हैजा-अतिसार (आदि जैसे) विविध आतंक (सद्यः प्राणहारक रोग) तुम्हें स्पर्श (आक्रान्त) कर (सक) ते हैं (जिनसे) तुम्हारे शरीर का पतन व विनाश हो (सक) ता है, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२८. जिस प्रकार, शरत्कालीन 'कुमुद' (चन्द्र को देखकर विकसित होने वाला रक्त-कमल) पानी (में उत्पन्न होकर भी, पानी से ऊपर उठ कर, उस) को (स्पृष्ट नहीं करता हुआ निर्लिप्त रहता है) उसी प्रकार तुम अपने 'स्नेह' का विच्छेद कर दो, (और)

मूल : **चिच्चा णं धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं।**
मा वंतं पुणो वि आविए, समयं गोयम! मा पमायए।। २९।।

संस्कृत : त्यक्त्वा खलु धनं च भार्यां, प्रव्रजितोह्यस्यनगारिताम्।
मा वान्तं पुनरप्यापिब, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। २९।।

मूल : **अवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउलं चेव धणोहसंचयं।**
मा तं बिइयं गवेसए, समयं गोयम! मा पमायए।। ३०।।

संस्कृत : अपोह्य मित्रबान्धवं, विपुलं चैव धनौघसंचयम्।
मा तद् द्वितीयं गवेषय, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। ३०।।

मूल : **न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए।**
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम! मा पमायए।। ३१।।

संस्कृत : न हु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो हु दृश्यते मार्गदेशितः।
सम्प्रति नैय्यायिके पथि, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। ३१।।

मूल : **अवसोहिय कंटगापहं, ओइण्णो ऽसि पहं महालयं।**
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम! मा पमायए।। ३२।।

संस्कृत : अवशोध्य कंटकपथं, अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं।
गच्छसि मार्गं विशोध्य, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। ३२।

मूल : **अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमे ऽवगाहिया।**
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम! मा पमायए।। ३३।।

संस्कृत : अबलो यथा भारवाहकः, मा मार्गं विषममवगाह्य।
पश्चात्पश्चादनुतापकः, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। ३३।।

सभी स्नेहों से रहित होकर (स्वधर्मानुष्ठान में) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

२९. धन व पत्नी (आदि) को छोड़ कर तुम 'अनगारता' हेतु प्रव्रजित (घर से निकले) हुए हो। (उन) वमन किये हुए (धनादि काम-भोगों) का पुनः मत पान करो। हे गौतम! (स्वधर्मानुष्ठान में) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३०. मित्र, बान्धव तथा विपुल धन-राशि के संचय का परित्याग कर, दुबारा उनकी गवेषणा (प्राप्ति की इच्छा या चेष्टा) मत करो। हे गौतम! (स्वधर्मानुष्ठान में) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३१. (भविष्य काल में तो लोग कहा करेंगे कि) "आज 'जिन' (तीर्थंकर तो) दृष्टिगोचर हो नहीं रहे हैं, और जो मार्ग-दर्शक हैं (भी, वे) अनेक मतों (विचारों व मतान्तरों) वाले (एवं एकमत न रखने वाले) दीख रहे हैं" (या, ऐसा कहा करेंगे कि "हमारे सामने तीर्थंकर तो हैं नहीं, मात्र उनका मोक्षदायक मार्ग है"), (किन्तु) आज (तो तुझे, उपदेष्टा तीर्थंकर की उपस्थिति में, उनका) न्यायसंगत (या दुःख को क्षीण करने तथा संसार-सागर को पार कराने वाला) मार्ग (भी प्राप्त है, उस) में हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३२. कांटों के मार्ग को छोड़ कर 'महालय' मार्ग (तीर्थंकर आदि महापुरुषों द्वारा सेवित विशाल राजमार्ग) पर चल पड़े हो, (अतः उसी) मार्ग पर दृढ़ निश्चय के साथ चलते चलो, हे गौतम! (इसमें) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३३. अबल (बलहीन) भारवाहक की तरह, तुम विषम (ऊबड़-खाबड़) मार्ग में न चले जाना। (अन्यथा) बाद में पश्चाताप करने वाला होना पड़ेगा, (इसलिए) हे गौतम! क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

मूल : **तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।**
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए।। ३४ ।।

संस्कृत : तीर्णोसि खलु अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः?
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। ३४ ।।

मूल : **अकलेवरसेणिमूसिया, सिद्धिं गोयम! लोयं गच्छसि।**
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं गोयम! मा पमायए।। ३५ ।।

संस्कृत : अकलेवरश्रेणिमुच्छित्य, सिद्धिं गौतम! लोकं गच्छसि।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं, समयं गौतम! मा प्रमादीः।। ३५ ।।

मूल : **बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे व संजए।**
सन्तीमग्गं च बूहए, समयं गोयम! मा पमायए।। ३६ ।।

संस्कृत : बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः, ग्रामगतो नगरे वा संयतः।
शान्तिमार्गं च बृंहये, समयं गौतम मा! प्रमादीः।। ३६ ।।

मूल : **बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठ-पओवसोहियं।**
रागं दोसं च छिंदिया, सिद्धिगइं गए गोयमे।। ३७ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : बुद्धस्य निशम्य भाषितं, सुकथितमर्थपदोपशोभितम्।
रागं द्वेषं छित्त्वा, सिद्धिगतिं गतो गौतमः।। ३७ ।।
इति ब्रवीमि।

३४. हे गौतम! तुम अति-विशाल सागर को (तो) पार कर (ही) चुके हो, (अब) तीर पर (जैसे) पहुंचकर (भी) क्यों खड़े हो गए हो? पार जाने के लिए शीघ्रता करो, (और) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३५. हे गौतम! अशरीरी होने की विचार-श्रेणी (क्षपक-श्रेणी) पर आरूढ़ होकर तुम कल्याणकारी, 'शिव' स्वरूप व अनुत्तर 'सिद्धि' (नामक) लोक(सिद्धालय) को प्राप्त करोगे। (इसलिए) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३६. (हे गौतम!) गांव में (रहो) या नगर में, संयत (सम्यक् यतनाशील, पाप-विरत व अनासक्त), प्रबुद्ध (तत्वज्ञ) और उपशान्त होकर विचरण करो, और शान्ति-मार्ग (दशविध यति-धर्म, निर्वाण व उपशम के मार्ग) को संवर्द्धित करो, हे गौतम! (इस कार्य में) क्षण भर का (भी तुम) प्रमाद न करो।

३७. प्रबुद्ध (भगवान् महावीर) की अर्थप्रधान पदों से अलंकृत, तथा सुन्दर रीति से कही गई वाणी को श्रवण कर, राग-द्वेष का उच्छेद करते हुए गौतम स्वामी ने सिद्धि-गति (मोक्ष) को प्राप्त किया।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

वृक्ष के पके पत्ते की तरह तथा कुशाग्र स्थित जल-बिन्दु की तरह जीवन नश्वर है। अल्पकालिक यह जीवन भी अनेक प्रकार के विघ्नों से भरा होता है। इसलिये आत्म-कल्याणकारी साधना का जो कुछ भी थोड़ा-बहुत अवसर प्राप्त हो, उसे व्यर्थ गंवाना उचित नहीं। इस दृष्टि से क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

दुष्कर्मों का परिणाम विनाशकारी होता है। उसके फलस्वरूप एकेन्द्रिय व तिर्यंच योनियों में सुदीर्घ काल तक या कभी चिरकाल तक भ्रमण करना पड़ सकता है, अत: मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। प्रमादी जीव प्रमाद-वश अपने शुभ-अशुभ कर्मों के कारण संसार में निरन्तर भ्रमण करता रहता है और कभी मुक्त नहीं हो पाता।

दुर्लभ मनुष्य-जन्म मिलने पर भी, इन्द्रियों की स्वस्थता, उत्तम धर्म-श्रवण का अवसर, धर्म के प्रति श्रद्धा–ये क्रमश: उत्तरोत्तर अधिकाधिक दुर्लभ होते हैं। धर्म श्रद्धा होने पर भी काम-भोगों में आसक्ति होने के कारण धर्माचरण की प्रवृत्ति तो और भी अधिक दुर्लभ है।

जो अनगार-चर्या को वरण करने के लिये काम-भोगों को त्याग चुका है, अपने चिर-परिचितों व भौतिक सम्पदा के प्रति स्नेह तोड़ चुका है, वह यदि पुन: प्रमाद कर काम-भोगादि के प्रति आसक्त हो जाता है तो वह मानों अपने वमन किये हुए को ही पीता है। इस दृष्टि से भी अनगार साधु को क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

आज तो साक्षात् जिनेन्द्र तथा उनके द्वारा उपदिष्ट न्याय-मार्ग उपलब्ध है, भावी पीढ़ियों के लिये यह स्थिति कहीं सुलभ न हो, अत: प्राप्त सुअवसर में क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। हे गौतम! तू तो महान् संसार-समुद्र को पार करते हुए किनारे पहुंच चुका है। जब लक्ष्य अतिनिकट आ चुका हो तो भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

उक्त भगवद्-वचन को श्रवण व हृदयंगम करने वाले गौतम स्वामी ने रागादि का उच्छेद कर मुक्ति प्राप्त की।

❑❑

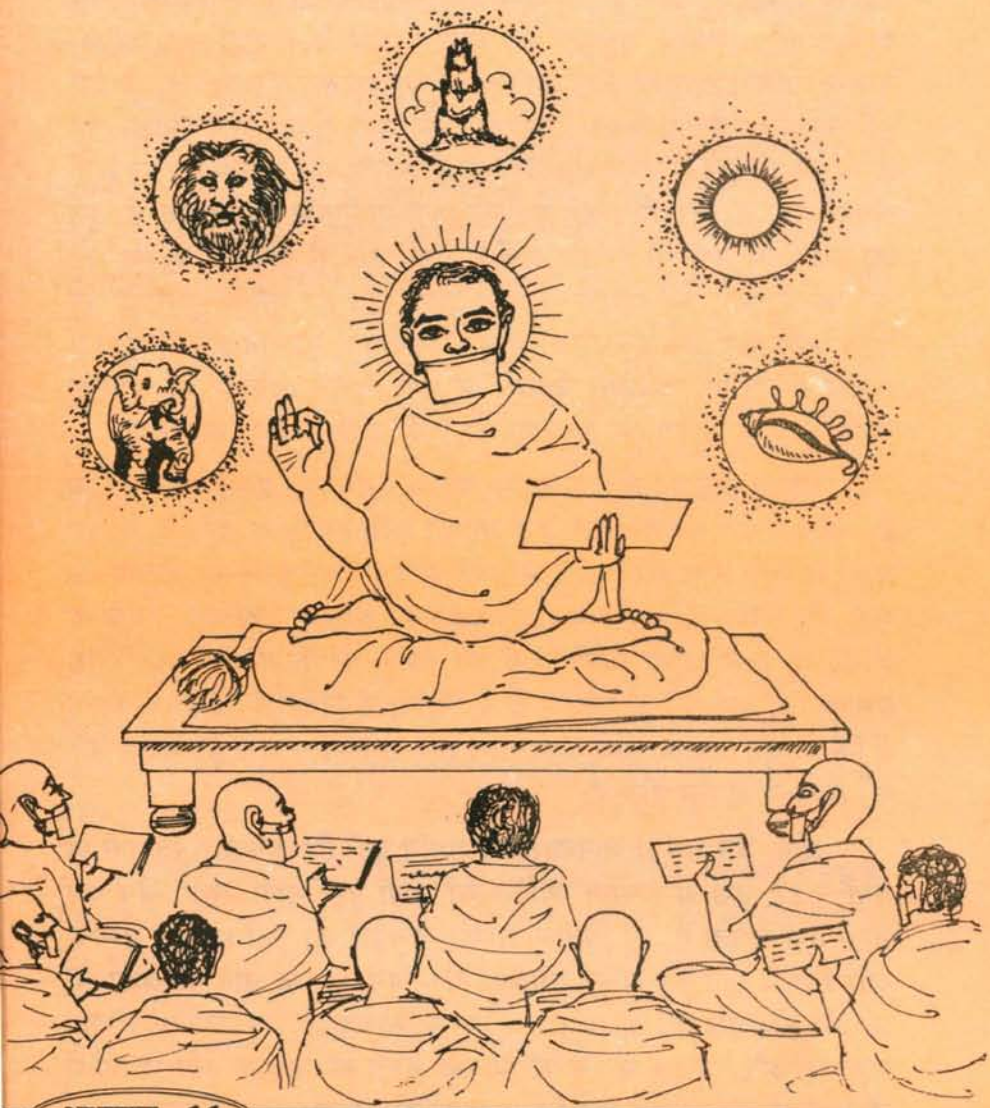

अध्ययन–11

बहुश्रुत-पूजा

अध्ययन परिचय

बत्तीस गाथाओं से यह अध्ययन निर्मित हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है—ज्ञान-प्राप्ति के उपायों, विशिष्ट ज्ञानी के महत्त्व एवम् बहुमान की प्ररूपणा। 'बहुश्रुत' का सामान्य अर्थ है—विशुद्ध श्रुत-चारित्र-सम्पन्न विशिष्ट शास्त्रार्थ-विज्ञ व्यक्ति। पारिभाषिक रूप में उत्कृष्टतः नौ-दस पूर्वों तक के (अर्थतः व शब्दतः) ज्ञानी को, और मध्यमतः वृहत्कल्प व्यवहार-सूत्र के ज्ञाता को 'बहुश्रुत' कहा जाता है। आचार प्रकल्प और निशीथ सूत्र का ज्ञाता जघन्य श्रेणी का होता है। चौदह पूर्वों का ज्ञाता सर्वोत्कृष्ट बहुश्रुत होता है। श्रुत का एक अर्थ ज्ञान भी है। इस अर्थ में बहुत ज्ञान से सम्पन्न 'बहुश्रुत' है। स्व-पर-कल्याण की साधना में सतत तत्पर रहते हुए मुक्ति या सिद्धि को वरण करने वाले होने के कारण 'बहुश्रुत' स्वभावतः पूजनीय होते हैं। पूजा से आशय है—विनीत व्यवहार। बहुश्रुतों के प्रति विनीत व्यवहार की रूपरेखा स्पष्ट करने के कारण इस अध्ययन का नाम 'बहुश्रुत-पूजा' रखा गया।

बहुश्रुत होने का अर्थ निज-पर-कल्याण में समर्थ एवम् पूजनीय होना है। यदि समर्थ व पूजनीय होना है तो बहुश्रुत बनो। यह प्रेरणा देने और बहुश्रुत बनने का मार्ग स्पष्ट करने वाला अध्ययन होना इस नामकरण के औचित्य का एक और आधार है। इसीलिये यहां बहुश्रुत की श्रेष्ठता, तेजस्विता, आत्मिक शक्ति व अन्य प्रमुख विशेषताओं का वर्णन भी किया गया है। विविध प्रभावशाली उपमाओं के माध्यम से ये विशेषतायें निरूपित हुई हैं। ये बताती हैं कि बहुश्रुत होने का अर्थ असाधारण ज्ञान से सम्पन्न होना है। केवल ज्ञान की दिशा में अग्रसर होना है।

ज्ञान, जैन धर्म में जानकारी का पर्याय नहीं है। जानकारी कितनी ही क्यों न हो, उस से सम्पन्न व्यक्ति को ज्ञानी नहीं माना जाता। जैन धर्म ज्ञानी उसे मानता है, जो विवेक-सम्मत व्यवहार का धनी हो। जो सम्यक् और मिथ्या ज्ञान का अन्तर समझता हो। जिसे सम्यक् ज्ञान पर श्रद्धा भी हो और विश्वास भी। जो आचरण में ज्ञान का सम्यक् उपयोग करने की योग्यता रखता हो और व्यवहार में उसे प्रतिबिम्बित करता हो। व्यवहार और भावना से जो ज्ञान युक्त न हो, वह चाहे जितना महान् हो, सच्चा ज्ञान नहीं होता।

बहुश्रुत सच्चा ज्ञानी होता है। इसीलिये उसका ज्ञान प्रभाव-क्षमता से भरपूर होता है। अनेक गुणों से सम्पन्न होता है। स्पष्ट होता है। निर्मल होता है।

निर्बाध होता है। शुभ होता है। तेजस्वी होता है। अजेय होता है। प्रभावक होता है। बलशाली होता है। प्रतिष्ठित होता है। धर्म की शोभा होता है। गुण-वृद्धि-कारक होता है। लब्धि-सम्पन्न होता है। उत्थान-कारी होता है। पूज्य होता है। यशस्वी होता है। अभय-दायक होता है। मधुर होता है। मुक्ति-प्रदाता होता है। सार्थक होता है।

बहुश्रुत होना बच्चों का खेल नहीं है। गम्भीर चुनौती है। इसे स्वीकार करने के लिये ज्ञान-प्राप्ति की बाधाओं से सचेत रहना जितना आवश्यक है, उतना ही ज्ञान-प्राप्ति के साधक गुणों की साधना करना भी आवश्यक है। अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग व आलस्य से दूर होना आवश्यक है। गम्भीरता, सच्चरित्रता, रस-परित्याग, सत्य-परायणता व शान्त-दान्त होने की स्थिति को पाना आवश्यक है। मन के घोड़े को यह समझाना आवश्यक है कि उसका मार्ग विषय-भोगों की ओर जाने वाला सुविधाजनक मार्ग नहीं है। उसका मार्ग तप-त्याग की ओर जाने वाला कष्टकर मार्ग है। महत्त्वपूर्ण सांसारिक उपलब्धियां भी सुविधा से प्राप्त नहीं होतीं। वे भी सजग परिश्रम की मांग करतीं हैं। फिर 'बहुश्रुत' होना तो आत्मा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उसके लिये तो तप-त्याग की अपेक्षा स्वाभाविक ही है।

व्यक्तिगत दृष्टि से बहुश्रुत को मोक्ष और सामाजिक दृष्टि से पूजनीय पद-प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। वह स्वयं तो कैवल्य तक पहुंचता ही है, दूसरों को अज्ञान से केवल-ज्ञान तक पहुंचने के लिये सोपान का ज्ञान भी प्रदान करता है। उन की उन्नति का निर्धारण भी करता है। इसलिये बहुश्रुत होना केवल अपने लिये नहीं, दूसरों के लिये भी आवश्यक है। वांछनीय है। धर्मसंघ के लिये भी वांछनीय है।

बहुश्रुत कौन हो सकता है? कब हो सकता है? कैसे हो सकता है? उसके लिये क्या-क्या न करना और क्या-क्या करना अपेक्षित है? बहुश्रुत होने से क्या होता है? बहुश्रुत होने का आशय और महत्त्व क्या है? बहुश्रुत में कौन-कौन सी विशेषतायें होती हैं? बहुश्रुत का व्यक्तित्व कैसा होता है? इन तथा इन से संबद्ध अन्य अनेक प्रश्नों के उत्तर यहां प्राप्त होते हैं।

ज्ञान प्राप्त करने का ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ 'बहुश्रुत' के प्रति भरपूर आस्था उत्पन्न करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह बहुस्सुयपुज्जं एगारसं अज्झयणं

(अथ बहुश्रुतपूजमेकादशमध्ययनम्)

मूल : **संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।**
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।।१।।

संस्कृत : संयोगाद् विप्रमुक्तस्य, अनगारस्य भिक्षोः।
आचारं प्रादुःकरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे।।१।।

मूल : **जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।**
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए।।२।।

संस्कृत : यश्चापि भवति निर्विद्यः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
अभीक्ष्णमुल्लपति, अविनीतोऽबहुश्रुतः।।२।।

मूल : **अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।**
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य।।३।।

संस्कृत : अथ पंचभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते।
स्तंभात्क्रोधात्प्रमादेन, रोगेणालस्येन च।।३।।

मूल : **अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई।**
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे।।४।।

संस्कृत : अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरः।।४।।

ग्यारहवां अध्ययन : बहुश्रुत-पूजा

१. (सर्वविध बाह्य व आभ्यन्तर) संयोग (रूपी बन्धनों) से सर्वथा रहित, अनगार (गृह त्यागी) व भिक्षाजीवी (भिक्षु) के (लिए अपेक्षित) 'आचार' (बहुश्रुत-पूजा रूप उचित अनुष्ठान तथा 'विनय') को क्रमशः मैं प्रकट (निरूपित) करूंगा (जिसे तुम) मुझसे सुनो।

२. जो (कोई सम्यक् शास्त्र-ज्ञान रूप) 'विद्या' से रहित है, (और विद्यावान् है भी, तो) अभिमानी भी है, (सरस आहार आदि में) लोलुप है, (इन्द्रिय व मन आदि के) निग्रह से रहित है, बार-बार ऊलजलूल (असम्बद्ध) भाषण करता है और अविनीत है, वह 'अबहुश्रुत' है (अर्थात् 'बहुश्रुत' होने के योग्य नहीं है)।

३. जिन पांच कारणों से शिक्षा (विद्या) प्राप्त नहीं हो पाती, (वे हैं-) (१) अहंकार से, (२) क्रोध से, (३) प्रमाद से, (४) रोग से, तथा (५) आलस्य (उपेक्षा व लापरवाही) से।

४. आठ कारणों से (व्यक्ति) 'शिक्षा-शील' (अर्थात् शिक्षा में रुचि रखने वाला तथा शिक्षा-अभ्यास के योग्य)–कहलाता है:- (१) हंसी-मजाक करते रहने के स्वभाव वाला न हो, (२) सदा 'दान्त' (इन्द्रिय व मन पर नियन्त्रण कर सकने वाला) हो, और (३) जो (किसी के) 'मर्म' (लज्जाजनक व लोकनिन्दित आचरण से सम्बन्धित गुप्त बात) का प्रकाशन न करता हो,

मूल : **नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।**
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।। ५ ।।

संस्कृत : नाशीलो न विशीलः, न स्यादतिलोलुपः।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ।। ५ ।।

मूल : **अह चउद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए।**
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ।। ६ ।।

संस्कृत : अथ चतुर्दशसु स्थानेषु, वर्तमानस्तु संयतः।
अविनीत उच्यते स तु, निर्वाणञ्च न गच्छति ।। ६ ।।

मूल : **अभिक्खणं कोही भवइ, पबन्धं च पकुव्वई।**
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ।। ७ ।।

संस्कृत : अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ।। ७ ।।

मूल : **अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।**
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावयं ।। ८ ।।

संस्कृत : अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ।। ८ ।।

मूल : **पइन्नवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अनिग्गहे।**
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ।। ९ ।।

संस्कृत : प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकरः, अविनयीत्युच्यते ।। ९ ।।

५. (४) अशील (शील/चरित्र से हीन) नहीं हो, (५) विशील (कलुषित/दूषित चरित्र वाला) नहीं हो, (६) अत्यधिक (रस) लोलुपता रखने वाला नहीं हो, (७) अपराधी पर भी क्रोध नहीं करता हो, तथा (८) सत्य (या संयम) में रत (अर्थात् सत्यवादी व संयमी) हो।

६. (जो) संयमी (इन) चौदह तरीकों से बर्ताव करता है, (वह) 'अविनीत' कहलाता है, और वह निर्वाण को भी प्राप्त नहीं करता।

७. (१) जो बार-बार क्रोध करता रहता हो, और (जो) (२) 'प्रबन्ध' (अर्थात् क्रोध को लम्बे समय तक, निरन्तर गांठ-बांध कर, उस) को बनाए रखने वाला (या विकथा आदि में प्रवृत्त रहने वाला, तथा अल्प-सत्य बोलने वाला) हो, (३) मैत्री किये जाने पर (भी उसे) ठुकराता हो (या मित्रता को तोड़ देता हो), तथा (४) श्रुत-ज्ञान प्राप्त कर 'मद' (अहंकार) करता हो।

८. (५) (जो) किसी के 'पाप' (स्खलना/त्रुटि) को (सार्वजनिक रूप से) उछालने वाला, प्रकट करने वाला हो, (६) मित्रों पर भी (जो) कुपित होता हो, तथा (७) अत्यन्त प्रिय मित्र की भी (जो) एकान्त (परोक्ष) में बुराई करता हो।

९. (८) (जो) इधर-उधर की असम्बद्ध (बातें) बोलते रहने वाला हो (या पात्र-अपात्र की परीक्षा किए बिना ज्ञान देने वाला हो, 'एकान्त'-दूषित दुराग्रहपूर्ण भाषण करता हो), (९) द्रोह करता हो, (१०) अभिमानी हो, (११) रसलोलुप हो, (१२) जितेन्द्रिय नहीं हो, (१३) असंविभागी (अर्थात् गुरु व संघस्थ मुनियों को उचित भोजनादि न देकर, आत्म-पोषण का ही ध्यान रखने वाला) हो, तथा (१४) (अपने व्यवहार से) 'अप्रीति' उत्पन्न करने वाला हो, वह अविनीत कहलाता है।

मूल : **अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।**
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।। १० ।।

संस्कृत : अथ पंचदशभिः स्थानैः, सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपलः, अमाय्यकुतूहलः ।। १० ।।

मूल : **अप्पं च अहिक्खिवइ, पबन्धं च न कुव्वई।**
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ।। ११ ।।

संस्कृत : अल्पं चाधिक्षिपति, प्रबन्धं च न करोति।
मैत्रीयमाणो भजते, स श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ।। ११ ।।

मूल : **न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।**
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ।। १२ ।।

संस्कृत : न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेभ्यः कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याणं भाषते ।। १२ ।।

मूल : **कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए।**
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ।। १३ ।।

संस्कृत : कलहडमरवर्जकः, बुद्धोऽभिजातिकः।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः, सुविनीत इत्युच्यते ।। १३ ।।

१०. पन्द्रह कारणों से (साधक) 'सुविनीत' कहा जाता है। (वे कारण इस प्रकार हैं-) (१) (जो) नम्र/अनुद्धत होकर बर्ताव करने वाला (या गुरु से नीचे उठने-बैठने आदि की क्रिया करने वाला) हो, (२) (जो) (चलने-बैठने-बोलने आदि में) चपल/चंचल नहीं हो (तथा प्रारब्ध कार्य को पूरा करने में स्थिरचित्त हो), (३) (जो) मायावी (आहारादि-सम्बन्धी छल करने वाला) न हो, और (४) (जो इन्द्रियादि-विषयों व चमत्कार पूर्ण विद्याओं के प्रति, तथा नाटक, खेल-तमाशों आदि को देखने के प्रति) उत्सुकता न रखने वाला हो।

११. (५) (जो) किसी की निन्दा व तिरस्कार नहीं करता हो (या धर्म-प्रेरणा आदि कार्यों हेतु आवश्यकतानुरूप निन्दा-तिरस्कार आदि करना आवश्यक ही हो जाय, तो कम से कम करता हो), (६) और (जो) 'प्रबन्ध' (क्रोध को लम्बे समय तक, निरन्तर गांठ बांध कर, उस) को बनाए नहीं रखता हो, (७) मैत्री किये जाने पर कृतज्ञ भाव रखता हो, (८) श्रुत–ज्ञान को प्राप्त कर 'मद' नहीं करता हो।

१२. (९) (जो) किसी के 'पाप' (स्खलना या त्रुटि) को (सार्वजनिक रूप से) प्रकट न करता हो, (१०) (जो) मित्रों पर कुपित नहीं होता हो, (११) (जो) अप्रिय मित्र की भी एकान्त (परोक्ष) में अच्छी व भलाई की बात करता हो (यानी उसके गुणों का ही वर्णन करता हो)।

१३. (१२) कलह व 'डमर' (गाली-गलौज, हाथापाई, मारपीट आदि) का त्याग करता हो (अर्थात् इन कार्यों से अपने को दूर रखता हो), (१३) (जो) बुद्धिमान् (अवसरज्ञ) व कुलीन हो, (१४) (अनुचित कार्यों में) लज्जाशील (अर्थात् स्वाभाविक संकोच-वृत्ति रखने वाला) हो, (तथा जो) (१५) 'प्रतिसंलीन' (निरर्थक कार्यों में संलग्न न होकर, यथोचित कार्यों में ही प्रवृत्त रहने वाला) हो। (ऐसा-१५ प्रकार की प्रवृत्ति वाला-साधक ही) 'सुविनीत' कहलाता है।

मूल : **वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।**
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई।।१४।।

संस्कृत : वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवानुपधानवान्।
प्रियङ्करः प्रियंवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति।।१४।।

मूल : **जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ वि विरायइ।**
एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं।।१५।।

संस्कृत : यथा शंखे पयो, निहितं द्विधापि विराजते।
एवं बहुश्रुते भिक्षौ, धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम्।।१५।।

मूल : **जहा से कम्बोयाणं, आइण्णे कन्थए सिया।**
आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए।।१६।।

संस्कृत : यथा स काम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकःस्यात्।
अश्वो जवेन प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः।।१६।।

मूल : **जहाइण्ण-समारूढे, सूरे दढपरक्कमे।**
उभओ नन्दिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए।।१७।।

संस्कृत : यथाऽऽकीर्णसमारूढः, शूरो दृढपराक्रमः।
उभयतो नंदिघोषेण, एवं भवति बहुश्रुतः।।१७।।

मूल : **जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे।**
बलवन्ते अप्पडिहए, एवं हवइ बहुस्सुए।।१८।।

संस्कृत : यथा करेणुपरिकीर्णः, कुञ्जरः षष्टिहायनः।
बलवानप्रतिहतः, एवं भवति बहुश्रुतः।।१८।।

१४. (जो) हमेशा गुरु-कुल में (अर्थात् गुरु की आज्ञा के अधीन, तथा गुरु के गण-गच्छ में ही) रहता है, 'योग' (प्रशस्त धार्मिक प्रवृत्ति व ध्यान-समाधि) में संलग्न रहने वाला है, तथा 'उपधान' (श्रुत-अध्ययन से सम्बन्धित तप-विशेष) में निरत रहता है, तथा जो प्रियकारी व प्रियवादी होता है, वह (ही) शिक्षा प्राप्त करने योग्य होता है।

१५. जिस प्रकार शंख में रखा हुआ दूध, दोनों ही प्रकार से (अर्थात् स्वयं की तथा शंख की निर्मलता से) शोभा पाता है (अर्थात् विकार-रहित, निर्मल व स्वच्छ बना रहता है), उसी प्रकार, 'बहुश्रुत' भिक्षु में धर्म, कीर्ति तथा श्रुतज्ञान (भी निर्मल विकाररहित व निर्दोष बने रहते हैं)।

१६. जिस प्रकार, कम्बोज देश के घोड़ों में 'कन्थक' घोड़ा 'आकीर्ण' (अर्थात् शील, बल, रूप आदि गुणों से समृद्ध तथा उत्तम जाति वाला), एवं वेग/स्फूर्ति में उत्तम (कोटि का) होता है, उसी प्रकार 'बहुश्रुत' (भी विनय-शील आदि सद्गुणों से समृद्ध तथा ज्ञान व क्रिया में प्रखर व अस्खलित गति वाला) हुआ करता है।

१७. जिस प्रकार (उक्त) 'आकीर्ण' घोड़े पर चढ़ा हुआ, दृढ़ पराक्रमी, शूर-वीर (योद्धा, संग्राम में विजय के उपरान्त) दोनों ओर (अर्थात् दायें-बायें या आगे-पीछे) 'नान्दीघोष' (विजय-सूचक मांगलिक वाद्यों के साथ किये जाने वाले उद्घोषों) से (सुशोभित होता है), उसी प्रकार 'बहुश्रुत' (भी जिन-वचन रूपी घोड़े पर आरूढ़, अभिमानी वादियों पर विजय पाने के कारण मांगलिक जयघोष से तथा स्वाध्याय-रूपी उद्घोष से) सुशोभित हुआ करता है।

१८. जिस प्रकार, हथिनियों से घिरा हुआ साठ वर्षीय हाथी बलिष्ठ व अपराजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (स्थविर भी विशिष्ट बुद्धियों व विद्याओं से सेवित एवं शास्त्र-'वाद' में अपराजित) हुआ करता है।

मूल : **जहा से तिक्खसिंगे, जायखन्धे विरायइ।**
वसहे जूहाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए।।१६।।

संस्कृत : यथा स तीक्ष्णशृङ्गः, जातस्कन्धो विराजते।
वृषभो यूथाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः।।१६।।

मूल : **जहा से तिक्खदाढे, उदग्गे दुप्पहंसए।**
सीहे मियाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए।।२०।।

संस्कृत : यथा स तीक्ष्णदंष्ट्रः, उदग्रो दुष्प्रधर्षः।
सिंहो मृगाणां प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः।।२०।।

मूल : **जहा से वासुदेवे, संखचक्कगदाधरे।**
अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए।।२१।।

संस्कृत : यथा स वासुदेवः, शंखचक्रगदाधरः।
अप्रतिहतबलो योधः, एवं भवति बहुश्रुतः।।२१।।

मूल : **जहा से चाउरन्ते, चक्कवट्टी महिड्ढिए।**
चोद्दसरयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए।।२२।।

संस्कृत : यथा स चतुरन्तः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
चतुर्दशरत्नाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः।।२२।।

१९. जिस प्रकार, तीक्ष्ण सींगों तथा परिपुष्ट स्कन्धों वाला बैल (गो-वर्ग के पशुओं के) समूह का अधिपति होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी दोनों नयों या ज्ञान व क्रिया या स्वपर सिद्धान्त रूप तीक्ष्ण सींगों वाला, गच्छ/संघ के गुरुतर उत्तरदायित्व को वहन करने की सामर्थ्य से युक्त, तथा साधु-संघ का अधिपति होकर सुशोभित) होता है।

२०. जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, उदग्र (पूर्ण यौवन को प्राप्त व उत्कट) एवं दुष्पराजेय सिंह (वन्य) पशुओं में श्रेष्ठ (व प्रधान) होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी 'नय' रूप दाढ़ों से युक्त, प्रतिभा के चरमोत्कर्ष को प्राप्त, तथा अन्यतीर्थिकों से अपराजित) हुआ करता है।

२१. जिस प्रकार, शंख, चक्र व गदा का धारक 'वासुदेव' अबाधित शक्ति-बल से सम्पन्न एवं (महान्) योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी अहिंसा-संयम-तप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीन आध्यात्मिक गुणों/शक्तियों का धारक, विशिष्ट प्रतिभा-बल व आध्यात्मिक तेज से युक्त तथा कर्म-शत्रु विजेता) होता है।

२२. जिस प्रकार, 'चातुरन्त' (चारों दिशाओं की सीमा तक शासन करने वाला, या चतुर्विध सैन्य[1] द्वारा शत्रुओं का अन्त करने वाला) चक्रवर्ती (षट्खण्डाधिपति) महान् ऋद्धियों (व लब्धियों) से सम्पन्न, तथा चौदह रत्नों[2] का स्वामी होता है, उसी तरह बहुश्रुत (भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र -तप में अप्रतिहत सामर्थ्य वाला, चारों दिशाओं में विस्तृत कीर्ति वाला, तथा इसी चतुर्विध आध्यात्मिक बल से चतुर्विध कषाय-शत्रुओं व चारों गतियों का अन्त करने वाला, विशिष्ट ऋद्धियों व लब्धियों से सम्पन्न, तथा चौदह 'पूर्व' रूप ज्ञान-रत्नों का अधिपति) होता है।

---

१. हाथी, घोड़ा, रथ व पैदल योद्धा-ये चार प्रकार के सैन्य-अंग होते हैं।

२. सेनापति, गृहपति (या गाथापति), पुरोहित, हाथी, घोड़ा, सूत्रधार (बढ़ई), स्त्री, चक्र, छत्र, चर्म, मणि, काकिणी, खड्ग व दण्ड- ये १४ रत्न होते हैं।

मूल : **जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरन्दरे।**
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए।। २३।।

संस्कृत : यथा स सहस्राक्षः, वज्रपाणिः पुरन्दरः।
शक्रो देवाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः।। २३।।

मूल : **जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।**
जलन्ते इव तेएण, एवं हवइ बहुस्सुए।। २४।।

संस्कृत : यथा स तिमिर-ध्वंसकः, उत्तिष्ठन्दिवाकरः।
ज्वलन्निव तेजसा, एवं भवति बहुश्रुतः।। २४।।

मूल : **जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्तपरिवारिए।**
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए।। २५।।

संस्कृत : यथा स उडुपतिश्चन्द्रः, नक्षत्रपरिवारितः।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां, एवं भवति बहुश्रुतः।। २५।।

मूल : **जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए।**
नाणाधन्नपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए।। २६।।

संस्कृत : यथा स सामाजिकानां, कोष्ठागारः सुरक्षितः।
नानाधान्यप्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः।। २६।।

२३. जिस प्रकार, सहस्राक्ष (हजार आंखों वाला),[1] व्रजपाणि (हाथ में वज्र धारण करने वाला), तथा 'पुरन्दर' (शत्रुओं के नगरों को ध्वस्त करने वाला) इन्द्र (समस्त) देवों का स्वामी होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी हजारों नय-दृष्टियों से सम्पन्न, क्षमा रूपी वज्र का धारक, रागादि शत्रुओं द्वारा अधिष्ठित शरीर-रूपी नगर को तपश्चर्या से निर्बल करने वाला एवं देवोपम साधु-संघ का व दैवी सम्पदा का स्वामी) हुआ करता है।

२४. जिस प्रकार, (आकाश में) उदीयमान[2] अन्धकार-विनाशक सूर्य अपने तेज से प्रज्वलित (दृष्टिगोचर) होता है, उसी तरह बहुश्रुत (भी अज्ञानान्धकार का विनाशक, विशुद्ध अध्यवसाय व विशुद्ध लेश्याओं के परिणामों के उत्कर्ष को क्रमशः प्राप्त होता हुआ, द्वादशविध तपश्चरण के कारण उत्कृष्ट तेज वाला) हुआ करता है।

२५. जिस प्रकार, नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा नक्षत्रों (के परिवार) से घिरा हुआ (तथा) पूर्णिमा के दिन (षोडश कलाओं से) परिपूर्ण (होकर, शान्तिप्रद, आह्लादकारक रूप में सुशोभित) होता है, उसी प्रकार, बहुश्रुत (भी जिज्ञासु मुनियों के परिवार से घिरा हुआ तथा सम्यक्त्व आदि कलाओं से पूर्ण होता हुआ भव्य जनों के लिए शान्तिप्रद, व आह्लाददायक) हुआ करता है।

२६. जिस प्रकार, 'सामाजिकों' (सामूहिक रूप से, सहकारिता के आधार पर संगठित किसानों व व्यापारियों की सोसाइटियों व समुदायों) का कोठार (अन्न-भण्डार) अच्छी तरह रक्षित, तथा विविध धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी, कषाय रूपी चोरों के लिए दुष्प्रवेश्य, तथा समस्त संघ का जिस पर समान अधिकार हो-ऐसे विविध बहुमूल्य शास्त्रीय ज्ञान-भण्डार के रूप में सुशोभित) हुआ करता है।

---

१. इन्द्र के अधीन ५०० मन्त्री होते हैं, उन मंत्रियों की हजार आंखों के आधार पर इन्द्र को 'सहस्राक्ष' कहा गया है- ऐसा विद्वानों का विवेचन है।

२. 'उदीयमान' का अर्थ मध्यान्ह तक क्रमशः वर्द्धमान होने वाला सूर्य अभिप्रेत है।

मूल : **जहा सा दुमाण पवरा, जम्बू नाम सुदंसणा।**
अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए।।२७।।

संस्कृत : यथा सा द्रुमाणां प्रवरा, जम्बूर्नाम सुदर्शना।
अनादृतस्य देवस्य, एवं भवति बहुश्रुतः।।२७।।

मूल : **जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा।**
सीया नीलवन्तपवहा, एवं हवइ बहुस्सुए।।२८।।

संस्कृत : यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा।
शीता नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः।।२८।।

मूल : **जहा से नगाण पवरे, सुमहं मन्दरे गिरी।**
नाणोसहिपज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए।।२९।।

संस्कृत : यथा स नगानां प्रवरः, सुमहान्मन्दरो गिरिः।
नानौषधिप्रज्वलितः, एवं भवति बहुश्रुतः।।२९।।

मूल : **जहा से सयंभूरमणे, उदही अक्खओदए।**
नाणारयणपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए।।३०।।

संस्कृत : यथा स स्वयंभूरमणः, उदधिरक्षयोदकः।
नानारत्नप्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः।।३०।।

मूल : **समुद्दगम्भीरसमा दुरासया, अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।**
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया।।३१।।

संस्कृत : समुद्रगंभीरसमा दुरासदाः, अचकिताः केनापि दुष्प्रधर्षकाः।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिणः, क्षपयित्वा कर्मगतिमुत्तमां गताः।।३१।।

२७. जिस प्रकार, (व्यन्तर जाति के) 'अनादृत' (नाम के) देव का आश्रय-स्थान 'सुदर्शन' नामक जम्बू वृक्ष (समस्त) वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी, श्रुत-देवता का अधिष्ठान एवं समस्त साधुओं में श्रेष्ठ) हुआ करता है।

२८. जिस प्रकार 'सलिला' (सदैव जल-प्रवाह से परिपूर्ण) "शीता' नदी (अपने उद्गम-स्थान) 'नीलवान्' (मेरु के उत्तर में स्थित वर्षधर पर्वत) से प्रवाहित होकर, सागर की ओर जा (कर उसमें मिल)ने वाली, (एवं समस्त) नदियों में श्रेष्ठ होती है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी सदैव निर्मल श्रुत-ज्ञान का धारक, उत्तम आचार्य/गुरु कुलोत्पन्न, समस्त मुनियों में श्रेष्ठ, तथा साधना करते हुए अन्त में शुद्ध चैतन्य व मुक्ति में अधिष्ठित हो जाने वाला) होता है।

२९. जिस प्रकार, विविध (प्रकाशयुक्त) औषधियों से दीप्तिमान, तथा अत्यधिक महान् (विशाल व ऊंचा) मन्दर (मेरु) पर्वत (समस्त) पर्वतों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी सम्यक्त्व रूप प्रकाश को फैलाने वाले शास्त्रीय ज्ञान से तथा विविध ऋद्धि-लब्धियों से देदीप्यमान, श्रुतज्ञान व सद्गुणों के कारण से अत्यन्त महान् तथा समस्त साधुओं में श्रेष्ठ) हुआ करता है।

३०. जिस प्रकार, अक्षय जल-राशि वाला 'स्वयम्भूरमण' (नामक) समुद्र विविध रत्नों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (भी अगाध व अक्षय श्रुतज्ञान से पूर्ण, तथा विविध लब्धियों, सम्यक्त्व आदि रत्नों से सम्पन्न) हुआ करता है।

३१. समुद्र की गम्भीरता से समानता रखने वाले, (पर वादियों की) पहुंच से बाहर, (परीषहादि में) अविचलित व निर्भय, किसी से भी, दुष्पराजेय (या अजेय), विपुल श्रुत (ज्ञान) से पूर्ण, तायी/त्रायी (स्वयं के तथा षट्काय जीवों के रक्षक मुनि ही) कर्मों का क्षय कर उत्तम (सिद्ध) गति को प्राप्त हुए हैं।

मूल : **तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा, उत्तमट्ठगवेसए।**
जेणप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि।।३२।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : तस्माच्छ्रुतमधितिष्ठेत्, उत्तमार्थगवेषकः।
येनात्मानं परं चैव, सिद्धिं संप्रापयेत्।।३२।।
इति ब्रवीमि।

३२. इसलिए, उत्तमार्थ (श्रेष्ठ पुरुषार्थ - मोक्ष) की गवेषणा (साधना) करने वाला (साधक) 'श्रुत' का (अध्ययनादि द्वारा) आश्रय ग्रहण करे, जिससे (वह) स्वयं को तथा दूसरों को भी, सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करा सके।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

व्यक्ति की बहुश्रुतता या अबहुश्रुतता को, उसके व्यवहार में भी स्पष्ट देखा जा सकता है। अबहुश्रुत व्यक्ति सामान्यतः अभिमानी, रूप-रसादि में आसक्त, जितेन्द्रियता से रहित, सदैव असम्बद्धभाषी एवं अविनीत होता है। उसका अविनीत भाव व्यवहार में विविध रूपों में प्रकट भी होता है। इसके विपरीत 'बहुश्रुत' में समुद्रवत् ज्ञान की गम्भीरता होती है, वह परीषहों व मनोविकारों आदि से अविचलित, किसी भी परवादी से अपराजेय, निर्भय एवं षट्कायजीव-रक्षक होता है। 'विनय' के बल पर व्यक्ति सहजतया बहुश्रुतता प्राप्त कर लेता है।

'विनीत' वह है जो नम्र, चपलता-रहित, निश्छल, कौतूहल-प्रियता से रहित, किसी का तिरस्कार न करने वाला, क्रोध को दीर्घकाल तक टिकाये न रखने वाला, मैत्रीभाव रखने वाला होता है।

बहुश्रुत दूध से भरे शंख की तरह निर्मल धर्म, कीर्ति व श्रुत-ज्ञान से युक्त होता है, कम्बोज देश के विशुद्धजातीय घोड़ों की तरह श्रुत-शीलस्वरूप शक्ति से युक्त, दृढ़ पराक्रमी योद्धा की भांति विजय-वाद्यों से सुशोभित, साठ वर्ष के बलिष्ठ हाथी की तरह अपने बुद्धि/विद्या-सम्बन्धी बल के कारण दुर्जेय, तीक्ष्ण-श्रृंग व बलिष्ठ स्कन्धों वाले यूथाधिपति वृषभ की तरह स्वपर शास्त्र-विषयक तीक्ष्ण बुद्धि व गुरुतर उत्तरदायित्व-वहन की क्षमता से युक्त, नय-विज्ञता-प्रतिभादि गुणों के कारण वनराज सिंह की भांति दुर्जेय, विशिष्ट आयुध-धारक वासुदेव की भांति रत्नत्रयधारी व कर्म-शत्रु-विजेता, चतुर्दश रत्नों के अधिपति चक्रवर्ती की तरह चतुर्दश पूर्वों का ज्ञाता, विविध ऋद्धिलब्धि-सम्पन्न व यशस्वी, देवेन्द्र शक्र की तरह देव-पूज्य एवं दिव्य ज्ञान-सम्पदा से युक्त, उदीयमान सूर्य की तरह तपस्तेज से प्रज्वलित, पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सकलकला-सम्पन्न, धान से भरे कोष्ठागार की तरह ज्ञान का भण्डार, सुदर्शन जम्बू वृक्ष की तरह श्रेष्ठता-सम्पन्न, सीता नदी की तरह निर्मल श्रुतज्ञान-धारा से परिपूर्ण, विविध औषधि-युक्त मन्दराचल की तरह विविध लब्धियों से सम्पन्न तथा स्वयंभू रमण रत्नाकर की तरह अगाध ज्ञान-जल व ज्ञानादि-रत्नों से युक्त होता है।

चूंकि बहुश्रुतता व्यक्ति को 'मुक्ति' दिलाने में सहायक होती है, इसलिये मोक्षार्थी को चाहिए कि वह शास्त्राध्ययन का आश्रय ले ताकि अन्य लोगों को तथा स्वयं को संसार-समुद्र से पार उतार सके–मुक्ति दिला सके। ❑❑

अध्ययन–12

हरिकेशीय

अध्ययन परिचय

सैंतालीस गाथाओं वाले प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–जाति, कुल, रूप आदि के स्थान पर तप, त्याग, संयम और द्रव्य-यज्ञ के स्थान पर भाव-यज्ञ एवं श्रमण संस्कृति के महत्त्व की स्थापना। हरिकेशबल मुनि के श्रद्धेय चरित्र के माध्यम से यह स्थापना की गई है। इसलिये इस अध्ययन का नाम 'हरिकेशीय' रखा गया।

हरिकेशबल मुनि का सम्पूर्ण चरित्र वस्तुतः जैन दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों को साकार करने वाला चरित्र है। पूर्व-भव में जब वे सोमदत्त नामक ब्राह्मण थे तो जाति और रूप के मद ने उन्हें ग्रसा था। इससे उन्होंने नीच-गोत्र-कर्म का बन्धन किया, जिसका उदय होने पर उन्हें चाण्डाल कुल में कुरूप बालक के रूप में जन्म लेना पड़ा। यह जैन दर्शन के कर्म-सिद्धान्त का जीवन्त उदाहरण भी है और प्रमाण भी। उसी भव में उन्होंने शंख मुनि को अग्नि से तप्त मार्ग बताया। देखा कि मुनि के लब्धि प्रभाव से वह मार्ग भी शीतल हो गया। मुनि से अपने कर्म की क्षमा मांगी। संयम अंगीकार किया। तप-साधना से देव-गति पायी। यह संयम की शक्ति थी। इसी शक्ति के परिणामस्वरूप देव-आयुष्य पूर्ण कर वे हरिकेशबल के रूप में जन्म लेकर जाति-स्मरण ज्ञान से सम्पन्न होकर विरक्त हुए। प्रमाणित हुआ कि संयम साधना से जीव को देव गति व सुलभ-बोधि का अवसर प्राप्त होता है।

जाति-स्मरण ज्ञान व अपने अनुभव से जागृत हो कर उन्होंने मुनि-दीक्षा ली। निरन्तर कठोर साधना की। इसके फल का एक आभास हरिकेशबल मुनि ने उसी भव में गण्डीतिन्दुक नामक यक्षराज द्वारा अपनी सेवा में रहने के रूप में पाया। वे यक्ष-पूजित मुनि हुए। प्रमाणित हुआ कि जिसकी आत्मा धर्म में स्थिर हो जाती है या जिस आत्मा में धर्म स्थिर हो जाता है, उसे देवता भी वन्दन किया करते हैं। यज्ञ-शाला में मासखमण तप के पारणे की भिक्षा जब उन्हें मिलती है तो गन्दोदक व दिव्य पुष्प-वृष्टि इसका एक और उदाहरण है।

हरिकेशबल मुनि का चरित्र इस सत्य को भी साकार करता है कि **जाति, कुल व रूप किसी आत्मा का सार-तत्व नहीं होते। वे तो कर्मों के परिणाम-मात्र होते हैं। उन से कर्मों का निर्धारण नहीं होता। वे जीवात्मा का भविष्य नहीं रचते। इसलिए जाति, कुल या रूप के आधार पर किसी की वास्तविक पहचान सम्भव नहीं। व्यक्ति की वास्तविक पहचान**

उसके कर्मों से होती है। कर्म ही उस का भविष्य रचते हैं। उसे संवारते या बिगाड़ते हैं।

हरिकेशबल मुनि जन्म से चाण्डाल थे। कर्म से मुनि थे। चाण्डाल उनके शरीर का कुल था। उनकी आत्मा का कुल था–जिन धर्म। उनकी आत्मा की जाति थी–श्रमण संस्कृति। उनकी आत्मा का रूप था–संयम। यही निर्णायक था। शरीर की जाति या कुल या रूप निर्णायक नहीं थे। इस से प्रमाणित हुआ कि आत्म-कल्याण का सभी को समान अधिकार है। नीच से नीच कहलाने वाला भी संयम के मार्ग पर अग्रसर होते हुए देव-पूजित व यक्षाराधित हो सकता है। मुक्ति-धाम के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच सकता है। स्व-पर-कल्याण कर सकता है।

संयम-साधक की आशातना दुष्कर्म है। इसका परिणाम कष्टकर होता है। हरिकेशबल मुनि पर थूकने का राजकुमारी भद्रा को और उनको अपमानित करने का ब्राह्मण-पुत्रों को दु:खद परिणाम भोगना पड़ा। ऐसे अवसरों पर भी हरिकेशबल मुनि समभाव के शिखर पर आसीन रहे। आर्त्त या रौद्र ध्यान ने उनके अंतस्तल का स्पर्श तक नहीं किया। राजकुमारी का विवाह प्रस्ताव आया तो ब्रह्मचर्य महाव्रत उनके चरित्र में और भी अधिक जगमगाने लगा। वे संयम में लीन थे। संयम में ही लीन रहे।

निर्मल संयम की प्रतिमूर्ति थे हरिकेशबल मुनि। ब्राह्मण-पुत्रों ने उनका अपमान किया था। उन्होंने उन्हें सच्चे यज्ञ का स्वरूप व आत्म-कल्याण का मंत्र बतलाने की उन पर अहैतुकी कृपा की। प्रमाणित हुआ कि श्रमण का बाह्य जगत् में कोई शत्रु नहीं होता। भीतर के शत्रुओं को जीतना ही सच्ची विजय है, जिसे श्रमण प्राप्त करता है।

श्रमण-धर्म का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित करने के साथ-साथ आत्म-कल्याण हेतु प्रबल प्रेरणा प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह हरिएसिज्जं बारहं अज्झयणं

(अथ हरिकेशीयं द्वादशमध्ययनम्)

मूल : **सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।**
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइन्दिओ।।१।।

संस्कृत : श्वपाककुलसंभूतः, उत्तरगुणधरो मुनिः।
हरिकेशबलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः।।१।।

मूल : **इरिएसणभासाए, उच्चारसमिईसु य।**
जओ आयाणनिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ।।२।।

संस्कृत : ईर्यैषणाभाषा, उच्चारसमितिषु च।
यत आदाननिक्षेपे, संयतः सुसमाहितः।।२।।

मूल : **मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइन्दिओ।**
भिक्खट्ठा बम्भइज्जम्मि, जन्नवाडे उवट्ठिओ।।३।।

संस्कृत : मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः।
भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये, यज्ञपाट उपस्थितः।।३।।

मूल : **तं पासिऊणमेज्जन्तं, तवेण परिसोसियं।**
पन्तोवहिउवगरणं, उवहसन्ति अणारिया।।४।।

संस्कृत : तं दृष्ट्वाऽऽयान्तं, तपसा परिशोषितम्।
प्रांतोपध्युपकरणं, उपहसन्त्यनार्याः।।४।।

मूल : **जाईमयपडिथद्धा, हिंसगा अजिइन्दिया।**
अबम्भचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी।।५।।

संस्कृत : जातिमदप्रतिस्तब्धा, हिंसका अजितेन्द्रियाः।
अब्रह्मचारिणो बाला, इदं वचनमब्रुवन्।।५।।

बारहवां अध्ययन
हरिकेशीय

१. हरिकेश (नामक गोत्र वाले) 'बल' नामक भिक्षु 'श्वपाक' (अर्थात् नीच या चाण्डाल) के कुल में उत्पन्न (होकर भी) श्रेष्ठ गुणों (सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय, तथा पंच महाव्रत आदि) के धारक, मुनि (धर्म-अधर्म सम्बन्धी मनन-चिन्तन करने वाले, सर्वविरति की प्रतिज्ञा पालने वाले) एवं इन्द्रियविजयी थे।

२. (वे मुनि) ईर्या समिति, एषणा समिति, भाषा समिति, उच्चार (परिष्ठापना) समिति तथा आदान निक्षेप समिति में यत्नशील, संयमी व सम्यक् समाधि (रत्नत्रय रूप समाधि या ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति) में अवस्थित रहने वाले थे।

३. (वे) मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति व काय-गुप्ति से युक्त, इन्द्रियविजयी (हरिकेश बल मुनि) भिक्षा हेतु (एक बार) ब्राह्मणों के यज्ञ वाले यज्ञवाट (यज्ञमण्डप) के समीप पहुंच गए।

४. तपस्या के कारण सूखे (हुए से) शरीर वाले, तथा प्रान्त (पुराने व मैले) उपधि-उपकरणों (वस्त्र-पात्रादि रूप शरीरोपकारक साधनों) वाले उन (मुनि) को आया हुआ देख कर अनार्य (भाववाले वे ब्राह्मण उन मुनि का) उपहास करने लगे।

५. जाति-मद से मतवाले, हिंसक (वृत्ति से युक्त), अजितेन्द्रिय, ब्रह्मचर्य-हीन तथा ज्ञानशून्य वे (ब्राह्मण परस्पर) यह वचन कहने लगेः-

मूल : **कयरे आगच्छइ दित्तरूवे? काले विकराले फोक्कनासे?।**
ओमचेलए पंसु-पिसायभूए? संकरदूसं परिहरिय कंठे ।। ६ ।।

संस्कृत : कतर आगच्छति दीप्तरूपः? कालो विकरालः फोक्कनासः।
अवमचेलकः पांशु पिशाचभूतः? संकरदूष्यं परिधृत्य कंठे ।। ६ ।।

मूल : **कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे? काए व आसाइहमागओ सि?**
ओमचेलया पंसुपिसायभूया! गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओसि ।। ७ ।।

संस्कृत : कतरस्त्वमित्यदर्शनीयः, कयावाऽऽशयेहागतोऽसि?।
अवमचेलक! पांशुपिशाचभूत! गच्छाऽपसर किमिह स्थितोऽसि? ।। ७ ।।

मूल : **जक्खे तहिं तिन्दुयरुक्खवासी, अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स।**
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं, इमाइं वयणाइमुदाहरित्था ।। ८ ।।

संस्कृत : यक्षस्तस्मिन् (काले) तिन्दुकवृक्षवासी, अनुकम्पकस्तस्य महामुनेः।
प्रच्छाद्य निजकं शरीरं, इमानि वचनान्युदाहृतवान् ।। ८ ।।

मूल : **समणो अहं संजओ बम्भयारी, विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।**
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले, अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ।। ९ ।।

संस्कृत : श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी, विरतो धन-पचन-परिग्रहात्।
परप्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले, अन्नार्थमिहाऽऽगतोऽस्मि ।। ९ ।।

मूल : **वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य, अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।**
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति, सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ।। १० ।।

संस्कृत : वितीर्यते खाद्यते भुज्यते, चान्नं प्रभूतं भवतामेतत्।
जानीत मां याचनजीविनमिति, शेषावशेषं लभतां तपस्वी ।। १० ।।

६. "(वीभत्स रूप वाला) काला-कलूटा, विकराल (डरावनी आकृति वाला), मोटी-बेडौल नाक वाला, अधनंगा (या जीर्ण-मलिन व तुच्छ वस्त्र पहिने हुए), पांशु-पिशाच (धूल से सने होने के कारण पिशाच की तरह दिखाई देने वाला), और गले में (अर्थात् कन्धे पर) संकर दूष्य (कूड़े-कर्कट के ढेर से मानों उठा कर लाया हुआ चिथड़ा) पहिने हुए (यह आखिर) कौन चला आया है?"

७. "(अरे!) अदर्शनीय (मनहूस-जिसे देखना भी शुभ नहीं है)! तू कौन है? किस आशा से यहां आया है? (अरे!) अधनंगे (या जीर्ण-मलिन व तुच्छ वस्त्र) पहने हुए 'पांशु-पिशाच' (धूल से सने होने के कारण पिशाच या भूत की तरह दिखाई देने वाला)! चला जा! (यहां से) निकल जा-दूर हो जा! (अरे!) अब यहां खड़ा क्यों है?"

८. उस समय तिन्दुक (आबनूस) के पेड़ पर रहने वाला (एक) यक्ष (जो) उन महामुनि के प्रति अनुकम्पा-भाव रखने वाला (था) अपने शरीर को छिपा कर (महामुनि के शरीर में प्रविष्ट हो गया, और उन ब्राह्मणों से) इन वचनों को कहने लगाः-

९. "मैं संयमी, ब्रह्मचारी, तथा धन (संग्रह) से एवं (अन्नादि के) पाचन से, और (किसी भी प्रकार के) परिग्रह से (सर्वथा) विरत (दूर रहने वाला) 'श्रमण' हूँ। मैं तो भिक्षा के समय, दूसरों के द्वारा निष्पादित अन्न (की प्राप्ति) के लिए यहां आ गया हूँ।"

१०. "आपके यहां, यह बहुत सारा अन्न (लोगों में) वितरित किया जा रहा है, (और बहुत सारा अन्न) खाद्य व भोज्य के रूप में भी प्रयुक्त हो रहा है (अर्थात् खाया-खिलाया जा रहा है)। (आप) जान लें कि मैं मांग कर (भिक्षा आदि से) जीवन चलाने वाला हूँ, इसलिए (मुझ) तपस्वी को बचे-खुचे में से (कुछ) प्राप्त हो जाय।"

मूल : उवक्खडं भोयण माहणाणं, अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं ।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं, दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि? ।। ११ ।।

संस्कृत : उपस्कृत-भोजनं ब्राह्मणानां, आत्मार्थकं सिद्धमिहैकपक्षम् ।
न तु वयमीदृशमन्नपानं, तुभ्यं दास्यामः किमिह स्थितोऽसि? ।। ११ ।।

मूल : थलेसु बीयाइं ववन्ति कासगा, तहेव निन्नेसु य आससाए ।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं, आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ।। १२ ।।

संस्कृत : स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः, तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया ।
एतया श्रद्धया ददध्व मह्यं, आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम् ।। १२ ।।

मूल : खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए, जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा ।
जे माहणा जाइविज्जोववेया, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ।। १३ ।।

संस्कृत : क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके, येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पुण्यानि ।
ये ब्राह्मणा जातिविद्योपपेताः, तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ।। १३ ।।

मूल : कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा, ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ।। १४ ।।

संस्कृत : क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां, मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च ।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनाः, तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ।। १४ ।।

मूल : तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं, अट्ठं न जाणेह अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ।। १५ ।।

संस्कृत : यूयमत्र भो! भारधरा गिरां, अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान् ।
उच्चावचानि चरन्ति मुनयः, तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि ।। १५ ।।

११. (पुरोहित-प्रमुख का उत्तर-) "(अरे!यह) पक्व भोजन (तो) ब्राह्मणों द्वारा यहां अपने लिए ही तैयार किया गया (है, अतः यह) एकपक्षीय (अर्थात् मात्र ब्राह्मणों को ही देय) है। ऐसे अन्न-जल (खाद्य व पेय पदार्थ) को हम तुझे तो देंगे नहीं, (फिर) यहां खड़ा क्यों है?"

१२. (श्रमण-शरीर में छिपे हुए यक्ष का उत्तर- "अरे भाई! जिस प्रकार) खेतिहर (अच्छी उपज की) आशा से (अतिवृष्टि की सम्भावना को ध्यान में रख कर 'ऊँचे') स्थलों (खेतों) पर (बीज बोते हैं) वैसे ही (अल्पवृष्टि की सम्भावना को ध्यान में रखकर) निचले (भूमि-क्षेत्रों) में भी बीज बो देते हैं। इस श्रद्धा (दृष्टि) से (ही आप) मुझे (भिक्षा) दे दें, यह (मेरा शरीर भी तो) निश्चित रूप से (एक) पुण्य-क्षेत्र है, इसकी भी आराधना कर लें।"

१३. (पुरोहित-प्रमुख का कथन-) "हम लोक में स्थित उन (सभी) खेतों को जानते हैं, जहां विखेरे (बोए) गए (बीज) पुण्य रूप से या पूर्ण रूप से उग आते हैं। जो ब्राह्मण (उत्तम) जाति व (चौदह) विद्याओं से[1] सम्पन्न हैं (हमारी दृष्टि में) उत्तम/पुण्य-क्षेत्र तो वे (ही) हैं।

१४. (यक्ष का कथन-)

"जिनके (जीवन में) क्रोध, मान, वध (प्राणि-हिंसा की प्रवृत्ति), असत्य-भाषण, चोरी व परिग्रह (एवं अब्रह्मचर्य आदि दोष) हैं, वे ब्राह्मण (भी) जाति व विद्या से रहित हैं, (इसलिए) वे तो स्पष्टतः पाप-क्षेत्र (ही) हैं।"

१५. (यक्ष का कथन-)

"अरे (ब्राह्मणो!) तुम लोग तो यहां वाणी के भार को ढोने वाले (पशु के तुल्य) हो, तुमने 'वेद' पढ़ कर (भी उसके) अर्थ को नहीं जाना-समझा है। (वास्तव में) उच्चव्रती (महाव्रती) (या

---

१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष-शास्त्र, निरुक्त, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, मीमांसा, आन्वीक्षिकी, धर्मशास्त्र और पुराण-ये १४ विद्याएं हैं।

मूल : **अज्झावयाणं पडिकूलभासी, पभाससे किं तु सगासि अम्हं ।**
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं, न य णं दाहामु तुमं नियण्ठा! ।। १६ ।।

संस्कृत : अध्यापकानां प्रतिकूलभाषिन्, प्रभाषसे किं तु सकाशेऽस्माकम् ।
अप्येतद्विनश्यत्वन्नपानं, न च दास्यामस्तुभ्यं निर्ग्रन्थ! ।। १६ ।।

मूल : **समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स, गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स ।**
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं, किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ।। १७ ।।

संस्कृत : समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय, गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय ।
यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं, किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम्? ।। १७ ।।

मूल : **के इत्थ खत्ता उवजोइया वा, अज्झावया वा सह खण्डिएहिं ।**
एयं खु दण्डेण फलेण हन्ता, कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ।। १८ ।।

संस्कृत : केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिषो वा, अध्यापका वा सह खण्डिकैः ।
एनं तु दण्डेन फलकेन हत्वा, कंठं गृहीत्वा स्खलयेयुः ये ।। १८ ।।

मूल : **अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता, उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा ।**
दण्डेहिं वित्तेहिं कसेहिं चेव, समागया तं इसिं तालयन्ति ।। १९ ।।

संस्कृत : अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा, उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः ।
दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव, समागतास्तमृषिं ताडयन्ति ।। १९ ।।

मूल : **रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया, भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी ।**
तं पासिया संजय हम्ममाणं, कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ।। २० ।।

संस्कृत : राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता, भद्रेति नाम्नाऽनिंदितांगी ।
तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं, क्रुद्धान्कुमारान्परिनिर्वापयति ।। २० ।।

छोटे-बड़े विविध तप करने वाले, तथा समभाव से ऊंचे-नीचे-मध्यम घरों में भिक्षार्थ जाने वाले जो) मुनि विचरण (भिक्षाटन) करते हैं, उत्तम पुण्य-क्षेत्र तो वे हैं।''

१६. (पुरोहित का कथन-) ''अध्यापकों के प्रतिकूल बोलने वाले निर्ग्रन्थ! तुम हमारे सामने क्या (बढ़-चढ़ कर) बोले जा रहे हो? भले यह अन्न-जल (खाद्य व पेय पदार्थ सड़ कर) नष्ट (ही क्यों न) हो जाय, (परन्तु) तुझे (तो हम) नहीं देंगे।''

१७. (यक्ष का कथन-) ''(पांच) समितियों से सुसमाहित (समीचीन क्रिया वाले), (तीन) गुप्तियों से गुप्त (सुरक्षित), इन्द्रियविजयी मुझ (जैसे उत्तम पात्र) को (भी) यदि (तुम लोग) एषणीय (निर्दोष आहार) नहीं दोगे, (तो भला इन) यज्ञों का आज क्या लाभ ले पाओगे?''

१८. (अध्यापक-पुरोहितों का कथन-) ''है कोई यहां क्षत्रिय (वीर), अथवा उपज्योतिष्क (यज्ञ करने वाले या रसोई में काम करने वाले) अथवा अपने चेलों के साथ (आये) अध्यापक, जो इस (निर्ग्रन्थ) को डण्डे से (या बांस, लाठी आदि से, या कुहनी मार कर), तथा पटिया (या ढेले आदि) से मार-पीट कर, गले में (हाथ) डालते हुए बाहर निकाल दे?''

१९. अध्यापकों के वचन (आदेश) को सुनकर, बहुत-से कुमार (छात्र आदि) दौड़े हुए वहां आ गए (और वे) उस ऋषि को डण्डों, बेंतों और चाबुकों से पीटने लगे।

२०. वहां कोशल देश के राजा की पुत्री, (जो) 'भद्रा' नाम की, तथा अनिन्द्य (सुन्दर) शरीर वाली (थी, वह) उस संयमी (मुनि) को पिटते देखकर (उन) क्रुद्ध कुमारों को (समझा-बुझाकर) शान्त करने लगी।

मूल : **देवाभिओगेण निओइएणं, दिन्नामु रन्ना मणसा न झाया।**
नरिन्ददेविन्दभिवन्दिएणं, जेणामि वंता इसिणा स एसो ।। २१ ।।

संस्कृत : देवाभियोगेन नियोजितेन, दत्ताऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता।
नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन, येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः ।। २१ ।।

मूल : **एसो हु सो उग्गतवो महप्पा, जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।**
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं, पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ।। २२ ।।

संस्कृत : एष खलु स उग्रतपा महात्मा, जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी।
यो मां तदा नेच्छति दीयमानां, पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा ।। २२ ।।

मूल : **महाजसो एस महाणुभावो, घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।**
मा एयं हीलेह अहीलणिज्जं, मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ।। २३ ।।

संस्कृत : महायशा एष महानुभागः, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च।
मैनं हीलयताहीलनीयं, मा सर्वास्तेजसा भवतो निर्धाक्षात् ।। २३ ।।

मूल : **एयाइं तीसे वयणाइं सोच्चा, पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं।**
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए, जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ।। २४ ।।

संस्कृत : एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा, पत्न्या भद्रायाः सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयावृत्यर्थं, यक्षाः कुमारान् विनिवारयन्ति ।। २४ ।।

७१ मूल : **ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे, असुरा तहिं तं जण तालयन्ति।**
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते, पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ।। २५ ।।

संस्कृत : ते घोररूपाः स्थिता अन्तरिक्षे, असुरास्तत्र तं जनं ताडयन्ति।
तान् भिन्नदेहान्रुधिरं वमतः, दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः ।। २५ ।।

मूल : **गिरिं नहेहिं खणह, अयं दन्तेहिं खायह।**
जायतेयं पाएहिं हणह, जे भिक्खुं अवमन्नह ।। २६ ।।

संस्कृत : गिरिं नखैः खनथ, अयो दन्तैः खादथ।
जाततेजसं पादैर्हथ, ये भिक्षुमवमन्यध्वे ।। २६ ।।

२१. (भद्रा ने कहा-) "देव-अभियोग (अर्थात् यक्ष के प्रभावपूर्ण/अलंघ्य आदेश) से प्रेरित किये गये (मेरे पिता) राजा ने (मुझे एक मुनि को) समर्पित किया था, (किन्तु उसने मुझे) मन से (भी) नहीं चाहा था। राजाओं व इन्द्रों से (भी) पूजित जिन (निस्पृह) ऋषि ने मेरा परित्याग किया था, ये वे (ही ऋषि) हैं।"

२२. "स्वयं कोशल देश के राजा मेरे पिता द्वारा समर्पित की गई मुझ को, जिसने तब नहीं चाहा (तथा अंगीकार नहीं किया) था, ये उग्र तपस्वी, इन्द्रिय-विजयी, संयमी, ब्रह्मचारी महात्मा वे ही हैं।"

२३. "ये (तो) महान् यशस्वी, महानुभाग (अचिन्त्य शक्ति व महाप्रभाव वाले, या अनुग्रह-निग्रह में समर्थ), दुर्धर व्रती तथा (कषायादि-विजय में) घोर पराक्रमी हैं। ये अवहेलना के योग्य नहीं हैं, इनकी अवहेलना मत करो। (कहीं) तुम सब को (ये अपने) तेज से भस्म न कर दें!"

२४. (पुरोहित की) पत्नी उस 'भद्रा' के इन सुभाषित वचनों को सुनकर, ऋषि की विशेष परिचर्या व विरोध से रक्षा करने के उद्देश्य से (उस तिन्दुक यक्ष के अन्य साथी) यक्ष (भी आ गए, और वे उन क्रुद्ध ऋषि) कुमारों को (पीटने से) रोकने लगे (अथवा उन कुमारों को वे उठा कर जमीन पर पटकने लगे)।

२५. वहां वे भयंकर स्वरूप वाले असुर आकाश में खड़े हुए (ही) उन (कुमार) जनों को मारने-पीटने लगे। (मुंह से) रक्त का वमन करते हुए तथा क्षत-विक्षत शरीर वाले उन (कुमारों) को देख कर, भद्रा पुनः यह कहने लगी-

२६. "जो (तुमने) भिक्षु की अवमानना की है, वह (मानों दुस्साहसवश) पहाड़ को नखों से खोदा है, दांतों से लोहे को चबाया है, और पांवों से (धधकती) अग्नि को रौंदा या कुचला है। ऐसा करके तुमने अपने नखों, दांतों व पांवों को ही क्षतविक्षत किया है)।"

मूल : **आसीविसो उग्गतवो महेसी, घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।**
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा, जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ।। २७ ।।

संस्कृत : आशीविष उग्रतपा महर्षिः, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतंगसेना, ये भिक्षुकं भक्तकाले विध्यथ ।। २७ ।।

मूल : **सीसेण एयं सरणं उवेह, समागया सव्वजणेण तुब्भे।**
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा, लोगंपि एसो कुविओ डहेज्जा ।। २८ ।।

संस्कृत : शीर्षेणैनं शरणमुपेत, समागतः सर्वजनेन यूयम्।
यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा, लोकमप्येष कुपितो दहेत् ।। २८ ।।

मूल : **अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे, पसारिया बाहु अकम्मचेट्ठे।**
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते, उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते ।। २९ ।।

संस्कृत : अवहेठितपृष्ठसदुत्तमांगान्, प्रसारितबाहूनकर्मचेष्टान्।
प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमतः, ऊर्ध्वमुखान्निर्गतजिह्वनेत्रान् ।। २९ ।।

मूल : **ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए, विमणो विसण्णो अह माहणो सो।**
इसिं पसाएइ सभारियाओ, हीलं च निंदं च खमाह भंते! ।। ३० ।।

संस्कृत : तान् दृष्ट्वा खण्डिकान्काष्ठभूतान्, विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः, हीलां च निन्दां च क्षमध्वं भदन्त! ।। ३० ।।

मूल : **बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं, जं हीलिया तस्स खमाह भंते!**
महप्पसाया इसिणो हवंति, न हु मुणी कोवपरा हवंति ।। ३१ ।।

संस्कृत : बालैर्मूढैरज्ञैः, यद् हीलितास्तत्क्षमध्वम् भदन्त!
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति, न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति ।। ३१ ।।

मूल : **पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।**
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति, तम्हा हु एए निहया कुमारा ।। ३२ ।।

संस्कृत : पूर्वं चेदानीं चानागतं च, मनःप्रद्वेषो न मेऽस्ति कोऽपि।
यक्षाः खलु वैयावृत्त्यं कुर्वन्ति, तस्मात्खल्वेते निहताः कुमाराः ।। ३२ ।।

२७. "(यह) महर्षि 'आशीविष' (लब्धि से सम्पन्न) हैं, उग्र तपस्वी हैं, घोर व्रती तथा घोर पराक्रमी (पुरुषार्थी) हैं। भिक्षा के समय जो (तुम लोग) भिक्षुक को पीड़ित कर रहे हो, (वह मानों) पतंगों की सेना की तरह (स्वयं) आग पर झंझापात (उड़-उड़ कर गिरना) कर रहे हो (अर्थात् स्वयं आग में कूद रहे हो)।

२८. अगर तुम अपना जीवन व धन (सुरक्षित रखना) चाहते हो तो सभी जनों के साथ तुम लोग (एकत्रित होकर) आओ, और (नत-) शीर्ष से इनकी शरण ग्रहण करो। यदि ये कुपित हो जायें (तो समूचे) लोक को भस्म कर दें।"

२९. (यक्षों के प्रकोप से उन छात्र-कुमारों की दुर्दशा यह हुई कि) उनके मस्तक पीठ की ओर झुक गए थे, भुजाएं फैल गई थीं, वे निश्चेष्ट (मूर्च्छित) हो गए थे, आंखें खुली की खुली रह गई थीं, मुख से रुधिर बहने लगा था, मुंह ऊपर की ओर तथा जीभ व आंखें बाहर की ओर निकल आई थीं।

३०. उन (छात्र-कुमारों) को काठ की तरह (निश्चेष्ट पड़े) हुए देख कर, वह (पुरोहित) ब्राह्मण उदास व चिन्ताकुल होकर स्वपत्नी-सहित उन ऋषि को प्रसन्न करने लगा (और कहने लगा) भन्ते! अवहेलना व निन्दा (जो हमारी ओर से आपकी हुई है, उस) को आप क्षमा कर दें।

३१. "भन्ते! अज्ञानी व मूढ़ बालकों ने जो (आपकी) अवज्ञा की है, उसे आप क्षमा कर दें। ऋषि (तो) 'महाप्रसाद' (अत्यधिक प्रसन्नचित्त रहने वाले) हुआ करते हैं। मुनि (तो) कुपित हुआ ही नहीं करते।"

३२. (मुनि का कथन-) "मेरे मन में (तो) कोई द्वेष न पहले था, न अभी है, और न आगे होगा। (वास्तविकता तो यह है कि) यक्ष मेरी वैयावृत्य (सेवा) कर रहे हैं, इस कारण से ये कुमार प्रताड़ित हुए हैं।"

मूल : **अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा, तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।**
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो, समागया सव्वजणेण अम्हे ।। ३३ ।।

संस्कृत : अर्थं च धर्मं च विजानानाः, यूयं नापि कुप्यथ भूतिप्रज्ञाः।
युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः, समागताः सर्वजनेन वयम् ।। ३३ ।।

मूल : **अच्चेमु ते महाभाग! न ते किंचि न अच्चिमो।**
भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजणसंजुयं ।। ३४ ।।

संस्कृत : अर्चयामस्त्वां महाभाग! न तव किंचित्नार्चयामः।
भुंक्ष्व शालिमयं कूरं, नानाव्यञ्जनसंयुतम् ।। ३४ ।।

मूल : **इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं, तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा।**
बाढंति पडिच्छइ भत्तपाणं, मासस्स उ पारणए महप्पा ।। ३५ ।।

संस्कृत : इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं, तद् भुंक्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्तपानं, मासस्य तु पारणके महात्मा ।। ३५ ।।

मूल : **तहियं गन्धोदयपुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।**
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं, आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ।। ३६ ।।

संस्कृत : तत्र गंधोदकपुष्पवर्षं, दिव्या तत्र वसुधारा च वृष्टा।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः, आकाशेऽहो दानं च घुष्टं ।। ३६ ।।

मूल : **सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।**
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ।। ३७ ।।

संस्कृत : साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः, न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि।
श्वपाकपुत्रं हरिकेशसाधुं, यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा ।। ३७ ।।

३३. (पुरोहित का कथन-) "(वस्तु-स्वभाव, श्रुत-चारित्र, या दशविध श्रमणोचित) 'धर्म' तथा 'अर्थ' (शुभाशुभ कर्म-रहस्य, राग-द्वेषादि के कुफल या शास्त्रीय रहस्य) को आप विशेषतः/विविध रूपों में जानने वाले (हैं, और) 'भूतिप्रज्ञ' (सर्वश्रेष्ठ मंगलमयी प्रज्ञा से सम्पन्न, तथा प्राणि-रक्षा हेतु मंगलमयी प्रवृत्ति वाले हैं, अतः आप) कोप नहीं करते। हम सब एकत्रित होकर आए हैं, और आपके चरणों की शरण ले रहे हैं।"

३४. "हे महाभाग! हम आपकी अर्चना करते हैं। आपका ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी हम अर्चना न करें। (हमारी विनती यह है कि आप) नाना व्यंजनों से युक्त, 'शालि' चावलों से बने भात (की प्रमुखता वाले अन्नादि) का भोजन (ग्रहण) कीजिए।"

३५. हमारे पास यह प्रचुर अन्न है। हम पर अनुग्रह करने के लिए आप (उसे) ग्रहण करें।" (पुरोहित की आग्रह भरी विनती को देख कर) महात्मा (हरिकेशबल) ने (कहा-) "अच्छा!" इस प्रकार (भिक्षा लेने की हाँ भरते हुए) मासिक तप के पारणे में आहार-पानी स्वीकार किया।

३६. वहां (उस आहार-ग्रहण के स्थान पर) तब (अचित्त) सुगन्धित जल (तथा) पुष्पों की वर्षा दिव्य रूप से (देवों द्वारा निष्पादित) हुई। (साथ ही) वहां दिव्य वसुधारा (धन) की भी वृष्टि हुई। देवों ने दुन्दुभियां बजाईं, और आकाश में 'अहो दानं, अहो दानं,-इस प्रकार का उद्घोष किया।

३७. (सभी विस्मित होकर कहने लगे-) "(यह) तप की विशेषता (महिमा) तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रही है, जाति की (तो) कोई विशेषता दिखाई देती नहीं है। (देखो!) यह चाण्डाल-पुत्र मुनि हरिकेश है जिसकी ऋद्धि ऐसी अचिन्त्य शक्ति व प्रभाव वाली है।"

मूल : **किं माहणा! जोइसमारभन्ता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?**
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न ते सुइट्ठं कुसला वयन्ति ।। ३८ ।।

संस्कृत : किं ब्राह्मणा! ज्योतिः समारभमाणाः, उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ?
यद् मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं, न तत् सुदृष्टं कुशला वदन्ति ।। ३८ ।।

मूल : **कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं, सायं च पायं उदगं फुसन्ता ।**
पाणाइं भूयाइं विहेडयन्ता, भुज्जो वि मन्दा! पकरेह पावं ।। ३९ ।।

संस्कृत : कुशं च यूपं तृणकाष्ठमग्निं, सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः ।
प्राणिनो भूतान् विहेठमानाः, भूयोऽपि मन्दाः! प्रकुरुथ पापम् ।। ३९ ।।

मूल : **कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो? पावाइं कम्माइं पणोल्लयामो?**
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया! कहं सुइट्ठं कुसला वयन्ति? ।। ४० ।।

संस्कृत : कथं चरेमो? भिक्षो! वयं यजामः? पापानि कर्माणि प्रणुदामः?
आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित! कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति? ।। ४० ।।

मूल : **छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।**
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं, एयं परिन्नाय चरंति दंता ।। ४१ ।।

संस्कृत : षड्जीवकायानसमारभमाणाः, मृषाऽदत्तं चासेवमानाः ।
परिग्रहं स्त्रियो मानं मायां, एतत्परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः ।। ४१ ।।

मूल : **सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा ।**
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ।। ४२ ।।

संस्कृत : सुसंवृताः पंचभिः संवरैः, इह जीवितमनवकांक्षतः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचि-त्यक्तदेहाः, महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञं ।। ४२ ।।

३८. (मुनि द्वारा उद्‌बोधन-) "अग्नि (काय) का समारम्भ करते रहने वाले ब्राह्मणो! जल से (आप लोग) कौन-सी बाह्य शुद्धि ढूंढ़ रहे हो? (यज्ञ व जलादि से) बाह्य शुद्धि को जो आप खोज रहे हैं, उसे कुशल (तत्वज्ञानी) लोग 'सुदृष्ट' (अच्छी तरह सोचा-समझा हुआ, या सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न कार्य) नहीं बताते हैं।"

३९. "कुशा, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण व काष्ठ (इन्धन) एवं अग्नि का प्रयोग, और सुबह-शाम जल का स्पर्श करते हुए प्राणियों/(द्वीन्द्रियादि) भूतों व (एकेन्द्रिय) की विशेष हिंसा करते हुए मन्दबुद्धि आप लोग बार-बार पाप किया करते हैं।"

४०. (याज्ञिक पुरोहित की जिज्ञासा-) "हे भिक्षु! हम कैसे आचरण करें (और) किस प्रकार यज्ञ करें ताकि पाप-कर्मों को दूर कर सकें? हे यक्ष-पूजित संयमी! हमें बताएं कि कुशल (तत्वज्ञ) पुरुषों ने किस रूप से समीचीन यज्ञ का कथन किया है?"

४१. (मुनि का समाधान) "छः (प्रकार के) जीव-निकायों का समारम्भ (हिंसा) नहीं करते हुए, असत्य व चौर्य (आदि) का सेवन नहीं करते हुए, परिग्रह-स्त्री-मान-माया (आदि दोषों के स्वरूप) को समझ कर इनका परित्याग करते हुए (ही) इन्द्रियादि का दमन करने वाले प्रवृत्तिशील होते हैं (या विचरण किया करते हैं)।"

४२. ("जो अहिंसा आदि) पांच संवरों से सम्यक् रूप से संवृत (सुरक्षित) रहते हैं, यहां (इस जन्म में संयमहीन) जीवन की आकांक्षा नहीं करते, 'काय' का व्युत्सर्ग (रूप 'तप') करने वाले हैं, पवित्रता से युक्त हैं, तथा देह (की आसक्ति) का परित्याग कर चुके हैं, (वे ही) महाविजय-शाली (कर्मों पर विजय करने वाला) श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।"

मूल : **के ते जोई? के व ते जोइठाणे? का ते सुया? किं व ते कारिसंगं?**
एहा य ते कयरा सन्ति? भिक्खू! कयरेण होमेण हुणासि जोइं? ।। ४३ ।।

संस्कृत : किं ते ज्योतिः? किं वा ते ज्योति-स्थानं? कास्ते स्रुवः? किन्ते करीषांगम्?
एधाश्च ते कतराः? शान्तिर्भिक्षो! कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः? ।। ४३ ।।

मूल : **तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।**
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ।। ४४ ।।

संस्कृत : तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिः स्थानं, योगाः स्रुवः शरीरं करीषाङ्गम् ।
कर्मेधाः संयमयोगाः शान्तिः, होमेन जुहोम्यृषीणां प्रशस्तेन ।। ४४ ।।

मूल : **के ते हरए? के य ते सन्तितित्थे? कहं सिणाओ व रयं जहासि?**
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया! इच्छामो नाउं भवओ सगासे ।। ४५ ।।

संस्कृत : कस्ते ह्रदः? किं च ते शान्तितीर्थं? कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि?
आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित! इच्छामो ज्ञातुं भवतः सकाशे ।। ४५ ।।

मूल : **धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।**
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ।। ४६ ।।

संस्कृत : धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविलमात्माप्रसन्नलेश्यं ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः, सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ।। ४६ ।।

मूल : **एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।**
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ।। ४७ ।।
त्ति बेमि ।

संस्कृत : एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं, महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन्स्नाता विमला विशुद्धाः, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ।। ४७ ।।
इति ब्रवीमि ।

४३. (पुरोहित की जिज्ञासा-) "हे भिक्षु! तुम्हारी (दृष्टि में) ज्योति (अग्नि) कौन-सी (आहुति-योग्य) है? कौन-सा ज्योति-स्थान (यज्ञ-कुण्ड) है? (घृतादि में डालने वाली) कड़छी कौन-सी (प्रयुक्त) होती है? (अग्नि जलाने के लिए प्रयुक्त) कण्डे कौन-से हैं? तुम्हारे ईन्धन कौन-से हैं? शान्तिपाठ कौन-सा है? और किस प्रकार की होम-विधि द्वारा आप ज्योति (अग्नि) में हवन करते हैं?"

४४. (मुनि का समाधान-) "तप ही ज्योति (अग्नि) है, जीव (आत्मा ही) ज्योति-स्थान (यज्ञ-कुण्ड) है, 'योग' (मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्तियां) कड़छियां हैं, शरीर कण्डे हैं, कर्म (ही) ईन्धन है, संयम-पूर्ण प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। मैं तो ऋषियों के लिए प्रशस्त (इसी अहिंसक) होम (यज्ञ) को किया करता हूँ।"

४५. (पुरोहित की पुनः जिज्ञासा-) "आपका ह्रद (जलाशय) कौन-सा है, कौन-सा शान्ति-तीर्थ है? किसमें आप नहा कर रज (मैल) को धोते हैं? हे यक्ष-पूजित संयमी! हम आपके सान्निध्य में जानना चाहते हैं, आप हमें बताएं।"

४६. (मुनि द्वारा समाधान-) "इह-परलोक-हितकारी प्रशस्त आत्मिक लेश्या से युक्त तथा (मिथ्यात्वादि के अभाव से) अकलुषित (स्वच्छ/निर्मल) धर्म ही मेरा ह्रद है, ब्रह्मचर्य (की साधना ही, या वैसी साधना करने वाले साधु ही) शान्ति-तीर्थ हैं, जहां स्नान कर, मैं निर्मल, शुद्ध व सुशीतल होकर, दोष (रूपी मैल) को दूर किया करता हूँ।"

४७. इस (पूर्वोक्त) स्नान को कुशल (तत्वज्ञानी) पुरुषों ने देखा-साक्षात्कार किया है, (यही) ऋषियों के लिए प्रशस्त 'महास्नान' है, जिसमें स्नान कर महर्षि निर्मल व विशुद्ध होते हुए, उत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होते रहे हैं।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशबल मुनि पांच समितियों में समाधिस्थ और तीन गुप्तियों से गुप्त क्षमाशील, जितेन्द्रिय व तपस्वी मुनि थे। वे भिक्षा हेतु ब्राह्मणों के यज्ञ-मंडप में पहुंचे। तप से कृश, मलिन व जीर्ण वस्त्र-धारी कुरूप मुनि-देह का ब्राह्मणों ने उपहास किया। मुनि को दुत्कारा। मुनि सेवा में समर्पित यक्ष ने मुनि-देह में प्रविष्ट हो मुनि का परिचय देते हुए भिक्षा मांगी। ब्राह्मणों ने दान-योग्य पुण्य-क्षेत्र जाति व विद्यावान् ब्राह्मणों को ही बताया। यक्ष ने हिंसा, कषाय, परिग्रह व पाप-ग्रस्त ब्राह्मणों को पाप-क्षेत्र तथा समभावी, अकिंचन भिक्षुक को पुण्य-क्षेत्र कहा। इस से कुपित ब्राह्मणों के पुकारने पर ब्राह्मण-कुमार आये और मुनि को पीटने लगे। राजकुमारी भद्रा ने मुनि की त्याग, ब्रह्मचर्य सम्पन्न व देव-पूजित महिमा बताते हुए उन्हें शांत करने का प्रयास किया। मुनि-सेवा-रत यक्षों के समझाने पर भी वे न रुके तो यक्षों ने उन्हें प्रताड़ित किया। उनके शरीर क्षत-विक्षत हो रक्त-वमन करने लगे। राजकुमारी भद्रा की प्रेरणा से उनके पति यज्ञकर्त्ता रुद्रदेव ब्राह्मण ने मुनि से क्षमा याचना की। मुनि ने कहा कि उनके मन में न द्वेष था, न है। यक्षों ने ऐसा किया है। रुद्रदेव ने मुनि की शरण ग्रहण कर भिक्षा लेने का अनुरोध किया। मुनि ने भिक्षा ली। देवों ने पंच दिव्य प्रकट किये। जाति के स्थान पर तप की महिमा स्थापित हुई। मुनि ने कहा–अग्नि का समारम्भ व बाह्य स्नान शुद्धिकारी नहीं। हिंसा द्वारा पाप-संचय है। रुद्रदेव द्वारा करणीय प्रवृत्ति के विषय में पूछने पर मुनि बोले–जितेन्द्रिय, पंच-महाव्रत-धारी, कषाय-जेता, संवृत्त, अनासक्त, वासनाजयी पुरुष ही तप की ज्योति से जीवात्मा के ज्योतिस्थान पर तीन योगों की कड़छियों, शरीर के कण्डों, कर्म के ईंधन व संयम के शान्ति-पाठ से श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं। धर्म ह्रद है। ब्रह्मचर्य शान्ति-तीर्थ है। उसमें स्नान से परम निर्मलता प्राप्त होती है। ऋषि धर्म-जलाशय में स्नान कर सर्व-कर्म-मुक्त व उत्तम गति के अधिकारी हुए हैं।

❑❑

अध्ययन–13

चित्रसम्भूतीय

अध्ययन परिचय

पैंतीस गाथाओं से यह अध्ययन निर्मित हुआ है। इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है—काम भोगों में आसक्ति व अनासक्ति। दोनों को कारणों और परिणामों सहित यहां चित्र और सम्भूत नामक दो सहोदर भ्राताओं के माध्यम से चित्रित किया गया है। दोनों से सम्बन्धित चित्रण एवं वर्णन होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'चित्र-सम्भूतीय' रखा गया। चित्र यहां अनासक्ति एवं निर्मल संयम के प्रतीक हैं और सम्भूत आसक्ति एवं सांसारिकता के।

दोनों के चरित्र जैन कर्म सिद्धान्त को उजागर करने वाले चरित्र हैं। पूर्व-भव में सहोदर गोपाल-पुत्रों के रूप में मुनि चन्द्र से सम्बोधि प्राप्त कर दोनों ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी। संयम पाला था। मुनि-वेश की मलिनता व स्नानाभाव से दोनों के मन में आद्योपान्त जुगुप्सा भाव बना रहा। संयम के फलरूवरूप दोनों सौधर्म देवलोक में देव बने। जुगुप्सा-भाव के फलस्वरूप देवायुष्य पूर्णकर शांडिल्य विप्र की दासी यशोमती के यहां जन्मे। सर्प-दंश से दोनों की मृत्यु हुई। दोनों मृग बने। शिकारी के हाथों मृत्यु को प्राप्त होकर दोनों ने राजहंसों के रूप में जन्म लिया। वहां एक मछुआरे ने उनका वध किया। तत्पश्चात् वे वाराणसी के अतिसमृद्ध चाण्डालाधिपति भूतदत्त के घर चित्र व सम्भूत रूप में जन्मे। इसी भव में दोनों ने अपना-अपना भविष्य अपने अपने कर्मों से रचा। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत अध्ययन का नामकरण सार्थक है।

प्रतिभा पर किसी जाति का एकाधिकार नहीं होता। चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भी दोनों भाइयों का अद्वितीय प्रतिभाशाली होना इसका सूचक है। इस प्रतिभा का प्रभाव चतुर्दिक् व्याप्त हुआ परन्तु निम्न जाति के होने के कारण उन्होंने राजकीय दण्ड सहा। निराश हो आत्महत्या करने गये तो एक मुनि ने उन्हें ज्ञान दिया। दोनों ने मुनि-दीक्षा ली। प्रमाणित भी हो गया कि जिनेन्द्र भगवान् के शासन में सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं।

दोनों ने शुद्ध संयम पाला परन्तु सम्भूत मुनि ने सनत्कुमार चक्रवर्ती की रानी श्री देवी को देख निदान किया। अपनी तप-साधना का फल चक्रवर्ती जैसे काम-भोगों को भोगने के अवसर के रूप में चाहा। चित्र मुनि के समझाने पर भी यह कामना बनी रही। इसने संभूत मुनि के संयम को निर्मल नहीं रहने दिया। इसी ने दोनों के वियोग का बीज बोया। इसकी आलोचना भी संभूत मुनि

ने नहीं की। दोनों आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में जन्मे। वहां से च्यव कर छठे भव में दोनों अलग-अलग स्थानों पर उत्पन्न हुए। निदान के फलस्वरूप सम्भूत का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्र का जीव शुद्ध संयम धारी चित्त मुनि बना।

एक नाटक देखते हुए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को पूर्वजन्मों की स्मृति हो आई। पांच जन्मों तक साथ रहे भाई की याद ने उन्हें सताया। उन्होंने आधा श्लोक रचा–**"आस्व दासौ, मृगौ, हंसौ, मातंगावमरौ तथा"** अर्थात् हम दोनों पूर्वजन्मों में एक साथ क्रमशः दासी-पुत्र, मृग, हंस, चाण्डाल-पुत्र एवं देव-रूप में रहे हैं। इस श्लोक को पूरा करने वाले को आधा राज्य देने की घोषणा कर दी। चित्त मुनि ने इसे पूरा करते हुए कहा–**"एषा नो षष्टिका जातिः, अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः"** अर्थात् हम एक-दूसरे से बिछुड़ गये हैं, और यह हमारा छठा जन्म है।

दोनों मिले। दोनों के बीच परस्पर कुशल-क्षेम की जिज्ञासा के साथ-साथ सुख-दुःख रूप कर्म-विपाक से सम्बन्धित तत्व-चर्चा हुई। दोनों ने एक-दूसरे को सुख देने के लिए प्रयास किए। दोनों की दृष्टियां अलग-अलग थीं। दोनों के लिए सुख का अर्थ भी एक नहीं था। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के अनुसार राजकीय सुख-भोग ही सुख था। चित्त मुनि के अनुसार वह अन्ततः दुःख तक पहुंचाने वाला सुख का भ्रम था। अपने-अपने अर्थ के अनुरूप दोनों ने दोनों की दिशा बदलने व सुख देने के प्रयास किये परन्तु कोई सफल न हुआ। अन्त में ब्रह्मदत्त ने मुनिराज की बात को वैचारिक स्तर पर सही मानते हुए भी काम-भोगासक्ति छोड़ने में असमर्थता व्यक्त की। चारित्र-मोहनीय कर्म के प्रगाढ़ बन्धन का परिणाम यह हुआ कि चक्रवर्ती आर्य-धर्म तक स्वीकार न कर पाये और अशुभतम सातवीं नरक में गये। निर्मल संयम के परिणामस्वरूप चित्त मुनि ने शुभतम मोक्ष गति प्राप्त की। स्पष्ट हुआ कि भोगासक्ति से जीवात्मा कहां और अनासक्ति व निर्मल संयम से कहां पहुंचता है।

दो व्यक्तित्वों के माध्यम से जीवन की दो दिशाओं, दो विचारधाराओं या दो दृष्टियों का कारणों-परिणामों सहित ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ जीवात्मा के लिए कल्याणकर दिशा में अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा देने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह चित्तसम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं

(अथ चित्तसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनम्)

मूल : **जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि।**
चुलणीए बम्भदत्तो, उववन्नो पउमगुम्माओ ।। १ ।।

संस्कृत : जातिपराजितः खलु, अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे।
चुलन्यां ब्रह्मदत्तः, उत्पन्नः पद्मगुल्मात् ।। १ ।।

मूल : **कम्पिल्ले सम्भूओ, चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि।**
सेट्ठिकुलम्मि विसाले, धम्मं सोऊण पव्वइओ ।। २ ।।

संस्कृत : काम्पिल्ये संभूतः, चित्तः पुनर्जातः पुरिमताले।
श्रेष्ठिकुले विशाले, धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः ।। २ ।।

मूल : **कम्पिल्लम्मि य नयरे, समागया दो वि चित्तसम्भूया।**
सुहदुक्खफलविवागं, कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ।। ३ ।।

संस्कृत : काम्पिल्ये च नगरे, समागतौ द्वावपि चित्तसंभूतौ।
सुखदुःखफलविपाकं, कथयतस्तावेकैकस्य ।। ३ ।।

मूल : **चक्कवट्टी महिड्ढीओ, बम्भदत्तो महायसो।**
भायरं बहुमाणेणं, इमं वयणमब्बवी ।। ४ ।।

संस्कृत : चक्रवर्ती महर्द्धिकः, ब्रह्मदत्तो महायशः।
भ्रातरं बहुमानेन, इदं वचनमब्रवीत् ।। ४ ।।

तेरहवां अध्ययन : चित्रसम्भूतीय

१. हस्तिनापुर में ('सम्भूत मुनि' ने) (अपनी नीच) जाति के कारण पराजित (तिरस्कार व अपमान की अनुभूति से प्रभावित) होते हुए, 'निदान' (विषय-सुख की इच्छा से चक्रवर्ती बनने का आर्त ध्यान-रूप संकल्प) किया था, (फलस्वरूप) पद्म-गुल्म (नामक देव-विमान) से (च्यव कर) ब्रह्मदत्त के रूप में चुलनी (रानी की कोख) में उत्पन्न हुआ।

२. 'सम्भूत' ('ब्रह्मदत्त' के रूप में) काम्पिल्य (नगर) में पैदा हुआ, और (उस के भाई) 'चित्र' ने पुरिमताल में विशाल श्रेष्ठि-कुल में ('गुणसार' नाम से) जन्म लिया, (किन्तु वह) धर्म-श्रवण कर (श्रमण-दीक्षा हेतु) प्रव्रजित हो गया।

३. (पूर्व जन्म के भाई) 'चित्र' व 'सम्भूत' (-इन) दोनों ही का 'काम्पिल्य' नगर में (संयोगवश) समागम हुआ। वे (दोनों) एक दूसरे के (पुण्य-पाप कर्मों के) सुख-दुःख रूप फल-विपाक के सम्बन्ध में बातचीत करने लगे।

४. महान्-ऋद्धियों से सम्पन्न, महायशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने (अपने पूर्व जन्म के बड़े) भाई (गुणसार नामक मुनि) को अत्यन्त आदर से यह वचन कहे -

मूल : **आसिमो भायरा दोवि, अन्नमन्नवसाणुगा।**
अन्नमन्नमणुरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो ।। ५ ।।

संस्कृत : आस्व भ्रातरौ द्वावपि, अन्योऽन्यवशानुगौ।
अन्योऽन्यमनुरक्तौ, अन्योऽन्यहितैषिणौ ।। ५ ।।

मूल : **दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।**
हंसा मयंगतीरे य, सोवागा कासिभूमिए ।। ६ ।।

संस्कृत : दासौ दशार्णेषु आस्व, मृगौ कालिंजरे नगे।
हंसौ मृतगंगातीरे, श्वपाकौ काशीभूम्याम् ।। ६ ।।

मूल : **देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।**
इमा णो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ।। ७ ।।

संस्कृत : देवौ च देवलोके, आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ।
इयमावयोः षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्येन या विना ।। ७ ।।

मूल : **कम्मा नियाणपगडा, तुमे राय! विचिन्तिया।**
तेसिं फलविवागेण, विप्पओगमुवागया ।। ८ ।।

संस्कृत : कर्माणि निदानप्रकृतानि, त्वया राजन् विचिंतितानि।
तेषां फलविपाकेन, विप्रयोगमुपागतौ ।। ८ ।।

मूल : **सच्चसोयप्पगडा, कम्मा मए पुरा कडा।**
ते अज्ज परिभुंजामो, किंनु चित्ते वि से तहा? ।। ९ ।।

संस्कृत : सत्यशौचप्रकटानि, कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुञ्जे, किन्नु चित्तोऽपि तानि तथा? ।। ९ ।।

५. "हम दोनों ही (पूर्व-जन्म में) भाई थे, और एक दूसरे के वशवर्ती, एक दूसरे में अनुराग रखने वाले, तथा एक दूसरे के हितैषी थे।

६. ("हम दोनों पिछले जन्मों में) दशार्ण (देश) में दास (दासी-पुत्र) थे, (फिर) कालिंजर पर्वत पर हरिण हुए, (उसके बाद) मृत-गंगा[1] के तीर पर हंस हुए, (तदनन्तर) काशी की भूमि में 'चाण्डाल' हुए थे।"

७. ("उसके बाद) हम दोनों देव-लोक में महान् ऋद्धि वाले देव भी हुए थे। यह हमारा छठा जन्म है, जो एक-दूसरे के साथ के बिना (परस्पर विमुक्त होकर) हुआ है, (ऐसा क्यों?)।"

८. (गुणसार मुनि द्वारा कथन-) "हे राजन्! तुमने (पूर्व चाण्डाल-भव में, भोग-अभिलाषा के कारण) निदान-उपार्जित कर्मों का विशेष रूप से चिन्तन किया था। उस (बद्ध कर्म) के फल-विपाक के कारण हम (दोनों) वियोग को प्राप्त हुए हैं।"

९. (चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का कथन-) "मैंने (पूर्व जन्म में 'सम्भूति' मुनि के रूप में) 'सत्य' (मिथ्याचरण का अभाव) और शौच (ममत्व व विषय-भोग आदि लोभ-प्रकारों के त्याग रूप) धर्म से प्रसिद्धि-प्राप्त (जो शुभ) कर्म किये थे, उन (के ही फल-चक्रवर्तित्व) को आज मैं भोग रहा हूँ। हे चित्र! क्या तुम उसी तरह (शुभ फल को भोग रहे) हो?

---

१. जिस मार्ग को बहती गंगा ने छोड़ दिया हो, वह 'मृत-गंगा' कहलाता है।

मूल : **सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।**
अत्थेहिं कामेहिं य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ।। १० ।।

संस्कृत : सर्वं सुचीर्णं सफलं नराणां, कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति ।
अर्थैः कामैश्चोत्तमैः, आत्मा मम पुण्यफलोपपेतः ।। १० ।।

मूल : **जाणासि संभूय! महाणुभागं, महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।**
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं! इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ।। ११ ।।

संस्कृत : जानासि संभूत! महानुभागं, महर्द्धिकं पुण्यफलोपपेतम् ।
चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्! ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ।। ११ ।।

मूल : **महत्थरूवा वयणऽप्पभूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।**
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया, इह जयन्ते समणोमि जाओ ।। १२ ।।

संस्कृत : महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता, गाथानुगीता नरसंघमध्ये ।
यां (श्रुत्वा) भिक्षवः शीलगुणोपपेताः, इह यतन्ते श्रमणोस्मि जातः ।। १२ ।।

मूल : **उच्चोअए महु कक्के य बम्भे, पवेइया आवसहा य रम्मा ।**
इमं गिहं चित्त! धणप्पभूयं, पसाहि पंचालगुणोववेयं ।। १३ ।।

संस्कृत : उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा, प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः ।
इदं गृहं चित्त प्रभूतधनं, प्रशाधि पंचालगुणोपपेतम् ।। १३ ।।

मूल : **नट्टेहिं गीएहिं य वाइएहिं, नारीजणाइं परिवारयन्तो ।**
भुंजाहि भोगाइं इमाइं भिक्खू! मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ।। १४ ।।

संस्कृत : नृत्यैर्गीतैश्च वादित्रैः, नारीजनानू परिवारयन् ।
भुंक्ष्व भोगानिमानू भिक्षो! मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम् ।। १४ ।।

१०. (मुनि का कथन-) "मनुष्यों का समस्त आचरित (कर्म) सफल होता है, (क्योंकि) किये हुए कर्मों से (बिना फल भोगे) छुटकारा नहीं होता। मेरी आत्मा भी श्रेष्ठ 'अर्थ' (उपलब्ध सांसारिक भोगयोग्य पदार्थों) एवं 'काम' (उपलब्ध शब्दादि विषय-भोगों) के कारण, पुण्य-फल से सम्पन्न रही है।"

११. "हे सम्भूत! (जिस प्रकार, तुम स्वयं को) महान् अनुभाग (अचिन्त्य शक्ति) से सम्पन्न, महान् ऋद्धि-शाली तथा पुण्य-फल से युक्त मानते हो, उसी प्रकार, हे राजन्! (मुझ) चित्र को भी समझो, उसके पास भी प्रभूत ऋद्धि व द्युति (प्रताप व तेजस्विता) रही है।"

१२. "(किन्तु मेरे मुनि बनने का कारण तो यह है कि) मनुष्यों के समूह के बीच, (एक बार स्थविरों ने) अल्पवचन (अक्षरों) वाली, किन्तु महान् (गम्भीर) अर्थ से युक्त स्वरूप वाली (एक) गाथा का गायन (उच्चारण, सुस्वर के साथ) किया था, जिसे शील (चारित्र) व श्रुत (ज्ञान) से सम्पन्न भिक्षु (ही) अर्जित (हृदयंगम कर तदनुरूप क्रियान्वित) किया करते हैं। (उसे हृदयंगम कर) मैं "श्रमण' हो गया हूँ।"

१३. (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का कथन-) ("अरे भिक्षु! मेरे पास) 'उच्चोदय', 'मधु', 'कर्क', ('मध्य') व 'ब्रह्मा' (-ये पांच तरह के राज-महल) तथा अन्य भी (अनेक)रम्य आवास (मेरे पास हैं,) और 'पांचाल' जनपद भर में उपलब्ध सभी विशिष्ट वस्तुओं से परिपूर्ण, एवं विस्मयकारी प्रचुर धन-सम्पत्ति वाले इस घर का तुम उपभोग करो।"

१४. "हे भिक्षु! नाट्य (अथवा नृत्य), गीत व वाद्यों के साथ, रमणियों से घिरे हुए तुम इन भोगों को भोगो। मुझे (तो बस यही) अच्छा लगता है। प्रव्रज्या (तो) निश्चय ही दुःखप्रद है।"

मूल : **तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं, नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।**
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही, चित्तो इमं वयण मुदाहरित्था ।। १५ ।।

संस्कृत : तं पूर्वस्नेहेन कृतानुरागं, नराधिपं कामगुणेषु गृद्धम् ।
धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी, चित्त इदं वचनमुदाहृतवान् ।। १५ ।।

मूल : **सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।**
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ।। १६ ।।

संस्कृत : सर्वं विलपितं गीतं, सर्वं नृत्यं विडम्बितम् ।
सर्वाण्याभरणानि भाराः, सर्वे कामा दुःखावहाः ।। १६ ।।

मूल : **बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं कामगुणेसु रायं।**
विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ।। १७ ।।

संस्कृत : बालाभिरामेषु दुःखावहेषु, न तत्सुखं कामगुणेषु राजन् ।
विरक्तकामानां तपोधनानां, यद् भिक्षूणां शीलगुणेषु रतानाम् ।। १७ ।।

मूल : **नरिंद! जाई अहमा नराणं, सोवागजाई दुहओ गयाणं।**
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा, वसीअ सोवागनिवेसणेसु ।। १८ ।।

संस्कृत : नरेन्द्र! जातिरधमा नराणां, श्वपाकजातिर्द्वयोः गतयोः ।
यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ, अवसाव श्वपाकनिवेशनेषु ।। १८ ।।

मूल : **तीसे य जाईइ उ पावियाए, वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।**
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा, इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं ।। १९ ।।

संस्कृत : तस्यां च जातौ तु पापिकायामु, उषितौ स्वः श्वपाकनिवेशनेषु ।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ, अस्मिंस्तु कर्माणि पुराकृतानि ।। १९ ।।

मूल : **सो दाणिसिं राय! महाणुभागो, महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ।**
चइत्तु भोगाइं असासयाइं, आदाणहेउं अभिणिक्खमाहि ।। २० ।।

संस्कृत : स इदानीं राजन्! महानुभागः, महर्द्धिकः पुण्यफलोपपेतः ।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्, आदानहेतोरभिनिष्क्राम ।। २० ।।

१५. काम-भोगों में आसक्त हो रहे, किन्तु पूर्व (भव के) स्नेह से अनुराग करने वाले उस नराधिप (चक्रवर्ती) को, धर्म में स्थिर (चित्त वाले) 'चित्र' (मुनि) ने, उस (राजा) का हितैषी होकर, यह वचन उच्चारित किया-

१६. "सर्व गीत 'विलाप' (मात्र जैसे प्रतीत होते) हैं, समस्त नाट्य (व नृत्य) विडम्बना से भरे हुए (लगते) हैं। सभी आभूषण भार-रूप (प्रतीत) होते हैं, और (वस्तुतः) सभी काम-भोग दुःखोत्पादक (ही) हैं।"

१७. "हे राजन्! अज्ञानियों को ही सुन्दर प्रतीत होने वाले (किन्तु वास्तव में) दुःखप्रद काम-भोगों में वह सुख नहीं है, जो (सुख) काम-भोगों की ओर से विरक्तचित्त वाले, तपोधनी एवं 'शील' (आदि) गुणों में रत (दत्तचित्त) रहने वाले भिक्षुओं को (प्राप्त होता) है।"

१८. "हे नरेन्द्र! (पूर्व में) जन्म ले चुके हम दोनों की श्वपाक (चाण्डाल) जाति (थी, जो) मनुष्यों में (सब से) अधम जाति (कही जाती) है, जहां हम चाण्डालों की बस्ती में, सभी उच्चजनों के द्वेष (व घृणा) के पात्र होकर रहा करते थे।"

१९. "उस पापपूर्ण (अधम) जाति में जन्म लेकर, हम दोनों, चाण्डालों की बस्ती में, रहा करते थे, (तब) लोग हम से घृणा किया करते थे, (किन्तु) यहां (इस जन्म में) तो पूर्वकृत कर्म (हमारे लिए शुभफलदायक सिद्ध हो रहे) हैं।"

२०. "हे राजन्! वही तू अब (इस जन्म में पूर्वकृत कर्मों के) पुण्य-फल से युक्त, महान् अनुभाग (अचिन्त्य शक्ति) वाला तथा महान् ऋद्धि सम्पन्न (चक्रवर्ती राजा बना) है। (इसलिए) (भावी प्रशस्त फल की प्राप्ति के उद्देश्य से) अस्थायी भोगों को छोड़ कर, 'आदान' (चारित्र धर्म की आराधना) के लिए अभिनिष्क्रमण कर (प्रव्रज्या स्वीकार कर)।"

मूल : **इइ जीविए राय! असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।**
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोए ।। २१ ।।

संस्कृत : इह जीविते राजन्नशाश्वते, धनितं तु पुण्यान्यकुर्वाणः।
स शोचति मृत्युमुखोपनीतः, धर्ममकृत्वा परस्मिंल्लोके ।। २१ ।।

मूल : **जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।**
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ।। २२ ।।

संस्कृत : यथेह सिंहो वा मृगं गृहीत्वा, मृत्युर्नरं नयति खल्वन्तकाले।
न तस्य माता वा पिता च भ्राता, काले तस्यांशधरा भवन्ति ।। २२ ।।

मूल : **न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।**
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।। २३ ।।

संस्कृत : न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातयः, न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं, कर्तारमेवानुयाति कर्म ।। २३ ।।

मूल : **चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धण-धन्नं च सव्वं।**
सकम्मबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा ।। २४ ।।

संस्कृत : त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च, क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं च सर्वम्।
स्वकर्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति, परं भवं सुन्दरं पापकं वा ।। २४ ।।

मूल : **तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं दहिय उ पावगेणं।**
भज्जा य पुत्तोवि य नायओ वा, दायारमण्णं अणुसंकमन्ति ।। २५ ।।

संस्कृत : तदेककं तुच्छशरीरकं तस्य, चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रोऽपि च ज्ञातयो व, दातारमन्यमनुसंक्रामन्ति ।। २५ ।।

मूल : **उवणिज्जई जीवियमप्पमायं, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!**
पंचालराया! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माइं महालयाइं ।। २६ ।।

संस्कृत : उपनीयते जीवितमप्रमादं, वर्णं जरा हरति नरस्य राजन्!
पंचालराज! वचनं श्रृणु, मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ।। २६ ।।

२१. "हे राजन्! (जो) इस अस्थायी (मानव-) जीवन में अत्यधिक पुण्य-कर्म (शुभ अनुष्ठान) नहीं करता, तो वह मृत्यु के मुख में जाते हुए (शोक करता है, और साथ ही) धर्म न करने के कारण परलोक में (भी) शोक करता है।"

२२. "जिस प्रकार, यहां सिंह मृग को पकड़ कर (ले जाता है, वैसे ही) अन्त-काल में मृत्यु (भी) मनुष्य को ले ही जाती है। (उस) समय में, माता, पिता, और भाई उसके (दुःख में) हिस्सेदार (सहभागी) नहीं हो पाते।"

२३. "न तो जाति के लोग, न ही मित्र-वर्ग, न ही पुत्र और न ही बन्धु-बान्धव उसके दुःख को बांट पाते हैं। (वह) स्वयं अकेला (ही) दुःख को भोगता है। कर्म (अपने) कर्त्ता का ही अनुगमन किया करता है (अतः कर्म का फल कर्त्ता को ही भोगना होता है, किसी अन्य को नहीं)।"

२४. "(मृत्यु के समय) यह आत्मा पराधीन (विवश) होकर, द्विपद (पत्नी, पुत्र, नौकर आदि), चतुष्पद (गाय, घोड़ा आदि पशु-धन), तथा खेत, घर व समस्त धन-धान्य को (यहीं) छोड़कर, मात्र (स्वकृत) कर्मों को साथ लिए हुए, (कर्मानुरूप) सुन्दर या असुन्दर (अर्थात् सुखद या दुःखप्रद) पर-लोक (अगले जन्म) को प्राप्त करता है।"

२५. "(मृत व्यक्ति के) उस एक मात्र तुच्छ शरीर को चिता पर ले जाकर, आग से जलाने के बाद, जाति के लोग, और पुत्र, तथा (यहां तक कि) भार्या भी किसी अन्य (आश्रय-) दाता का अनुसरण करने लगते हैं।"

२६. "हे राजन्! मनुष्य के इस जीवन को (उसके अपने) कर्म, बिना प्रमाद किये, (मृत्यु के) समीप ले जा रहे हैं। वृद्धावस्था (भी शारीरिक सुन्दर) वर्ण (रंग व कान्ति) को हर लेती है। हे पांचाल-राजा! (मेरी) बात सुनो, 'महालय' (गुरुतर, घोर, प्रचुर महानिकृष्ट) कर्मों को मत करो।"

मूल : **अहं पि जाणामि जहेह साहू! जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।**
भोगा इमे संगकरा हवंति, जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं ।। २७ ।।

संस्कृत : अहमपि जानामि यथेह साधो! यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे संगकरा भवन्ति, ये दुर्जया आर्य! अस्मादृशैः ।। २७ ।।

मूल : **हत्थिणपुरम्मि चित्ता! दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं।**
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं ।। २८ ।।

संस्कृत : हस्तिनापुरे चित्त! दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम्।
कामभोगेषु गृद्धेन निदानमशुभं कृतम् ।। २८ ।।

मूल : **तस्स मे अपडिकंतस्स, इमं एयारिसं फलं।**
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ।। २९ ।।

संस्कृत : तस्मान्ममाप्रतिक्रान्तस्य, इदमेतादृशं फलम्।
जानानोऽपि यद् धर्मं, कामभोगेषु मूर्च्छितः ।। २९ ।।

मूल : **नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्ठूं थलं नाभिसमेइ तीरं।**
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ।। ३० ।।

संस्कृत : नागो यथा पंकजलावसन्नः, दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम्।
एवं वयं कामगुणेषु गृद्धाः, नो भिक्षोर्मार्गमनुव्रजामः ।। ३० ।।

मूल : **अच्चेइ कालो तूरंति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा।**
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीण फलं व पक्खी ।। ३१ ।।

संस्कृत : अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः, न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति, द्रुमं यथा क्षीणफलमिव पक्षिणः ।। ३१ ।।

२७. (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का कथन-) "हे साधो! जिस प्रकार यहां मुझे तुम जो यह शिक्षा रूप कथन कर (काम-भोगों की दुःखप्रदता आदि को सिद्ध कर) रहे हो, उसे मैं भी समझ (तो) रहा हूँ। हे आर्य! (निश्चय ही) ये काम-भोग संग-कारक (आसक्ति में डालकर कर्मबन्धन कराने वाले) हैं, (किन्तु) जो हम जैसे लोगों के लिए (तो) दुर्जेय (ही) हैं।"

२८. "हे चित्र! (तथ्य यह है कि) हस्तिनापुर में महान् ऋद्धिशाली चक्रवर्ती (सनत्कुमार) को देखकर, मैं काम-भोगों में आसक्त हो गया, और मैंने अशुभ 'निदान' (विषय-सुख की इच्छा से चक्रवर्ती बनने का आर्तध्यान रूप संकल्प) कर लिया था।"

२९. "(मृत्यु के समय) मैंने उस (निदान) का प्रतिक्रमण (आलोचना, निन्दा, गर्हा व प्रायश्चित) नहीं किया, (अतः) यह ऐसा फल (प्राप्त हो रहा) है जो मैं धर्म को जानता-समझता हुआ भी काम-भोगों में (ही) आसक्त हो रहा हूँ (उन्हें छोड़ नहीं पा रहा हूँ)।"

३०. "जिस प्रकार दलदल में फंसा हुआ हाथी स्थल (सूखी भूमि) को (अपने सामने) देखता हुआ भी किनारे तक पहुंच नहीं पाता, उसी प्रकार काम-भोगों में आसक्त बने हुए हम (लोग) भिक्षु (श्रमण) के मार्ग (धर्म) का अनुसरण नहीं कर पाते हैं।"

३१. (मुनि द्वारा चक्रवर्ती को पुनः सम्बोधन) ("हे राजन्!) समय बीतता जा रहा है,रातें शीघ्रता से भागी जा रही हैं, मनुष्यों के काम-भोग भी नित्य नहीं (रह पाते) हैं। भोग एक बार प्राप्त होकर (उसी प्रकार) मनुष्य को (उसके पुण्य क्षीण होने पर) छोड़ देते हैं, जैसे पक्षी फलहीन वृक्ष को (छोड़ देते हैं)।"

मूल : **जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!**
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी, तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ।। ३२ ।।

संस्कृत : यदि त्वमसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः, आर्याणि कर्माणि कुरुष्व राजन् ! ।
धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी, तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रियी ।। ३२ ।।

मूल : **न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी, गिद्धोसि आरम्भपरिग्गहेसु ।**
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो, गच्छामि रायं! आमन्तिओ सि ।। ३३ ।।

संस्कृत : नः तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः, गृद्धोऽसि आरंभपरिग्रहेषु ।
मोघं कृत एतावान् विप्रलापः, गच्छामि राजन्नामंत्रितोऽसि ।। ३३ ।।

मूल : **पंचालरायावि य बंभदत्तो, साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।**
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे, अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ।। ३४ ।।

संस्कृत : पंचालराजोऽपि च ब्रह्मदत्तः, साधोस्तस्य वचनमकृत्वा ।
अनुत्तरान् भुक्त्वा कामभोगान्, अनुत्तरे सः नरके प्रविष्टः ।। ३४ ।।

मूल : **चित्तो वि कामेहिं विरत्तकामो, उदग्गचारित्ततवो महेसी ।**
अणुत्तरं संजम पालइत्ता, अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ।। ३५ ।।
त्ति बेमि

संस्कृत : चित्तोऽपि कामेभ्यो विरक्तकामः, उदग्रचारित्रतपा महर्षिः ।
अनुत्तरं संयमं पालयित्वा, अनुत्तरां सिद्धिगतिं गतः ।। ३५ ।।
इति ब्रवीमि ।

३२. "हे राजन्! अगर तू भोगों को छोड़ने में असमर्थ (ही) है, तो (कम से कम) आर्य (श्रेष्ठ) कर्मों को (तो) कर। धर्म में स्थिर होकर समस्त प्रजा पर अनुकम्पा-भाव रखने वाला बन, इसके फलस्वरूप मर कर (जन्मान्तर में) वैक्रिय शरीर वाला देव हो जायेगा।"

३३. "हे राजन् ! भोगों को छोड़ पाने की तुम्हारी बुद्धि (दृष्टि या रुचि) नहीं हो पा रही है, (क्योंकि) तुम आरम्भ व परिग्रह में आसक्त हो रहे हो। मैंने इतना 'प्रलाप' (विविध प्रकार से उपदेश) व्यर्थ ही किया। (मैंने) तुझे 'आमंत्रित' कर दिया है (अर्थात् धर्माराधना हेतु तुझे निमन्त्रण/मंत्रणा/परामर्श दे दिया है, अथवा तुमसे मैंने अनुज्ञा ले ली है,) (अब) मैं जा रहा हूँ।"

३४. पांचाल-राजा ब्रह्मदत्त उस साधु के वचन को (क्रियान्वित) न कर सका, और अनुत्तर (श्रेष्ठतम) काम-भोगों का भोग कर, वह अनुत्तर (सबसे अधम, सप्तम) नरक में प्रविष्ट (उत्पन्न) हुआ।

३५. काम-भोगों से विरक्त-चित्त होकर, उग्र चारित्र व तप वाला महर्षि चित्र भी (गुणसार मुनि के रूप में) अनुत्तर (श्रेष्ठतम) संयम पालन कर, अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) सिद्धि गति (मोक्ष) को प्राप्त हुआ।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

निदान के फलस्वरूप सम्भूत मुनि पद्मगुल्म देव विमान से आयुष्य पूर्ण कर काम्पिल्य नगर में रानी चुलनी की कुक्षि से जन्म ले ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बने। चित्र मुनि देवायुष्य पूर्ण कर पुरिमताल नगर में श्रेष्ठि-पुत्र बन कर प्रव्रजित हुए। दोनों काम्पिल्य नगर में मिले। दोनों ने कर्म-फल- विपाक-विषयक वार्ता की। पूर्वजन्मों की स्मृति करते हुए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्र मुनि को मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों व काम-भोगों के सुख भोगने के लिए प्रव्रज्या को दु:खद बताते हुए आमंत्रित किया। चित्र मुनि ने वर्तमान श्रेष्ठता को पूर्व-कृत शुभ कर्मों का परिणाम बताते हुए ये हितकारी उद्‌गार व्यक्त किए–'सभी गीत विलाप, नाटक विडम्बना, आभूषण भार और काम-भोग दु:खद हैं। ये अज्ञानियों के लिए आकर्षक हैं। सच्चा सुख विरक्त, शील व तप सम्पन्न भिक्षुओं को मिलता है। तुम क्षणिक काम-भोग त्याग चारित्र धर्म ग्रहण करो। अन्यथा मृत्यु-समय व परलोक में शोक होगा। मृत्यु-समय कोई सहायक नहीं होता। कृत कर्मों को अकेले कर्त्ता ही भोगता है। सब सम्पदा यहीं छूट जाती है। शरीर-संस्कार कर सभी स्वजन अन्य आश्रयदाता का अनुसरण करते हैं। वृद्धावस्था व मृत्यु समीप आती जा रही है। रात्रियां भाग रही हैं। काम-भोगों का छूटना अवश्यम्भावी है। अत: प्रमाद व पाप छोड़ो। न छोड़ पाओ तो धर्म में स्थित हो सभी जीवों के प्रति दया पालो। दुर्गति से बचो।' यह सुन ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने काम-भोगों को अपने लिए दुर्जेय बताया। कहा कि 'अशुभ निदान का प्रतिक्रमण न करने के कारण मैं धर्म को जानते हुए भी उसका आचरण नहीं कर पा रहा। मैं दलदल में फंसे हाथी की तरह किनारा देख कर भी वहां तक नहीं पहुंच पा रहा।' चित्र मुनि ने अपने असफल प्रयास पर खेद व्यक्त किया और चले गये। मुनि-वचन पालन न कर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवें नरक में गया। चित्र मुनि ने उत्कृष्ट संयम पाल कर अनुत्तर सिद्ध गति प्राप्त की।

❑❑

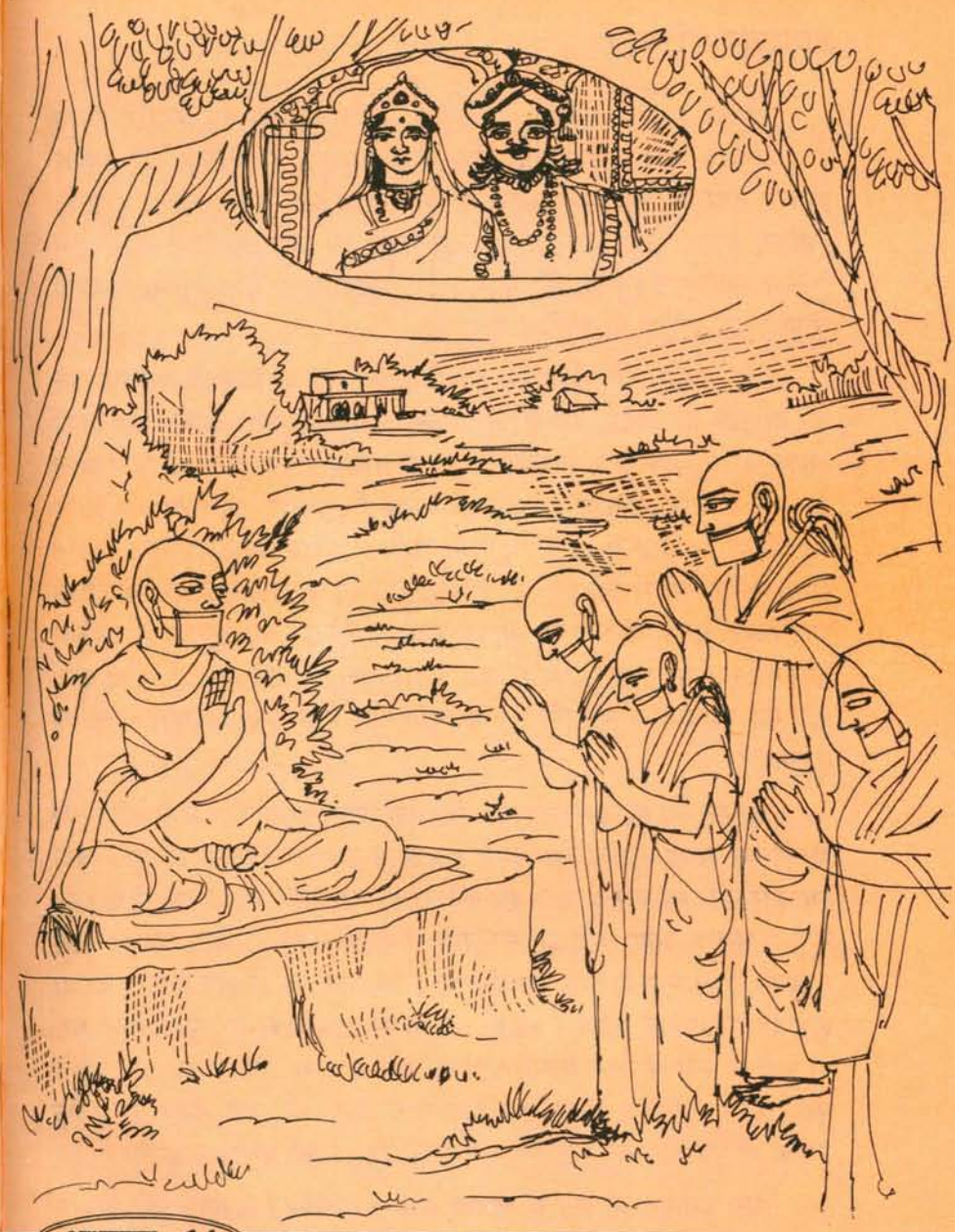

अध्ययन–14

इषुकारीय

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन तरेपन गाथाओं से निर्मित है। इस का केन्द्रीय विषय है– अन्यत्व भाव की जागृति द्वारा विरक्तिमूलक सद्विवेक की प्राप्ति। इषुकार नगर की छह भव्य आत्माओं के रूप में यह विषय साकार हुआ है। इसलिए इसका नाम 'इषुकारीय' रखा गया। इन छह आत्माओं में से एक इषुकार नगर नरेश इषुकार की भी थी। इस नामकरण से राजा इषुकार सम्बन्धी वृत्तान्त का आशय भी व्यंजित होता है।

आत्मा की सभी वैभाविक स्थितियों का सम्यक् ज्ञान ही अन्यत्व भाव की जागृति है। शरीर, सांसारिक सम्बन्ध, धन-सम्पदा, काम-भोग आदि आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं। इन से ममत्व रखना व इनके लिये जीना अन्यत्व भाव में अपनत्व का अनुभव करना है। यह मिथ्यात्व है। कर्म-बन्ध का कारण है। सुख-दुःख का मूल है। शरीर व संसार को आत्मा का परभाव समझना मिथ्यात्व से मुक्त होना है। अन्यत्व भाव का जागृत होना है। विरक्तिदायक सद्विवेक का प्राप्त होना है। आत्म-कल्याण के द्वार का खुलना है। इषुकार नगर की छह भव्य आत्माओं के लिए ये द्वार खुले और उन सभी ने मुक्ति प्राप्त की। उन का वृत्तान्त सांसारिकता के त्याग और मोक्ष-पथ-स्वीकार करने का वृत्तान्त है।

वृत्तान्त का सार इस प्रकार है–क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर में दो श्रेष्ठि-पुत्र थे। उनके श्रेष्ठ कुलीन चार मित्र थे। उक्त छहों ने विरक्त हो मुनि-चर्या स्वीकार की। मर कर वे छहों देव बने। उक्त चार मित्र देव-लोक से चलकर मनुष्य-भव में आए, और इषुकार नगर में उन्होंने भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी (यशा), इषुकार राजा तथा उसकी रानी (कमलावती) के रूप में जन्म लिया। शेष दो श्रेष्ठियों के जीवों ने भी देव-लोक से च्यव कर, भृगु पुरोहित के घर, दो पुत्रों के रूप में जन्म लिया। पुत्रों के रूप में जन्म लेने से पूर्व उन देवों ने पुरोहित को मुनिवेश धारण कर धर्मोपदेश दिया और यह संकेत दिया कि उसके दो पुत्र होंगे जो मुनि बन कर जिन-शासन की प्रभावना करेंगे।

भृग पुरोहित के मन में वैदिक/ब्राह्मण (यज्ञीय) संस्कृति के संस्कार अवशिष्ट थे, और उसकी यह धारणा थी कि पुत्रहीन की गति नहीं होती। उसने सोचा कि यदि मेरे पुत्र मुनि-दीक्षा ले लेंगे तो मेरा श्राद्ध आदि मरणोत्तर धार्मिक क्रियाएं नहीं हो पायेंगी और मेरी सुगति नहीं होगी। इसलिए उसने

बचपन से ही अपने पुत्रों के मन में जैन साधुओं के विषय में भय पैदाकर, उनसे दूर रहने की भावना भरने का प्रयास किया। किन्तु, भवितव्यता कुछ और थी। एक दिन, आहार कर रहे दो मुनियों को उन्होंने देखा और उन्हें पूर्वजन्म-स्मृति हो आई। विरक्ति के भावों में वृद्धि हुई और उन दोनों ने मुनि-दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। वे अनुमति प्राप्त करने के लिए माता-पिता के पास पहुंचे। वैदिक/यज्ञीय संस्कृति के पक्षधर माता-पिता और श्रमण संस्कृति के अनुयायी उन दो पुत्रों के मध्य संवाद प्रारम्भ हुआ। पुरोहित ने अपनी संस्कृति के अनुरूप तर्कों का सहारा लेकर उनसे गृहस्थाश्रम में रहकर आश्रमोचित कर्तव्य व उत्तरदायित्वों का वहन करने का आग्रह किया, जब कि पुरोहित-पुत्रों ने श्रमण संस्कृति के अनुरूप जीवन व काम-भोगों की नश्वरता का प्रतिपादन कर, सांसारिक दु:ख के मूल कारणों का नाश करने के लिए अध्यात्म-साधना की श्रेयस्करता का समर्थन करते हुए, मुनि-चर्या का औचित्य सिद्ध किया।

भृगु पुरोहित ने उन पुत्रों को नास्तिक (चार्वाक) मत का आश्रय लेकर भी, साधना-मार्ग से विचलित करने का प्रयास किया, परन्तु वह सफल नहीं हो पाया। अनेक तर्क-वितर्कों के पश्चात् पुत्रों की वैराग्य-दृढ़ता से प्रभावित होकर, उसने भी मुनि-चर्या स्वीकार करने का निश्चय किया। पुरोहित-पत्नी ने भी अपने पति का अनुगमन किया। इस प्रकार पुरोहित-परिवार के चारों सदस्यों (माता-पिता, दोनों पुत्रों) ने श्रमण दीक्षा स्वीकार की। तत्कालीन राजकीय व्यवस्था के अनुसार पुरोहित परिवार की अपार सम्पत्ति राजकोष में जमा की जाने लगी। रानी कमलावती ने अपने पति को समझाया कि जिस सम्पत्ति को पुरोहित छोड़ रहा है, उसे वापिस लेना उसी तरह निन्दनीय है जिस प्रकार वमन किए हुए को पीना। रानी के उद्‌बोधन से राजा प्रतिबोधित हुए। अन्ततः राजा-रानी भी श्रमण-जीवन चर्या की ओर अग्रसर हो गए। ये छहों व्यक्ति साधना-क्रम में क्रमशः अग्रसर होते हुए मुक्ति प्राप्त करने में सफल हुए।

भ्रमित कर सकने वाली विचारधाराओं का निराकरण करने के साथ-साथ सम्यक् ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आत्मा को स्वाभाविक मार्ग पर अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा देने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह उसुयारिज्जं चउद्दसमं अज्झयणं

(अथेषुकारीयं चतुर्दशमध्ययनम्)

मूल : **देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी, केई चुया एगविमाणवासी ।**
पुरे पुराणे उसुयारनामे, खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ।। १ ।।

संस्कृत : देवा भूत्वा पुरा भवे, केचिच्च्युता एकविमानवासिनः ।
पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि, ख्याते समृद्धे सुरलोकरम्ये ।। १ ।।

मूल : **सकम्मसेसेण पुराकएणं, कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया ।**
निविण्ण-संसारभया जहाय, जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना ।। २ ।।

संस्कृत : स्वकर्म-शेषेण पुराकृतेन, कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूताः ।
निर्विण्णाः संसार भयात्त्यक्त्वा, जिनेन्द्रमार्गं शरणं प्रपन्नाः ।। २ ।।

मूल : **पुमत्तमागम्म कुमार दोवी, पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती ।**
विसालकित्ती य तहेसुयारो, रायत्थ देवी कमलावई य ।। ३ ।।

संस्कृत : पुंस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि, पुरोहितस्तस्य यशा च पत्नी ।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः, राजात्र देवी कमलावती च ।। ३ ।।

मूल : **जाई-जरा-मच्चु-भयाभिभूया, बहिं विहाराभिणिविट्ठचित्ता ।**
संसार चक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ।। ४ ।।

संस्कृत : जाति-जरा-मृत्यु-भयाभिभूतौ, बहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ ।
संसारचक्रस्य विमोक्षणार्थं, दृष्ट्वा तौ कामगुणेभ्यो विरक्तौ ।। ४ ।।

मूल : **पिय-पुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।**
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तव-संजमं च ।। ५ ।।

संस्कृत : प्रिय-पुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य, स्वकर्मशीलस्य पुरोहितस्य ।
स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं, तथा सुचीर्णं तपः संयमं च ।। ५ ।।

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

१. पूर्व जन्म में देवता होकर, एक (ही) विमान में रहने वाले कुछ(जीव देव-आयु पूर्ण कर, वहां से) च्युत हुए, (और) देव-लोक के समान रमणीय, समृद्धिशाली व ख्यातिप्राप्त इषुकार नामक प्राचीन नगर में (अवतरित हुए)।

२. पूर्वकृत अपने कर्मों का भोग अवशिष्ट होने के कारण वे उदग्र (उच्च) कुलों में पैदा हुए। संसार-सम्बन्धी (जन्म-मरण आदि) भय से निर्वेद (वैराग्य व उदासीनता) को प्राप्त होते हुए, (काम-भोगादि को) छोड़कर, उन्होंने जिनेन्द्र (द्वारा प्रतिपादित/अनुसृत मुक्ति के) मार्ग की शरण ली।

३. पुरुषत्व को प्राप्त दोनों (पुरोहित) कुमार, पुरोहित, और उसकी पत्नी 'यशा', विशालकीर्ति वाला 'इषुकार' राजा और उसकी रानी 'कमलावती' (इस प्रकार वे छः जीव थे)।

४. (एक बार जैन मुनियों को) देखकर, उन्हें (दोनों पुरोहित कुमारों को) काम-भोगों से विरक्ति हो गई। वे जन्म, बुढ़ापे व मृत्यु के भय से अभिभूत (भयभीत) हो गए। संसार-चक्र से मुक्ति पाने के लिए उनका चित्त 'मोक्ष' (रूपी अलौकिक रमण-स्थान) के प्रति दृढ़ हो गया।

५. (मुनियों के दर्शन से एक बार में ही विरक्ति हो जाने का कारण यह था कि) अपने (पौरोहित्य) कर्म में संलग्न पुरोहित ब्राह्मण के (उन) दोनों ही प्रिय पुत्रों को तब (अपने) पूर्व-जन्म की तथा (वहां) सम्यक् आचरित तप व संयम की स्मृति हो आई थी।

मूल : **ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सएसु जे यावि दिव्वा।**
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा, तायं उवागम्म इमं उदाहु ।। ६ ।।

संस्कृत : तौ कामभोगेष्वसजन्तौ, मानुष्केषु ये चापि दिव्याः।
मोक्षाभिकांक्षिणावभिजातश्रद्धौ,तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ।। ६।।

मूल : **असासयं दट्ठु इमं विहारं, बहु-अंतरायं न य दीहमाउं।**
तम्हा गिहंसि न रइं लभामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं ।। ७ ।।

संस्कृत : अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं, बहन्तरायं न च दीर्घमायुः।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे, आमन्त्रयावश्चरिष्यावो मौनम् ।।७ ।।

मूल : **अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं, तवस्स वाघायकरं वयासी।**
इमं वयं वेयविओ वयंति, जहा न होई असुयाण लोगो ।। ८ ।।

संस्कृत : अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः, तपसो व्याघातकरमवादीत्।
इमां वाचं वेदविदो वदन्ति, यथा न भवति असुतानां लोकः ।। ८ ।।

मूल : **अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया।**
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ।। ९ ।।

संस्कृत : अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्, पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य गृहे जातौ!
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः, आरण्यकौ भवतं मुनी प्रशस्तौ ।। ९ ।।

मूल : **सोयग्गिणा आयगुणिंधणेणं, मोहानिला पज्जलणाहिएणं।**
संतत्तभावं परितप्पमाणं, लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ।। १० ।।

संस्कृत : शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन, मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन।
संतप्तभावं परितप्यमानं, लालप्यमानं बहुधा बहुं च ।। १० ।।

मूल : **पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं, निमंतयंतं च सुए धणेणं।**
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव, कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ।। ११ ।।

संस्कृत : पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्तं, निमंत्रयन्तं च सुतौ धनेन।
यथाक्रमं कामगुणैश्चैव, कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ।। ११ ।।

६. (जाति-स्मरण के कारण) मनुष्य-जीवन-सम्बन्धी (काम-भोगों में) तथा जो भी दिव्य (देव लोक-सम्बन्धी काम-भोग) हैं, उन काम-भोगों में वे अनासक्त हो गए। मोक्ष की आकांक्षा वाले तथा श्रद्धा (तत्व-रुचि) से सम्पन्न वे (दोनों कुमार अपने) पिता के पास आकर यह कहने लगे-

७. "यह 'विहार' (मनुष्य-जीवन-रूप रति-स्थान) अस्थायी है, तथा अनेक विघ्नों से पूर्ण है, आयु भी लम्बी नहीं होती-इसे जान लिया है, इस कारण हमें घर में आनन्द नहीं मिल पा रहा है, (इसलिए) मुनि-धर्म का आचरण करेंगे, (इस विषय में हम) आपकी अनुमति चाहते हैं।"

८. तब, उस स्थिति में पिता ने उन (भावी) मुनियों के तप में बाधा पैदा करने वाला यह वचन कहा-"(हे पुत्रो!) वेदज्ञानी (प्रायः) यह वचन कहा करते हैं, कि 'पुत्र-हीनों का (पर) लोक (सुधरता) नहीं है।"

९. "(इसलिए) वेद पढ़कर, ब्राह्मणों को भोजन खिला कर, स्त्रियों के साथ भोगों को भोग कर, तथा उत्पन्न पुत्रों को घर (का भार) सौंप कर (वैदिक परम्परा में मान्य) अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बन जाना।"

१०. (पुत्रों ने देखा कि पिता जी संभावित पुत्रवियोग की आशंका में) शोक की उस आग से, जो आत्मीय/मानसिक रागादि का ईन्धन पाकर, मोहरूपी वायु से अधिकाधिक प्रज्वलित हो रही है-संतप्त व परितप्त हो रहे हैं, इसलिए वे (गृहस्थाश्रम में रहने के लिए) अनेक प्रकार से व अधिकाधिक अनुनय-विनय कर रहे हैं।

११. (अपने) बेटों को धन-वैभव (आदि) का तथा काम-भोगों का यथाक्रम (उचित क्रम से, एक के बाद एक) निमंत्रण दे रहे तथा क्रमशः (लगातार या बारबार) अनुनय-विनय करते जा रहे (अपने पिता) पुरोहित को उन कुमारों ने सोच-विचार कर ये वाक्य (कहेः-)

मूल : **वेया अहीया न भवंति ताणं, भुत्ता दिया निंति तमंतमेणं।**
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ।।१२।।

संस्कृत : वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं, भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि।
जाताश्च-पुत्रा न भवन्ति त्राणं, को नाम तवाऽनुमन्येतैतत् ।।१२।।

मूल : **खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।**
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।।१३।।

संस्कृत : क्षणमात्र-सौख्या बहुकालदुःखाः, प्रकामदुःखा अनिकाम-सौख्याः।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः, खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ।।१३।।

मूल : **परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे।**
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ।।१४।।

संस्कृत : परिव्रजन् अनिवृत्तकामः, अहिन च रात्रौ परितप्यमानः।
अन्य-प्रमत्तो धनमेषयन्, प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च ।।१४।।

मूल : **इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।**
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए? ।।१५।।

संस्कृत : इदं च मेऽस्ति, इदं च नास्ति, इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेवं लालप्यमानं, हरा हरन्तीति कथं प्रमादः? ।।१५।।

मूल : **धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पगामा।**
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ।।१६।।

संस्कृत : धनं प्रभूतं सहस्त्रीभिः, स्वजनास्तथा कामगुणाः प्रकामाः।
तपः कृते तप्यते यस्य लोकः, तत् सर्वं स्वाधीनमिहेव युवयोः ।।१६।।

१२. ''वेद पढ़ (भी) लिया तो वह 'त्राण' (रक्षा का साधन) नहीं हो पाता, (यज्ञ में पशु-हिंसा के समर्थक) ब्राह्मणों को खिलाया-पिलाया (भी) जाय, (तो भी) वे 'तमस्तम' (घोर अन्धकार से युक्त नरक) में पहुंचा देंगे, अपने जन्मे (औरस) पुत्र भी 'त्राण' (रक्षक) नहीं होते, (इस स्थिति में) कौन ऐसा होगा जो आपके इस (उक्त कथन) का अनुमोदन करेगा?''

१३. ''ये काम भोग (जीवों को) सुख तो क्षण-मात्र देते हैं, (परन्तु) दुःख चिरकाल तक दिया करते हैं। दुःख तो प्रचुर/अधिक देते हैं, (किन्तु) सुख थोड़ा ही दिया करते हैं। (ये काम-भोग) संसार-मुक्ति (की प्राप्ति के मार्ग) में 'विपक्ष' (बाधक शत्रु बनते) हैं, और अनर्थों की खान (भी) हैं।''

१४. ''कामनाओं से निवृत्त न होने वाला व्यक्ति दिन-रात (अतृप्ति के कारण) संतप्त होता हुआ इधर-उधर भटकता-फिरता रहता है, और अन्य (सगे-सम्बन्धियों आदि) के लिए प्रमादयुक्त होकर, धन की गवेषणा में लगा हुआ (वह व्यक्ति क्रमशः) वृद्धावस्था एवं (एक दिन) मृत्यु को (भी) प्राप्त हो जाता है।''

१५. ''यह (वस्तु) मेरे पास है, यह (वस्तु) मेरे पास नहीं है, यह कार्य मुझे करना है, यह कार्य नहीं करना है, इस प्रकार बार-बार बकवास (व सोच-विचार) करते रहने वाले उस (व्यक्ति) को 'हर' (प्राणहारी काल आदि) हरण कर ले जाते हैं, इसलिए प्रमाद कैसा?''

१६. (पिता पुरोहित का कथन-)

''जिस के लिए लोग तप करते हैं, (जैसे उदाहरण - रूप में) स्त्रियों के साथ-साथ प्रचुर धन, (माता-पिता आदि उपकारक) स्वजन, तथा उत्कृष्ट काम-भोग, यह सब (तो) तुम दोनों को यहीं स्वतः हस्तगत है। (फिर क्यों मुनि बनकर तपस्या का मार्ग अपनाना चाहते हो?)''

मूल : **धणेण किं धम्मधुराहिगारे, सयणेण वा कामगुणेहि चेव ।**
समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खं ।। १७ ।।

संस्कृत : धनेन किं धर्मधुराधिकारे, स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव ।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ, बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ।। १७ ।।

मूल : **जहा य अग्गी अरणीअ सन्तो, खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु ।**
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता, संमुच्छई नासइ नावचिट्टे ।। १८ ।।

संस्कृत : यथा चाग्निररणितोऽसन्, क्षीरे घृतं तैलं महातिलेषु ।
एवमेव जातौ! शरीरे सत्त्वाः, संमूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ।। १८ ।।

मूल : **नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।**
अज्झत्थ हेउं निययस्स बन्धो, संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ।। १९ ।।

संस्कृत : नोइन्द्रिय-ग्राह्योऽमूर्तभावात्, अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः ।
अध्यात्म- हेतुर्नियतोऽस्य बन्धः, संसार-हेतुं च वदन्ति बन्धम् ।। १९ ।।

मूल : **जहा वयं धम्ममजाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।**
ओरुज्झमाणा परिरक्खियंता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो ।। २० ।।

संस्कृत : यथाऽऽवां धर्ममजानानौ, पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात् ।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ, तन्नैव भूयोऽपि समाचरावः ।। २० ।।

मूल : **अब्भाहयंमि लोगंमि, सव्वओ परिवारिए ।**
अमोहाहि पडंतीहिं, गिहंसि न रइं लभे ।। २१ ।।

संस्कृत : अभ्याहते लोके, सर्वतः परिवारिते ।
अमोघाभिः पतन्तीभिः, गृहे न रतिं लभावहे ।। २१ ।।

१७. (पुत्रों का उत्तर) "धर्म की धुरा (को वहन करने) के प्रकरण या प्रसंग में धन या स्वजन अथवा काम-भोगों का क्या प्रयोजन है? हम (तो) गुण-समूह (रत्नत्रय और अठारह हजार शीलांग) को धारण करने वाले, तथा भिक्षा-(वृत्ति) का आश्रय लेकर 'बहिर्विहार' (ग्रामादि के बाहर या निर्द्वन्द्व विचरण) करने वाले 'श्रमण' बनेंगे।"

१८. (नास्तिकता का पाठ पढ़ा कर मुनि-धर्म से विमुख करने के उद्देश्य से पिता का कथन-) "हे पुत्रो! जैसे अरणि में (पहले से अविद्यमान) अग्नि (उत्पन्न होती है, और) दुग्ध में घृत व तिलों में तैल (पहले से असत् होते हुए भी) उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार (पंचभूत-संघात/समुदाय रूप) शरीर में भी जीव उत्पन्न होते हैं, (शरीर-नाश होते ही) नष्ट हो जाते हैं, (तदनन्तर) उनका अस्तित्व विद्यमान नहीं रहा करता।"

१९. (पुरोहित-कुमारों का पिता को प्रत्युत्तर-)
"आत्मा (वास्तव में) अमूर्त होने के कारण इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हो पाती। चूंकि वह अमूर्त है, इसीलिए वह नित्य (भी) है। आत्मीय (रागादि) भाव (ही) नियत रूप से उसके 'बन्ध' के कारण हैं, और इस 'बन्ध' को ही 'संसार' का हेतु कहा जाता है।"

२०. "जिस प्रकार, हम धर्म से अनभिज्ञ होते हुए, मोहवश पहले पाप-कर्म का आचरण किया करते थे। (वास्तविक धर्म के ज्ञान व अनुष्ठान में अब तक) आप (ही) हमारे अवरोधक बने रहे, और हमारे पाप-कार्यों को आप संरक्षण भी देते रहे, (किन्तु अब हम पहले-जैसा) वह आचरण पुनः नहीं करेंगे।"

२१. "यह लोक 'अभ्याहत' (अर्थात् चारों ओर से प्रताड़ित/पीड़ित) हो रहा है, यह चारों ओर से घिर चुका है, 'अमोघा' आती चली जा रही है, (इसलिए) हमें घर में आनन्द/सुख नहीं मिल रहा है।"

मूल : **केण अब्भाहओ लोगो? केण वा परिवारिओ?**
का वा अमोहा वुत्ता? जाया! चिंतावरो हुमे ।। २२ ।।

संस्कृत : केनाभ्याहतो लोकः? केन वा परिवारितः।
का वाऽमोघा उक्ताः?, जातौ! चिन्तापरो भवामि ।। २२।।

मूल : **मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।**
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! वियाणह ।। २३ ।।

संस्कृत : मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः, जरया परिवारितः।
अमोघा रजनी उक्ता, एवं तात! विजानीहि ।। २३ ।।

मूल : **जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।**
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ।। २४ ।।

संस्कृत : या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ।। २४ ।।

मूल : **जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।**
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ।। २५ ।।

संस्कृत : या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ।। २५ ।।

मूल : **एगओ संवसित्ताणं, दुहओ सम्मत्त-संजुया।**
पच्छा जाया! गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले-कुले ।। २६ ।।

संस्कृत : एकतः समुष्य, द्वये सम्यक्त्व-संयुताः।
पश्चाज्जातौ! गमिष्यामः, भिक्षमाणाः कुले कुले ।। २६ ।।

मूल : **जस्स ऽत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स व ऽत्थि पलायणं।**
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ।। २७ ।।

संस्कृत : यस्यास्ति मृत्युना सख्यं, यस्य वाऽस्ति पलायनम्।
यो जानीते न मरिष्यामि, स खलु कांक्षति श्वः स्यात् ।। २७ ।।

२२. (पिता पुरोहित की जिज्ञासा-) "हे पुत्रो! यह लोक किससे अभ्याहत (प्रताड़ित/पीड़ित) हो रहा है, और कौन इसे घेरे हुए है, और 'अमोघा' किसे कहते हैं? (यह जानने के लिए) मैं चिन्तातुर (व्याकुल) हो रहा हूँ।"

२३. (पुरोहित-कुमारों का कथन-)
"हे पिता जी! आप ठीक से समझ लें कि यह लोक मृत्यु से अभ्याहत (प्रताड़ित/पीड़ित) हो रहा है, वृद्धावस्था ने इसे घेर रखा है, और रात्रि (समय-चक्र) को 'अमोघा' कहते हैं।"

२४. "जो-जो रात्रि व्यतीत होती जा रही है, वह लौट कर नहीं आ पाती। अधर्म का आचरण करने वाले की (सब) रात्रियां निष्फल (व्यर्थ या सुफल-रहित) होती हैं।"

२५. "जो-जो रात्रि व्यतीत होती जा रही है, वह लौट कर नहीं आ पाती। धर्म का आचरण करने वाले (व्यक्ति) की (सब) रात्रियां सफल (सार्थक व सुफल-युक्त) होती हैं।"

२६. (पुरोहित पिता का कथन-) "हे पुत्रो! तुम दोनों और हम एक साथ (गृहस्थ-आश्रम में) सम्यक्त्व (व व्रतों) से युक्त होकर रह लें, बाद में (वृद्धावस्था में) घर-घर भिक्षा मांगते हुए (हम सब) विहार (प्रारम्भ) करेंगे।"

२७. (पुत्रों का कथन-) "(हे पिता जी!) जिसकी मृत्यु से मित्रता हो, या जो (उससे बच कर) पलायन कर सकता हो, या फिर जो यह समझ बैठा है कि मरूंगा ही नहीं, वही (धर्माचरण को) कल (करने) की इच्छा कर सकता है।"

मूल : **अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।**
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ।। २८ ।।

संस्कृत : अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यावहे, यं प्रपन्ना न पुनर्भविष्यावः।
अनागतं नैव चाऽस्ति किञ्चित्, श्रद्धाक्षमं नो विनीय रागम् ।। २८ ।।

मूल : **पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो, वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।**
साहाहिं रुक्खो लहए समाहिं, छिन्नाहिं साहाहिं तमेव खाणुं ।। २९ ।।

संस्कृत : प्रहीणपुत्रस्य खलु नास्ति वासः, वशिष्ठि! भिक्षाचर्यायाः कालः।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं, छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम् ।। २९ ।।

मूल : **पंखा-विहूणो व्व जहेह पक्खी, भिच्चा-विहूणो व्व रणे नरिंदो।**
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए, पहीणपुत्तो मि तहा अहंपि ।। ३० ।।

संस्कृत : पक्षविहीन इव यथेह पक्षी, भृत्यविहीनो व रणे नरेन्द्रः।
विपन्नसारो वणिगिव पोते, प्रहीणपुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ।। ३०।।

मूल : **सुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिण्डिया अग्गरसप्पभूया।**
भुंजामु ता कामगुणे पगामं, पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ।। ३१ ।।

संस्कृत : सुसंभृताः कामगुणा इमे ते, सम्पिण्डिता अग्र्य-रस-प्रभूताः।
भुञ्जीवहि तावत् कामगुणान् प्रकामं, पश्चात् गमिष्यावः प्रधानमार्गम् ।। ३१ ।।

मूल : **भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ, न जीवियट्ठा पजहामि भोए।**
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं, संविक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ।। ३२ ।।

संस्कृत : भुक्ता रसा भवति! जहाति नो वयः, न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं, संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ।। ३२ ।।

२८. "(हे पिता जी!) हम (तो) आज ही राग (पारिवारिक स्नेह) को दूर कर, तथा हमारी निज श्रद्धा के सामर्थ्य के अनुरूप (श्रमण) धर्म को स्वीकार करेंगे, जिसे अंगीकार कर हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा। (हमारे लिए) कुछ भी (काम-भोग) अनागत (पूर्व-जन्मों में अभुक्त) नहीं रहा है।"

२९. (पुरोहित का अपनी पत्नी से कथन-) "हे वाशिष्ठी! जिसके पुत्र ही चले जा रहे हों, उसका (घर में) निवास (उचित) नहीं। मेरे लिए भिक्षा-चर्या का समय (आ चुका) है। (क्योंकि) वृक्ष शाखाओं से (ही) समाधि (सुन्दरता व शोभा) को प्राप्त होता है, शाखाओं के छिन्न होने पर वही वृक्ष ठूंठ है।"

३०. "जिस प्रकार संसार में पंखों से हीन पक्षी, युद्ध में सेवक (योद्धाओं) के बिना राजा, तथा जल-पोत पर 'सार' (व्यापार-योग्य माल) नष्ट हो गया हो, वह बनिया (दुःखी) होता है, वैसे ही पुत्रों के बिना मैं (असहाय व दुःखी हो रहा) हूँ।"

३१. (पुरोहित-पत्नी का कथन-) "श्रेष्ठ श्रृंगारिक विषय-रस से परिपूर्ण (या प्रचुर आनन्द-दायक) ये काम-भोग (के साधन मनोज्ञ रूप-रसादि) आपके पास एकत्रित व सुसज्जित (उपलब्ध) हैं। इन कामभोगों को पहले हम पर्याप्त रूप से भोग लें, बाद में (वृद्धावस्था में जाकर) हम 'प्रधान' (मोक्ष) के मार्ग पर प्रस्थान करेंगे।"

३२. (पुरोहित का प्रत्युत्तर) "हे ब्राह्मणि! हमने विषय-रसों को भोग लिया है, वय (यौवन) हमें छोड़ता जा रहा है। मैं (किसी असंयममय, या परलोक व जन्मान्तर में प्राप्य सुखमय) जीवन के लिए तो भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख को समदृष्टि से देखता हुआ (मैं भी) मुनि-धर्म का आचरण करूंगा।"

मूल : **मा हु तुमं सोयरियाण सम्भरे, जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ।**
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं, दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ।। ३३ ।।

संस्कृत : मा खलु त्वं सोदर्याणां स्मार्षीः, जीर्ण इव हंसः प्रतिस्रोतगामी ।
भुंक्ष्व भोगान् मया समं, दुःखं खलु भिक्षाचर्या-विहारः ।। ३३ ।।

मूल : **जहा य भोई! तणुयं भुयंगो, निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो ।**
एमेए जाया पयहंति भोए, तोहं कहं नाणुगमिस्समेक्को? ।। ३४ ।।

संस्कृत : यथा च भवति! तनुजां भुजंगः, निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः ।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्, तौ अहं कथं नानुगमिष्याम्येकः? ।। ३४ ।।

मूल : **छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया, मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।**
धोरेयसीला तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खायरियं चरंति ।। ३५ ।।

संस्कृत : छित्त्वा जालमबलमिव रोहिता, मत्स्या यथा कामगुणान् प्रहाय ।
धौरेयशीलास्तपसा उदाराः, धीराः खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति ।। ३५।।

मूल : **नहेव कुंचा समइक्कमन्ता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।**
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं, ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का ।। ३६ ।।

संस्कृत : नभसीव क्रौंचाः समतिक्रामन्तः, ततानि जालानि दलित्वा हंसा ।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम, तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका ।। ३६।।

मूल : **पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए ।**
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं, रायं अभिक्खं समुवाय देवी ।। ३७ ।।

संस्कृत : पुरोहितं तं ससुतं सदारं, श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान् ।
कुटुम्बसारं विपुलोत्तमं तद्, राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी ।। ३७ ।।

३३. (पुरोहित-पत्नी का कथन-) "(हे आर्य!) प्रतिस्रोत (जल-प्रवाह के प्रतिकूल) तैरने वाले बूढ़े हंस की तरह, तुम्हें अपने सहोदर भाई (स्वजन आदि) स्मरण में न आ जाएं (और तुम पश्चाताप या खेद करो), इसलिए मेरे साथ भोगों को भोगो। वास्तव में (यह) भिक्षाचर्या तथा (एक गांव से दूसरे गांव तक) विहार करते रहना दुःखप्रद ही है।"

३४. (पुरोहित का पत्नी को कथन-) "हे ब्राह्मणि! जिस प्रकार सर्प अपने शरीर की केंचुली को उतार कर मुक्त हो, चल देता है, उसी प्रकार ये (मेरे दोनों) पुत्र भोगों को छोड़ (कर जा) रहे हैं, तब मैं (ही) अकेला क्यों (रहूं? इनका क्यों) न अनुसरण करूं।"

३५. "जिस प्रकार रोहित मत्स्य कमजोर जाल को काट देता है (और बाहर निकल जाता है), उसी तरह संयम-धर्म के (गुरुतर) भार को ढोने में सक्षम स्वभाव वाले, उच्च तपस्वी व धीर (पुरुष) अवश्य ही काम-भोगों को छोड़ कर भिक्षा-चर्या (मुनि-वृत्ति) का आचरण करने लगते हैं (या उस ओर चल पड़ते हैं)।"

३६. (पुरोहित-पत्नी का कथन-)

"जिस प्रकार क्रौंच पक्षी और हंस (बहेलियों द्वारा) फैलाये गये जालों को काट-कर (आकाश में बाधाओं को)पार कर चले जाते हैं, (उसी प्रकार) मेरे (दोनों) पुत्र और पति (देव) (जब) जा रहे हैं, (तब) मैं (ही) अकेली क्यों (रहूं? इनका क्यों) न अनुसरण करूं?" (इस प्रकार, पुरोहित, उसकी पत्नी तथा उसके दोनों पुत्र मुनि-दीक्षा अंगीकार कर लेते हैं।)

३७. पुरोहित अपने (दो) पुत्रों तथा पत्नी के साथ, भोगों का परित्याग कर, प्रव्रजित हो रहे हैं-ऐसा सुनकर (उस पुरोहित के) कुटुम्ब की विपुल व उत्तम धन-सम्पत्ति के विषय में रानी (कमलावती) ने राजा को (जो उस संपत्ति को अपने अधिकार में करना चाहता था) बार-बार (समझाते हुए) कहा:-

मूल : **वंतासी पुरिसो रायं!, न सो होइ पसंसिओ।**
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि ।। ३८ ।।

संस्कृत : वान्ताशी पुरुषो राजन्!, न स भवति प्रशंसितः।
ब्राह्मणेन परित्यक्तं, धनमादातुमिच्छसि ।। ३८ ।।

मूल : **सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।**
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ।। ३९ ।।

संस्कृत : सर्वं जगत् यदि तव, सर्वं वाऽपि धनं भवेत्।
सर्वमपि तेऽपर्याप्तं, नैव त्राणाय तत्तव ।। ३९ ।।

मूल : **मरिहिसि रायं! जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।**
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।। ४० ।।

संस्कृत : मरिष्यसि राजन्! यदा तदा वा, मनोरमान् कामगुणान् प्रहाय।
एकः खलु धर्मो नरदेव! त्राणं, न विद्यतेऽन्यमिहेह किंचित् ।। ४० ।।

मूल : **नाऽहं रमे पक्खिणि पंजरे वा, संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं।**
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा, परिग्गहारंभ-नियत्तदोसा ।। ४१ ।।

संस्कृत : नाऽहं रमे पक्षिणी पंजर इव, छिन्नसन्ताना चरिष्यामि मौनम्।
अकिंचना ऋजुकृता निरामिषा, परिग्रहारम्भनिवृत्तदोषाः ।। ४१ ।।

मूल : **दवग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु।**
अन्ने सत्ता पमोयंति, रागद्दोसवसंगया ।। ४२ ।।

संस्कृत : दवाग्निना यथाऽरण्ये, दह्यमानेषु जन्तुषु।
अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते, राग-द्वेष-वशंगताः ।। ४२ ।।

मूल : **एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया।**
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसऽग्गिणा जगं ।। ४३ ।।

संस्कृत : एवमेव वयं मूढाः, कामभोगेषु मूर्च्छिताः।
दह्यमानं न बुध्यामहे, राग द्वेषाग्निना जगत् ।। ४३ ।।

३८. "हे राजन्! तुम ब्राह्मण द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाह रहे हो। (किन्तु) (जो) व्यक्ति वमन किये हुए का भक्षण करता है, वह प्रशंसनीय नहीं होता।"

३९. "यदि तुम्हें सम्पूर्ण संसार या उसका (सारा) धन भी प्राप्त हो जाए, तो भी वह सब तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं होगा, और न ही वह तुम्हारी रक्षा ही कर सकेगा।"

४०. "हे राजन्! जब कभी (किसी दिन) मनोज्ञ काम-भोगों को (यहीं) छोड़ कर मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे, तब हे नरदेव! एक धर्म ही रक्षक होगा, उसके अतिरिक्त यहां कोई भी (रक्षक) नहीं है।"

४१. "पिंजरे में (बन्द) पक्षिणी की तरह मैं सुख का अनुभव नहीं कर पा रही हूँ, (अतः) मैं (भी स्नेह के) बन्धन को तोड़कर अकिंचन (अपरिग्रही), सरल (स्वभाव से युक्त, या मायादि शल्य से रहित), निरामिष (भोगासक्ति से दूर), तथा (परिग्रह व आरम्भ (हिंसा) रूप दोषों से मुक्त होती हुई मुनि-धर्म का आचरण करूंगी।"

४२. "जिस प्रकार जंगल में लगी हुई दावाग्नि से झुलसते हुए जीव-जन्तुओं को देख कर राग-द्वेष के वशीभूत दूसरे (मूढ़) जीव प्रसन्न होते हैं।"

४३. "उसी प्रकार, काम-भोगों में आसक्त हो रहे हम मूढ़ जन (भी) यह नहीं समझ पाते कि राग-द्वेष (कषाय रूपी) अग्नि द्वारा समूचा संसार (ही) जलता जा रहा है (और यह भी कि प्रमुदित होने के स्थान पर स्वयं को बचाने का प्रयत्न किया जाये)।"

मूल : **भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो।**
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव।।४४।।

संस्कृत : भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च, लघुभूत-विहारिणः।
आमोदमाना गच्छन्ति, द्विजाः काम-क्रमा इव।।४४।।

मूल : **इमे य बद्धा फंदन्ति, मम हत्थऽज्जमागया।**
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे।।४५।।

संस्कृत : इमे च बद्धाः स्पन्दन्ते, मम हस्तमार्य! आगताः।
वयं च सक्ताः कामेषु, भविष्यामो यथा इमे।।४५।।

मूल : **सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं निरामिसं।**
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामि निरामिसा।।४६।।

संस्कृत : सामिषं कुललं दृष्ट्वा, बाध्यमानं निरामिषम्।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा, विहरिष्यामि निरामिषा।।४६।।

मूल : **गिद्धोवमे उ नच्चाणं, कामे संसार-वड्ढणे।**
उरगो सुवण्णपासे व, संकमाणो तणुं चरे।।४७।।

संस्कृत : गिद्धोपमांस्तु ज्ञात्वा, कामान् संसारवर्द्धनान्।
उरगः सौपर्णेय-पार्श्वेव, शंकमानस्तनुं चरेत्।।४७।।

मूल : **नागोव्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए।**
एयं पत्थं महाराय! उस्सुयारित्ति मे सुयं।।४८।।

संस्कृत : नाग इव बन्धनं छित्वा, आत्मनो वसतिं व्रजेत्।
एतत् पथ्यं महाराज! इषुकार! इति मया श्रुतम्।।४८।।

४४. "(उक्त दावाग्नि के मध्य भी जो आत्मार्थी साधक) स्वेच्छा-विहारी पक्षियों की तरह, भोगों को भोग कर छोड़ (भी) देते हैं, और (अपरिग्रही होने के कारण) लघुभूत (वायु की तरह अप्रतिबद्ध एवं संयम में स्थित) होकर विचरण करने वाले होते हैं, (वे ही कषाय-अग्नि से सुरक्षित व निरापद होते हुए) प्रमुदित होकर विचरण कर पाते हैं।"

४५. "हे आर्य! हम (तो) उन्हीं (अस्थिर) काम-भोगों में आसक्त हो रहे हैं जो मेरे (व आपके) हस्तगत (तो) हैं, (किन्तु) ये बांध कर (नियन्त्रित) रखे जाने पर (भी) कम्पित/चलायमान होते रहते (अर्थात् अस्थिर स्वभावी) हैं। (इसलिए) इन (पुरोहित आदि) की तरह (ही) हम (मुनि-चर्या में प्रवृत्त) होंगे।"

४६. "मांस लिए हुए गीध पक्षी (पर दूसरे मांस भक्षी झपटते हैं, उस) को बाधित/पीड़ित होता हुआ, तथा मांस से रहित (उसी गीध पक्षी) को (निरापद) देखकर, मैं (भी) समस्त मांस (के तुल्य परिग्रह व कामभोगों) का परित्याग कर ('निरामिष' : विरक्त, अकिंचन) रूप में विचरण करूंगी।"

४७. "समस्त काम-भोग गीध (के उदाहरण) की तरह (आपत्तियों के घर तथा) संसार (रूपी जन्म-मरण आदि भय) के वर्धक हैं-इसे जान-समझ कर (इन कामभोगों से उसी प्रकार) आशंकित होते हुए, धीरे-धीरे-संभल-संभल कर (यतनापूर्वक) चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड़ के समीप सांप (शंकित होकर चलता है)।"

४८. "जिस प्रकार, हाथी बन्धन को तोड़ कर, अपनी बस्ती (जंगल) में चला जाता है, (वैसे ही हमें भी अपने शाश्वत निवास 'मुक्ति' में चले जाना चाहिए।) महाराज इषुकार! यह (ही) हमारे लिए (एकमात्र) पथ्य (हितकारक कार्य) है - ऐसा मैंने (ज्ञानियों से) सुना है।"

मूल : **चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए।**
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा।।४६।।

संस्कृत : त्यक्त्वा विपुलं राज्यं, कामभोगांश्च दुस्त्यजान्।
निर्विषयौ निरामिषौ, निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ।।४६।।

मूल : **सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे।**
तवं पगिज्झहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा।।५०।।

संस्कृत : सम्यग्धर्म-विज्ञाय, त्यक्त्वा कामगुणान् वरान्।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं, घोरं घोरपराक्रमौ।।५०।।

मूल : **एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्म-परायणा।**
जम्म-मच्चु-भउव्विग्गा, दुक्खस्संतगवेसिणो।।५१।।

संस्कृत : एवं ते क्रमशो बुद्धाः, सर्वे धर्म-परायणाः।
जन्म-मृत्यु-भयोद्विग्नाः, दुःखस्यान्तगवेषिणः।।५१।।

मूल : **सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावण-भाविया।**
अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्संतमुवागया।।५२।।

संस्कृत : शासने विगतमोहानां, पूर्वं भावना-भाविताः।
अचिरेणैव कालेन, दुःखस्यान्तमुपागताः।।५२।।

मूल : **राया सह देवीए, माहणो य पुरोहिओ।**
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे।।५३।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : राजा सह देव्या, ब्राह्मणश्च पुरोहितः।
ब्राह्मणी दारकौ चैव, सर्वे ते परिनिर्वृताः।।५३।।
इति ब्रवीमि।

४९. (तदनन्तर) विशाल राज्य को तथा कठिनता से छोड़े जा सकने वाले काम-भोगों को छोड़कर (राजा इषुकार व रानी कमलावती) निर्विषय (भोगासक्ति में कारण होने वाले पदार्थों तथा वासना से रहित, तथा अपने राष्ट्र से दूर) निरामिष (काम-भोगों, आकांक्षाओं तथा धन-वैभव व देह की आसक्ति से रहित) (स्वजन आदि के संग रूप) स्नेह से रहित, तथा अपरिग्रही हो गए।

५०. (श्रुत-चारित्र रूप) धर्म (के स्वरूप) का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर, श्रेष्ठ काम-भोगों को (भी) छोड़कर (वे दोनों) यथाख्यात (जिनोपदिष्ट) घोर तपश्चरण को अंगीकार कर (संयम-मार्ग में) 'घोर पराक्रम' करने वाले[1] बने।

५१. इस प्रकार, वे सभी (छहों मुमुक्षु आत्माएं) क्रमशः 'बुद्ध' (तत्वज्ञ) धर्म (चारित्र) में परायण, जन्म-मृत्यु के भय से उद्विग्न एवं दुःख के अन्त (अर्थात् समूल विनाश वाले 'मोक्ष') की गवेषणा में लग गए।

५२. पूर्व (जन्म) में (अनित्य आदि) भावनाओं को भाने वाले वे सभी (छहों भव्य आत्माएं) मोहरहित होकर, (जिन) शासन में थोड़े समय में ही दुःख का (समूल), अन्त पा गए।

५३. रानी (कमलावती) के साथ राजा (इषुकार), (भृगु) पुरोहित ब्राह्मण, (उसकी पत्नी 'यशा' नाम की) ब्राह्मणी, और (उस ब्राह्मण के) दोनों पुत्र-वे सभी निर्वाण को प्राप्त हो गए।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

---

१. भयंकर रोगादि से भी अप्रभावित, भयावह श्मशान आदि स्थानों में तथा अनशन आदि दुश्चर तपस्या में अचल व घोर तपस्वी जप तप व भोग को उत्तरोत्तर समृद्ध करते हुए, बढ़ते ही चले जाते हैं- वे 'घोर पराक्रमी' कहलाते हैं।

अध्ययन–सार :

इषुकार नगर में एक ही देव-विमान-वासी छह देव दो पुरोहित-पुत्रों, उनकी पत्नी यशा, राजा इषुकार व रानी कमलावती के रूप में उत्पन्न हुए। मुनि-दर्शन से दोनों पुरोहित-पुत्र विरक्त हो गये। उन्हें पूर्व-जन्मों की स्मृति हो आई। अनासक्त मुमुक्षु होकर वे अपने पिता से बोले–'मनुष्य-जन्म अनित्य है। मुनि-धर्म पालन की अनुमति दें।' पुरोहित ने उन्हें रोकते हुए कहा–'पुत्रहीन को सद्गति नहीं मिलती। वेद-अध्ययन, विप्रों को भोजन-दान, विवाह व भोग-प्राप्ति करने के बाद पुत्रों को गृह-दायित्व दे मुनि बनना। सभी दिव्य भोग तुम्हें यहीं प्राप्त हैं। तब प्रव्रज्या क्यों लेनी? शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। तुम घर में रहते हुए सम्यक्त्व व व्रत-पालन कर बुढ़ापे में श्रमण बन जाना।' पुत्र बोले–'वेदाध्ययन आदि रक्षक नहीं होते। काम-भोग क्षणिक सुख व दीर्घ दु:ख-दायी हैं। कामासक्त अतृप्त अवस्था में मृत्यु पाता है। मृत्यु के रहते प्रमाद असम्भव है। धर्म-धुरा-धारी को काम-भोगों से कोई प्रयोजन नहीं। आत्मा इन्द्रिय-गम्य नहीं। अमूर्त व नित्य है। राग-द्वेष से होने वाला बन्ध संसार का हेतु है। धर्म जानकर हम पाप नहीं करेंगे। अमोघ काल-चक्र के रहते गृह-सुख असम्भव है। लोक पीड़ा से घिरा है। व्यतीत रात्रियां लौट कर नहीं आतीं। वे धर्म करने से ही सफल होती हैं। मृत्यु से बच सकने वाला ही कल की प्रतीक्षा कर सकता है। भोग पूर्वजन्मों में हम अनेक बार भोग चुके। अब मुक्तिदायी मुनि-पथ पर आज ही बढ़ेंगे।' यह सुन पुरोहित ने अपनी पत्नी से पुत्र-रहित स्थिति की असहायता और भिक्षाचर्या वरण करने की बात कही। पुरोहित पत्नी ने भोगों के पक्ष में तर्क दिये परन्तु पुरोहित ने उसे समझाया। तब पुरोहित-पत्नी ने भी पुत्रों का अनुगमन करने का निश्चय किया। उस परिवार की विपुल धन-संपत्ति की इच्छा रखने वाले राजा इषुकार को रानी कमलावती ने किसी का वमन न खाने का सुझाव दिया। धन व काम-भोग नहीं, धर्म ही रक्षक है, यह समझाया। अपने मुनि-धर्म-वरण करने की सूचना दी। भोगों को अनित्य, आकुलता का कारण बंधनों का हेतु कहा। इस से राजा भी प्रतिबुद्ध हुए। राजा-रानी ने भी संयम-पराक्रम-पथ अपनाया। अल्प समय में उक्त छहों व्यक्ति मुक्त हो गये।

❑❑

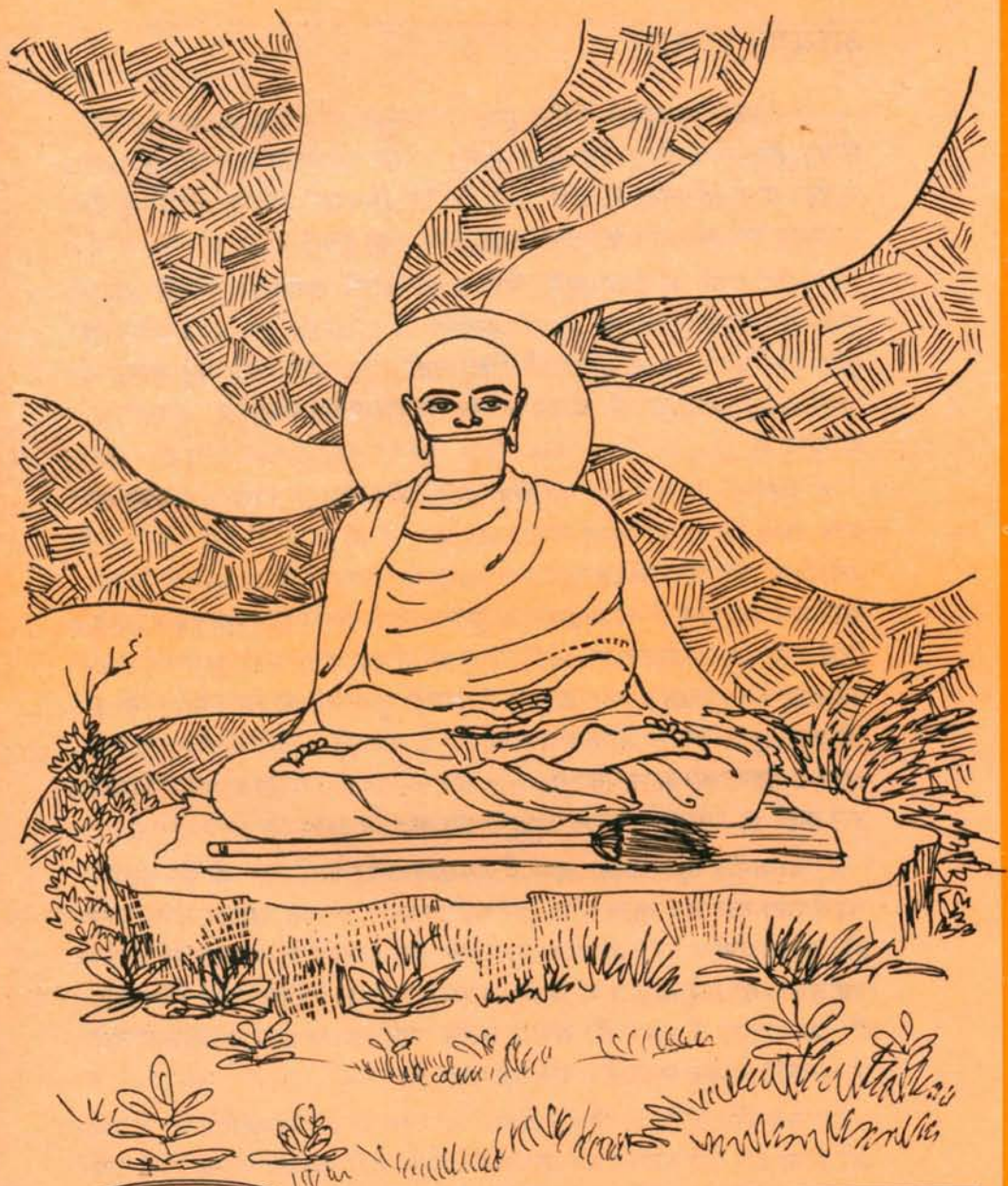

अध्ययन–15

सभिक्षुक

अध्ययन परिचय

सोलह गाथाओं से निर्मित हुआ है–प्रस्तुत अध्ययन। इस का केन्द्रीय विषय है–सच्चे भिक्षु की विशेषतायें। प्रत्येक विशेषता बतलाने के बाद प्रत्येक गाथा के अन्त में कहा गया है–"स भिक्खू" अर्थात् वह भिक्षु है। इसीलिए इस अध्ययन का नाम 'सभिक्षुक' रखा गया।

पेट भरने के लिए मुनि-वेश धारण करने वाला भिक्षु नहीं होता। पूजा-सम्मान की लालसा से या आलस्य से या धोखा देने के प्रयोजन से मुनि-वेश धारण करने वाला भी भिक्षु नहीं होता। ऐसे भिक्षु को शास्त्र में 'द्रव्य-भिक्षु' कहा गया है। बतलाया गया कि वास्तविक भिक्षु तो 'भाव-भिक्षु' ही होता है।

जिनेन्द्र-प्ररूपित धर्म का तीन करण, तीन योग से आचरण व्यक्ति को भाव-भिक्षु या सच्चा भिक्षु बनाता है। नाम से ही स्पष्ट है कि ऐसा भिक्षु अपरिग्रही होता है। अकिंचन होता है। अकिंचन वह नहीं होता जो दयनीय हो। अकिंचन वह होता है जो अहंकार से मुक्त हो। अहंकार से मुक्त वह होता है, जिसने यश, धन और विषय-भोगों की इच्छाओं को जीत लिया हो। इच्छा-जेता वह होता है जो इच्छाओं का खोखलापन समझ चुका हो, जो शरीर की सीमाओं को जान चुका हो। ये सीमायें वह जानता है, जिसने संसार की नश्वरता को अनुभव किया हो। सांसारिक सुखों के भ्रम को पहचान लिया हो। यह पहचान उसे होती है, जिसका चिन्तन विस्तृत हो। अंतर्नेत्र खुले हों।

अन्तर्नेत्र खुलने का अर्थ है–ममत्व और आसक्ति के रंग-बिरंगे चश्मे हटा कर सब कुछ देख पाने की क्षमता। जो इस क्षमता से सम्पन्न हो, वह दयनीय नहीं हो सकता। भिक्षु इस क्षमता से सम्पन्न होता है। वह इच्छाओं की दासता में जकड़े बेबसों पर दया कर सकता है। करता है। वह संसार में रहता है। संसार उसमें नहीं रहता। इसलिए संसार उसे न आकर्षित कर पाता है, न बांध पाता है।

सांसारिक दृष्टि से भिक्षु वह है, जिसे अभावों ने भीख मांगने पर विवश कर दिया हो। ऐसे व्यक्ति को जैन धर्म 'भिक्षु' नहीं मानता। 'भिक्षु' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। इस का अर्थ है–ऐसा व्यक्ति, जिसके लिए सांसारिकता निरर्थक हो चुकी हो। शारीरिक सुख-भोग निरर्थक हो चुके हों। अपने-पराये के संकीर्ण भेदों से जिसका भाव-जगत् मुक्त हो चुका हो। सम-भाव और

संयम में जो रमण करता हो। रत्नत्रय ही जिसका धन हो। पांच महाव्रत ही जिसका जीवन हो।

ऐसे साधक के लिए भिक्षाचर्या विवशता नहीं, चुनाव होती है। भिक्षा-चर्या वह तप-साधना है, जिसका वरण अनेक राजा-महाराजाओं ने किया है। चक्रवर्ती सम्राटों ने भी किया है। यह वरण करने पर उनका परिचय जो एक शब्द बनता रहा, वह है—भिक्षु। इस शब्द का अर्थ है—अहंकार से मुक्ति। समभाव। परीषह-विजय। जितेन्द्रियता। अकिंचनता। कषाय-विजय। ये अर्थ जिसके जीवन में चरितार्थ हों, वह भिक्षु है। भिक्षु-धर्म स्वीकार करने पर ये सभी अर्थ जीवन में पूर्णतः चरितार्थ हो सकते हैं।

'भिक्षु' जैन धर्म का पूज्य पद है। धर्म-संघ का आधारभूत तीर्थ है। अनेक भव्य आत्माओं को संसार-सागर से पार कराने वाली नौका है। निःस्वार्थ-भाव से असीम उपकार करने वाली करुणा का साकार रूप है। मनुष्यता का गौरव है।

वह इच्छाओं के अधीन नहीं होता। सारी दुनिया की सम्पत्ति एकत्र हो कर भी उसे खरीद नहीं सकती। इसलिए वह कहलाता है—भिक्षु, और होता है—सभी सम्राटों से बड़ा सम्राट। इन्द्रियों के सुख उसके सामने तुच्छ होते हैं। मोह से उत्पन्न होने वाले और मोह उत्पन्न करने वाले सभी सम्बन्ध उसके सामने तुच्छ होते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ का संसार उसके सामने तुच्छ होता है। परीषह और भय उसके सामने तुच्छ होते हैं। मनुष्य को तुच्छ बनाने वाले सभी कारण उसके सामने तुच्छ होते हैं।

मनुष्य सर्वोपरि है। भिक्षु इस सत्य का जीवन्त रूप है। अपनी साधना के पराक्रम से वह अपना भविष्य स्वयं बनाता है। अपना परम-कल्याण निर्धारित करता है। वह दीन-हीन दिखाई देता है परन्तु दीनता-हीनता पर मनुष्य की विजय का स्वरूप होता है। इस सत्य की चलती-फिरती उद्घोषणा होता है कि कोई भी कमज़ोरी मनुष्य से बड़ी नहीं होती।

ऐसे भिक्षु का व्यवहार कैसा होता है? जीवन कैसा होता है? वह कौन से कार्य नहीं करता? कौन से करता है? उसकी विशेषतायें क्या हैं? इन सभी प्रश्नों के उत्तर इस अध्ययन से प्राप्त होते हैं।

सच्चे भिक्षु की पहचान कराने के साथ-साथ श्रेष्ठतम मानव-जीवन का स्वरूप उजागर करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह सभिक्खुयं पन्नरसमं अज्झयणं

(अथ सभिक्षुर्नाम पञ्चदशमध्ययनम्)

मूल : **मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं, सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।**
संथवं जहिज्ज अकामकामे, अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ।। १ ।।

संस्कृत : मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्मं, सहितः ऋजुकृतश्छिन्न--निदानः ।
संस्तवं जह्यादकामकामः, अज्ञातैषी परिव्रजेद् यः स भिक्षुः ।। १ ।।

मूल : **राओवरयं चरेज्ज लाढे, विरए वेयवियायरक्खिए ।**
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ।। २ ।।

संस्कृत : रागोपरतं चरेद् लाढे, विरतो वेदविदात्म-रक्षितः ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्व-दर्शी, यः कस्मिन्नपि न मूर्च्छितः स भिक्षुः ।। २ ।।

पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुक

१. '(श्रुत-चारित्र रूप) धर्म को स्वीकार कर, मुनि-चर्या का आचरण करूंगा' - (इस भावना या संकल्प के साथ, जो रत्नत्रय से, आत्महित-साधक सदनुष्ठान से, ज्ञान व क्रिया इन दोनों से, एवं साधु-संघ से) 'जुड़ा' हुआ रहता है, (जो) सरल या संयममय आचरण वाला, 'निदान' (विषय-सुख-आसक्ति के संकल्प व प्राणि-हिंसा आदि कर्मबन्ध-हेतुओं) का उच्छेद करने वाला, संस्तव प्रशंसा/स्तुति और (माता-पिता व मित्र-वर्ग आदि के परिचय) का त्याग कर काम-भोगों की पुनः कामना न करने वाला (या मोक्ष का इच्छुक), (अपनी जाति व तपश्चर्या आदि को) अज्ञात रखकर (ही) भिक्षा-चर्या करने वाला, और जो (अप्रतिबद्ध होकर) विहार करने वाला होता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

२. राग-उपरत (आसक्ति से रहित) अथवा रात्रि-उपरत (रात्रि-भोजन व रात्रि-विहार से निवृत्त) होकर, 'प्रमुख' (या प्रशस्तसंयम-रूप धर्म-कार्य) में विचरण करने वाला है, और (असंयमादि से) विरत, वेद (आगमों) का ज्ञाता होने के कारण आत्म-रक्षक, प्राज्ञ (हेय-उपादेय की बुद्धि से या रत्नत्रय की प्राप्ति से युक्त), तथा (राग-द्वेषादि व परीषहों पर) विजयशील होते हुए 'सर्वदर्शी' (सभी को समता-भाव से आत्मवत् देखने-समझने वाला) या -सर्वदंशी (रुचिकर व अरुचिकर-दोनों प्रकार के भोजन को समभाव से ग्रहण करने वाला) होता है, एवं (जो) किसी भी (सजीव-निर्जीव वस्तु) में आसक्त नहीं होता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

मूल : **अक्कोसवहं विइत्तु धीरे, मुणी चरे लाढे निच्चमाय-गुत्ते।**
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ।।३।।

संस्कृत : आक्रोश-वधं विदित्वा धीरः, मुनिश्चरेद् लाढो नित्यात्मगुप्तः।
अव्यग्रमना असम्प्रहृष्टः, यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः ।।३।।

मूल : **पंतं सयणासणं भइत्ता, सीउण्हं विविहं च दंसमसगं।**
अव्वग्गमणे असंपहिट्टे, जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ।।४।।

संस्कृत : प्रान्तं शयनासनं भुक्त्वा, शीतोष्णं विविधं च दंश-मशकम्।
अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः, यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ।।४।।

मूल : **नो सक्कइमिच्छई न पूयं, नोवि य वन्दणगं कुओ पसंसं।**
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ।।५।।

संस्कृत : नो सत्कृतिमिच्छति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम्।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः ।।५।।

मूल : **जेण पुण जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छई।**
नरनारिं पजहे सया तवस्सी, न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ।।६।।

संस्कृत : येन पुनर्जहाति जीवितं, मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति।
नरनारीं प्रजह्यात् सदा तपस्वी, न च कौतूहलमुपैति स भिक्षुः ।।६।।

३. जो मुनि कठोर (निन्दायुक्त) वचन, एवं मारपीट (आदि के कष्टों) को (स्वकृत कर्मों का फल रूप जानकर) 'धीर' (धैर्ययुक्त तथा किसी भी प्रकार के विकार से रहित) होते हुए, 'प्रमुख' (या प्रशस्त संयम-रूप धर्म-कार्य) में विचरण करता है, नित्य ही आत्मा को (असंयम-स्थानों से) सुरक्षित रखता है, न तो (कष्ट में) व्यग्र मन वाला और न ही (सुख में) हर्षातिरेक से युक्त होता है और जो सब कुछ (परीषह आदि को समभाव से) सहन करने वाला होता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

४. जो निस्सार/निकृष्ट शैया व आसन (एवं भोजन-वस्त्र आदि) का (भी समभाव से) सेवन करके, विविध सर्दी-गर्मी व डांस-मच्छर (आदि के परीषहों) के प्रति (भी) व्याकुलचित्त नहीं हुआ करता, और (इसी तरह, जो अनुकूल परिस्थितियों में अधिक) हर्षित भी नहीं होता, एवं सब कुछ (परीषह आदि) को (समभाव से) सहन करने वाला होता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

५. जो तपस्वी न तो सत्कार की इच्छा करता है, और न ही (अपनी) पूजा व वन्दना तक की चाह रखता है, (वह) प्रशंसा की तो कैसे अपेक्षा रखेगा, और जो संयमी, सुव्रत-धारी होते हुए (रत्नत्रय से, आत्महित-साधक सदनुष्ठान से, तथा ज्ञान व क्रिया-इन दोनों से, एवं साधु-संघ से) जुड़ा हुआ रहता है, तथा जो (शुद्ध) आत्मा (या रत्नत्रय या मोक्ष) की गवेषणा में लगा होता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

६. जिसके साथ (रहने से संयमी) जीवन छूटता हो, अथवा सम्पूर्णतया (सर्वविध) मोहनीय (कर्म) का बन्ध हो जाता हो, उस नर या नारी (की संगति) का जो तपस्वी हमेशा त्याग करता है, तथा जो (विषयों में) 'कुतूहल' (नहीं भोगे हुए विषयों में अधिक उत्सुकता तथा पूर्वभुक्त विषयों की स्मृति-रूप चिन्तन-मनन की स्थिति) को नहीं प्राप्त करता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

मूल : **छिन्नं सरं भोमं अन्तलिक्खं, सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं ।**
अंग-वियारं सरस्स विजयं, जे विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू ।।७।।

संस्कृत : छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं, स्वप्न लक्षण-दण्ड-वस्तु-विद्याम् ।
अंग-विकारं स्वरस्य विजयं, यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः ।।७।।

मूल : **मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं, वमण-विरेयण-धूमणेत्त-सिणाणं ।**
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ।।८।।

संस्कृत : मन्त्रं मूलं विविधां वैद्यचिन्तां, वमन-विरेचन-धूमनेत्र-स्नानम् ।
आतुरे शरणं चिकित्सितं च, तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ।।८।।

मूल : **खत्तिय गण-उग्गराय पुत्ता, माहण भोइय विविहा य सिप्पिणो ।**
नो तेसिं वयइ सिलोग-पूयं, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ।।९।।

संस्कृत : क्षत्रिय-गणोग्रराजपुत्राः ब्राह्मण-भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोकपूजां, तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ।।९।।

७. छिन्नविद्या[१], स्वर-विद्या[२], भूमि-विद्या[३], अन्तरिक्ष-विद्या[४], स्वप्न-विद्या[५], लक्षण-विद्या[६], दण्ड-विद्या[७], वास्तुविद्या[८], अंगविकार (विचार) विद्या[९], स्वरविचय-विद्या[१०] -इन विद्याओं के आधार पर जो आजीविका नहीं चलाता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

८. मंत्र, मूल (जड़ी-बूटी), वैद्यक से सम्बन्धित विविध चिन्तन, वमन, विरेचन, (भूतादि को भगाने के लिए) धूम-प्रयोग तथा नेत्र (सम्बन्धी औषधि या जलनेती आदि का प्रयोग), स्नान (वाष्पस्नान या अभिमंत्रित जलौषधियों से अभिषेक आदि), रोगावस्था में सम्बन्धियों की स्मृति या उनकी शरण लेना, चिकित्सा-कार्य (करना व करवाना) - (इन सब) को जानकर, (तथा त्याज्य समझते हुए उनके करने-करवाने का परित्याग करते हुए) जो (संयम-मार्ग में) विचरण करता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

९. क्षत्रिय राजा, (मल्ल आदि) गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और विविध शिल्पी लोग-इनकी प्रशंसा व सम्मान-पूजा के रूप में (जो कुछ भी) नहीं कहता, (अपितु) इसे (त्याज्य) समझ कर विचरण करता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

---

१. वस्त्र या पात्र आदि के कटे भाग या छिद्र के आधार पर शुभाशुभ बताना।
२. संगीत के स्वरों से सम्बन्धित, या नासिका के दक्षिण-वाम स्वरों के आधार पर शुभाशुभ बताने की विद्या।
३. भूकम्प, या भूमि में दबे हुए द्रव्य आदि का परिज्ञान, या भूमि-विशेष की शुभाशुभता का ज्ञान।
४. आकाशीय ग्रह आदि की गति से वर्षा आदि के शुभाशुभ होने का ज्ञान।
५. जिसके द्वारा स्वप्न के शुभ-अशुभ फल का कथन किया जाता है।
६. शारीरिक चिन्हों के आधार पर शुभाशुभता का ज्ञान।
७. दण्ड/लाठी आदि के लाभप्रद/हानिप्रद होने का ज्ञान।
८. भवनादि के निर्माण की शुभाशुभता का ज्ञान।
९. अंग-विशेष के स्फुरण की शुभाशुभता का ज्ञान।
१०. पशु-पक्षियों की बोली के आधार पर शुभाशुभ काल का ज्ञान।

मूल : **गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।**
तेसिं इह लोइय-फलट्ठा, जो संथवं न करेइ स भिक्खू ।।१०।।

संस्कृत : गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः, अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः ।
तेषामिह लौकिकफलार्थं, यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः ।।१०।।

मूल : **सयणासण-पाण-भोयणं, विविहं खाइम-साइमं परेसिं ।**
अदए पडिसेहिए नियंठे, जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ।।११।।

संस्कृत : शयनासन-पान-भोजनं, विविधं खाद्यं-स्वाद्यं परेभ्यः ।
अददभ्यः प्रतिषिद्धो निर्ग्रन्थः, यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः ।।११।।

मूल : **जं किंचि आहार-पाणगं विविहं, खाइम-साइमं परेसिं लद्धुं ।**
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे, मण-वय-काय-सुसंवुडे स भिक्खू ।।१२।।

संस्कृत : यत् किंचिदाहारपानकं विविधं, खाद्य-स्वाद्यं परेभ्यो लब्ध्वा ।
य स्तेन त्रिविधेन नानुकम्पते, संवृत-मनो वाक्कायः स भिक्षुः ।।१२।।

मूल : **आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं च सोवीर-जवोदगं च ।**
न हीलए पिण्डं नीरसं तु, पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ।।१३।।

संस्कृत : आयामकं चैव यवोदनं च, शीतं सौवीरं यवोदकं च ।
न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु, प्रान्तकुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः ।।१३।।

मूल : **सद्दा विविहा भवन्ति लोए, दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा ।**
भीमा भय भेरवा उराला, जो सोच्चा न विहिज्जई स भिक्खू ।।१४।।

संस्कृत : शब्दा विविधा भवन्ति लोके, दिव्या मानुष्यकास्तथा तिरश्चाः ।
भीमा भय-भैरवा उदाराः, यः श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षुः ।।१४।।

१०. दीक्षा लेने के उपरान्त जिन गृहस्थों को देखा हो (परिचय में आए हों), या दीक्षा न ली हो, उस समय में (जो गृहस्थ) परिचित हुए हों, उनका इहलौकिक फल (भिक्षा, वस्त्र, पात्र तथा प्रशंसा आदि) की प्राप्ति हेतु (उनसे) जो विशेष परिचय (व मेलजोल) नहीं करता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

११. शैया, आसन, पान, भोजन तथा विविध खाद्य व स्वाद्य पदार्थ (यदि) दूसरे (गृहस्थों) द्वारा न दिए जाएं या (मांगने पर भी) मना कर दिए जाएं, (तो भी) जो निर्ग्रन्थ (उनके प्रति) द्वेष नहीं करता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

१२. जो (मुनि) अन्य (गृहस्थों) से जो कुछ भी आहार, पान तथा विविध (खाद्य व स्वाद्य पदार्थों को प्राप्त कर, उस (दाता) पर त्रिविध प्रकार (मन, वचन व काया) से अनुकम्पा (आशीर्वाद आदि प्रदान कर प्रत्युपकार) नहीं करता (या ग्लान, वृद्ध आदि साधर्मी साधुओं पर अनुकम्पा करता है), और जो मन-वचन-काया से (स्वयं) अच्छी तरह संवृत (सुरक्षित) रहता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

१३. आयामक (नीरस या बासी भोजन) जौ से बना (दलिया आदि) भोजन, ठण्डा भोजन, कांजी का पानी, जौ का पानी (जैसी) नीरस भिक्षा की (भी जो) निन्दा नहीं करता, तथा निम्न-सामान्य घरों में (भी भिक्षा-हेतु) पर्यटन करता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

१४. संसार में देवों, मनुष्यों के तथा पशुओं के विविध भयंकर व अत्यन्त डरावने महान् (उच्च ध्वनि वाले- कर्णभेदी) शब्द हुआ करते हैं, (उन्हें) सुनकर जो भयभीत (धर्मध्यान से विचलित) नहीं होता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

मूल : **वायं विविहं समिच्च लोए, सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।**
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ।। १५ ।।

संस्कृत : वादं विविधं समेत्य लोके, सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी, उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः ।। १५ ।।

मूल : **असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के ।**
अणुक्कसाई लहु अप्पभक्खी, चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ।। १६ ।।
त्ति बेमि ।

संस्कृत : अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्रः, जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
अणु-कषायी लघ्वल्पभक्षी, त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः ।। १६ ।।
इति ब्रवीमि ।

१५. लोक में नाना प्रकार के (प्रचलित धार्मिक-दार्शनिक) वादों को जान कर (भी जो रत्नत्रय से, आत्महित-साधक सदनुष्ठान से, ज्ञान व क्रिया-इन दोनों से, तथा साधु-संघ से) 'जुड़ा' हुआ रहता है, 'खेद' (संयम-चर्या, वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि कष्टप्रद प्रवृत्तियों) का अनुगमन करता है, शास्त्रज्ञ (परमार्थ-ज्ञाता) है, प्राज्ञ (हेय-उपादेय-सम्बन्धी बुद्धि से तथा रत्नत्रय के लाभ से सम्पन्न) है, (राग-द्वेष व परीषह आदि पर) विजयशील होते हुए 'सर्वदर्शी' (सभी को समता-भाव से आत्मवत् देखने-समझने वाला) या 'सर्वदंशी' (रुचिकर या अरुचिकर-सभी प्रकार के भोजन को समभाव से ग्रहण करने वाला) होता है, उपशान्त है, और (किसी के लिए भी मन-वचन व काया से) विघ्न-बाधा पैदा करने वाला नहीं होता, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

१६. जो शिल्पजीवी नहीं होता, जिसका (कोई) घर नहीं होता, जिसके (शत्रु व) मित्र नहीं होते, जो इन्द्रिय-विजयी तथा सभी तरह (के परिग्रहों आदि के बन्धन) से मुक्त रहता है, जिसके कषाय मन्द होते हैं, जो लघु-अल्प (हलका, नीरस एवं अल्प, परिमित) भोजन करता है, और जो घर-बार छोड़ कर 'अकेला' (वीतराग धर्म में तथा एकमात्र 'संयम' में स्थित, अथवा अन्य साधुओं की सहायता पर आश्रित न रहने वाला होकर) विचरण करता है, वह (ही वास्तव में) 'भिक्षु' है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

'निदान' (भोगाभिलाषा-संकल्प), विषय-भोग सेवन व पूजा-प्रतिष्ठा-सत्कार आदि की अभिलाषा, रागादि मनोविकार, सजीव या निर्जीव पदार्थों में आसक्ति, संयम-विनाशक व्यक्तियों की संगति, वैद्यकं-निमित्तविद्या- मंत्र-तंत्र-शिल्पविशेष या अन्य लौकिक विद्याओं से जीविका-यापन, ऐहलौकिक लाभ के लिए परिचित व्यक्तियों की संस्तुति या उनके साथ परिचय बढ़ाना, राज-वर्ग या अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों व शिल्पकारों की प्रशंसा या पूजा, सदोष व अकल्प्य आहार, अपने कुल व तप आदि का परिचय देकर भिक्षा-याचना, आहार आदि न मिलने पर द्वेष या निन्दा, मन-वचन-शरीर से दूसरों के लिए बाधक, निन्दक व पीड़ाकारक होना, परीषहों में या भयोत्पादक शब्दों को सुन कर घबरा जाना, रोगादि पीड़ाओं के समय आतुर होकर स्वजन-स्मरण, अन्य की चिकित्सा करना या कराना, माया-कपट से पूर्ण आचरण, रात्रि भोजन व रात्रि विहार, धर्माचरण में प्रमाद या असंयमाचरण–ये सब कार्य साधु के लिए त्याज्य माने गये हैं। इनमें से कोई भी कार्य सद्भिक्षु नहीं करता, यदि करता है तो वह मात्र वेशधारी द्रव्यभिक्षु है, सद्भिक्षु नहीं।

इसके अतिरिक्त, सद्भिक्षु तत्त्वज्ञानी, विविध मतों/वादों का ज्ञाता होकर भी स्वधर्म में स्थिर, तपस्वी, संयमी, हेयोपादेय-कुशल, समदर्शी, समभावी, शान्त, परीषहजयी, कषाय-जेता, शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही दत्तचित्त, मन-वचन-शरीर से संवृत्त-आत्म-रक्षक, निर्दोष व आगमोक्त विधि से जन-साधारण के घरों से प्राप्त अल्प व नीरस भिक्षा पर संयमी-जीवन को सुरक्षित रखने वाला, अप्रतिबद्ध विहारी तथा केवल संयम को समर्पित होता है।

❑❑

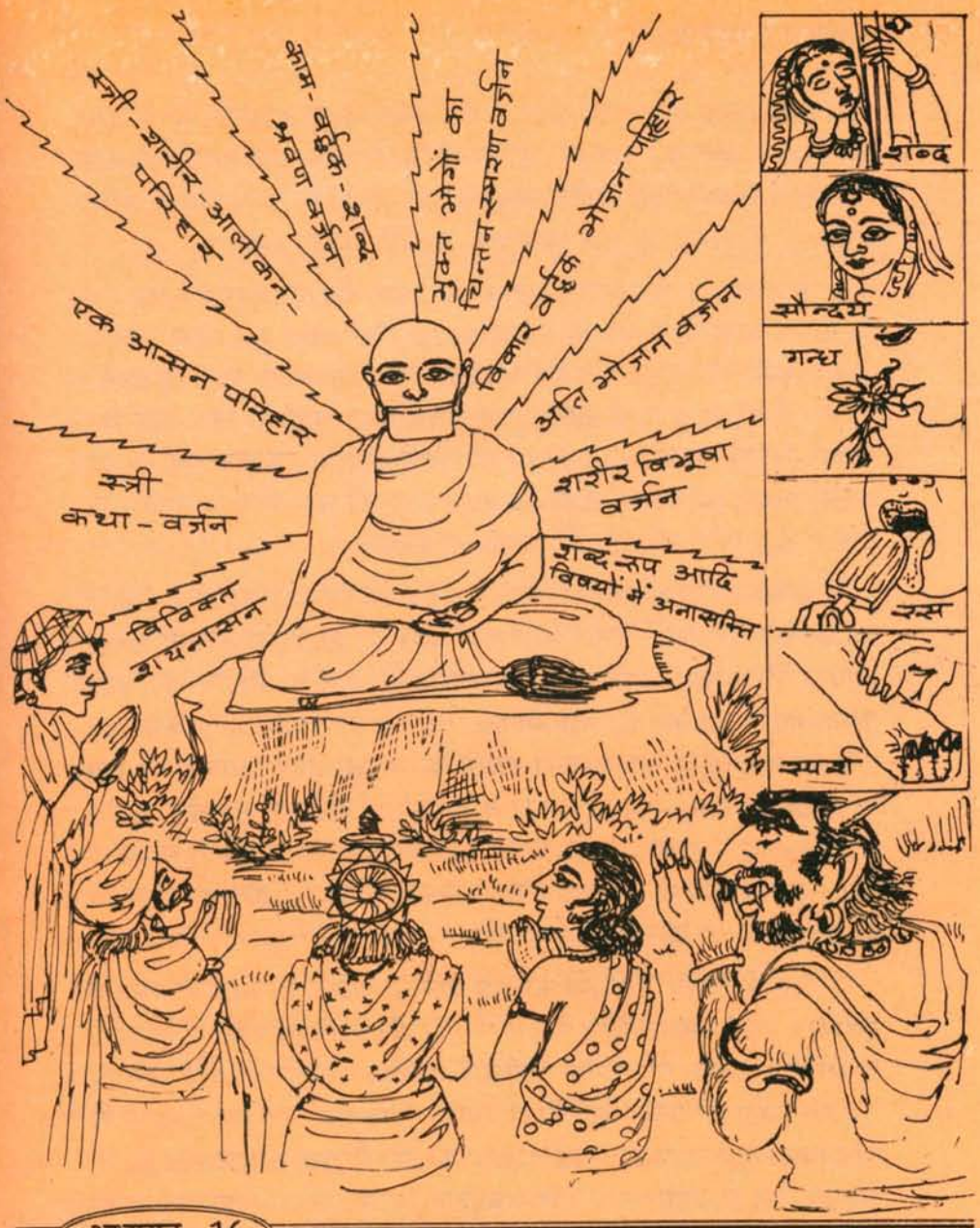

अध्ययन–16

ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान

अध्ययन परिचय

बारह सूत्रों और सत्रह गाथाओं से निर्मित प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–साधक को ब्रह्मचर्य-साधना में स्थित करने वाले उपाय। ब्रह्मचर्य के माध्यम से आत्मा को समाधिस्थ करने वाले उपायों का वर्णन होने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान' रखा गया।

ब्रह्मचर्य का अर्थ मात्र मैथुन-सेवन-त्याग नहीं है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है–समस्त इन्द्रियों व मन को संयत या नियन्त्रित रखते हुए काम-भोगादि अभिलाषाओं को प्रादुर्भूत ही न होने देना एवम् आनन्द के अक्षय कोश–शुद्धात्म-स्वरूप में ही रमण करते रहना। जड़-चेतन पर-पदार्थों में रमण छोड़ कर आत्म-रमण करना ब्रह्मचर्य है। इसे सभी तपों में उत्तम तप कहा गया है। यह आत्म-साधना का मेरु-दण्ड है। यह प्राणि-मात्र की भोग-विकृति दूर होने पर उजागर होने वाली संस्कृति है। आत्मा का स्वभाव है।

पांचों इन्द्रियों और मन का आनन्द सच्चा आनन्द नहीं। इसीलिये अतृप्ति भड़का कर वह देखते-देखते समाप्त हो जाता है। **आत्मिक आनन्द सच्चा आनन्द है। अक्षय आनन्द है। असीम और अबाध आनन्द है। परम तृप्ति-कारक आनन्द है। यह आनन्द तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक इसके इच्छुक का सम्बन्ध शारीरिक व सांसारिक आनन्द के भ्रम या नाटक से समाप्त न हो जाये। बहिर्नेत्र मूंद लेने पर अन्तर्नेत्र खुलते हैं।** बहिर्जगत् में आनन्द के नाटक से मोह-भंग होने पर अन्तर्जगत् में आत्मा के आनन्द से सम्बन्ध जुड़ता है। सच्चे आनन्द से परिचय होता है। ब्रह्मचर्य के अभाव में यह परिचय सम्भव नहीं।

ब्रह्मचर्य शरीर से आत्मा की ओर जाने की प्रक्रिया है। शरीर के संसार में मन का न रमना इसका लक्षण है। इस से पांचों इन्द्रियां विषयासक्ति से दूर हटती हैं। आत्मा के आदेश से संचालित होती हैं। जितेन्द्रियता से ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्य से जितेन्द्रियता की प्राप्ति होती है। इन्द्रियों के साथ-साथ मन-वचन-काया पर भी साधक का नियंत्रण ब्रह्मचर्य-प्रक्रिया का अंग है। ऐसा साधक सोते हुए भी अप्रमत्त रहता है। ब्रह्मचर्य से 'संयम-बहुलता' व साधक की निष्कम्प अवस्था भी प्राप्त होती है। संयम से पापों के द्वार बन्द होते हैं। आत्मा समाधि की अवस्था में या सहज अवस्था में ठहरने लगती है। निरन्तर इस अवस्था में आत्मा का बने रहना समाधि-बहुलता है, जो ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है।

एक ब्रह्मचर्य यदि सध जाये तो सम्पूर्ण आत्म-साधना स्वयमेव सध जाती है। इसीलिये यह आत्म-साधना का आधार है। ब्रह्मचर्य-सम्पन्न साधक सभी आसक्तियों से मुक्त होता है। सभी ग्रंथियों से रहित होता है। निर्ग्रंथ होता है। सुख दु:ख उसे नहीं व्यापते। देव-मानव-गंधर्व-यक्ष, सभी के लिये वह पूज्य होता है। उसकी आत्मा की यात्रा मंगलमय होती चली जाती है।

इसके विपरीत अब्रह्म दुर्गति का द्वार है। साधना का अवरोधक है। अपमान को निमंत्रित करने वाला है। सुख व दु:ख के बीच आत्मा को लुढ़काता रहता है। उसे विषयासक्ति के बंधनों में जकड़ता रहता है। तरह-तरह के कर्मों से उसे भारी करता चला जाता है। विकृत बनाता चला जाता है। अब्रह्म से ग्रस्त साधक सर्वज्ञ-उपदिष्ट धर्म से ही भ्रष्ट हो जाता है। उन्माद व विविध रोग-आतंकों से पीड़ित होने की आशंका उसे सदैव घेरे रहती है। परीषह-विजय, तपश्चरण, ध्यान आदि सभी श्रमणोचित कार्य उसके लिये असम्भव होने लगते हैं। वह भय-ग्रस्त होता है। ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाले फलों पर सन्देह करने लगता है। अपने सन्देह को कुतर्कों से पुष्ट करने लगता है। मिथ्यात्व की राह पर आगे बढ़ता ही चला जाता है। उसका संसार कम होने का नाम नहीं लेता। भटकाव ही उसका सत्य बन जाता है।

भटकाव के स्थान पर सम्यक् यात्रा आत्मा का सत्य बने, यह प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है। ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थानों को अपनाने से यह उद्देश्य पूर्ण होता है। इन्हें अपनाने के लिये आवश्यक है जीवन की उन स्थितियों को जानना, जिनमें ये प्रकट होते हैं। यहां उन स्थितियों का उल्लेख किया गया है। बताया गया है कि विविक्त शयनासन से स्पर्शनेन्द्रिय का, आहार-मर्यादा से रसनेन्द्रिय का, स्त्री-दर्शन न करने से चक्षुरिन्द्रिय का, स्त्री-शब्द-श्रवण न करने से श्रोत्रेन्द्रिय का, काम-कथा, शरीर-सज्जा व पूर्वभुक्त भोगों की स्मृति न करने से मन का तथा पंचेन्द्रिय-विषयासक्ति-त्याग से पांचों इन्द्रियों का संयम उपलब्ध होता है। यह शरीर से उन्मुख एवम् आत्मा के सम्मुख होने का मार्ग है। यह ब्रह्मचर्य का स्रोत है। लक्षण भी है। स्वभाव भी है।

ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाली 'समाधि' अर्थात् आत्मा की सहज अवस्था तक पहुंचने में बाधक और साधक, सभी कारणों का दिग्दर्शन यहां कराया गया है। बाधक कारणों से सावधान और साधक कारणों के प्रति प्रेरित करने के साथ-साथ जीवन के वांछनीय स्वरूप को प्रस्तावित करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है। ❑❑

अह बंभचेरसमाहिठाणाणाम सोलसमं अज्झयणं

(अथ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थाननाम षोडशमध्ययनम्)

मूल : सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं-
इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता
जे भिक्खू सुच्चा, निसम्म, संजम-बहुले, संवर-बहुले,
गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।। १ ।।

संस्कृत : श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्-
इह-खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि,
यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुलः, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः,
गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।।१।।

मूल : कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेर समाहि-
ठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजम-बहुले,
संवर-बहुले, समाहि-बहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ? ।। २ ।।

संस्कृत : कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवदभिर्दशब्रह्मचर्यसमाधि-
स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य,
संयमबहुलः, संवरबहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः,
गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।।२।।

सोलहवाँ अध्ययन : ब्रह्मचर्य-समाधि स्थान

सूत्र-१. आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उन भगवान् (महावीर) ने इस प्रकार कथन किया है, (तदनुरूप) स्थविर (गणधर) भगवानों ने 'ब्रह्मचर्य' (सर्वमैथुन-विरति, इन्द्रिय-मनोनिग्रह एवं शुद्ध आत्म-स्वभाव-रमण) से सम्बन्धित दश (प्रकार के) समाधि-स्थान (साधक उपाय) बताए हैं, जिन्हें सुनकर तथा (अर्थ-निश्चय-सहित) हृदयंगम कर, भिक्षु (उत्तरोत्तर) संयम की बहुलता तथा संवर व समाधि की अधिकाधिकता से सम्पन्न होते हुए, स्वयं (के मन, वचन व शरीर) को तथा इन्द्रियों को गुप्त (संयमित व नियन्त्रित/अप्रमत्त वशीभूत) रखे, तथा 'ब्रह्मचर्य' को (नौ प्रकार की गुप्तियों के द्वारा) सुरक्षित रखते हुए, सदा अप्रमत्त प्रमाद-रहित होकर विचरण करे।

(शिष्य-जिज्ञासा)

सूत्र-२. उन स्थविर (गणधर) भगवन्तों ने वे कौन-से दश (प्रकार के) ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी 'समाधि-स्थान' बताए हैं, जिन्हें सुनकर एवं (अर्थ के निश्चय-सहित) हृदयंगम कर, भिक्षु (उत्तरोत्तर) संयम की बहुलता तथा संवर व समाधि की अधिकाधिकता से सम्पन्न होते हुए, स्वयं (के मन-वचन व शरीर) को तथा इन्द्रियों को गुप्त (संयमित, नियन्त्रित, वशीभूत) रखे, तथा 'ब्रह्मचर्य' को (नौ प्रकार की गुप्तियों के द्वारा) सुरक्षित रखते हुए, सदा प्रमादहीन होकर विचरण करे?

मूल : **इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले संवरबहुले, समाहि-बहुले, गुत्ते, गुत्तिंदिए, गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।।३ ।।**

संस्कृत : इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश-ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुलः, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।।३ ।।

मूल : **तंजहा-विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गंथे। नो इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे।**
तं कहमिति चे? ।।४ ।।
आयरियाह-निग्गंथस्स खलु इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलि-पन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थि-पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे ।।४ ।।

संस्कृत : तद्यथा-विविक्तानि शयनासनानि सेवेत, स निर्ग्रन्थः।
नो स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः।
तत्कथमिति चेत्?
आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद्-भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्री-पशु-पण्डक संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः ।।४ ।।

(आचार्य का कथन)

सूत्र-३. उन स्थविर भगवन्तों ने जो ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी दश (प्रकार के) समाधि-स्थान कहे हैं, वे ये (ही) हैं, जिन्हें सुनकर तथा (अर्थ-निश्चय के साथ) हृदयंगम कर, भिक्षु (उत्तरोत्तर) संयम की बहुलता तथा संवर व समाधि की अधिकाधिकता से सम्पन्न होते हुए, स्वयं (के मन, वचन व शरीर) को तथा इन्द्रियों को 'गुप्त' (संयमित, नियन्त्रित, वशीभूत) रखे, तथा ब्रह्मचर्य को (नौ प्रकार की गुप्तियों के द्वारा) सुरक्षित रखते हुए सदा प्रमाद-हीन होकर विचरण करे।

वे इस प्रकार हैं:-

सूत्र-४ स्थान विवेकः (प्रथम समाधि-स्थान-) (जो) विविक्त (स्त्री[1]-पशु-नपुंसक आदि के संसर्ग से रहित) शयनासन (शैया, बिछौना व उपाश्रय आदि) का सेवन करता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है, (अर्थात् जो) स्त्री[1], पशु व नपुंसक (व्यक्तियों के संसर्ग) से युक्त/सेवित शयन व आसन का सेवन नहीं करता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों? (शिष्य जिज्ञासा)

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-स्त्री[1], पशु व नपुंसक के संसर्ग से युक्त शयन व आसन का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के 'ब्रह्मचर्य' के विषय में, (स्वयं को तथा दूसरों को) शंका हो (सकती है, या फिर कांक्षा (भोगादि की इच्छा) या विचिकित्सा (ब्रह्मचर्य-धर्म से होने वाले महान् फल के विषय में सन्देह की मनःस्थिति) उत्पन्न हो (सक)ती है, या फिर (ब्रह्मचर्य का) नाश (भी) हो (सक)ता है, अथवा (काम-सम्बन्धी) उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, या दीर्घकालिक (राजयक्ष्मा आदि) रोग व आतंक (उदरशूल, मस्तक-पीड़ा जैसा शीघ्र प्राणहारी रोग भी)

---

१. साध्वी के लिए 'पुरुष आदि के संसर्ग से रहित'।

मूल : नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे।
तं कहमिति चे ?
आयरियाह- निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।
तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा ।। ५ ।।

संस्कृत : नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति, स निर्ग्रन्थः।
तत्कथमिति चेत्?
आचार्य आह- निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।
तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत् ।। ५ ।।

मूल : नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा ।। ६ ।।

संस्कृत : नो स्त्रीभिः सार्धं संनिषद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः।
तत् कथमिति चेत्?

हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है। इसलिए (ऐसा कहा गया है कि जो) स्त्री, पशु व नपुंसक के संसर्ग से युक्त शयन व आसन का सेवन नहीं करता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

सूत्र-५. (द्वितीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान-) (जो) स्त्रियों की (जाति, रूप, कुल, वेष, श्रृंगार आदि से सम्बन्धित) कथा नहीं करता, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों? (शिष्य-जिज्ञासा)

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-स्त्रियों की कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो (सक)ती है, या (ब्रह्मचर्य का) नाश हो (सक)ता है, अथवा उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, या दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है। इसलिए, स्त्री-कथा नहीं करे।

सूत्र-६. (तृतीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान-) (जो) स्त्रियों के साथ, एक ही आसन पर नहीं बैठता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश हो (सक)ता है, या फिर उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, या दीर्घकालिक रोग व आतंक हो

आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेदं व लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहरेत् ।।६।।

मूल : **नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं, मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएमाणस्स, निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं, आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।।७।।**

संस्कृत : नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्?

आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निध्यायेत् ।।७।।

मूल : **नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कूइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।**
तं कहमिति चे?

(सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है। इसलिए (यह कहा है कि) निर्ग्रन्थ एक आसन पर स्त्रियों के साथ न बैठते हुए (संयम-मार्ग में) विचरण करे।

सूत्र-७. (चतुर्थ ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान) (जो) स्त्रियों की मनोहर (आकर्षक) एवं मनोरम इन्द्रियों (व अंगोपांगों) का अवलोकन (राग-पूर्वक देखना) नहीं करता है, (और) न ही (उनके बारे में) चिन्तन-मनन करता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-स्त्रियों के इन्द्रियों (व अंगोपांगों) का अवलोकन व चिन्तन-मनन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश (भी) हो (सक)ता है, या फिर उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, या दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा 'केवली' (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है। इसलिए (ऐसा कहा है कि) स्त्रियों की मनोहर व मनोरम इन्द्रियों (व अंगोपांगों) का अवलोकन तथा (उसके विषय में) चिन्तन-मनन निर्ग्रन्थ न करे।

सूत्र-८. (पंचम ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान-) (जो मिट्टी आदि की) दीवार के अन्दर (या ओट) से, परदे के अन्दर (या ओट) से, तथा (पक्की) दीवार के अन्दर से (या ओट से) स्त्रियों के कूजन (रतिक्रीड़ा), रोदन (रतिकलह आदि), गीत, हास्य (कहकहे आदि), स्तनित (गर्जन), क्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कूइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कूइय-सद्दं वा, रुइय-सद्दं वा, गीय-सद्दं वा, हसिय-सद्दं वा, थणिय-सद्दं वा, कन्दिय-सद्दं वा, विलविय-सद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ।। ८ ।।

संस्कृत : नो स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसित-शब्दं वा, स्तनित-शब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रोता भवति स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत्?

आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।

तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा,... क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रृण्वन् विहरेत् ।। ८ ।।

मूल : नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलि- पन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ।। ९ ।।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-(मिट्टी आदि की) दीवार के अन्दर से, परदे के अन्दर से, तथा (पक्की) दीवार के अन्दर से (या ओट में स्थित होकर) स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, स्तनित-गर्जना, क्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश (भी) हो (सक)ता है, या फिर उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, अथवा दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है। इसलिए (ऐसा कहा है कि) (मिट्टी आदि की) दीवार के अन्दर से, परदे के भीतर से तथा (पक्की) दीवार के अन्दर से (या इन सब की ओट से) स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, स्तनित-गर्जन, क्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनते हुए, निर्ग्रन्थ (संयम-मार्ग में) विचरण करे।

सूत्र-६. (छठा ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान-) (जो) (दीक्षा लेने से पहले गृहवास में की गई) पूर्व की रति व क्रीड़ा का स्मरण नहीं करता, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-(दीक्षा लेने से पहले गृहवास में की गई) पूर्व की रति व क्रीड़ा का स्मरण करने

संस्कृत : नो निर्ग्रन्थः पूर्वरतं पूर्व-क्रीडितमनुस्मर्ता भवेत् स निर्ग्रन्थः।
तत्कथमिति चेत्?
आचार्य आह- निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां पूर्व-रतं पूर्व-क्रीडितमनु- स्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।
तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्व-क्रीडितमनुस्मरेत्॥९॥

मूल : **नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।**
तं कहमिति चे?
आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पणीयं पाण-भोयणं आहारे- माणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।
तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा॥१०॥

संस्कृत : नो प्रणीतमाहारमाहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः।
तत्कथमिति चेत्?
आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहार-माहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहारमाहरेत्॥१०॥

मूल : **नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।**
तं कहमिति चे?
आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाण-भोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलि- पन्नत्ताओ वा धम्माओ

वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो (सक)ती है, या फिर (ब्रह्मचर्य का) नाश (भी) हो (सक)ता है, अथवा उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, अथवा दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है, इसलिए (ऐसा कहा है कि निर्ग्रन्थ पूर्व की रति व क्रीड़ा को स्मरण न करे)।

सूत्र-१०. (सातवां ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान-) (जो) 'प्रणीत' (घृतादि रसयुक्त, स्निग्ध व पौष्टिक) आहार का भोक्ता (ग्रहण करने वाला) नहीं होता, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-'प्रणीत' भोजन व पान ग्रहण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश (भी) हो (सक)ता है, या उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, अथवा दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है।, इसलिए (ऐसा कहा है कि) निर्ग्रन्थ 'प्रणीत' आहार का ग्रहण/सेवन नहीं करे।

सूत्र-११. (आठवां ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान) (जो) अत्यधिक (मर्यादा से अधिक) मात्रा में पान-भोजन का ग्रहण/सेवन नहीं करता, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-(मर्यादित) मात्रा

भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ।।११।।

संस्कृत : नो अतिमात्रया पान-भोजनमाहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्?

आचार्य आह-निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पान-भोजनमाहर्तो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पानभोजनमाहरेत्।।११।।

मूल : **नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।**
तं कहमिति चे?
आयरियाह-विभूसावत्तिए विभूसिय-सरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स-इत्थिजणेणं अभिलसणिज्जमाणस्स बंभयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।
तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई हविज्जा ।।१२।।

संस्कृत : नो विभूषानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्?

आचार्य आह-विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्याऽभिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्री जनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा, कांक्षा वा, विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती भवेत् ।।१२।।

मूल : **नो सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाई हवइ, से निग्गंथे।**
तं कहमिति चे?
आयरियाह-निग्गंथस्स खलु सद्द-रूव-रस-गन्ध-

से अधिक पान-भोजन ग्रहण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा पैदा हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश (भी) हो (सक)ता है, या उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, अथवा दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है, इसलिए (ऐसा कहा है कि) निर्ग्रन्थ (मर्यादित) मात्रा से अधिक पान व भोजन का ग्रहण/सेवन नहीं करे।

सूत्र-१२. विभूषा - विवेक : (नौवाँ ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान-) (जो) 'विभूषा' (शरीर को सजाने व संवारने की क्रिया) के प्रति अभिरुचि रखने वाला नहीं होता, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के समाधान में) आचार्य ने कहा-'विभूषा' की मनोवृत्ति वाला तथा विभूषा (शरीर को सजाने-संवारने की क्रिया) करने वाला (निर्ग्रन्थ) स्त्री-जनों द्वारा अभिलषित (चाहा जाने वाला) हो जाता है, फल-स्वरूप, स्त्री-जनों द्वारा अभिलषित उस (निर्ग्रन्थ) के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा पैदा हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश हो (सक)ता है, या उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, या दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है, इसलिए (ऐसा कहा है कि) निर्ग्रन्थ 'विभूषा' की अभिरुचि वाला न बने।

सूत्र-१३. (दसवां ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान) (जो मनोज्ञ) शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श के प्रति आसक्त व लुब्ध नहीं होता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

फासाणुवाइस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाई हविज्जा। दसमे बंभचेर-समाहिठाणे हवइ ।। १३ ।।

संस्कृत : नो शब्द-रूप-रस-गन्ध स्पर्शानुपाती भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्?

आचार्य आह- निर्ग्रन्थस्य खलु शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्।

तस्मात् खलु नो शब्द-रूप-रस- गन्ध- स्पर्शानुपाती भवेत् स निर्ग्रन्थः। दशमं ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानं भवति ।। १३ ।।

मूल : **हवंति य इत्थ सिलोगा, तंजहा-**
जं विवित्तमणाइण्णं, रहियं इत्थि-जणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ।। १ ।।

संस्कृत : भवंत्यत्र श्लोकास्तद्यथा-
यं विविक्तमनाकीर्णं, रहितं स्त्रीजनेन च।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थं, आलयं तु निषेवेत् ।। १ ।।

मूल : **मण-पल्हायजणणिं, कामराग-विवड्ढणिं।**
बंभचेररओ भिक्खू, थी-कहं तु विवज्जए ।। २ ।।

संस्कृत : मनः प्रह्लादजननीं, काम-रागविवर्धनीम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, स्त्रीकथां तु विवर्जयेत् ।। २ ।।

मूल : **समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।**
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ।। ३ ।।

संस्कृत : समं च संस्तवं स्त्रीभिः, संकथां चाभीक्ष्णम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ।। ३ ।।

ऐसा क्यों?

(उक्त प्रश्न के उत्तर में) आचार्य ने कहा-(मनोज्ञ) शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श के प्रति आसक्त/लुब्ध होने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में (स्वयं को व दूसरों को) शंका हो (सक)ती है, या फिर कांक्षा या विचिकित्सा पैदा हो (सक)ती है, अथवा (ब्रह्मचर्य का) नाश हो (सक)ता है, या उन्माद (रोग) को (भी) प्राप्त कर (सक)ता है, अथवा दीर्घकालिक रोग व आतंक हो (सक)ता है, अथवा केवली (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट 'धर्म' से भ्रष्ट हो (सक)ता है।, इसलिए (ऐसा कहा है कि) निर्ग्रन्थ (मनोज्ञ) शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श के प्रति आसक्त/लुब्ध नहीं हो। यह ब्रह्मचर्य-समाधि का दसवां स्थान (प्रकार) है।

यहां (इस प्रसंग में मननीय) कुछ श्लोक (भी) हैं। जैसेः-

१. (ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को चाहिए कि वह) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए (उस) स्थान का सेवन करे जो 'विविक्त' (एकान्त), अनाकीर्ण (संयम-बाधक लोगों के अधिक आवागमन से रहित) तथा (विशेष रूप से) स्त्री-जनों से रहित हो।

२. ब्रह्मचर्य में निरत रहने वाला भिक्षु काम-राग (विषयासक्ति) को बढ़ाने वाली तथा मानसिक-आह्लाद (विकार) पैदा करने वाली स्त्री-कथा का परित्याग करे।

३. ब्रह्मचर्य में निरत रहने वाला भिक्षु, स्त्रियों के साथ संसर्ग व परिचय का तथा पुनः-पुनः सम्भाषण करने का हमेशा त्याग करे।

मूल : **अंग-पच्चंग-संठाणं, चारुल्लविय-पेहियं।**
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए।।४।।

संस्कृत : अंग-प्रत्यंग-संस्थानं, चारुल्लपित-प्रेक्षितम्।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणां, चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत्।।४।।

मूल : **कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणिय-कंदियं।**
बभंचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए।।५।।

संस्कृत : कूजितं रुदितं गीतं, हसितं स्तनित-क्रन्दितम्।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, श्रोत्रग्राह्यां विवर्जयेत्।।५।।

मूल : **हासं किड्डं रइं दप्पं, सहभुत्तासियाणि य।**
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि।।६।।

संस्कृत : हास्यं क्रीडां रतिं दर्पं, सहभुक्तासितानि च।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, नानुचिन्तयेत् कदापि च।।६।।

मूल : **पणीयं भत्त-पाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।**
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए।।७।।

संस्कृत : प्रणीतं भक्त-पानं तु, क्षिप्रं मद-विवर्धनम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत्।।७।।

मूल : **धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।**
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया।।८।।

संस्कृत : धर्मलब्धं मितं काले, यात्रार्थं प्रणिधानवान्।
नाऽतिमात्रं तु भुंजीत, ब्रह्मचर्यरतः सदा।।८।।

मूल : **विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर-परिमंडणं।**
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए।।९।।

संस्कृत : विभूषां परिवर्जयेत्, शरीर-परिमण्डनम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, शृंगारार्थं न धारयेत्।।९।।

४. ब्रह्मचर्य में निरत रहने वाला (भिक्षु) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, आकार तथा उनके बोलने की मनोहर मुद्रा एवं (मनोहर) चितवन/कटाक्ष को (रागादि-वश) दृष्टिग्राह्य करने (देखने) का परित्याग करे।

५. ब्रह्मचर्य में निरत रहने वाला (भिक्षु) स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, स्तनित-गर्जना एवं विलाप (के शब्दों) को श्रवण-ग्राह्य बनाने (अर्थात् सुनने) का परित्याग करे।

६. ब्रह्मचर्य में निरत रहने वाला (भिक्षु) स्त्रियों के (साथ, दीक्षा के पूर्व काल में किए गये) हास्य, क्रीड़ा, रति, मान (रूठना) और आकस्मिक त्रास पैदा करने वाली (मूर्च्छा आदि) अवस्थाओं का कभी भी अनुचिन्तन/स्मरण न करे।

७. ब्रह्मचर्य में निरत भिक्षु काम-वासना के शीघ्र उत्तेजक 'प्रणीत' (अतिस्निग्ध व पौष्टिक) आहार-पानी का नित्य ही त्याग करे।

८. ब्रह्मचर्य में निरत (भिक्षु) चित्त की स्वस्थता/स्थिरता को (बनाये रखने के लिए) रखता हुआ (मात्र संयम-) यात्रा के (निर्वाह) हेतु, उचित समय में, धर्म-लब्ध (आगमोक्त मर्यादा के अनुरूप प्राप्त होने वाले, निर्दोष एवं धर्म-साधन-उपयोगी) एवं परिमित (मात्रा वाले आहार का) भोजन करे, किन्तु (मर्यादित) मात्रा से अधिक (कभी) नहीं (खाए)।

९. ब्रह्मचर्य में निरत भिक्षु 'विभूषा' (शरीर को सजाने-संवारने की मनोवृत्ति) का परित्याग करे, और शृंगार के निमित्त से शरीर के मण्डन (नख, केश, होंठ, मुख आदि को संस्कारित व अलंकृत करने वाले साधनों) को धारण न करे।

मूल : **सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।**
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए।।१०।।

संस्कृत : शब्दान् रूपांश्च गन्धांश्च, रसान् स्पर्शांस्तथैव च।
पंचविधान् कामगुणान्, नित्यशः परिवर्जयेत्।।१०।।

मूल : **आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।**
संथवो चेव नारीणं, तासिं इंदियदरिसणं।।११।।

संस्कृत : आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा।
संस्तवश्चैव नारीणां, तासामिन्द्रियदर्शनम्।।११।।

मूल : **कूइयं रुइयं गीयं, हास भुत्तासियाणि य।**
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाण-भोयणं।।१२।।

संस्कृत : कूजितं रुदितं गीतं, हसितं भुक्तासितानि च।
प्रणीतं भक्त-पानं च, अतिमात्रं पान-भोजनम्।।१२।।

मूल : **गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।**
नरस्स ऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा।।१३।।

संस्कृत : गात्रभूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः।
नरस्यात्मगवेषिणः विषं तालपुटं यथा।।१३।

मूल : **दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।**
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं।।१४।।

संस्कृत : दुर्जयान् कामभोगांश्च, नित्यशः परिवर्जयेत्।
शंका-स्थानानि सर्वाणि, वर्जयेत् प्रणिधानवान्।।१४।।

मूल : **धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही।**
धम्मारामरए दंते, बंभचेर-समाहिए।।१५।।

संस्कृत : धर्मारामे चरेद् भिक्षुः, धृतिमान् धर्मसारथिः।
धर्मारामे रतो दान्तः, ब्रह्मचर्य-समाहितः।।१५।।

१०. (ब्रह्मचर्य में निरत भिक्षु मनोज्ञ) शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श-इन पांच प्रकार के काम-गुणों का सदा परित्याग करे।

११. (१) स्त्री-जनों से आकीर्ण (उनके अधिक आवागमन से युक्त) स्थान। (२) मनोरम स्त्री-कथा। (३) स्त्रियों के साथ अधिक परिचय। (४) उन (स्त्रियों) की इन्द्रियों (व अंगों) का (रागवश) अवलोकन।

१२. (५) (उन स्त्रियों के) कूजन, रोदन, गायन, हास्य (के शब्दों का श्रवण)। (६) (पूर्व-)भुक्त भोगों व सहवास (का अनुस्मरण)। (७) 'प्रणीत' भोजन-पान। (८) (मर्यादित) मात्रा से अधिक भोजन-पान।

१३. (९) शरीर को सजाने-संवारने की अभिलाषा, और (१०) दुर्जय काम-भोग-ये (दश कार्य) आत्म-गवेषी व्यक्ति के लिए 'तालपुट' विष की तरह (संयम-घातक) हैं।

१४. (इसलिए) स्थिरचित्त वाला (भिक्षु इन) दुर्जय काम-भोगों का सदैव परित्याग करे, और सभी (संयम-घात की सम्भावना वाले) शंका-स्थानों से दूर रहे।

१५. (इस प्रकार) ब्रह्मचर्य में सुसमाहित तथा 'दान्त' (कषायों व इन्द्रियों का दमन करने वाला) भिक्षु धर्मरूपी उद्यान में अनुरक्त होता हुआ (या धर्म-रति-युक्त साधुओं में प्रीति-भाव रखता हुआ) धैर्ययुक्त 'धर्म-सारथी' के रूप में धर्म रूपी उद्यान में विचरण करे।

मूल : **देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।**
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं।।१६।।

संस्कृत : देव-दानव-गन्धर्वाः, यक्ष-राक्षस-किन्नराः।
ब्रह्मचारिणं नमस्कुर्वन्ति, दुष्करं यः करोति तम्।।१६।।

मूल : **एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।**
सिज्झा सिज्झंति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे।।१७।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एष धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथाऽपरे।।१७।।
इति ब्रवीमि।

१६. (उक्त ब्रह्मचर्य-पालन रूपी) दुष्कर (कार्य) को जो करता है, उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस व किन्नर-(सभी) नमस्कार करते हैं।

१७. यह (ब्रह्मचर्य-रूप) धर्म ध्रुव, शाश्वत, नित्य एवं जिनेन्द्र (भगवान्) द्वारा उपदिष्ट है। इस (महान् साधना) से दूसरे अनेक (साधक) सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, 'सिद्ध' हो रहे हैं, तथा भविष्य में भी 'सिद्ध' (अवस्था को प्राप्त) होंगे।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

ब्रह्मचर्य का घात विशेषत: मन व इन्द्रियों के विकारों से होता है। इन विकारों को रोका जा सके, ऐसे उपाय ही 'ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान' हैं। इनकी जानकारी प्राप्त कर साधक उक्त कारणों से बच सकता है। अत: मुमुक्षु को चाहिए कि वह इन समाधि-स्थानों का अच्छी तरह अवधारण करे और अप्रमादपूर्वक अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त हो एवं संयम, संवर व समाधि में बहुलता/वृद्धि करता रहे। वे समाधि-स्थान दस हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) आवास व शयन करने के जो स्थान, तथा उपयोगी पट्टे, बिछौने आदि जो उपकरण पशुओं, नपुंसकों और महिलाओं के संसर्ग से युक्त हों–उनका सेवन न करना, एकान्त स्थान का उपयोग करना।

(2) स्त्री-विषयक एवं कामराग-वर्धक कथा-चर्चा से बचना, या मात्र स्त्रियों के ही मध्य बैठ कर कथा-उपदेश-तत्व चर्चा आदि न करना।

(3) स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना।

(4) स्त्रियों की मनोरम इन्द्रियों पर दृष्टि गड़ा कर नहीं देखना और न ही उनके विषय में सोचना।

(5) मिट्टी की बनी या पक्की दीवार से या परदे की ओट से स्त्रियों के कूजन, रोदन, आक्रन्दन, गर्जन, गीत, हास्य या विलाप से पूर्ण शब्दों को न सुनना।

(6) पूर्वानुभूत रति व क्रीड़ा का अनुस्मरण न करना।

(7) सरस, स्निग्ध, स्वादिष्ट व पौष्टिक आहार का सेवन न करना।

(8) मात्रा से अधिक आहार-पानी का सेवन न करना।

(9) शारीरिक शोभा-सजावट की मनोवृत्ति न रखना।

(10) पांचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों में आसक्ति न रखना।

इन समाधि-स्थानों का ज्ञान व विवेक न रखने वाले साधक की ब्रह्मचर्य व्रत में आस्था ही डगमगा जाती है, अन्य लोगों की भी अनास्था उस पर आशंकित है, साथ ही चित्त-चंचलता के कारण चारित्र-नाश और उसके फलस्वरूप उन्माद व अनेक रोगों से ग्रस्त होने की स्थिति आ जाती है और साधक पूर्णत: धर्मभ्रष्ट होकर दुर्गति की ओर अग्रसर हो जाता है।

ब्रह्मचर्य वास्तव में सर्वज्ञ जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट नित्य-शाश्वत व ध्रुव धर्म है। यह एक दुष्कर साधना है जिसके पालन करने वाले के समक्ष देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि सभी नतमस्तक हो जाते हैं। इसकी साधना करके ही साधकों को सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अवस्था प्राप्त हुई है और होती रहेगी। ❑❑

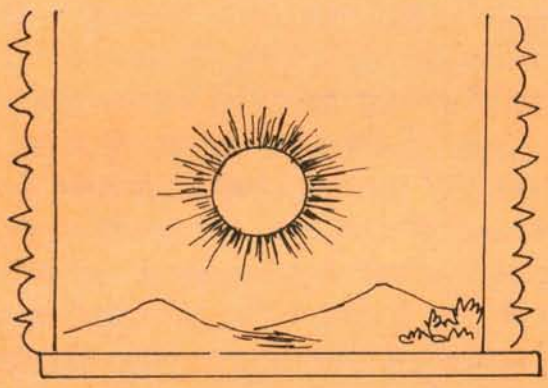

अध्ययन–17

पाप-श्रमणीय

अध्ययन परिचय

इस अध्ययन में इक्कीस गाथायें हैं। इस का केन्द्रीय विषय है—श्रमण-जीवन में प्रमाद से उत्पन्न होने वाले पाप का वर्जन। इसीलिये इसका नाम 'पाप-श्रमणीय' रखा गया। आत्मा को निर्मलतम स्वरूप तक पहुंचाने के लिये श्रम करने वाला वास्तव में श्रमण होता है। इस श्रम से विरत हो जाने वाला पाप-श्रमण कहलाता है। सम्यक् श्रम से विरत होना प्रमाद है। प्रमाद अपने आप में पाप है। ऐसा पाप जो अनेक पापों का जनक है। प्रमाद-ग्रस्त श्रमण सच्चे अर्थ में श्रमण नहीं होता। उसका जीवन श्रमण-धर्म का प्रदर्शन-मात्र रह जाता है। इसी को पाखण्ड कहते हैं।

मात्र मुनि-वेश धारण कर लेने से कोई श्रमण नहीं हो जाता। वस्तुतः श्रेष्ठ श्रमण तो वह है जो संघस्थ-साधु या गृहस्थ के प्रति व्यवहार-विवेक के साथ कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए तथा प्रमाद व कषाय पर विजय-प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हुए अनासक्ति, समत्व, त्याग, तप व संयम से परिपूर्ण मुनि-चर्या में दृढ़ आस्था के साथ निरत रहता है।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय जिन साधकों को दुष्कर श्रमण-चर्या के प्रति पूर्ण आस्था व उत्साह रहता है, उनमें से सभी ऐसे नहीं होते जो अपनी आस्था व उत्साह को अनवरत रूप से स्थिर बनाये रखते हैं या अधिक संवृद्ध बनाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें संयम के प्रति अरति-भाव उत्पन्न हो जाता है। श्रमण-आचार उनके लिये एक रूढ़िमात्र बन कर रह जाता है। बेमन से उस रूढ़ि को ढोते रहने के कारण वे अनेक या सभी संदर्भों में शिथिलाचारी हो जाते हैं।

मुनि-वेश धारण करने वालों में कुछ ऐसे भी होते हैं जो परीषहों की धूप में चलते-चलते क्लांत हो जाते हैं। सुविधा-वृक्ष का आश्रय ले लेते हैं। प्रमाद की नींद सो जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो सिद्धांततः कषायों को शत्रु मानते हुए व्यवहार में उनके मित्र बने रहते हैं। पांच महाव्रतों को खण्डित करते रहते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो इन्द्रिय-सुखों के जाल में फंस जाते हैं। साधना-लीनता से दूर करने वाली साधन-आसक्ति जिनके जीवन का सत्य हो जाती है। कुछ ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मनमानी करना ही संयम का आदर्श प्रतीत होता है। न अनुशासन का उनके लिये कोई अर्थ रहता है, न विनय का और न ही धर्म-संघ-मर्यादा का। ये सभी पापों को प्रश्रय

देने के कारण पाप-श्रमण होते हैं। स्पष्ट है कि अपने पापों की आलोचना वे नहीं करते। अपने पापों को निष्फल नहीं बनाते। इसके विपरीत वे पापों को प्रश्रय देते हैं। 'पाप-श्रमण' का एक अर्थ पापों के लिये श्रम करने वाला भी है।

श्रमण-धर्म के सम्यक् स्वरूप में उसकी आस्था कम या समाप्त हो जाती है। आस्था से उत्पन्न होने वाला उत्साह भी उस में नहीं रहता। आस्था व उत्साह की कमी या अभाव से उसके ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार व वीर्याचार–इन पांच आचारों में प्रमाद होना आरम्भ हो जाता है। इनके स्थान पर उसे निन्दा में रस आने लगता है। अहंकार-प्रदर्शन में आनन्द अनुभव होने लगता है। अविनय में उसका मन रमने लगता है। प्रतिलेखना व पांचों समितियां उसे रूढ़ियां लगने लगती हैं। कुटिलता से काम निकालना उसके लिये सहज हो जाता है। सुख-सुविधा के साधन उसे ललचाने लगते हैं। गण और संघ में विवाद का केन्द्र बनने से उसका क्षुद्र अहम् सन्तुष्ट होने लगता है। साधन-संग्रह के लिये वह गृहस्थों के काम निकालने में सहायक बनने लगता है। उन्हें शुभाशुभ फल बताने लगता है। स्वार्थ-पूर्ति के लिये अपनी जाति व अपने सांसारिक-सम्बन्धों का इस्तेमाल करने में उसे कोई संकोच नहीं होता।

सबसे बड़ी बात यह कि श्रमण-धर्म-निषिद्ध आचरण वह इस भाव से करता है मानो वही उसका कर्त्तव्य हो। मानो उसी का उपदेश प्रभु ने दिया हो। मानो वही मोक्ष का मार्ग हो। उसके शिथिलाचार की कभी चर्चा होती भी है तो अन्य शिथिलाचारियों के उदाहरणों का वह अपने पक्ष में कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है। तरह-तरह के तर्क वह अपने शिथिलाचार को औचित्य का आधार देने के लिये गढ़ लेता है।

ऐसे तथाकथित श्रमण को भगवान् महावीर ने पाप-श्रमण कहा। निकृष्ट कहा। विष की तरह निन्दनीय कहा। अपना लोक-परलोक नष्ट करने वाला कहा। किसी को भी ऐसा श्रमण न बनने के लिये प्रेरित किया। प्रत्येक श्रमण को अपने आचार का समय-समय पर निर्मम मूल्यांकन करने का निर्देश दिया। अपने दोष दूर करने और सुव्रती होने का महत्व बतलाया।

श्रमण-दोषों के प्रति सजग करने के साथ-साथ सच्चे श्रमण का स्वरूप उद्घाटित करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह पावसमणिज्जं
सत्तरसमं अज्झयणं
(अथ पापश्रमणीयं सप्तदशमध्ययनम्)

मूल : **जे केइ उ पव्वइए नियंठे, धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने।**
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं, विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ।।१।।

संस्कृत : यः कश्चित्तु प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः, धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः।
सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधिलाभं, विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु ।।१।।

मूल : **सिज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि, उप्पज्जई भोत्तु तहेव पाउं।**
जाणामि जं वट्टइ आउसु त्ति, किं नाम काहामि सुएण भंते! ।।२।।

संस्कृत : शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति, उत्पद्यते भोक्तुं तथैव पातुम्।
जानामि यद्वर्तत आयुष्मन्! इति, किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भदन्त? ।।२।।

मूल : **जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।**
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ।।३।।

संस्कृत : यः कश्चित् तु प्रव्रजितो, निद्राशीलः प्रकामशः।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति, पाप-श्रमण इत्युच्यते ।।३।।

मूल : **आयरिय-उवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए।**
ते चेव खिंसई बाले, पाव-समणि त्ति वुच्चई ।।४।।

संस्कृत : आचार्योपाध्यायैः, श्रुतं विनयं च ग्राहितः।
तांश्चैव खिंसति बालः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ।।४।।

सत्रहवाँ अध्ययन : पापश्रमणीय

१. जो कोई (मुमुक्षु साधक श्रुत-चारित्र रूप) धर्म का श्रवण कर, अत्यन्त दुर्लभ बोधि-लाभ को प्राप्त कर, 'विनय' (रत्नत्रय रूप आचार) से युक्त होते हुए, निर्ग्रन्थ रूप से प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु बाद में यथेच्छ सुख (स्वच्छन्द, निरंकुश रूप) से विहार करने वाला हो जाता है (वह 'पाप-श्रमण'-निन्दित साधु कहलाता है)।

(गुरु/आचार्य आदि के द्वारा श्रुत-अध्ययन की सद्प्रेरणा दिये जाने पर, वह कहता है-)

२. "हे आयुष्मन्! मुझे दृढ़ शय्या (अर्थात् रहने के लिए अच्छा उपाश्रय आदि) तथा (पहनने ओढ़ने के लिए) वस्त्र प्राप्त हैं (ही)। उसी तरह, खाने-पीने के लिए (भी मुझे यथासमय, स्वतः) उत्पन्न (सुलभ) हो जाता है। जो (तथ्य रूप में) विद्यमान है, उसे जानता (भी) हूँ, तब फिर, हे भन्ते! मैं 'श्रुत' (के ज्ञान) से क्या करूंगा?"

३. जो कोई प्रव्रजित हुआ (साधु) अत्यधिक (या बार-बार) निद्रालु स्वभाव वाला है और खा-पीकर, आराम से सो जाता है, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

४. (जिन) आचार्य व उपाध्याय से श्रुत (शास्त्रीय ज्ञान) व विनय (आचार) (की शिक्षा) का ग्रहण किया है, उन्हीं की (जो) अज्ञानी निन्दा-आलोचना करता है, (वह) 'पापश्रमण' कहलाता है।

मूल : **आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ।**
अप्पडिपूयए थद्धे, पाव समणि त्ति वुच्चई।।५।।

संस्कृत : आचार्योपाध्यायानां, सम्यगू नो प्रतितप्यते।
अप्रतिपूजकः स्तब्धः, पापश्रमण इत्युच्यते।।५।।

मूल : **सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।**
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई।।६।।

संस्कृत : संमर्दयनू प्राणानू, बीजानि हरितानि च।
असंयतः संयतो मन्यमानः, पाप श्रमण इत्युच्यते।।६।।

मूल : **संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्वलं।**
अप्पमज्जियमारुहइ, पावसमणि त्ति वुच्चई।।७।।

संस्कृत : संस्तारं फलकं पीठं, निषद्यां पाद-कम्वलमू।
अप्रमृज्यारोहति, पापश्रमण इत्युच्यते।।७।।

मूल : **दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं।**
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणि त्ति वुच्चई।।८।।

संस्कृत : द्रुतं द्रुतं चरति, प्रमत्तश्चाभीक्ष्णमू।
उल्लंघनश्च चण्डश्च, पापश्रमण इत्युच्यते।।८।।

मूल : **पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्वलं।**
पडिलेहणा-अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चइ।।९।।

संस्कृत : प्रतिलेखयति प्रमत्तः, अपोज्झति पादकम्वलमू।
प्रतिलेखनाऽनायुक्तः, पाप-श्रमण इत्युच्यते।।९।।

मूल : **पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिया।**
गुरु-परिभावए निच्चं, पावसमणि त्ति वुच्चइ।।१०।।

संस्कृत : प्रतिलेखयति प्रमत्तः, स किञ्चित् खलु निशम्य।
गुरु-परिभावको नित्यं, पापश्रमण इत्युच्यते।।१०।।

५. (जो) आचार्य व उपाध्याय को (सेवा आदि के कार्यों से) अच्छी तरह परितृप्त-सन्तुष्ट नहीं करता, (या उनके सेवा आदि के कामों में अच्छी तरह चिन्तातुर नहीं रहता, अपितु) सत्कार-पूजा का भाव भी नहीं रखता, (वह) ढीठ/अभिमानी (साधु) 'पापश्रमण' कहलाता है।

६. (जो साधु द्वीन्द्रिय आदि) जीवों का तथा बीज व हरी (वनस्पति) का संमर्दन (पांव तले या अंग-प्रत्यंगों से मसलने/कुचलने का काम) करने वाला, तथा असंयमी होते हुए भी स्वयं को संयमी मानने वाला (होता है, वह) 'पापश्रमण' कहलाता है।

७. (जो साधु) संस्तारक (बिछौना), फलक (पट्टा), पीठ (चौकी व अन्य आसन), निषद्या (स्वाध्याय-स्थल) तथा पाद-कम्बल (पैर पोंछने के वस्त्र) को बिना प्रमार्जित किए हुए, उन पर बैठ जाने वाला (या उपयोग में लाने वाला होता है, वह) 'पापश्रमण' कहलाता है।

८. (जो साधु) जल्दी-जल्दी चलता है, बार-बार (साधना में) प्रमाद करता है, (मर्यादाओं का) उल्लंघन करने वाला (या बालकों आदि को लांघ कर चलने वाला), तथा अतिक्रोधी स्वभाव वाला (होता है, वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

९. (जो साधु) प्रमादयुक्त (असावधान) होकर 'प्रतिलेखना' करता है, 'पाद-कम्बल' को जहां-तहां छोड़ देता है।

(अथवा पात्र एवं कम्बल व धर्मोपकरणों की) प्रतिलेखना में दत्तचित्त/सावधान नहीं रहता (वह) 'पापश्रमण' कहलाता है।

१०. (जो साधु इधर-उधर की) कुछ-भी (बातों को) सुनता हुआ, (उन्हीं बातों को सुनने में दत्तचित्त होने से) प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करने लगता है, और गुरुजनों की नित्य अवहेलना या तिरस्कार (भी) करता है, (वह) 'पापश्रमण' कहलाता है।

मूल : **बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।**
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ।। ११ ।।

संस्कृत : बहुमायी प्रमुखरः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभागी अप्रीतिकरः, पापश्रमण इत्युच्यते ।। ११ ।।

मूल : **विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।**
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणित्ति वुच्चई ।। १२ ।।

संस्कृत : विवादं चोदीरयति, अधर्मे आत्म-प्रज्ञाहा।
व्युद्ग्रहे कलहे रक्तः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ।। १२ ।।

मूल : **अथिरासणे कुक्कुइए, जत्थ-तत्थ निसीयई।**
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ।। १३ ।।

संस्कृत : अस्थिरासनः कौकुचिकः, यत्र-तत्र निषीदति।
आसनेऽनायुक्तः, पापश्रमण इत्युच्यते ।। १३ ।।

मूल : **ससरक्खपाए सुवई, सेज्जं न पडिलेहइ।**
संथारए अणाउत्ते, पाव-समणि त्ति वुच्चई ।। १४ ।।

संस्कृत : स सरजस्कपादः स्वपिति, शय्यां न प्रतिलेखयति।
संस्तारकेऽनायुक्तः, पाप-श्रमण इत्युच्यते ।। १४ ।।

मूल : **दुद्ध-दही-विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।**
अरए य तवोकम्मे, पाव-समणि त्ति वुच्चई ।। १५ ।।

संस्कृत : दुग्ध-दधि-विकृतीः, आहारयत्यभीक्ष्णम्।
अरतश्च तपःकर्मणि, पाप-श्रमण इत्युच्यते ।। १५ ।।

मूल : **अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।**
चोइओ पडिचोएइ, पाव-समणि त्ति वुच्चई ।। १६ ।।

संस्कृत : अस्तान्ते च सूर्ये, आहारयत्यभीक्ष्णम्।
चोदितः प्रतिचोदयति, पाप-श्रमण इत्युच्यते ।। १६ ।।

११. अत्यधिक मायावी, अत्यधिक वाचाल, अहंकारी, लालची, इन्द्रिय आदि पर नियन्त्रण न रख पाने वाला, आहार का (साधर्मी साधुओं में) सम-विभाग (आहार आदि का उचित बँटवारा) न करने वाला, तथा (गुरु व साधर्मी साधुओं के प्रति) प्रेम-भाव न रखने वाला 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

१२. (जो साधु) विवाद को (पुनः) उभारता है, अधर्म में आत्मीय बुद्धि को (एवं दूसरों की बुद्धि को) नष्ट करने वाला, तथा मिथ्या आग्रह, लड़ाई-झगड़े व कलह में अनुरक्त रहने वाला होता है, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

१३. (जो साधु) स्थिर होकर नहीं बैठने वाला, तथा भांडों-विदूषकों जैसी (विकार-युक्त) चेष्टा करने वाला होता है, सचित्त-अचित्त का विचार किये बिना ही जहां-तहां बैठ जाता है, और जो (आसन पर) बैठने में (शास्त्रीय विधि के अनुरूप) सावधानी (या विवेक) नहीं रखता है, (वह) 'पापश्रमण' कहलाता है।

१४. (जो साधु) धूल से भरे पैरों से (ही) सो जाता है, शय्या का प्रतिलेखन नहीं करता, और (जो) बिछौना बिछाने में (भी) (शास्त्रीय विधि के अनुरूप) सावधानी (या विवेक) नहीं रखता है, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

१५. (जो साधु) दूध-दही (आदि) विकृतियों को बार-बार खाता है, तथा तपश्चर्या में रुचि (या प्रेम) नहीं रखता, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

१६. (जो साधु) सूर्य के उदय होने से लेकर अस्त होने तक, बार-बार खाता रहता है, जो शिक्षा देने पर (उलटे शिक्षक को ही) शिक्षा देने लगता है, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

मूल : आयरिय-परिच्चाई, पर-पासण्ड-सेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए, पाव-समणि त्ति वुच्चई ।। १७ ।।

संस्कृत : आचार्य-परित्यागी, पर-पाषण्ड-सेवकः।
गाणंगणिको दुर्भूतः, पापश्रमण इत्युच्यते ।। १७ ।।

मूल : सयं गेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावरे।
निमित्तेण य ववहरई, पाव-समणि त्ति वुच्चई ।। १८ ।।

संस्कृत : स्वकं गेहं परित्यज्य, पर गेहे व्याप्रियते (व्यापृतः)।
निमित्तेन च व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ।। १८ ।।

मूल : सन्नाइ-पिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं।
गिहि-निसेज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ।। १९ ।।

संस्कृत : स्वज्ञातिपिण्डं भुंक्ते, नेच्छति सामुदानिकम्।
गृहि-निषद्यां च वाहयति, पापश्रमण इत्युच्यते ।। १९ ।।

मूल : एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थ लोए ।। २० ।।

संस्कृत : एतादृशः पंच-कुशीलसंवृतः, रूपंधरो मुनिप्रवराणामधस्तनः।
अस्मिल्लोके विषमिव गर्हितः, न स इह नैव परत्र लोके ।। २० ।।

मूल : जे वज्जए एए सया उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयंसि लोए अमयं व पूइए, आराहए लोगमिणं तहा परं ।। २१ ।।
ति बेमि।

संस्कृत : यो वर्जयत्येतान् सदा तु दोषान्, स सुव्रतो भवति मुनीनां मध्ये।
अस्मिंल्लोकेऽमृतमिव पूजितः, आराधयति लोकमिमं तथा परम् ।। २१ ।।
इति ब्रवीमि।

१७. (जो साधु अपने) आचार्य को छोड़कर, दूसरे सम्प्रदाय का आश्रय लेता है, और जो गुरु-आज्ञा के बिना, स्वेच्छा से, तथा बिना किसी समुचित प्रयोजन के, दूसरे गण में चला जाता है, (वह) निन्दित (साधु) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

१८. (जो साधु) अपने घर (गृहस्थ-आश्रम) को छोड़कर (भी) दूसरों के घरों में रुचि रखता है (अर्थात् घर-गृहस्थी छोड़ कर भी घर-गृहस्थी के धन्धों में संलग्न रहता है), और 'निमित्त-विद्या' का आश्रय लेकर 'व्यवहार' (द्रव्योपार्जन करता तथा आजीविका) चलाता है, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

१९. (जो साधु) अपने ज्ञाति-जनों (जाति-बिरादरी) के घरों में (ही) आहार ग्रहण करता है, 'सामुदानिकी' (अनेक व विविध अज्ञात घरों में) भिक्षा लेना नहीं चाहता है, तथा गृहस्थ की शय्या पर बैठ जाता है, (वह) 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

२०. इस तरह का (पूर्वोक्त आचरण करते हुए), पांच प्रकार[1] के कुशील साधुओं की तरह 'असंवृत' (कर्म-संवर से रहित), मात्र (मुनि का) वेष धारण करने वाला, मुनिवरों की तुलना में निकृष्ट (कोटि वाला साधु) इस लोक में विष के समान निन्दित होता है। वह न (तो) इस लोक का (साधक/आराधक) रहता है, और न ही परलोक का (ही साधक)।

२१. जो इन (पूर्वोक्त) दोषों का हमेशा त्याग करता है, वह मुनियों के बीच, 'सुव्रती' (कहलाता) है। (वह) इस लोक में अमृत की तरह पूजित होता हुआ, इस लोक तथा परलोक (दोनों) का आराधक होता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

---

१. कुशील साधुओं के पांच भेद इस प्रकार हैं :- (१) पार्श्वस्थ-आचार में शिथिल। (२) अवसन्न-साधु चर्या में खेद-खिन्नता का अनुभव करने वाला। (३) कुशील-उत्तरगुणों की अनाराधना से दूषित आचार वाला। (४) संसक्त-दही, दूध आदि विकृतियों में आसक्त, अथवा उत्कृष्ट चरित्र वालों में उत्कृष्ट तथा शिथिलों में शिथिल आचार वाला। (५) यथाच्छन्द (स्वच्छन्द) शास्त्रीय विधि का त्याग करते हुए स्वेच्छा वृत्ति वाला। अथवा -हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रह इन पांच कुशीलों (अनाचारों) से युक्त।

अध्ययन–सार :

'पाप-श्रमण' की दृष्टि में मुनि-जीवन अंगीकार करने का उद्देश्य मात्र पर्याप्त आहार-पानी, वस्त्र, आवास आदि की सुविधा एवं पूजा-सत्कार को प्राप्त करना होता है। आत्म-गुणों के पोषण में ध्यान न देकर वह मात्र शरीर-पोषण में ही दत्तचित्त रहता है। सुबह से लेकर शाम तक बार-बार आहार, खा-पीकर सुख से सो जाना उसे प्रिय होता है। तपस्या व शास्त्राध्ययन आदि श्रमणोचित क्रियाओं में उसकी कोई रुचि नहीं रहती। वह अपने ज्ञानदाता आचार्य आदि की सेवा-विनय-भक्ति आदि करना भी छोड़ कर उनकी अविनय, निन्दा या तिरस्कार करने से भी नहीं चूकता।

मुनिवेश को छोड़ कर उसके आचार-विचार में कोई भी श्रमणोचित सद्गुण प्रकट नहीं होते। वह विवेकभ्रष्ट होकर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्राणियों को उत्पीड़ित करता रहता है और किसी प्रकार की यतना नहीं करता। अपने उपकरणों व शैया-आसन आदि की ठीक से प्रमार्जना-प्रतिलेखना या तो करता नहीं, या असावधानीपूर्वक करता है। वह शारीरिक चंचलता व विकृत चेष्टाएं करता रहता है। वह मायावी, वाचाल तथा कुशील साधुओं की तरह आचरण करने वाला, शुभाशुभ निमित्त बता कर जीविका चलाने वाला, जन-सामान्य से भिक्षा न लेकर पूर्व-परिचित स्वजनों से ही भिक्षा लेने वाला, प्राप्त आहार का संविभाग नहीं करने वाला, गृहस्थी के धन्धों में व्यापार-रत, तथा इन्द्रियों व मन पर नियन्त्रण न रखने वाला होता है।

शान्त विवाद को पुनः भड़काने में और कलह, विग्रह व अधर्माचरण में 'पाप-श्रमण' की रुचि या प्रवृत्ति रहा करती है। बिना किसी शास्त्र-सम्मत कारण के वह अपने आचार्य, गुरु या संघ/गण छोड़कर अन्य आचार्य, गुरु या संघ/गण व परम्परा को स्वीकार करता रहता है। उक्त निन्दित आचार-विचारों वाला वह पाप-श्रमण न यह लोक सुधार सकता है और न परलोक। उसे विषतुल्य समझ कर, उसके संसर्ग से बचना चाहिए। इसके विपरीत, पाप-श्रमणोचित दोषों से सर्वथा दूर रहने वाले जो सुव्रती व सद्भिक्षु हैं, वे अपने दोनों लोक सुधारते हैं और 'अमृत' के समान सदा सेवनीय व उपासनीय होते हैं।

❑❑

अध्ययन–18

संजयीय

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–जिनेन्द्र-प्रवर्तित जीवन की सर्वोत्तम जीवन के रूप में स्थापना। यह स्थापना राजा से मुनि हुए संजय के माध्यम से हुई है। संजय या संयत से सम्बन्धित होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'संजयीय' रखा गया। इसमें चौवन गाथायें हैं। इस अध्ययन में वर्णित धर्म-कथा एक माँसाहारी शिकारी के अहिंसक अनगार में रूपान्तरित हो जाने की कथा है। तपोधान अनगार गर्दभालि द्वारा राजा संजय को सदुपदेश देना कथा का प्रारम्भिक भाग है। राजा संजय का हिंसक व भोग-प्रधान जीवन छोड़ कर अहिंसक व अकिंचन मुनि बन जाना कथा का मध्य भाग और संजय राजर्षि व क्षत्रिय राजर्षि के मध्य हुई महत्त्वपूर्ण ज्ञान-वार्ता कथा का अन्तिम भाग है।

हिंसा भय से और भय के लिये की जाती है। अहिंसा अभय से और अभय के लिये होती है। भय देने वाला भय और अभय देने वाला अभय पाता है। आत्मा का स्वभाव अभय है। भय विकृति है। जिनेन्द्र प्रवर्तित जीवन के स्वभावानुरूप जीने का नाम है। इसके लिये यह पहचानना आवश्यक है कि जिन अपनों के लिये आत्मा स्वभाव के विपरीत कर्म करने में जुटी रहती है, वे कर्मफल भोग में साथ नहीं देते। मृत्यु से नहीं बचाते। कांटा चुभने तक की वेदना नहीं बँटा सकते। सांसारिक जड़-चेतन पदार्थों को अपना मानना भ्रम है। आत्मा की संसार-यात्रा में हितकारी सच्चा साथ देता है तो केवल धर्म।

राजा संजय व मुनिवर गर्दभालि के सम्बन्धों के रूप में यहाँ धर्म साकार हुआ है। राजा ने मुनि के मृगों का शिकार किया। इसलिये मुनि कुपित हो तप-तेज से भस्म तक कर सकते हैं। इस सोच से भयाक्रांत राजा ने क्षमा मांगी। मुनि ने राजा की भयाक्रांत मनोदशा को ही धर्म-कथा का आधार बनाया। धर्म-कथा सुन राजा ने अपनी मनोदशा से मृगों की मनोदशा जानी। सांसारिकता की नश्वरता जानी। सत्य अनुभव किया। शरीर के लिये जीना छोड़ कर आत्मा के लिये जीना प्रारम्भ किया। मुनि धर्म अंगीकार किया। वे राजा थे। फिर महाराज या राजर्षि हो गये। मन पर, इन्द्रियों पर उनका साम्राज्य स्थापित होने लगा। वे कमल-से खिलने लगे। आत्म-शास्ता बन विचरण करने लगे। फिर उनके तथा क्षत्रिय राजर्षि के बीच वार्ता हुई।

वह ज्ञान-वार्ता थी। जय-पराजय-निर्धारक शास्त्रार्थ नहीं था। इसलिये

दुराग्रह उसकी प्रेरक-शक्ति नहीं बनी। तर्कों की पैंतरेबाजी उसका रूप नहीं बना। विभिन्न दृष्टियों से सत्य को पूर्णत: देखने-दिखाने व समझने-समझाने की नीयत उसकी प्रेरक शक्ति बनी। सत्य-ज्ञान का सहज आदान-प्रदान उसका रूप बना। जितेन्द्र-प्रवर्तित-धर्म का स्वरूप उस ज्ञान-वार्ता से स्पष्टत: उजागर हुआ। जिन-शासन की प्रभावना हुई।

प्रमाणित हुआ कि सत्य को पूर्णत: देखने, समझने व उजागर करने की क्षमता क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद या अज्ञानवाद जैसे किसी भी एकान्तवाद में नहीं। यह क्षमता केवल अनेकान्तवाद में है। वही आत्मा के विषय में निश्चय-कथन करने में सक्षम है। वह वर्तमान इन्द्रिय-गम्य जीवन के आगे-पीछे भी देख सकता है। ज्ञान को मुसीबत मानकर वह उस से पल्ला नहीं झाड़ता। अज्ञान में सुख नहीं मानता। ज्ञान का उसके लिये आत्यंतिक महत्त्व है। विनय शीलता का महत्त्व उसके लिये कम नहीं परन्तु विनयशीलता के अतिरिक्त भी जो कुछ है, वह उसे दिखाई देता है। इसके विपरीत एकान्तवाद एक ही पक्ष को सम्पूर्ण मान लेता है। अनेकान्तवाद ज्ञान की असीम सम्भावना है। आत्म-कल्याण की असीम सम्भावनाओं का स्रोत है। विद्वद्मैत्री का निर्माता है। संजय व क्षत्रिय राजर्षि की वार्ता तद्युगीन एकान्तवादों की चर्चा करते हुए अनेकान्तवाद का स्वरूप एवम् महत्त्व उद्घाटित करती है।

वार्ता दो राजर्षियों के मध्य हुई थी। उसमें जिनेन्द्र-प्ररूपित-मार्ग पर अग्रसर होते हुए अनुत्तर गति प्राप्त करने वाले चक्रवर्ती सम्राटों का वर्णन हुआ। उनके महान् त्याग का वर्णन हुआ। राजा से ऋषि बने व्यक्तित्वों ने मानों अपने-आप से और दूसरों से कहा, "उन की तुलना में हमारा त्याग कुछ भी नहीं। उन के ज्ञान की तुलना में हमारा ज्ञान कुछ भी नहीं। उन की साधना की तुलना में हमारी साधना कुछ भी नहीं।" **अहंकार-शून्यता की यह स्थिति वास्तव में अपने-आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। यह यशाकांक्षा का त्याग है। विनयशीलता का उत्कर्ष है। आगामी ज्ञान व गुणों के लिये सुपात्रता का खुला द्वार है।** जिनके जीवन में यह स्थिति है, उन का परम कल्याण होकर ही रहेगा, इस सत्य की मौन अभिव्यंजना है। जिनेन्द्र-प्रवर्तित जीवन का एक रूप है। सर्वोत्तम जीवन की एक झलक है।

सर्वोत्तम जीवन के लिये प्रेरित करने के साथ-साथ वैचारिक ऊहापोह पें न उलझने देने तथा मिथ्या व अपूर्ण ज्ञान से रक्षा करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है। ❑❑

अह संजइज्जं अट्ठारसमं अज्झयणं

(अथ संजयीयमष्टादशमध्ययनम्)

मूल : **कंपिल्ले नयरे राया, उदिण्ण-बल-वाहणे।**
नामेणं संजए नाम, मिगव्वं उवणिग्गए।।१।।

संस्कृत : काम्पिल्ये नगरे राजा, उदीर्ण-बल-वाहनः।
नाम्ना संजयो नाम, मृगव्यामुपनिर्गतः।।१।।

मूल : **हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य।**
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए।।२।।

संस्कृत : हयानीकेन गजानीकेन, रथानीकेन तथैव च।
पदात्यनीकेन महता, सर्वतः परिवारितः।।२।।

मूल : **मिए छुहित्ता हयगओ, कंपिल्लुज्जाण-केसरे।**
भीए संते मिए तत्थ, वहेइ रस-मुच्छिए।।३।।

संस्कृत : मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः, काम्पिल्योद्यान-केसरे।
भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र, विध्यति रसमूर्च्छितः।।३।।

मूल : **अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे।**
सज्झायज्झाणसंजुत्ते, धम्मज्झाणं झियायइ।।४।।

संस्कृत : अथ केसर उद्याने, अनगारस्तपोधनः।
स्वाध्याय-ध्यान-संयुक्तः, धर्मध्यानं ध्यायति।।४।।

मूल : **अप्फोवमंडवम्मि, झायइ खवियासवे।**
तस्सागए मिए पासं, वहेइ से नराहिवे।।५।।

संस्कृत : अप्फोवमण्डपे, ध्यायति क्षपितास्रवः।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वे, विध्यति स नराधिपः।।५।।

अठारहवाँ अध्ययन : संजयीय

१. काम्पिल्य नगर में (चतुरंगिणी) सेना एवं (रथादि) वाहनों से समृद्ध 'संजय' नाम का (एक) राजा (था, जो एक दिन नगर से) शिकार के लिए निकल पड़ा।

२. (उस समय, वह राजा) अश्व-सेना, हस्ति-सेना, रथ-सेना तथा विशाल पैदल सेना से चारों ओर घिरा हुआ (अर्थात् सुरक्षा के घेरे में) था।

३. (वह) काम्पिल्य नगर के 'केसर' (नामक) उद्यान में हरिणों को क्षुभित (भयभीत) कर ले आया, तदनन्तर वहीं (उन) अत्यन्त थके-मांदे व भयभीत मृगों को, (अपने) घोड़े पर बैठा हुआ (ही वह) मांस-लोलुप राजा, पीड़ित करने (या मारने) लगा।

४. इधर, (उक्त) केसर उद्यान में, स्वाध्याय व ध्यान से युक्त रहने वाले (गर्दभालि नामक एक) तपोधन अनगार (मुनि) धर्म-ध्यान में एकाग्रचित्त हो रहे थे।

५. (वे मुनि तो) वृक्षों तथा द्राक्षा व नागवल्ली आदि लताओं से आच्छादित मण्डप में ध्यान कर रहे थे। (किन्तु वह) राजा उन (मुनि) के आसपास में आए हुए मृगों को (भी) बाणों से बींध रहा (या मार रहा) था।

मूल : **अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं।**
हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ।। ६ ।।

संस्कृत : अथाऽश्वगतो राजा, क्षिप्रमागम्य स तस्मिन्।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा, अनगारं तत्र पश्यति ।। ६ ।।

मूल : **अह राया तत्थ संभंतो, अणगारो मणाहओ।**
मए उ मंदपुण्णेणं, रस-गिद्धेण घत्तुणा ।। ७ ।।

संस्कृत : अथ राजा तत्र सम्भ्रान्तः, अनगारो मनागू हतः।
मया तु मन्दपुण्येन, रसगृद्धेन घातुकेन ।। ७ ।।

मूल : **आसं विसज्जइत्ताणं, अणगारस्स सो निवो।**
विणएण वंदए पाए, भगवं! एत्थ मे खमे ।। ८ ।।

संस्कृत : अश्वं विसृज्य, अनगारस्य स नृपः।
विनयेन वन्दते पादौ, भगवन्! अत्र मे क्षमस्व ।। ८ ।।

मूल : **अह मोणेण सो भगवं, अणगारे झाणमस्सिए।**
रायाणं न पडिमंतेइ, तओ राया भयद्दुओ ।। ९ ।।

संस्कृत : अथ मौनेन स भगवान्, अनगारो ध्यानमाश्रितः।
राजानं न प्रतिमंत्रयते, ततो राजा भयद्रुतः ।। ९ ।।

मूल : **संजओ अहमम्मीति, भगवं! वाहराहि मे।**
कुद्धे तेएण अणगारे, डहेज्ज नर-कोडिओ ।। १० ।।

संस्कृत : संजयो अहमस्मीति, भगवन्! व्याहर माम्।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः, दहेत् नर-कोटीः ।। १० ।।

मूल : **अभओ पत्थिवा ! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।**
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि? ।। ११ ।।

संस्कृत : अभयं पार्थिव! तुभ्यं, अभयदाता भव च।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसायां प्रसजसि? ।। ११ ।।

६. उसके बाद, (वह) अश्वारूढ़ राजा शीघ्र ही वहां आया। वहां उसने मारे गए मृगों को देखा, और फिर (उक्त) अनगार (मुनि) को देखा।

७. इसके बाद (तो) राजा वहां भयभीत हो गया, (और सोचने लगा कि) रस-लोलुप व हिंसा-परायण बने हुए मुझ पुण्यहीन ने (मृगों को ही नहीं, अपितु) अनगार (साधु) के मन को (भी) व्यर्थ ही आहत कर दिया।

८. उस राजा ने (अपने) घोड़े को (तो) छोड़ दिया, और (पैदल ही चलकर) अनगार (मुनि) के चरणों में विनय-पूर्वक वन्दना की (और कहा कि) "भगवन्! इस (अपराध) के लिए मुझे क्षमा करें।"

९. तब, (चूंकि) वे अनगार भगवन् मौन-पूर्वक ध्यान में निमग्न थे, (इसलिए उन्होंने) राजा को प्रत्युत्तर नहीं दिया, तब राजा (और भी अधिक) भय-त्रस्त हो गया।

१०. (राजा ने कहा-) "हे भगवन्! मैं संजय (राजा) हूँ। मुझसे आप बात (तो) करें। (क्योंकि) क्रुद्ध मुनि अपने तेज से करोड़ों लोगों को भस्म कर सकते हैं।"

११. (मुनि ने कहा-) "हे राजन्! तुझे अभय है, और तू भी (औरों के लिए) अभयदाता बन। (इस) अनित्य प्राणि-लोक में तू हिंसा में क्यों आसक्त हो रहा है?"

मूल : **जया सव्वं परिच्चज्ज, गंतव्वमवसस्स ते।**
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि? ।। १२ ।।

संस्कृत : यदा सर्वं परित्यज्य, गन्तव्यमवशस्य ते।
अनित्ये जीवलोके, किं राज्ये प्रसजसि? ।। १२ ।।

मूल : **जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपाय-चंचलं।**
जत्थ तं मुज्झसी रायं!, पेच्चत्थं नावबुज्झसे ।। १३ ।।

संस्कृत : जीवितं चैव रूपं च, विद्युत्संपात-चंचलम्।
यत्र त्वं मुह्यसि राजन्! प्रेत्यार्थं नावबुध्यसे? ।। १३ ।।

मूल : **दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा।**
जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य ।। १४ ।।

संस्कृत : दाराश्च सुताश्चैव, मित्राणि च तथा बान्धवाः।
जीवन्तमनुजीवन्ति, मृतं नाऽनुव्रजन्ति च ।। १४ ।।

मूल : **नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।**
पियरो वि तहा पुत्ते, बंधू रायं! तवं चरे ।। १५ ।।

संस्कृत : निःसारयन्ति मृतं पुत्राः, पितरं परमदुःखिताः।
पितरोऽपि तथा पुत्रान्, बन्धवो राजन्! तपश्चरेः ।। १५ ।।

मूल : **तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए।**
कीलंतऽन्ने नरा रायं! हट्ठ-तुट्ठमलंकिया ।। १६ ।।

संस्कृत : ततस्तेनाऽर्जिते द्रव्ये, दारेषु च परिरक्षितेषु।
क्रीड़न्त्यन्ये नरा राजन्! हृष्ट-तुष्टा अलंकृताः ।। १६ ।।

मूल : **तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।**
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ।। १७ ।।

संस्कृत : तेनाऽपि यत्कृतं कर्म, सुखं वा यदि वा दुःखम्।
कर्मणा तेन संयुक्तः, गच्छति तु परं भवम् ।। १७ ।।

१२. "जब सब (कुछ) छोड़ कर (एक दिन) विवश होकर (इस संसार से) तुझे जाना (ही) है, (तब फिर) इस अनित्य प्राणि-लोक में तू राज्य (के नश्वर भोग) में क्यों आसक्त हो रहा है?"

१३. "हे राजन्! जिस पर तुम मोहित हो रहे हो (वह) जीवन और रूप, बिजली की चमक की तरह चंचल है। परलोक के हित का तुझे बोध (क्यों) नहीं है?"

१४. "(हे राजन्!) स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव (ये सब) जीवित (व्यक्ति) के (धन-वैभव आदि पर आश्रित होकर उसके) साथ (तो) जीवन-यापन करते हैं, (किन्तु ये) मृत व्यक्ति का कभी अनुसरण नहीं करते।"

१५. "अत्यन्त दुःखी होकर, पुत्र (भी) अपने मृत पिता को (घर से बाहर) निकाल देते हैं, इसी तरह पिता भी (मृत) पुत्रों को तथा (बन्धु-जन) बान्धवों को (घर से बाहर निकाल देते हैं)। (इसलिए) हे राजन्! तप (संयम) का आचरण करो।"

१६. "हे राजन्! (मृत्यु के बाद) उस (मृत व्यक्ति) द्वारा उपार्जित द्रव्य - धन के साथ, तथा (अब तक) सुरक्षित रह चुकी (उसकी) पत्नियों के साथ दूसरे लोग प्रसन्न, सन्तुष्ट और (वस्त्र-आभूषणों से) अलंकृत होकर क्रीड़ा करने लगते हैं- उपभोग कर आनन्द मनाने लगते हैं।"

१७. "उस (मृत व्यक्ति) द्वारा जो (कुछ) भी सुखद व दुःखद कर्म किया गया है, उस कर्म से युक्त होकर (ही वह मृत व्यक्ति) पर-भव में जाता है।"

मूल : **सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अंतिए।**
महया संवेग-निव्वेयं, समावन्नो नराहिवो।।१८।।

संस्कृत : श्रुत्वा तस्य स धर्मं, अनगारस्यान्तिके।
महान्तं संवेग-निर्वेदं, समापन्नो नराधिपः।।१८।।

मूल : **संजओ चइउं रज्जं, निक्खंतो जिणसासणे।**
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अंतिए।।१९।।

संस्कृत : संजयस्त्यक्त्वा राज्यं, निष्क्रान्तो जिनशासने।
गर्दभालेर्भगवतः, अनगारस्यान्तिके।।१९।।

मूल : **चिच्चा रट्ठं पव्वइए, खत्तिए परिभासई।**
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो।।२०।।

संस्कृत : त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजितः, क्षत्रियः परिभाषते।
यथा ते दृश्यते रूपं, प्रसन्नं ते तथा मनः।।२०।।

मूल : **किंनामे? किंगोत्ते?, कस्सट्ठाए व माहणे?**
कहं पडियरसी बुद्धे? कहं विणीएत्ति वुच्चसि?।।२१।।

संस्कृत : किंनामा? किंगोत्रः?, कस्मै अर्थाय वा माहनः?
कथं प्रतिचरसि बुद्धान्? कथं विनीत इत्युच्यसे?।।२१।।

मूल : **संजओ नाम नामेणं, तहा गोत्तेण गोयमो।**
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरण-पारगा।।२२।।

संस्कृत : संजयो नाम नाम्ना, तथा गोत्रेण गौतमः।
गर्दभालयो ममाचार्याः, विद्याचरण-पारगाः।।२२।।

मूल : **किरियं अकिरियं विणयं, अन्नाणं च महामुणी।**
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किं पभासई?।।२३।।

संस्कृत : क्रियाऽक्रियां विनयः, अज्ञानं च महामुने!
एतैश्चतुर्भिः स्थानैः, मेयज्ञाः किं प्रभाषन्ते?।।२३।।

१८. उन अनगार (गर्दभाली मुनि) के पास (श्रुत-चारित्र रूप) धर्म को सुनकर, वह राजा उत्कृष्ट संवेग (मोक्ष-अभिलाषा) तथा निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त हुआ।

१९. (वह) संजय राजा (अपना सब) राज-पाट छोड़ कर, भगवान् 'गर्दभालि' मुनि के पास जिन-शासन में दीक्षित होने के लिए निकल पड़ा। (अर्थात् प्रव्रज्या ग्रहण कर ली)

{दीक्षा लेने के अनन्तर, गुरु-आज्ञा से एकाकी विहार करते हुए संजय राजर्षि की, अप्रतिबद्धविहारी 'क्षत्रिय मुनि' से भेंट हुई। तदुपरान्त उनके मध्य हुई वार्ता-}

२०. राष्ट्र को छोड़ कर प्रव्रजित होने वाले (किसी अन्य) क्षत्रिय (मुनि) ने (संजय राजर्षि से) कहा- "(हे मुने!) जिस प्रकार आपका यह (बाह्य) रूप प्रसन्न (निर्विकार) दृष्टिगोचर हो रहा है, क्या वैसा ही आपका अन्तर्मन भी (प्रसन्न व निर्विकार) है?"

२१. (क्षत्रिय मुनि का कथन-) "(हे मुने!) आपका नाम क्या है? गोत्र क्या है? किस उद्देश्य से आप 'माहन' (सर्वपापों से विरत मुनि) बने हैं? आप बुद्धों- आचार्य व गुरुजनों- की किस प्रकार सेवा करते हैं? (और) किस रीति से आप 'विनीत' कहलाते हैं?"

२२. (संजय राजर्षि का कथन-) "मेरा नाम संजय है। गोत्र से मैं गौतम हूँ। विद्या (श्रुत-ज्ञान) व चारित्र (दोनों) में पारंगत 'गर्दभाली' मेरे आचार्य हैं।"

२३. "हे महामुने! (कुछ तथाकथित) तत्त्वज्ञानी (जो) क्रिया, अक्रिया, विनय व अज्ञान - इन चारों प्रकारों से (अर्थात् क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी व अज्ञानवादी - इन चार वर्गों में विभाजित चार स्वरूपों में) कुत्सित भाषण (अयुक्तियुक्त प्ररूपणा) किया करते हैं।"

मूल : **इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे।**
विज्जाचरण-संपन्ने, सच्चे सच्च-परक्कमे।।२४।।

संस्कृत : इति प्रादुरकरोद् बुद्धः, ज्ञातकः परिनिर्वृतः।
विद्या-चरण-सम्पन्नः, सत्यः सत्य--पराक्रमः।।२४।।

मूल : **पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।**
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं।।२५।।

संस्कृत : पतान्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति, चरित्वा धर्ममार्यम्।।२५।।

मूल : **मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया।**
संजममाणो वि अहं, वसामि इरियामि य।।२६।।

संस्कृत : मायोक्तमेतत्तु, मृषा भाषा निरर्थिका।
संयच्छन्नप्यहं, वसामि ईर्यायां च।।२६।।

मूल : **सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया।**
विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पयं।।२७।।

संस्कृत : सर्वे ते विदिता मम, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः।
विद्यमाने परे लोके, सम्यक् जानाम्यात्मानम्।।२७।।

मूल : **अहमासी महापाणे, जुइमं वरिस-सओवमे।**
जा सा पाली महापाली, दिव्वा वरिस-सओवमा।।२८।।

संस्कृत : अहमासं महाप्राणे, द्युतिमान् वर्षशतोपमः।
या सा पाली महापाली, दिव्या वर्ष-शतोपमाः।।२८।।

मूल : **से चुए बंभलोगाओ, माणुसं भवमागए।**
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा।।२९।।

संस्कृत : स च्युता ब्रह्मलोकात्, मानुष्यं भवमागतः।
आत्मनश्च परेषां च, आयुर्जानामि यथा तथा।।२९।।

२४. "तत्त्वज्ञानी, पूर्णतया शान्त, विद्या व चारित्र (इन दोनों) से सम्पन्न, सत्यवादी, सत्व-पराक्रमी ज्ञातृवंशीय (भगवान् महावीर) ने (उक्त कुत्सित एकान्तवादों के सम्बन्ध में) ऐसा बताया था।"

२५. "जो (उक्त असत्प्ररूणा करने वाले एकान्तवाद के अनुयायी) लोग पाप करते हैं, वे घोर नरक में गिरते हैं, (किन्तु) आर्य धर्म (जिन-धर्म) का आचरण कर लोग दिव्य गति प्राप्त करते हैं।"

२६. "(उक्त एकान्तवादियों का) यह (कथन) तो माया (कपट) से पूर्ण कथन है, मिथ्यावचन एवं निरर्थक है। (इसलिए) मैं (उनका उस रूप में) त्याग करता हुआ ही (संयम मार्ग में) रहता हूँ और चलता हूँ।"

२७. "(जो कोई भी) मिथ्यादृष्टि व अनार्य हैं, वे सब मेरे जाने हुए हैं। परलोक के सद्भाव (रूपी सत्य के आलोक) में मैं अपनी आत्मा के अस्तित्व को भी अच्छी तरह जानता हूँ (या परलोक में रही हुई अपनी आत्मा की अतीत-कालीन स्थितियों को भली प्रकार जानता हूँ)।"

२८. "मैं (पहले) 'महाप्राण' (नामक पांचवें ब्रह्मलोक-विमान) में 'सौ वर्ष की आयु' के समान (देवलोक-अनुरूप पूर्ण) आयु वाला (एक) कान्तिमान् (देव) था। (वहां) मनुष्यों के 'सौ वर्षों' के समान (वैमानिक देवों की पूर्ण) जो दिव्य आयु होती है, वह 'पाली' व 'महापाली' (पल्योपम व सागरोपम प्रमाण वाली हुआ करती) है।"

२९. "(उक्त) ब्रह्मलोक (के दस सागरोपम की आयु पूर्ण कर, वहां) से च्युत होकर, मैं मनुष्य-भव में आया हूँ। मैं जैसे अपनी आयु (व गति) के बारे में जानता हूँ, वैसे ही दूसरों की (आयु व गति के बारे में) भी (जानता हूँ)।"

मूल : **नाणा-रुइं च छंदं च, परिवज्जेज्ज संजए।**
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे।। ३०।।

संस्कृत : नाना-रुचिं च छन्दश्च, परिवर्जयेत् संयतः।
अनर्था ये च सर्वत्र, इति विद्यामनुसंचरेः।। ३०।।

मूल : **पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो।**
अहो उट्ठिए अहोरायं, इइ विज्जा तवं चरे।। ३१।।

संस्कृत : प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्यः, परमंत्रेभ्यो वा पुनः।
अहो! उत्थितोऽहोरात्रं, इति विद्वान् तपश्चरेत्।। ३१।।

मूल : **जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण चेयसा।**
ताइं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिण-सासणे।। ३२।।

संस्कृत : यच्च मां पृच्छसि काले, सम्यक् शुद्धेन चेतसा।
तत्प्रादुरकरोत् बुद्धः, तज्ज्ञानं जिन-शासने।। ३२।।

मूल : **किरियं च रोयए धीरे, अकिरियं परिवज्जए।**
दिट्ठीए दिट्ठि-संपन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं।। ३३।।

संस्कृत : क्रियां च रोचयेद् धीरः, अक्रियां परिवर्जयेत्।
दृष्ट्या दृष्टिसम्पन्नः, धर्मं चर सुदुश्चरम्।। ३३।।

मूल : **एयं पुण्णपयं सोच्चा, अत्थ-धम्मोवसोहियं।**
भरहो वि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए।। ३४।।

संस्कृत : एतत् पुण्यपदं श्रुत्वा, अर्थ-धर्मोपशोभितम्।
भरतोऽपि भारतं वर्षं, त्यक्त्वा कामान् प्राव्रजत्।। ३४।।

मूल : **सगरो वि सागरन्तं, भारहवासं नराहिवो।**
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे।। ३५।।

संस्कृत : सगरोऽपि सागरान्तं, भारतवर्षं नराधिपः।
ऐश्वर्यं केवलं हित्वा, दयया परिनिर्वृतः।। ३५।।

३०. "संयमी (मुनि को चाहिए कि वह) विविध रुचियों एवं मानसिक विकल्पों का, तथा जो भी समस्त अनर्थकारी कार्य हैं, उनका परित्याग करे। इस (तत्त्वज्ञान रूप) 'विद्या' (को स्वीकार कर) संयम-मार्ग का अनुसरण करे।"

३१. "मैं (शुभाशुभ-सूचक) प्रश्नों से, तथा पर-मंत्रणा (गृहस्थ-कार्यों की मन्त्रणा) से (स्वयं को) निवृत्त किए रहता हूँ। अहो! (धर्म-अनुष्ठान के प्रति) रात-दिन जागृत रहता हूँ, ऐसा जान कर, तपश्चरण करो।"

३२. "जो तुम मुझे समीचीन व शुद्ध मन से इस (काल) समय में (या आयु के विषय में) पूछ रहे हो, उसे (तो) 'बुद्ध' (तत्त्वज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी या मैं) ने प्रकट किया है, (और) वह (सब) ज्ञान जिन-शासन (आगमादि प्रवचन) में (ही विद्यमान) है (अन्यत्र नहीं)।"

३३. "धीर (साधक) क्रिया (सदनुष्ठान) में रुचि रखे, अक्रिया (मिथ्यादृष्टि परिकल्पित आचार) का परित्याग करे। सम्यग्दर्शन से दृष्टि-सम्पन्न होते हुए, अत्यन्त दुष्कर (संयम) धर्म का आचरण करे।"

३४. "अर्थ(मोक्ष) व धर्म (मोक्ष-मार्ग) से उपशोभित इस पुण्य (पवित्र, निष्कलंक, पुण्यप्रद) 'पद' (जिनवाणी, जिन-उपदेश) को सुनकर, भरत-चक्रवर्ती ने भी भारतवर्ष और काम-भोगों का त्याग कर प्रव्रज्या धारण की थी।"

३५. "सगर चक्रवर्ती ने भी (तीन दिशाओं में) सागर-पर्यन्त (तथा उत्तर दिशा में 'हिमवत्' पर्यन्त) 'भारतवर्ष' और केवल (अद्वितीय) ऐश्वर्य का त्याग कर, 'दया' (संयम-अनुष्ठान) के द्वारा 'मुक्ति' प्राप्त की थी।"

मूल : **चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।**
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ।।३६।।

संस्कृत : त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
प्रव्रज्यामभ्युपगतः, मघवा नाम महायशाः ।।३६।।

मूल : **सणंकुमारो मणुस्सिन्दो, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।**
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं, सो वि राया तवं चरे।।३७।।

संस्कृत : सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा, सोऽपि राजा तपोऽचरत् ।।३७।।

मूल : **चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।**
सन्ती सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं।।३८।।

संस्कृत : त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
शान्तिः शान्तिकरो लोके, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ।।३८।।

मूल : **इक्खागराय-वसभो, कुन्थू नाम नराहिवो।**
विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं।।३९।।

संस्कृत : इक्ष्वाकुराजवृषभः, कुन्थुर्नाम नराधिपः।
विख्यात-कीर्तिर्भगवान्, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ।।३९।।

मूल : **सागरन्तं जहित्ताणं, भरहवासं नरेसरो।**
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं।।४०।।

संस्कृत : सागरान्तं हित्वा, भारतं वर्षं नरेश्वरः।
अरश्चारजः प्राप्तः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ।।४०।।

मूल : **चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।**
चइत्ता उत्तमे भोए, महापउमे तवं चरे।।४१।।

संस्कृत : त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
त्यक्त्वा उत्तमान् भोगान्, महापद्मस्तपोऽचरत् ।।४१।।

३६. "(इसी प्रकार) महान् ऋद्धि-सम्पन्न, महायशस्वी 'मघवा' नामक चक्रवर्ती भी भारतवर्ष (साम्राज्य) को छोड़ कर प्रव्रजित हुए थे।"

३७. "महान् ऋद्धिशाली, मनुष्येन्द्र चक्रवर्ती सनत्कुमार ने भी अपने पुत्र को राज्य (सिंहासन) पर स्थापित किया, तदनन्तर उस राजा ने भी तपश्चरण किया।"

३८. "महान् ऋद्धिशाली तथा लोक में शान्ति (स्थापित) करने वाले 'शान्तिनाथ' चक्रवर्ती ने भी 'भारतवर्ष' (के साम्राज्य) को छोड़कर, अनुत्तर गति (मुक्ति) प्राप्त की।"

३९. "इक्ष्वाकु-कुल के राजाओं में श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले व धैर्यवान् कुन्थुनाथ नामक (चक्रवर्ती) राजा ने (भी) अनुत्तर गति (मुक्ति) प्राप्त की।"

४०. "नरेशों में श्रेष्ठ (चक्रवर्ती) 'अरनाथ' ने सागर-पर्यन्त भारतवर्ष (के साम्राज्य) को छोड़कर (कर्म) रज रहित स्थिति को प्राप्त करते हुए, अनुत्तर गति (मुक्ति) प्राप्त की।"

४१. "महापद्म चक्रवर्ती राजा ने (भी) भारतवर्ष (के विशाल साम्राज्य) को छोड़कर, तथा उत्तम काम-भोगों को (भी) छोड़कर तपश्चरण किया।"

मूल : **एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माण-निसूरणो।**
हरिसेणो मणुस्सिन्दो, पत्तो गइमणुत्तरं ।। ४२ ।।

संस्कृत : एक-च्छत्रां प्रसाध्य, महीं मान-निषूदनः।
हरिषेणो मनुष्येन्द्रः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ।। ४२ ।।

मूल : **अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे।**
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ।। ४३ ।।

संस्कृत : अन्वितो राजसहस्रैः, सुपरित्यागी दममचरत्।
जयनामा जिनाख्यातं, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ।। ४३ ।।

मूल : **दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ताणं मुणी चरे।**
दसण्णभद्दो निक्खन्तो, सक्खं सक्केण चोइओ ।। ४४ ।।

संस्कृत : दशार्णराज्यं मुदितं, त्यक्त्वा मुनिरचरत्।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्तः, साक्षाच्छक्रेण चोदितः ।। ४४ ।।

मूल : **नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।**
जहित्ता रज्जं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ।। ४५ ।।

संस्कृत : नमिर्नमयति आत्मानं, साक्षाच्छक्रेण चोदितः।
त्यक्त्वा राज्यं वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ।। ४५ ।।

मूल : **करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो।**
नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई ।। ४६ ।।

संस्कृत : करकण्डुः कलिंगेषु, पाञ्चालेषु च द्विमुखः।
नमी राजा विदेहेषु, गान्धारेषु च नग्गतिः ।। ४६ ।।

मूल : **एए नरिंदवसभा, निक्खंता जिणसासणे।**
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं, सामण्णे पज्जुवट्ठिया ।। ४७ ।।

संस्कृत : एते नरेन्द्रवृषभाः, निष्क्रान्ता जिनशासने।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा, श्रामण्ये पर्युपस्थिताः ।। ४७ ।।

४२. "पृथ्वी पर एकछत्र शासन करने के उपरान्त, (शत्रुओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती राजा ने अनुत्तर गति (मुक्ति) प्राप्त की।"

४३. "(इसी तरह) हजारों राजाओं के साथ श्रेष्ठ त्याग करने वाले 'जय' चक्रवर्ती ने (भी) जिनोक्त संयम का अनुष्ठान किया और अनुत्तर गति (मुक्ति) प्राप्त की।"

४४. "साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित होकर 'दशार्णभद्र' (राजा) ने (भी अपने) मुदित (आमोद व सुख से पूर्ण) 'दशार्ण' राज्य को छोड़कर अभिनिष्क्रमण किया और 'मुनि' रूप में विचरण किया।"

४५. "साक्षात् इन्द्र द्वारा प्रेरित किए जाने पर (भी) 'विदेह' के राजा 'नमि' ने स्वयं को अतिविनम्र बनाया (या संयम-मार्ग के प्रति ही स्वयं को झुकाया - अपनी रुचि प्रकट की) और घर-बार छोड़कर श्रमण धर्म में (ही) स्थिरचित्त हुए।"

४६. "कलिंग में 'करकण्डू' (राजा), पांचाल में 'द्विमुख' (राजा), विदेह में 'नमि' राजा, तथा गान्धार में 'नग्गति' (राजा)-

४७. ये (सब) राजाओं में श्रेष्ठ थे और अपने पुत्रों को राज्य (सिंहासन) पर स्थापित कर, जिन-शासन में प्रव्रजित हुए, और श्रमण धर्म में सम्यक् प्रकार से स्थिर हो गए।

मूल : **सोवीरराय वसभो, चइत्ताणं मुणी चरे।**
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ।। ४८ ।।

संस्कृत : सौवीर राजवृषभः, त्यक्त्वा राज्यं मुनिरचरत्।
उदायनः प्रव्रजितः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ।। ४८ ।।

मूल : **तहेव कासीराया, सेओ-सच्च-परक्कमो।**
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्म-महावणं ।। ४९ ।।

संस्कृत : तथैव काशीराजः, श्रेयः-सत्य-पराक्रमः।
काम-भोगान् परित्यज्य, प्राहन् कर्म-महावनम् ।। ४९ ।।

मूल : **तहेव विजओ राया, अणट्टा-कित्ति पव्वए।**
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महाजसो ।। ५० ।।

संस्कृत : तथैव विजयो राजा, अनष्ट-कीर्तिः-प्राव्रजत्।
राज्यं तु गुणसमृद्धं, प्रहाय महायशाः ।। ५० ।।

मूल : **तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा।**
महब्बलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरं ।। ५१ ।।

संस्कृत : तथैवोग्रं तपःकृत्वा, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
महाबलो राजर्षिः, अवदाय शिरसा शिरः ।। ५१ ।।

मूल : **कहं धीरो अहेऊहिं, उम्मत्तो व महिं चरे?**
एए विसेसमादाय, सूरा दढ-परक्कमा ।। ५२ ।।

संस्कृत : कथं धीरोऽहेतुभिः, उन्मत्त इव महीं चरेत?
एते विशेषमादाय, शूरा दृढ़-पराक्रमाः ।। ५२ ।।

मूल : **अच्चंत-नियाणखमा, सच्चा मे भासिया वई।**
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।। ५३ ।।

संस्कृत : अत्यन्त-निदान-क्षमा, सत्या मया भाषिता वाक्।
अतीर्षुस्तरन्त्येके, तरिष्यन्ति अनागताः ।। ५३ ।।

४८. सौवीर राजाओं में श्रेष्ठ 'उदायन' राजा (भी) राज्य छोड़कर प्रव्रजित हुए। (उन्होंने) मुनि रूप में विचरण किया और अनुत्तर गति (मुक्ति) प्राप्त की।

४९. इसी प्रकार, 'श्रेय' व 'सत्य' (संयम) में पराक्रमी काशीराज ने (भी) काम-भोगों का त्याग कर कर्म-रूपी महावन का ध्वंस किया।

५०. इसी प्रकार, अविनाशी कीर्ति के धारक, महायशस्वी 'विजय' राजा (भी) गुणों (कोश, दुर्ग आदि से या मनोज्ञ विषय-भोगों) से समृद्ध राज्य का परित्याग कर प्रव्रजित हुए।

५१. इसी प्रकार, राजर्षि महाबल ने अनाकुल व अविक्षिप्त चित्त के साथ तपश्चर्या कर, अपना शीर्ष देकर (अहंकार का विसर्जन कर) 'शीर्ष' (शीर्षस्थ मोक्ष व केवल-ज्ञानश्री) को प्राप्त किया।

५२. इन (पूर्वोक्त) शूर-वीर व दृढ़पराक्रमी (राजाओं) ने (जिन-शासन की) विशेषता को ग्रहण किया था। इसलिए (इन पूर्वोक्त उदाहरणों को सुनकर भी कोई) धीर (साधक पूर्वोक्त) अहेतुवादों (एकान्तदृष्टि वाले कुतर्कों) से (प्रेरित होकर, असत्प्रलापी) उन्मत्त व्यक्ति के समान, धरती पर कैसे विचरण कर सकता है? (अर्थात् नहीं कर सकता।)

५३. अत्यन्त पुष्ट हेतुओं (युक्तियों) के कारण 'सक्षम' (या अत्यन्त कर्म-मल-शुद्धि में समर्थ) यह सत्य वाणी मैंने कही है। (इसे अंगीकार कर) कई-एक (जीव संसार-समुद्र को) पार कर चुके हैं, कुछ तो (वर्तमान में भी) पार हो रहे हैं, और भविष्य में (भी) पार करेंगे।

मूल : **कहं धीरे अहेऊहिं, अत्ताणं परियावसे?**
सव्व-संग-विणिम्मुक्के, सिद्धे हवइ नीरए ।। ५४ ।।
त्ति बेमि ।

संस्कृत : कथं धीरोऽहेतुभिः, आत्मानं पर्यवासयेत्?
सर्व-संग-विनिर्मुक्तः, सिद्धो भवति नीरजः ।। ५४ ।।
इति ब्रवीमि ।

५४. (कोई) धीर (साधक एकान्त दृष्टि वाले) कुहेतुओं से स्वयं को किस प्रकार भावित कर सकता है? (अर्थात् कदापि नहीं) (अतः जो) सभी 'संगों' (धन-धान्य आदि परिग्रह एवं मिथ्यात्वपूर्ण वादों) से मुक्त (होता है, वह) कर्म-रज से रहित होते हुए 'सिद्ध' (मुक्त) हो जाता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।"

❑❑

अध्ययन–सार :

प्राणि-हिंसा करने के अनन्तर, मुनि कोप की सम्भावना से भयत्रस्त होकर क्षमायाचना हेतु शरण में आए हुए राजा 'संजय' को अनगार गर्दभालि ने उपदेश दिया:–

"वैभव, शारीरिक सौन्दर्य व जीवन–ये सभी विनश्वर हैं। संसारी प्राणी के लिए मृत्यु एक अनिवार्य घटना है। मृत्यु के बाद, समस्त अर्जित सम्पत्ति, अन्त:पुर व राजकोष यहीं छूट जाता है जिसका उपभोग अन्य व्यक्ति करते हैं। साथ जाता है तो मात्र अपने कर्मों का संचय। इसलिए विषय-भोगों में आसक्ति रख कर, परलोक के हित को अनदेखा करना कहां तक उचित है?" उक्त उपदेश से प्रभावित हो, राजा 'संजय' मुनि संजय बन गये। एक दिन क्षत्रिय राजर्षि का वहां पर्दापण हुआ जिन्होंने संजय मुनि के समक्ष कुछ चिन्तन-बिन्दु प्रस्तुत किये जो इस प्रकार हैं–

"ज्ञातृवंशीय, सत्यवाक्, सत्यपराक्रमी व ज्ञान-आचार सम्पन्न तत्त्वज्ञानी भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि पापी घोर नरक में जाते हैं, और धर्मिष्ठ व्यक्ति दिव्य गति प्राप्त करते हैं। क्रियावादी आदि अनेक मिथ्यादृष्टि दार्शनिक मनगढ़न्त एकान्तवाद का आश्रयण लेकर प्रवर्तित होते हैं जो कपटपूर्ण भाषा का प्रयोग करने वाले अनार्य हैं। उन्हें अच्छी तरह समझ कर संयतात्मा मुनि को उनके दुष्प्रभाव से स्वयं को सुरक्षित रखना चाहिए और संयम-पथ पर निर्बाध बढ़ते रहना चाहिए।"

❑❑

अध्ययन–19

मृगापुत्रीय

अध्ययन परिचय

इस अध्ययन में निन्यानवे गाथायें हैं। इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है– दृढ़ संकल्प द्वारा कठिनतम साधना व परम सिद्धि की प्राप्ति। यह प्रक्रिया सुग्रीव नगर की रानी मृगा व राजा बलभद्र के पुत्र बलश्री, जो मृगापुत्र के नाम से लोक-विश्रुत हैं, के माध्यम से घटित हुई है। इसलिये इस अध्ययन का नाम 'मृगापुत्रीय' रखा गया। मृगापुत्र से आशय ऐसे पराक्रमी पुत्र से भी है, जिसने मृगा को ही अपनी अन्तिम माता बना दिया। साधना-बल से यह सम्भव हुआ। मृग के समान एकाकी व स्वच्छन्द विहार तथा स्वावलम्बी जीवन-चर्या से युक्त होने के कारण साधु-चर्या को मृगापुत्र ने 'मृगचर्या' या 'मृगचारिका' के रूप में वर्णित किया है। अपने दृढ़ संकल्प व अकाट्य तर्कों से मृगापुत्र ने परिवार को सहमत करते हुए 'मृगचारिका' क्रियान्वित की थी। इस तथ्य से भी 'मृगापुत्रीय' नाम सार्थक होता है।

मृगापुत्र ममता से समता की ओर अग्रसर हुए थे। वे युवराज थे। सुख-भोगों से उनका जीवन परिपूर्ण था। अपने प्रासाद के झरोखे से एक श्रमण को देख उन्हें जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। जाना कि यह श्रमण-जीवन उनका पूर्व-आचरित जीवन है। विरक्त हो श्रमण-दीक्षा का दृढ़ निश्चय किया। माता-पिता के पास पहुंचे। वार्ता की। मन में विरक्ति इतनी थी कि मोह-ममता के लिये तृण-मात्र स्थान भी न था। परिणामत: वे स्वस्थ चित्त से वार्ता करने में और माता-पिता को अपने निश्चय का पक्षधर बनाने में सफल हुए।

यह वार्ता इस अध्ययन का महत्त्वपूर्ण अंश है। साधक-जीवन की कठिनाइयां और मृगापुत्र की सुकुमारता इस वार्ता का एक पक्ष है तो नरक के मर्मांतक दु:खों का वर्णन और मृगापुत्र का निर्भ्रान्त संकल्प-बल दूसरा। मृगापुत्र अपने अतीत की यात्रा ज्ञान-नेत्रों से देख रहे थे। उनके सामने यह सत्य पूर्णत: स्पष्ट था कि नरक के भीषण दु:खों को देखते हुए साधक-जीवन के सम्भावित परीषह रंच-मात्र भी दु:खद नहीं है। उन्होंने बताया कि नरक की कल्पनातीत यातनायें अनेक बार भोग चुके हैं वे और उनके लिये श्रमण-चर्या के परीषह समभाव से सहना कठिन नहीं, सहज होगा। नरक विवशता थी। साधु-जीवन चुनाव होगा। इसलिये उसके उपसर्ग भी आनन्द-दायी होंगे।

माता-पिता व मृगापुत्र के माध्यम से यह वार्ता वस्तुत: मोह और ज्ञान की वार्ता है। सांसारिकता और वैराग्य की वार्ता है। सुखों के भ्रम और परम

आनन्द के सत्य की वार्ता है। माता-पिता द्वारा साधु-जीवन में रोगों के उचित उपचार तक का अभाव देखना पुत्र-सुरक्षा की चिन्ता करना है। मृगापुत्र द्वारा यह पूछना कि भयंकर गहन वन में एकाकी मृग के रोग का उपचार कौन करता है, स्वावलम्बन को सुरक्षा का परम माध्यम बताना है। शरीर-सुरक्षा से आत्म-सुरक्षा को कहीं ज्यादा, बहुत ज्यादा, महत्त्वपूर्ण बताना है। औषधियों के स्थान पर अपनी प्रतिरोधक क्षमता पर विश्वास करना है। प्रकृति पर विश्वास करना है। कर्म-विज्ञान पर विश्वास करना है। श्रमण-धर्म पर अत्यंतिक और अटूट विश्वास करना है। मृगा-पुत्र के उक्त प्रश्न में यह भाव भी निहित है कि पशु-पक्षियों और मनुष्य में एक जैसी आत्मा है। मनुष्य द्वारा पशु-पक्षियों को और पशु-पक्षियों द्वारा मनुष्य को बल देना अहिंसा का साकार होना है। मनुष्य की सहृदयता का विस्तृत होना है। उक्त प्रश्न वस्तुतः मोह को ज्ञान का समुचित उत्तर है।

ज्ञान-पिपासु की विशेषता होती है कि ज्ञान यदि पशु-पक्षियों से भी मिले तो लेने में उसे कोई संकोच नहीं होता। उसका परिवार मात्र सगे-सम्बन्धियों तक सीमित नहीं होता। पूरी सृष्टि उसका परिवार बन जाती है। मृग-चर्या से श्रमण-चर्या की समानता इस ओर भी संकेत करती है कि जब मृग इस प्रकार जी सकता है तो मनुष्य क्यों नहीं! मृग और श्रमण, दोनों ही स्वावलम्बी और अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं। जागरूक होते हैं। मृग सिंह से तो श्रमण पाप से भयाक्रान्त रहता है। मृग जिस घास पर से विहार करता निकलता है, वह घास नहीं खाता तो श्रमण सदोष आहार ग्रहण नहीं करता। पद-यात्रा में असमर्थ होने पर ही दोनों एक स्थान पर ठहरते हैं।

मृगापुत्र का महान् चरित्र वस्तुतः वैराग्य की गहनता और दृढ़ता का प्रतिमान है। उसमें कहीं कोई विकल्प नहीं है। है तो एक मात्र एक संकल्प-श्रमण धर्म अंगीकार करना है। इस स्पष्टता से साहस भी उत्पन्न होता है और संसारियों को प्रत्येक-दृष्टि से साधु-जीवन समर्थक बना देने वाला युक्ति-युक्त वैचारिक प्रकाश भी।

काम-भोगों का परिणाम, श्रमण-चर्या का (कठिन प्रतीत होने वाला) स्वरूप, उत्तम जीवन का मार्ग और आदर्श श्रमण-धर्म की विशेषताएं भी यहां बतलाई गई हैं। सांसारिकता व नरक से सावधान करने की विशिष्ट शक्ति के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

मियापुत्तीयं एगूणवीसइमं अज्झयणं

(मृगापुत्रीयमेकोनविंशतितममध्ययनम्)

मूल : सुग्गीवे नयरे रम्मे, काणणुज्जाण-सोहिए।
राया बलभद्दित्ति, मिया तस्सग्गमाहिसी ।।१।।

संस्कृत : सुग्रीवे नगरे रम्ये, काननोद्यानशोभिते।
राजा बलभद्र इति, मृगा तस्याग्रमहिषी ।।१।।

मूल : तेसिं पुत्ते बलसिरी, मियापुत्ते त्ति विस्सुए।
अम्मापिऊण दइए, जुवराया दमीसरे ।।२।।

संस्कृत : तयोः पुत्रो बलश्रीः, मृगापुत्र इति विश्रुतः।
अम्बा-पित्रोर्दयितः, युवराजो दमीश्वरः ।।२।।

मूल : नंदणे सो उ पासाए, कीलए सह इत्थिहिं।
देवो दोगुंदगो चेव, निच्चं मुइय-माणसो ।।३।।

संस्कृत : नन्दने स तु प्रासादे, क्रीडति सह स्त्रीभिः।
देवो दोगुन्दकश्चैव, नित्यं मुदित-मानसः ।।३।।

मूल : मणिरयणकुट्टिम-तले, पासायालोयणे ठिओ।
आलोएइ नगरस्स, चउक्क-तिय-चच्चरे ।।४।।

संस्कृत : मणिरत्न-कुट्टिम-तले, प्रासादालोकन-स्थितः।
आलोकयति नगरस्य, चतुष्क-त्रिक-चत्वराणि ।।४।।

मूल : अह तत्थ अइच्छंतं, पासई समण-संजयं।
तव-नियम-संजमधरं, सीलड्ढं गुण-आगरं ।।५।।

संस्कृत : अथ तत्राऽतिगच्छन्तं, पश्यति श्रमण-संयतम्।
तपो-नियम-संयमधरं, शीलाढ्यं गुणाकरम् ।।५।।

उन्नीसवां अध्ययन : मृगापुत्रीय

१. सुग्रीव (नाम का एक) रमणीय नगर था, जो वन और उद्यानों से सुशोभित था, (वहां) 'बलभद्र' नाम का राजा (राज्य करता) था, उसकी 'मृगा' (नाम की) प्रमुख रानी थी।

२. उनके 'बलश्री' (नाम का) पुत्र (था, जो) 'मृगापुत्र' इस (नाम) से विख्यात (एवं) माता-पिता का प्रिय था, वह 'दमीश्वर' (शत्रु-दमन करने वालों में प्रमुख या इन्द्रिय-दमन करने वालों में व उपशम-शील पुरुषों में अग्रणी) तथा युवराज था।

३. वह नित्य प्रसन्न चित्त के साथ 'दोगुन्दक (भोगपरायण त्रायस्त्रिंश) देव की भांति अपने 'नन्दन' (महान् आनन्दप्रद विशिष्ट) महल में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा किया करता था।

४. (वह एक दिन) मणियों व रत्नों से जड़ित फर्श-वाले महल के (सबसे ऊँचे चतुरिका रूप) गवाक्ष में बैठा हुआ नगर के चौराहों-तिराहों व (अनेक मार्गों के संगम-स्थल) बहुपथों को निहार रहा था।

५. तभी (उसने) वहां (राजमार्ग पर) चले जा रहे तप-नियम व संयम के धारक, शील-सम्पन्न, (ज्ञानादि) गुणों के समूह (एक) संयमी श्रमण को देखा।

मूल : **तं पेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाए उ।**
कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ।।६।।

संस्कृत : तं पश्यति मृगापुत्रः, दृष्ट्याऽनिमेषया तु।
कुत्र मन्ये ईदृशं रूपं, दृष्टपूर्वं मया पुरा ।।६।।

मूल : **साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणम्मि सोहणे।**
मोहं गयस्स संतस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ।।७।।

संस्कृत : साधोर्दर्शने तस्य, अध्यवसाने शोभने।
मोहं गतस्य सतः, जातिस्मरणं समुत्पन्नम् ।।७।।

मूल : **देवलोग-चुओ संतो, माणुसं भवमागओ।**
सन्निनाण - समुप्पण्णे, जाइं सरइ पुराणयं ।।८।।

संस्कृत : देवलोकच्युतः सन्, मानुषं भवमागतः।
संज्ञिज्ञाने समुत्पन्ने, जातिं स्मरति पौराणिकीम् ।।८।।

मूल : **जाई-सरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए।**
सरई पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ।।९।।

संस्कृत : जाति-स्मरणे समुत्पन्ने, मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं जातिं, श्रामण्यं च पुराकृतम् ।।९।।

मूल : **विसएहिं अरज्जंतो, रज्जंतो संजमम्मि य।**
अम्मापियरमुवागम्म, इमं वयणमब्बवी ।।१०।।

संस्कृत : विषयेष्वरज्यन्, रज्यन् संयमे च।
अम्बापितरावुपागम्य, इदं वचनमब्रवीत् ।।१०।।

मूल : **सुयाणि मे पंच-महव्वयाणि, नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।**
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ, अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो! ।।११।।

संस्कृत : श्रुतानि मया पंच-महाव्रतानि, नरकेषु दुःखं च तिर्यग्योनिषु।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्, अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि अम्ब! ।।११।।

६. मृगापुत्र उस (मुनि) को निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ (स्मरण कर सोचने लगा कि) मुझे लगता है मैंने पहले (भी) कभी ऐसा रूप कहीं पर देखा है।

७. साधु के दर्शन होने से, उस (मृगापुत्र) के अध्यवसायों (अन्तःकरण परिणामों) के शुद्ध होने पर, 'मूर्च्छा' (सघन चित्त-वृत्ति गहन चिन्तन) को प्राप्त अथवा विगत मोह/मोह कर्म के नष्ट होने पर उस मृगापुत्र को 'जाति-स्मरण' (ज्ञान) उत्पन्न हो गया।

८. (पूर्व-जन्म की स्मृति रूप) संज्ञी-समनस्क ज्ञान के उत्पन्न होने पर (वह मृगापुत्र अपने) पूर्व-जन्म को स्मरण करने लगा- "मैं (तो) देवलोक से च्युत होकर मनुष्य-भव में आया हूँ।"

९. जाति-स्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र को अपने पूर्व-जन्म की तथा (वहां) पूर्व-अनुष्ठित श्रमणचर्या की (भी) स्मृति हो आई।

१०. (फलस्वरूप, वह मृगापुत्र) विषयों से विरक्त तथा संयम (सम्बन्धी अनुष्ठान) में अनुरक्त होता हुआ (अपने) माता-पिता के पास जाकर यह वचन कहने लगा-

११. "मैंने (पूर्व जन्म में) पांच महाव्रतों (और उनके माहात्म्य) का श्रवण किया है, नरकों में तथा तिर्यंच (पशु) योनियों में (होने वाले) दुःख (सुने या भोगे) हैं। (अब मैं इस संसार-) सागर से काम-विरक्त हो गया हूँ। हे माता! (मैं तो) प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा। आप (मुझे इसकी) अनुमति प्रदान करें।"

मूल : **अम्मताय! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा।**
पच्छा कडुय-विवागा, अणुबंध-दुहावहा ।।१२।।

संस्कृत : अम्ब तात! मया भोगाः, भुक्ता विषफलोपमाः।
पश्चात् कटुक-विपाकाः, अनुबन्ध-दुःखावहाः ।।१२।।

मूल : **इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइ-संभवं।**
असासयावासमिणं, दुक्ख-केसाण भायणं ।।१३।।

संस्कृत : इदं शरीरमनित्यं, अशुच्यशुचि-सम्भवम्।
अशाश्वतावासमिदं, दुखाक्लेशानां भाजनम् ।।१३।।

मूल : **असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।**
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण-बुब्बुय-सन्निभे ।।१४।।

संस्कृत : अशाश्वते शरीरे, रतिं नोपलभेऽहम्।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये, फेन-बुद्बुद्-सन्निभे ।।१४।।

मूल : **माणुसत्ते असारम्मि, वाही-रोगाण आलए।**
जरा-मरण-घत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ।।१५।।

संस्कृत : मानुषत्वे असारे, व्याधि-रोगाणामालये।
जरा-मरण-ग्रस्ते, क्षणमपि न रमेऽहम् ।।१५।।

मूल : **जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।**
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ।।१६।।

संस्कृत : जन्म दुःखं जरा दुःखं, रोगाश्च मरणानि च।
अहो दुःखं खलु संसारः, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ।।१६।।

मूल : **खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्त-दारं च बंधवा।**
चइत्ताणं इमं देहं, गंतव्वमवसस्स मे ।।१७।।

संस्कृत : क्षेत्रं वास्तु हिरण्यं च, पुत्रदारांश्च बान्धवान्।
त्यक्त्वेमं देहं, गन्तव्यमवशस्य मे ।।१७।।

मूल : **जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।**
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ।।१८।।

संस्कृत : यथा किम्पाक-फलानां, परिणामो न सुन्दरः।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दरः ।।१८।।

१२. "हे माता-पिता! विषफल की भांति, अन्त में कटु-परिणाम वाले तथा निरन्तर दुःखदायक भोगों को मैंने भोग लिया है।"

१३. "यह शरीर अनित्य, अशुचि (स्वयं अपवित्र) एवं अपवित्र वस्तुओं से उत्पन्न (या अपवित्र वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान) है। यहां (प्राणीलोक में) यह निवास (अर्थात् जीवन भी) अनित्य है और दुःख-क्लेशों का पात्र है।"

१४. "यह अनित्य शरीर पानी के बुलबुले की भांति (क्षणभंगुर) है, पहले या बाद में इसे छोड़ना ही है, (अतः) इसमें मुझे आनन्द (का अनुभव) नहीं हो रहा है।"

१५. "व्याधियों व रोगों के घर तथा जरा-मरण से ग्रस्त इस तुच्छ शरीर में एक क्षण भी मुझे सुख नहीं मिल रहा है।"

१६. "(यह) जन्म 'दुःख' है, बुढ़ापा 'दुःख' है, रोग व मृत्यु (भी) 'दुःख' हैं। अहो! निश्चय ही (यह) संसार ही 'दुःख' है, जहां प्राणी क्लेश (ही) पाते रहते हैं।"

१७. "भूमि, गृह, सोना-चांदी, पुत्र, स्त्री, बन्धु-बान्धव (इन सब) को तथा इस शरीर को (भी) छोड़कर मुझे (एक दिन) विवश होकर जाना ही है।"

१८. "जिस प्रकार 'किम्पाक' (विष वृक्ष के) फलों का परिणाम सुन्दर नहीं होता, इसी प्रकार, भोगे हुए (काम-) भोगों का परिणाम (भी) सुन्दर नहीं हुआ करता।"

मूल : अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेओ पवज्जइ।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाइपीडिओ ।।१९।।

संस्कृत : अध्वानं यो महान्तं तु, अपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स दुःखी भवति, क्षुधा-तृषाभिः पीड़ितः ।।१९।।

मूल : एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो दुही होइ, वाही-रोगेहिं पीडिओ ।।२०।।

संस्कृत : एवं धर्ममकृत्वा, यो गच्छति परं भवम्।
गच्छन् स दुःखी भवति, व्याधि-रोगैः पीड़ितः ।।२०।।

मूल : अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जइ।
गच्छंतो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ।।२१।।

संस्कृत : अध्वानं यो महान्तं तु, सपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स सुखी भवति, क्षुधा-तृष्णाविवर्जितः ।।२१।।

मूल : एवं धम्मंपि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ।।२२।।

संस्कृत : एवं धर्ममपि कृत्वा, यो गच्छति परं भवम्।
गच्छन् स सुखी भवति, अल्पकर्माऽवेदनः ।।२२।।

मूल : जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ।।२३।।

संस्कृत : यथा गेहे प्रदीप्ते, तस्य गेहस्य यः प्रभुः।
सार-भाण्डानि निष्कासयति, असारमपोज्झति ।।२३।।

मूल : एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ।।२४।।

संस्कृत : एवं लोके प्रदीप्ते, जरया मरणेन च।
आत्मानं तारयिष्यामि, युष्माभ्यामनुमतः ।।२४।।

मूल : तं विंतम्मापियरो, सामण्णं पुत्त! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ।।२५।।

संस्कृत : तं व्रतऽम्बापितरौ, श्रामण्यं पुत्र! दुश्चरम्।
गुणानां तु सहस्राणि, धारयितव्यानि भिक्षुणा ।।२५।।

१९. "जो (व्यक्ति) पाथेय (रास्ते की भोजन-सामग्री) के बिना लम्बे मार्ग पर चल पड़ता है, वह चलते हुए भूख-प्यास से पीड़ित होकर, दुःखी होता है।"

२०. "इसी प्रकार, (जो व्यक्ति, 'पाथेय' रूप) धर्म को किए बिना, पर-भव में गमन करता है, वह जाते हुए व्याधि व रोगों से पीड़ित होकर दुःखी होता है।"

२१. "किन्तु जो (व्यक्ति) 'पाथेय' (समुचित भोजनादि-सामग्री) के साथ, लम्बे मार्ग पर (भी) जाता है, वह चलता हुआ भूख व प्यास (की बाधा) से रहित होकर सुखी रहता है।"

२२. "उसी प्रकार, जो (व्यक्ति) यदि धर्म करके पर-भव में जाता है, वह जाता हुआ अल्प (पाप) कर्म वाला, वेदना-रहित, सुखी रहता है।"

२३. "जिस प्रकार, घर को आग लग जाने पर, उस घर का स्वामी सारभूत (अधिक मूल्यवान्) वस्तुओं को निकाल लेता है, असारभूत (मूल्यहीन) वस्तुओं को छोड़ देता है।"

२४. "उसी प्रकार (यदि) आप दोनों की अनुमति मुझे प्राप्त हो जाए (तो) बुढ़ापा व मृत्यु (आदि) द्वारा दग्ध हो रहे (इस) लोक में (सर्वाधिक मूल्यवान् अपनी) आत्मा को तारूंगा (सुरक्षित बाहर निकालूंगा)।"

२५. (तब) माता-पिता उस (मृगापुत्र) को यह बोले-"हे पुत्र! श्रमण-चर्या दुष्कर है। भिक्षु को (तो) हजारों गुण (व्रत-नियम आदि) धारण करने होते हैं।"

मूल : समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्ते सु वा जगे।
पाणाइवाय-विरई, जावज्जीवाए दुक्करं ।।२६।।

संस्कृत : समता सर्वभूतेषु, शत्रुमित्रेषु वा जगति।
प्राणातिपात-विरतिः, यावज्जीवं दुष्करा ।।२६।।

मूल : निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावाय-विवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ।।२७।।

संस्कृत : नित्यकालाऽप्रमत्तेन, मृषावाद-विवर्जनम्।
भाषितव्यं हितं सत्यं, नित्याऽयुक्तेन दुष्करम् ।।२७।।

मूल : दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ।।२८।।

संस्कृत : दन्तशोधनादेः, अदत्तस्य विवर्जनम्।
अनवद्यैषणीयस्य, ग्रहणमपि दुष्करम् ।।२८।।

मूल : विरई अबंभचेरस्स, कामभोग-रसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ।।२९।।

संस्कृत : विरतिरब्रह्मचर्यस्य, कामभोग-रसज्ञेन।
उग्रं महाव्रतं ब्रह्म, धारयितव्यं सुदुष्करम् ।।२९।।

मूल : धण-धन्न-पेस-वग्गेसु, परिग्गह-विवज्जणं।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ।।३०।।

संस्कृत : धन-धान्य-प्रेष्यवर्गेषु, परिग्रह-विवर्जनम्।
सर्वारम्भ-परित्यागः, निर्ममत्वं सुदुष्करम् ।।३०।।

मूल : चउव्विहे वि आहारे, राई-भोयण-वज्जणा।
सन्निही संचओ चेव, वज्जेयव्वं सुदुक्करं ।।३१।।

संस्कृत : चतुर्विधेऽप्याहारे, रात्रि-भोजन-वर्जना।
सन्निधि-संचयश्चैव, वर्जितव्यः सुदुष्करः ।।३१।।

मूल : छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंस-मसग-वेयणा।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तण-फासा जल्लमेव य ।।३२।।

संस्कृत : क्षुधा तृषा च शीतोष्णं, दंश-मशक-वेदना।
आक्रोशा दुःखशय्या च, तृणस्पर्शा जल्लमेव च ।।३२।।

२६. "संसार में शत्रु व मित्र (दोनों) के प्रति और (सामान्यतः) सभी प्राणियों के प्रति समता-भाव रखना, और जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात (जीव-वध) से विरति रखना (अत्यन्त) दुष्कर (कार्य) है।"

२७. "सदा प्रमाद-रहित रहते हुए, 'मृषावाद' (असत्य-भाषण) का त्याग करना तथा नित्य सावधान रहते हुए हितकारी सत्य का भाषण करना दुष्कर (कार्य) है।"

२८. "(यहां तक कि) दन्त-शोधन (दतौन/तृणादि वस्तु) को (भी) बिना दिए न लेना (और प्रदत्त वस्तुओं में भी) निर्दोष व एषणीय (विधि-सम्मत) का (ही) ग्रहण करना- (यह) दुष्कर (कार्य) है।"

२९. "काम-भोगों के रस (स्वाद) के ज्ञाता (परिचित व्यक्ति) के लिए अब्रह्मचर्य (मैथुन आदि) से विरत होना, तथा (यावज्जीवन) उग्र ब्रह्मचर्य-व्रत का धारण करना (यह भी) अतिदुष्कर (कार्य) है।"

३०. "धन-धान्य तथा दास-दासी वर्ग के संग्रह (परिग्रह) का त्याग करना, तथा सभी आरम्भों (सावद्य व्यापारों) का परित्याग करना, एवं ममत्व-रहित हो जाना (यह सब भी) अतिदुष्कर (कार्य) है।"

३१. "(अशन, पान, खाद्य-स्वाद्य) चतुर्विध आहार के रात्रि में सेवन का परित्याग करना, तथा 'सन्निधि (घृत, गुड़ आदि को काल-मर्यादा से ज्यादा रखना) और 'संचय' (संग्रह) का परित्याग करना अति दुष्कर (कार्य) है।"

३२. "भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छरों के (निमित्त से होने वाले) कष्टों को, तथा आक्रोशपूर्ण वचन, दुःखशय्या (कष्टकारी निवास-स्थान), तृण-स्पर्श व (शारीरिक) मैल (आदि परीषहों को सहन करना दुष्कर कार्य है।)"

मूल : तालणा तज्जणा चेव, वह-बंध परीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ।। ३३ ।।

संस्कृत : ताड़ना तर्जना चैव, वध-बन्धौ परीषहौ।
दुःखं भिक्षाचर्या, याचना चाऽलाभता ।। ३३ ।।

मूल : कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणो ।। ३४ ।।

संस्कृत : कापोती या इयं वृत्तिः, केशलोचश्च दारुणः।
दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं, धारयितुं च महात्मनः ।। ३४ ।।

मूल : सुहोइओ तुमं पुत्ता! सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता! सामण्णमणुपालिया ।। ३५ ।।

संस्कृत : सुखोचितस्त्वं पुत्र! सुकुमारः सुमार्जितः।
न खल्वसि प्रभुस्त्वं पुत्र! श्रामण्यमनुपालयितुम् ।। ३५ ।।

मूल : जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो।
गुरुओ लोहभारुव्व, जो पुत्ता! होइ दुव्वहो ।। ३६ ।।

संस्कृत : यावज्जीवमविश्रामः, गुणानां तु महाभरः।
गुरुको लोहभार इव, यः पुत्र! भवति दुर्वहः ।। ३६ ।।

मूल : आगासे गंग-सोउव्व, पडिसोउव्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ।। ३७ ।।

संस्कृत : आकाशे गंगा-स्रोत इव, प्रतिस्रोत इव दुस्तरः।
बाहुभ्यां सागरश्चैव, तरितव्यो गुणोदधिः ।। ३७ ।।

मूल : वालुया-कवले चेव, निरस्साए उ संजमे।
असिधारा-गमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ।। ३८ ।।

संस्कृत : वालुका-कवलश्चैव, निरस्वादस्तु संयमः।
असिधारा-गमनं चैव, दुष्करं चरितुं तपः ।। ३८ ।।

३३. "तथा ताड़ना (मारपीट), तर्जना (डांट-फटकार), वध व बन्धन-परीषह, भिक्षाचर्या, याचना व अलाभ (मांगने पर भी न मिलना) (-इन सभी परीषहों को सहना) दुःखप्रद (कार्य) है।"

३४. "(भिक्षासम्बन्धी दोषों से सशंक/भीरु बने रहने की तथा उदर-पूर्ति के अतिरिक्त भोजनादि का संग्रह न करने की) जो यह 'कापोती' वृत्ति है, (वह) तथा दारुण केश लुंचन एवं घोर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना (अल्पसत्व वालों के लिए तथा) महात्माओं के लिए (भी) दुःखप्रद होता है।"

३५. "हे पुत्र! तू सुकुमार है, तथा साफ-सुन्दर रहने (के स्वभाव) वाला है (अतः) सुख भोगने के (ही) लायक है। हे पुत्र! श्रमण-चर्या को पालने के लिए वास्तव में तू समर्थ नहीं है।"

३६. "हे पुत्र! (श्रमण-चर्या में) जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं है। गुणों (के अर्जन व रक्षण) का जो महाभार है, (उसे) गुरुतर (भारी) लोहे के भार की तरह (जीवन-पर्यन्त) वहन करना दुष्कर है।"

३७. "जिस प्रकार, आकाश-गंगा के स्रोत को, तथा (सामान्य नदी आदि के) प्रतिस्रोत (प्रवाह से विपरीत दिशा) को एवं बाहुओं से सागर को तैर (कर उसे पार कर) पाना दुष्कर होता है, (उसी तरह) गुणों (संयम आदि) के समुद्र को तैर कर पार करना (दुष्कर होता है।)"

३८. "(हे पुत्र!) संयम बालू के ग्रास की तरह स्वाद-रहित होता है, और तप का आचरण (भी) तलवार की धार पर चलने की तरह दुष्कर होता है।"

मूल : अहीवेगंतदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ।। ३९ ।।

संस्कृत : अहिरिवैकान्त दृष्ट्या, चारित्रं पुत्र! दुश्चरम्।
यवा लोहमयाश्चैव, चर्वयितव्याः सुदुष्कराः ।। ३९ ।।

मूल : जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ।। ४० ।।

संस्कृत : यथाऽग्निशिखा दीप्ता, पातुं भवति सुदुष्करा।
तथा दुष्करं कर्त्तुं यत्, तारुण्ये श्रमणत्वम् ।। ४० ।।

मूल : जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ।। ४१ ।।

संस्कृत : यथा दुःखं भर्तुं यो, भवति वायोः कोस्थलः।
तथा दुष्करं कर्तुं यत्, क्लीवेन श्रमणत्वम् ।। ४१ ।।

मूल : जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करो मंदरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ।। ४२ ।।

संस्कृत : यथा तुलया तोलयितुं, दुष्करो मन्दरो गिरिः।
तथा निभृतं निश्शंकं, दुष्करो श्रमणत्वम् ।। ४२ ।।

मूल : जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसंतेणं, दुक्करं दमसागरो ।। ४३ ।।

संस्कृत : यथा भुजाभ्यां तरितुं, दुष्करो रत्नाकरः।
तथाऽनुपशान्तेन, दुष्करो दमसागरः ।। ४३ ।।

मूल : भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया, पच्छा धम्मं चरिस्ससि ।। ४४ ।।

संस्कृत : भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान्, पंचलक्षणकान् त्वम्।
भुक्तभोगी ततो जात! पश्चाद् धर्मं चरिष्यसि ।। ४४ ।।

३९. "हे पुत्र! जैसे सर्प एकाग्र (अपलक) दृष्टि से चलता है, वैसे ही 'एकान्त' (निश्चय) दृष्टि से 'चारित्र' पर चलना दुष्कर होता है। (यह चारित्र) लोहे के जौ को चबाने की तरह अत्यन्त दुष्कर होता है।"

४०. "जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना अत्यन्त दुष्कर होता है, वैसे ही तरुण (युवा) अवस्था में श्रमण-धर्म का पालन करना (भी) दुष्कर होता है।"

४१. "जिस प्रकार (कपड़े के) थैले को हवा से भरना, दुःख रूप (कठिन) है, वैसे ही इस श्रमण-चर्या का पालन (भी) सत्व-हीन/कायरों के लिए दुष्कर है।"

४२. "जिस प्रकार, सुमेरु पर्वत को तराजू से तौल पाना दुष्कर (कार्य) है, उसी प्रकार 'निश्चल' (विषयाभिलाषा से क्षुब्ध न होते हुए) तथा निःशंक (शरीरादि से अनासक्त एवं सम्यक्त्व के अतिचार रूप शंका से रहित) होते हुए, श्रमण-चर्या की आराधना दुष्कर है।"

४३. "जिस प्रकार, भुजाओं से समुद्र को तैर कर पार हो जाना दुष्कर होता है, उसी प्रकार, अनुपशान्त (कषाय-युक्त) व्यक्ति के लिए 'दम' (चारित्र) रूप सागर को तैर पाना, दुष्कर होता है।"

४४. "हे पुत्र! तू (मनोहर शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श से सम्बन्धित) पांच प्रकार के मानवीय भोगों को भोग ले। तदनन्तर भुक्तभोगी होकर धर्म का आचरण करना।"

मूल : सो विंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहाफुडं ।
इह लोए निप्पिवाासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं ।।४५।।

संस्कृत : स वृतेऽम्वापितरौ, एवमेतद् यथा-स्फुटम् ।
इहलोके निष्पिपासस्य, नास्ति किञ्चिदपि दुष्करम् ।।४५।।

मूल : सारीर-माणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो ।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्ख-भयाणि य ।।४६।।

संस्कृत : शरीर-मानस्याश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः ।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःख-भयानि च ।।४६।।

मूल : जरा-मरण-कंतारे, चाउरंते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाइं, जम्माइं मरणाणि य ।।४७।।

संस्कृत : जरा-मरण कान्तारे, चातुरन्ते भयाकरे ।
मया सोढानि भीमानि, जन्मानि मरणानि च ।।४७।।

मूल : जहा इहं अगणी उण्हो, एत्तोऽणंतगुणो तहिं ।
नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ।।४८।।

संस्कृत : यथेहाग्निरुष्णः, इतोऽनन्तगुणस्तत्र ।
नरकेषु वेदना उष्णाः, असाता वेदिता मया ।।४८।।

मूल : जहा इहं इमं सीयं, इत्तोऽणंतगुणो तहिं ।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ।।४९।।

संस्कृत : यथेदमिह शीतं, इतोऽनन्तगुणं तत्र ।
नरकेषु वेदना शीता, असाता वेदिता मया ।।४९।।

मूल : कंदंतो कंदुकुम्भीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो ।
हुयासणे जलंतंमि, पक्कपुव्वो अणंतसो ।।५०।।

संस्कृत : क्रन्दन् कन्दु-कुम्भीषु, ऊर्ध्वपादोऽधःशिराः ।
हुताशने ज्वलति, पक्वपूर्वोऽनन्तशः ।।५०।।

मूल : महादवग्गि-संकासे, मरुम्मि वइरवालुए ।
कलंववालुयाए उ, दड्ढपुव्वो अणंतसो ।।५१।।

संस्कृत : महादवाग्नि-संकाशे, मरौ वज्र-बालुकायाम् ।
कदम्ब-बालुकायां च, दग्धपूर्वोऽनन्तशः ।।५१।।

४५. तब (वह मृगापुत्र) माता-पिता से बोला- "जैसा यह (आपका कहना) है, स्पष्ट रूप से (सामान्यतः तो) वैसा ही है। (किन्तु ऐहिक सुखों की) प्यास (स्पृहा) से रहित (व्यक्ति) के लिए इस लोक में कुछ भी (कार्य) दुष्कर नहीं होता।"

४६. "मैंने अनन्त बार शारीरिक व मानसिक भयंकर वेदनाओं को तथा अनेक बार (भयंकर) दुःखों व भयों को सहकर उनका अनुभव किया है।"

४७. "भय की खान, तथा (चार गति रूप) चार सीमाओं (या विभागों) वाले जन्म-मृत्यु रूप (सांसारिक) जंगल में, मैं भयंकर जन्म व मृत्यु (के कष्टों) को सहन कर चुका हूं।"

४८. "जिस प्रकार यहां अग्नि (जितनी) उष्ण है, उससे अनन्त-गुना अधिक उष्ण व दुःखमय (उष्ण) वेदनाओं को मैंने नरकों में (भोगा व) सहा है।"

४९. "जिस प्रकार यहां शीत होती है, उससे (भी) अनन्तगुना शीतमय व दुःखमय (शीत) वेदनाओं को मैंने नरकों में (भोगा व) सहा है।"

५०. "धधकती हुई अग्नि (दैवी विक्रिया से निर्मित अग्निवत् उष्ण पुद्गलों) में (रखे हुए) पकाने के लौह पात्रों में पैर ऊपर व सिर नीचे किए हुए तथा रोते-चिल्लाते हुए अनन्त बार पकाया गया हूं।"

५१. "महा दावाग्नि (जंगल की आग) के समान मरुस्थल में तथा 'वज्रबालुका' (नामक नदी के तटवर्ती कठोरतम कंकरीली रेत) में तथा 'कदम्बबालुका' (नामक नदी की तपती बालू रेत) में मुझे अनन्त बार जलाया गया।"

मूल : रसंतो कंदुकुम्भीसु, उड्ढं बद्धो अबंधवो।
करवत्त-करकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणंतसो ।।५२।।

संस्कृत : रसन् कन्दुकुम्भीषु, ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः।
करपत्र-क्रकचैः, छिन्न-पूर्वोऽनन्तशः ।।५२।।

मूल : अइतिक्खकंटगाइण्णे, तुंगे सिंवलि-पायवे।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ।।५३।।

संस्कृत : अतितीक्ष्ण-कण्टकाकीर्णे, तुंगे शिम्वलि-पादपे।
क्षेपितं पाशबद्धेन, कर्षणापकर्षणैर्दुष्करम् ।।५३।।

मूल : महाजंतेसु उच्छू वा, आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणंतसो ।।५४।।

संस्कृत : महायन्त्रेष्विक्षुरिव, आरसन् सुभैरवम्।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः, पापकर्माऽनन्तशः ।।५४।।

मूल : कूवंतो कोल-सुणएहिं, सामेहिं सवलेहिं य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरंतो अणेगसो ।।५५।।

संस्कृत : कूजन् कोल-शुनकैः, श्यामैः शबलैश्च।
पातितः स्फाटितश्छिन्नः विस्फुरन्ननेकशः ।।५५।।

मूल : असीहिं अयसि-वण्णेहिं, भल्लीहिं पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, उववण्णो पावकम्मुणा ।।५६।।

संस्कृत : असिभिरतसी-वर्णाभिः, भल्लीभिः पट्टिशैश्च।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च, अवतीर्णः पापकर्मणा ।।५६।।

मूल : अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं, रोज्झो वा जह पाडिओ ।।५७।।

संस्कृत : अवशो लोहरथे युक्तः, ज्वलति समिलायुते।
नोदितःस्तोत्रयोक्त्रैः, गवयो वा यथा पातितः ।।५७।।

मूल : हुयासणे जलंतम्मि, चियासु महिसो विव।
दड्ढो पक्को य अवसो,पावकम्मेहिं पाविओ ।।५८।।

संस्कृत : हुताशने ज्वलति, चितासु महिष इव।
दग्धःपक्वश्चावशः, पापकर्मभिः प्रावृतः ।।५८।।

५२. "बन्धु-जनों से रहित (असहाय) तथा रोता-चिल्लाता हुआ मैं पकाने के बर्तनों में (या भाड़ की आकृति वाले घड़ों में पकाया गया हूं।) ऊपर बांधा (जा चुका हूं) तथा करवत (आरा) व आरी आदि द्वारा अनन्त बार छेदा (टुकड़े-टुकड़े किया) जा चुका हूं।"

५३. "अत्यन्त तीक्ष्ण कांटों से आकीर्ण, ऊँचे शाल्मली (सैमर) के वृक्ष पर (मुझे) पाश से बांध कर, इधर-उधर खींचते हुए मुझे दुष्कर (असहनीय) कष्ट देकर, फेंका (तथा छिन्न-भिन्न कर) पूर्व-कर्मों का फल दिया गया।"

५४. "अत्यन्त आक्रन्दन (भयंकर शब्द) करता हुआ मैं पापकर्मा अपने अशुभ कर्मों के कारण, गन्ने की तरह बड़े-बड़े यन्त्रों में, अनन्त बार पीला (पेरा) जा चुका हूं।"

५५. "(इधर-उधर) भागता हुआ तथा चिल्लाता हुआ मैं, श्याम (काले) व शबल (चितकबरे) सूअर व कुत्तों (के रूप वाले परमाधार्मिक देवों) द्वारा अनेक बार (नीचे) गिराया, फाड़ा तथा छेदा जा चुका हूं।"

५६. "(अपने ही) पाप-कर्मों के कारण (मैं नरक में) पैदा होकर, अलसी के फूलों की भांति नीले रंग वाली तलवारों से, भालों से तथा पट्टिश (लोहे के डण्डों/शस्त्रों) से छेदा, भेदा तथा खण्ड-खण्ड किया जा चुका हूं।"

५७. "मैं लोहे की समिला कील से युक्त जुए वाले लोहे के रथ में विवश कर जोता जा चुका हूं, चाबुक व रास (नथुने में डाली गयी रस्सी) के द्वारा हांका जा चुका हूं तथा नील गाय (पशु विशेष) की तरह मैं (मार-मार कर भूमि पर) गिराया जा चुका हूं।"

५८. "जिस प्रकार अग्नि में भैंसे को (पापी जनों द्वारा) जलाया पकाया जाता है। उसी तरह मैं (अपने ही) पाप-कर्मों से घिरा हुआ, प्रज्वलती आग में, परवश होकर, जलाया व पकाया जा चुका हूं।"

मूल : बला संडास-तुण्डेहिं, लोहतुण्डेहिं पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवंतो ऽहं, ढंकगिद्धेहिं ऽणंतसो ।।५९।।

संस्कृत : बलात् सन्दंश-तुण्डैः, लोहतुण्डैः पक्षिभिः।
विलुप्तो विलपन्नहं, ढंक-गृध्रैरनन्तशः ।।५९।।

मूल : तण्हा-किलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नइं।
जलं पाहिं ति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ।।६०।।

संस्कृत : तृष्णा-क्लान्तो धावन्, प्राप्तो वैतरणीं नदीम्।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्, क्षुरधाराभिर्व्यापादितः ।।६०।।

मूल : उण्हाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडंतेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ।।६१।।

संस्कृत : उष्णाभितप्तः सम्प्राप्तः, असिपत्रं महावनम्।
असिपत्रैः पतद्भिः, छिन्नपूर्वो ऽनेकशः ।।६१।।

मूल : मुग्गरेहिं भुसुंडीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य।
गयासंभग्गगत्तेहिं, पत्तं दुक्खं अणंतसो ।।६२।।

संस्कृत : मुद्गरैर्भुशुंडीभिः, शूलैर्मुशलैश्च।
गदासंभग्नगात्रैः, प्राप्तं दुःखमनन्तशः ।।६२।।

मूल : खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो य अणेगसो ।।६३।।

संस्कृत : क्षुरैस्तीक्ष्णधारैः, क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः, उत्कृत्तश्चानेकशः ।।६३।।

मूल : पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं।
वाहिओ बद्ध-रुद्धो अ, बहू चेव विवाइओ ।।६४।।

संस्कृत : पाशैः कूटजालैः, मृग इवावशोऽहम्।
वाहितो बद्धरुद्धो वा, बहुशश्चैव विपादितः ।।६४।।

मूल : गलेहिं मगरजालेहिं, मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ य अणंतसो ।।६५।।

संस्कृत : गलैर्मकरजालैः, मत्स्य इवावशोऽहम्।
उल्लिखितः पाटितो गृहीतः, मारितश्चानन्तशः ।।६५।।

५९. "रोता-बिलखता हुआ मैं, लोहे जैसी व संडासी जैसी चोंच वाले चील व गीध (आदि) पक्षियों द्वारा बलपूर्वक (नोच-नोच कर, छिन्न-भिन्न व) नष्ट किया जा चुका हूं।"

६०. "प्यास से व्याकुल हुआ मैं, दौड़ कर वैतरणी नदी पर गया और 'जल पीऊं' यह चिन्तन कर ही रहा था कि छुरे की (धार जैसी तीखी जल) धारा ने मेरा (अंग-अंग चीर कर) विनष्ट कर दिया।"

६१. "गर्मी से अत्यन्त तप्त होकर (छाया के लिए) मैं 'असिपत्र' महावन में पहुंचा (किन्तु वहां भी) गिरते हुए असि-पत्रों (वृक्षों के तलवार जैसी धार वाले पत्तों) से अनेक बार छेदा गया।"

६२. "(शरीर को चूर-चूर करने वाले) मुद्गरों-भुशुंडियों (लोहे के कांटों से युक्त लकड़ी के शस्त्रों) त्रिशूलों व मूसलों (के प्रहारों) से भग्न गात्र मैं निराशा युक्त अनन्त बार दुःख प्राप्त कर चुका हूं।"

६३. "(नरक में) तीक्ष्ण धार वाले छुरों, छुरियों व कैंचियों के द्वारा मैं अनेक बार खण्डित, विभाजित छिन्न-भिन्न किया जा चुका हूं, तथा उनसे मेरी चमड़ी (तक) उतारी जा चुकी है।"

६४. "अवश मृग की तरह मैं पाशों व कूट (कपट-पूर्ण) जालों द्वारा अनेक बार छलपूर्वक बांधा और अवरुद्ध (बन्द) कर विनष्ट/मारा गया हूं।"

६५. "गलों (मछली फंसाने के कांटों) तथा मकर-जालों के द्वारा मछली की तरह पराधीन हुआ, मैं अनन्त बार बींधा (खींचा) फाड़ा, पकड़ा व मारा गया।"

मूल : वीदंसएहिं जालेहिं, लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य, मारिओ य अणंतसो ।।६६।।

संस्कृत : विदंशकैर्जालैः, लेप्याभिः, शकुन इव।
गृहीतो लग्नो बद्धश्च, मारितश्चानन्तशः ।।६६।।

मूल : कुहाड-फरसुमाईहिं, वड्ढईहिं दुमो विव।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ य अणंतसो ।।६७।।

संस्कृत : कुठार-परश्वादिभिः, वार्धिकैर्द्रुम इव।
कुट्टितः पाटितश्छिन्नः, तक्षितश्चानन्तशः ।।६७।।

मूल : चवेड-मुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अयं पिव।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ य अणंतसो ।।६८।।

संस्कृत : चपेटा-मुष्ट्यादिभिः, कुमारैरय इव।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः, चूर्णितश्चानन्तशः ।।६८।।

मूल : तत्ताइं तंबलोहाइं, तउयाइं सीसगाणि य।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ।।६९।।

संस्कृत : तप्तानि ताम्र-लोहानि, त्रपुकानि सीसकानि च।
पायितः कल-कलायमानानि, आरसन् सुभैरवम् ।।६९।।

मूल : तुहं पियाइं मंसाइं, खंडाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं णेगसो ।।७०।।

संस्कृत : तव प्रियाणि मांसानि, खण्डानि शूल्यकानि च।
खादितोऽस्मि स्वमांसानि, अग्निवर्णान्यनेकशः ।।७०।।

मूल : तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पाइओ मि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ।।७१।।

संस्कृत : तव प्रिया सुरा सीधुः, मेरकश्च मधूनि च।
पायितोऽस्मि ज्वलन्तीः, वसा-रुधिराणि च ।।७१।।

मूल : निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ।।७२।।

संस्कृत : नित्यं भीतेन त्रस्तेन, दुःखितेन व्यथितेन च।
परमा दुःखसम्बद्धा, वेदना वेदिता मया ।।७२।।

६६. "विदंशक (बाज) पक्षियों, जालों व वज्रलेपों (के रूप में परम-अधार्मिक देवों) द्वारा मैं पक्षी की तरह अनन्त बार पकड़ा, (चिपकाने वाले द्रव्य से स्थान-विशेष पर) चिपकाया, बांधा तथा मारा जा चुका हूं।"

६७. "बढ़ई के द्वारा जिस प्रकार वृक्ष (छेदा काटा जाता है) उसी प्रकार कुल्हाड़ियों व फरसों आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, फाड़ा (चीरा) छेदा व छीला गया हूं।"

६८. "लुहारों द्वारा जिस प्रकार लोहे को (पीटा-कूटा आदि जाता है) उसी प्रकार, (परम अधार्मिक असुर) कुमारों द्वारा चपत व मुक्के आदि (के प्रहारों) से मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा एवं चूरचूर किया गया हूं।"

६९. "अत्यंत भयंकर रूप से रोते-चिल्लाते हुए मुझ को कलकल करता उबलता उफनता हुआ गर्मगर्म तांबा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया।"

७०. "तुझे (पूर्व जन्म में) टुकड़े-टुकड़े किया हुआ तथा शूल में पिरोकर बनाया हुआ मांस प्रिय था (इस प्रकार) मुझे स्मरण कराते हुए, (मेरे ही शरीर के मांस को पकाते हुए) अग्नि जैसा लाल रंग का (बना कर) अनेक बार खिलाया जा चुका है।"

७१. "तुझे (पूर्व जन्म में) सुरा, सीधु (ताड़ी आदि) मैरेय (जौ आदि के आटे से बनी) और मधु (फूलों से तैयार की गई, आदि मदिराएं) प्रिय थीं, (इसे स्मरण कराते हुए) मुझे जलती हुई (मेरी अपनी ही) चर्बी और (खौलता हुआ) खून पिलाया गया था।"

७२. "(पूर्व-जन्मों में नरक वास के दौरान, पूर्वोक्त प्रकार से) नित्य ही भयभीत त्रस्त, दुःखी व व्यथित रहते हुए मुझे दुःखपूर्ण 'परम' (अत्युग्र) वेदनाओं का अनुभव हो चुका है।"

मूल : तिव्व-चंड-प्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु दुहवेयणा ।।७३।।

संस्कृत : तीव्र-चण्ड-प्रगाढाः, घोरा अतिदुस्सहाः।
महाभया भीमाः, नरकेषु वेदिता मया ।।७३।।

मूल : जारिसा माणुसे लोए, ताया! दीसंति वेयणा।
एत्तो अणंतगुणिया, नरएसु दुक्ख-वेयणा ।।७४।।

संस्कृत : यादृश्यो मानुषे लोके, तात! दृश्यन्ते वेदनाः।
इतोऽनन्तगुणिताः, नरकेषु दुःख-वेदनाः ।।७४।।

मूल : सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए।
निमिसंतरमित्तं पि, जं साया नत्थि वेयणा ।।७५।।

संस्कृत : सर्वभवेष्वसाता, वेदना वेदिता मया।
निमेषान्तर-मात्रमपि, यत्साता नास्ति वेदना ।।७५।।

मूल : तं विंतऽम्मा-पियरो, छंदेणं पुत्त! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ।।७६।।

संस्कृत : तं ब्रूतोऽम्बा-पितरौ, छन्दसा पुत्र! प्रव्रज।
नवरं पुनः श्रामण्ये, दुःखं निष्प्रतिकर्मता ।।७६।।

मूल : सो विंतऽम्मापियरो! एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं? ।।७७।।

संस्कृत : स ब्रूतेऽम्बा-पितरौ!, एवमेतद् यथा-स्फुटम्।
प्रतिकर्म कः करोति, अरण्ये मृग-पक्षिणाम्? ।।७७।।

मूल : एगभूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ।।७८।।

संस्कृत : एकभूतोऽरण्ये वा, यथा तु चरति मृगः।
एवं धर्मं चरिष्यामि, संयमेन तपसा च ।।७८।।

मूल : जहा मिगस्स आयंको, महारण्णम्मि जायई।
अच्छंतं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे तिगिच्छई? ।।७९।।

संस्कृत : यदा मृगस्यातंकः, महारण्ये जायते।
तिष्ठन्तं वृक्षमूले, कस्तं तदा चिकित्सति? ।।७९।।

७३. "मैं नरकों में (उक्त) तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ़, घोर, अतिदुःसह, महाभयप्रद व भीषण वेदनाओं का अनुभव कर चुका हूं।"

७४. "हे पिता! मनुष्य-लोक में जिस प्रकार की (शीत व उष्ण आदि) वेदनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, नरकों में इनसे भी अनन्त गुनी (अधिक) दुःखपूर्ण वेदनाएं होती हैं।"

७५. "मुझे इन सभी जन्मों में 'असाता' (दुःखरूप) वेदना का अनुभव हुआ है, क्योंकि वहां पलक झपकने के समय मात्र के लिए भी 'साता' (सुखमयी) वेदना नहीं होती।"

७६. (तब) माता पिता ने उस (मृगापुत्र) को कहा- "हे पुत्र! इच्छानुसार तुम प्रव्रजित हो जाओ। किन्तु (यह जान लो कि दीक्षा लेने के बाद) श्रमण-जीवन में प्रतिकर्म (रोगादि होने पर चिकित्सा आदि) नहीं कराना (कितना) दुःखरूप है।"

७७. उस (मृगापुत्र) ने कहा-"हे माता-पिता! जैसा यह (आपने कहा) है, स्पष्ट रूप से (सामान्यतः तो) वैसा ही है। (किन्तु यह तो सोचिए) जंगल में (रहने वाले) मृगों व पक्षियों का प्रतिकर्म (चिकित्सा आदि) कौन करता है?"

७८. "जिस प्रकार वन में मृग अकेला ही (अप्रतिबद्ध) विचरता है, उसी प्रकार मैं संयम व तप के साथ (एकाकी भाव-निष्ठ होकर मुनि) धर्म का आचरण करूंगा।"

७९. "जब महावन में (रहने वाले) मृग के शरीर में आतंक (रोग आदि) पैदा हो जाता है, तब (किसी) पेड़ के नीचे बैठे हुए उस (मृग) की कौन चिकित्सा करता है?"

मूल : को वा से ओसहं देई, को वा से पुच्छई सुहं?
को से भत्तं च पाणं च, आहरित्तु पणामए? ॥८०॥

संस्कृत : को वा तस्मै औषधं दत्ते? को वा तस्य पृच्छति सुखम्?।
कस्तस्मै भक्तं च पानं वा, आहृत्य प्रणामयेत् ?॥८०॥

मूल : जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोयरं।
भत्त-पाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य॥८१॥

संस्कृत : यदा च स सुखी भवति, तदा गच्छति गोचरम्।
भक्त-पानस्यार्थाय, वल्लराणि सरांसि च॥८१॥

मूल : खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहि य।
मिगचारियं चरित्ताणं, गच्छइ मिगचारियं॥८२॥

संस्कृत : खादित्वा पानीयं पीत्वा, वल्लरेषु सरस्सु वा।
मृग-चर्यां चरित्वा, गच्छति मृगचारिकाम्॥८२॥

मूल : एवं समुट्ठिओ भिक्खू, एवमेव अणेगए।
मिगचारियं चरित्ताणं, उड्ढं पक्कमई दिसं॥८३॥

संस्कृत : एवं समुत्थितो भिक्षुः, एवमेवाऽनेकगः।
मृगचारिकां चरित्वा, ऊर्ध्वां प्रक्रामते दिशम्॥८३॥

मूल : जहा मिए एग अणेगचारी, अणेगवासे धुवगोअरे य।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे, नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा॥८४॥

संस्कृत : यथा मृग एकोऽनेकचारी, अनेकवासो ध्रुवगोचरश्च।
एवं मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः, नो हीलयेन्नोऽपि च खिंसयेत्॥८४॥

मूल : मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता जहासुहं।
अम्मापिऊहिं ऽणुन्नाओ, जहाइ उवहिं तओ॥८५॥

संस्कृत : मृगचारिकां चरिष्यामि, एवं पुत्र! यथासुखम्।
अम्बा-पितृभ्यामनुज्ञातः, जहात्युपधिं ततः॥८५॥

८०. "(आप बताएं-उस रोगी मृग को) कौन औषधि देता है, कौन उससे सुख-साता पूछा करता है, और कौन उसको खाने-पीने के लिए लाकर देता है?"

८१. "वह (मृग स्वतः) जब स्वस्थ हो जाता है, तब भक्त-पान (भोजन-पानी) के लिए चरागाहों (गोचरों) लता-निकुंजों एवं तालाबों में चला जाता है।"

८२. "लता-निकुंजों व तालाबों में खाकर तथा पानी पीकर मृगचर्या (स्वतन्त्र व उछलकूद पूर्वक विचरण या परिमित आहार-पानी का ग्रहण) करते हुए मृगचारिका (मृगों की निवास-भूमि) को चला जाता है।"

८३. "इसी प्रकार संयम में उद्यमशील साधु उस (मृग) की तरह अनेक स्थानों में (स्वतन्त्र) विचरण करता हुआ और मृगचर्या (स्वतन्त्र विचरण) (या मितचर्या अर्थात् परिमित आहारादि का ग्रहण) का आचरण कर ऊर्ध्व दिशा (मोक्ष) को प्रस्थान करता है।"

८४. "जिस प्रकार, मृग एकाकी (ही) अनेक स्थानों में विचरण करने वाला, अनेक स्थानों में निवास करने वाला तथा गोचरी (द्वारा प्राप्त आहार) पर ही 'ध्रुव' (आश्रित) रहने वाला होता है, उसी प्रकार मुनि (भी अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए अनेक अनियत स्थानों में निवास तथा भिक्षा आदि का ग्रहण करते हुए तथा गोचरी हेतु (किसी घर में) प्रविष्ट होकर न तो किसी की अवहेलना या अपमान करता है और न ही (किसी की) निन्दा।"

८५. "(अतः मैं भी) मृगचर्या का आचरण करूंगा।" (तब माता-पिता ने मृगापुत्र को कहा-) "हे पुत्र! ऐसी बात है तो जैसे तुम्हें सुख हो (वैसा ही करो)" इस प्रकार माता-पिता की अनुज्ञा लेकर फिर (मृगापुत्र) ने 'उपधि' (अन्तरंग व वाह्य परिग्रह) का त्याग कर दिया।

मूल : मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्ब ऽणुन्नाओ, गच्छ पुत्त! जहासुहं ।।८६।।

संस्कृत : मृगचर्यां चरिष्यामि, सर्वदुःख-विमोक्षिणीम् ।
युवाभ्यामम्ब! अनुज्ञातः, गच्छ पुत्र! यथासुखम् ।।८६।।

मूल : एवं सो अम्मा-पियरं, अणुमाणित्ताण बहुविहं ।
ममत्तं छिंदई ताहे, महानागो व्व कंचुयं ।।८७।।

संस्कृत : एवं सोऽम्बा-पितरौ, अनुमान्य बहुविधम् ।
ममत्वं छिनत्ति तदा, महानाग इव कञ्चुकम् ।।८७।।

मूल : इड्ढिं वित्तं च मित्ते य, पुत्त-दारं च नायओ ।
रेणुयं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ताण निग्गओ ।।८८।।

संस्कृत : ऋद्धिं वित्तं च मित्राणि च, पुत्रदारांश्च ज्ञातीन् ।
रेणुकमिव पटे लग्नं, निर्धूय खलु निर्गतः ।।८८।।

मूल : पंच-महव्वय-जुत्तो, पंच-समिओ तिगुत्ति-गुत्तो य ।
सब्भिंतर-बाहिरए, तवोकम्मंसि उज्जुओ ।।८९।।

संस्कृत : पंचमहाव्रत-युक्तः, पंचभिः समितस्त्रिगुप्ति-गुप्तश्च ।
साभ्यन्तर-बाह्ये, तपः कर्मणि उद्युक्तः ।।८९।।

मूल : निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।।९०।।

संस्कृत : निर्ममो निरहंकारः, निस्संगस्त्यक्त-गौरवः ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ।।९०।।

मूल : लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ ।।९१।।

संस्कृत : लाभालाभे सुखे-दुःखे, जीविते मरणे तथा ।
समो निन्दा-प्रशंसयोः, तथा मानाऽपमानयोः ।।९१।।

८६. "(मृगापुत्र का कथन-) हे माता-पिता! आप (दोनों) की अनुमति प्राप्त कर समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली 'मृगचारिका' का आचरण करूंगा।" (माता-पिता ने कहा-) "हे पुत्र! जाओ! जैसे (भी) तुम्हें सुख हो (वैसा करो)"।

८७. इस प्रकार उस (मृगापुत्र) ने अनेक प्रकार से माता-पिता को समझाकर और उनकी अनुमति प्राप्त कर, (सांसारिक व्यक्तियों व वस्तुओं आदि के प्रति) ममत्व को (उसी प्रकार) तब त्याग दिया, जिस प्रकार महानाग केंचुली को (छोड़ देता है)।

८८. (वह मृगापुत्र) ऋद्धि, वैभव, मित्र, पुत्र पत्नी एवं सगे-सम्बन्धियों (के प्रति ममत्व) को वस्त्र पर लगी धूल की भांति झाड़ कर (दीक्षार्थ घर से) निकल पड़ा।

८९. (वह) पांच महाव्रतों से युक्त, पांच समितियों से समित (सम्यक् अनुष्ठान युक्त) तथा तीन गुप्तियों से गुप्त (सुरक्षित) होता हुआ आभ्यन्तर व बाह्य तपश्चरण में (मृगापुत्र) तत्पर (हो गया)।

९०. (मृगापुत्र) ममत्व-रहित, निरभिमानी, आसक्तिहीन, गर्व का त्यागी तथा त्रस व स्थावर सभी जीवों पर समता भाव रखने वाला (हो गया)।

९१. (वह) लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा तथा मान-अपमान (सभी स्थितियों) में समता-भाव धारण करने वाला (हो गया)।

मूल : गारवेसु कसाएसु, दंड-सल्ल-भएसु य।
नियत्तो हास-सोगाओ, अनियाणो अबंधणो ।।६२।।

संस्कृत : गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्ड-शल्य-भयेभ्यश्च।
निवृत्तो हास्य-शोकात्, अनिदानोऽबन्धनः ।।६२।।

मूल : आएस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासी-चंदण-कप्पो य, असणे अणसणे तहा ।।६३।।

संस्कृत : अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः।
वासी-चन्दन-कल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ।।६३।।

मूल : अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।
अज्झप्पज्झाण-जोगेहिं, पसत्थ-दम-सासणो ।।६४।।

संस्कृत : अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, सर्वतः पिहितास्रवः।
अध्यात्म-ध्यान-योगैः, प्रशस्त-दम-शासनः ।।६४।।

मूल : एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य।
भावणाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ।।६५।।

संस्कृत : एवं ज्ञानेन चरणेन, दर्शनेन तपसा च।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः, सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ।।६५।।

मूल : बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया।
मासिएण उ भत्तेण, सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ।।६६।।

संस्कृत : बहुकानि तु वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य।
मासिकेन च भक्तेन, सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ।।६६।।

मूल : एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहा रिसी ।।६७।।

संस्कृत : एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, मृगापुत्रो यथा ऋषिः ।।६७।।

९२. (ऋद्धि, रस, साता इन तीन प्रकार के) गर्वों, (क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार) कषायों से, (मन, वचन, काया इन के तीन) दण्डों से, (माया, निदान, मिथ्यात्व इन तीन) शल्यों से, (इह-लोक, परलोक, आदान, आकस्मिक मरण, अकीर्ति, आजीविका- इन से सम्बन्धित सात प्रकार के) भयों एवं हास्य व शोक से निवृत्त, तथा 'निदान' (सुख-भोग - आकांक्षा) से रहित, और (राग-द्वेषात्मक) बन्धन से (मृगापुत्र) निर्मुक्त (हो गया)।

९३. इस लोक व परलोक में 'अनिश्चित' (सुख की आकांक्षा रख कर तप न करने वाला, बसूले (से काटने) व चन्दन (का लेप-करने दोनों स्थितियों) में तथा आहार-प्राप्ति व अनशन (उपवास अर्थात् आहार न मिलने की स्थिति) में समभाव रखने वाला (मुनि हो गया)।

९४. (कर्म बन्धन के) अप्रशस्त द्वारों (कारणों) से (निवृत्त होने के कारण या उन द्वारों से होने वाले) आस्रवों का सब प्रकार से निरोध करता हुआ अध्यात्म सम्बन्धी (शुभ) ध्यान-योगों से प्रशस्त 'दम' (संयम या उपशम) रूपी शासन (आगमिक शिक्षा) से युक्त (महामुनि हो गया)।

९५. इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा शुद्ध (निदान आदि दोषों से रहित, महाव्रत-सम्बन्धी या अनित्यता आदि बारह) भावनाओं द्वारा आत्मा को अच्छी तरह भावित करके,

९६. बहुत वर्षों तक श्रमण-चर्या का पालन कर (अंत में महामुनि मृगापुत्र ने) एक मास के (भक्त-प्रत्याख्यान) अनशन के द्वारा श्रेष्ठ सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त किया।

९७. सम्बुद्ध (सम्यक् ज्ञान आदि से सम्पन्न) पण्डित व विचक्षण (साधक) ऐसा ही (वैराग्यपूर्ण आचरण) किया करते हैं। मृगापुत्र ऋषि की तरह वे (सांसारिक कामनाओं) भोगों से निवृत्त हो जाते हैं।

मूल : **महापभावस्स महाजसस्स, मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।**
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं, गइप्पहाणं च तिलोगविस्सुयं ।। ६८ ।।

संस्कृत : महाप्रभावस्य महायशसः, मृगायाः पुत्रस्य निशम्य भाषितम् ।
तपः प्रधानं चरितं चोत्तमं, गति-प्रधानं च त्रिलोक-विश्रुतम् ।। ६८ ।।

मूल : **वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं, ममत्तबंधं च महाभयावहं ।**
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेह निव्वाणगुणावहं महं ।। ६९ ।।
ति बेमि ।

संस्कृत : विज्ञाय दुःखविवर्धनं धनं, ममत्व-बन्धं च महाभयावहम् ।
सुखावहां धर्मधुरामनुत्तरां, धारयध्वं निर्वाणगुणावहां महतीम् ।। ६९ ।।
इति ब्रवीमि ।

९८. महान् प्रभावशाली व महान् यशस्वी मृगापुत्र के (वैराग्यमूलक) कथन को (तथा उसके) तपः प्रधान, (मोक्ष-रूप) गति की प्रमुखता वाले एवं त्रिलोक विख्यात उत्तम चारित्र को सुनकर

९९. (और) धन को दुःख - वर्द्धक (जानकर एवं) ममत्व-बन्धन को महाभयकारी जानकर, निर्वाण के (साधक) गुणों को प्राप्त कराने वाली सुखकारी व श्रेष्ठ महान् धर्म धुरा को धारण करें।

-ऐसा मैं कहता हूं।

❑❑

अध्ययन–सार :

पूर्व-जन्म की स्मृति के कारण श्रमण-प्रवज्या ग्रहण करने के लिए उद्यत राजकुमार मृगापुत्र ने माता-पिता के समक्ष अपनी भावना को इन शब्दों में प्रस्तुत किया–

"शरीर की अनित्यता को और विषय-भोगों के सेवन के दुष्परिणामों को एवं नरकादि दुर्गतियों में होने वाले दु:खों को मैं जान चुका हूं, विषय- भोगों से मुझे विरक्ति हो गई है, और मैं चाहता हूं कि जरा-मृत्यु के दावानल से जल रहे इस लोक में अपनी मूल्यवान् आत्मा को सुरक्षित रख सकूं और इस दु:खबहुल संसार से छुटकारा प्राप्त कर धर्माचरण-रूपी पाथेय के साथ, संयम-मार्ग द्वारा शाश्वत स्थान मुक्ति-धाम की ओर प्रस्थान करूं। अत: आप मुझे मुनि-दीक्षा की अनुमति प्रदान कर अनुगृहीत करें।"

माता-पिता ने मृगापुत्र को समझाया–बेटे! श्रमण-चर्या अत्यन्त दुष्कर है। इसमें अविश्रान्त भाव से जीवन-पर्यंत पांच महाव्रतों का पालन करना, विविध परीषहों को समभाव से सहन करना तथा दारुण केशलोच व कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना जब महात्माओं के लिए भी दुष्कर है तब सुख-भोग की आयु वाले तेरे जैसे सुकुमार बालक के लिए तो कहना ही क्या? इसका अनुष्ठान उतना ही कठिन है जितना सागर को भुजाओं से पार करना, लोहे के चने चबाना, या तलवार की धार पर चलना, अग्निशिखा को पीना तथा मेरु पर्वत को तराजू से तोलना। अत: युवावस्था में उपलब्ध काम-भोगों का सुख-भोग कर लो, बाद में भुक्तभोगी होकर धर्माचरण के लिए सोचना।"

मृगापुत्र ने कहा–"जिनकी विषय-सुख की प्यास बुझ चुकी होती है, उनके लिए श्रमण-चर्या कठिन नहीं है। रही कष्ट सहने की बात, वह तो मैंने न जाने कितनी बार, भयंकर जन्म-मृत्यु के कष्टों को और विविध प्राणघातक दु:सह नरक यातनाओं के रूप में सहा है।" इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अनेक तर्क दिये। अन्तत: माता-पिता ने मृगापुत्र को दीक्षा की अनुमति दे दी। ममत्व का पूर्णत: त्याग कर मृगापुत्र प्रव्रजित हुए। ममत्व, अहंकार, आसक्ति, कषाय, शल्य, निदान आदि कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर, पूर्णत: समत्व भाव के साथ प्रशस्त ध्यान-योगों व विविध तपश्चरणों में निरत होते हुए, मृगापुत्र ने शाश्वत-अविनाशी श्रेष्ठतम सिद्धि-'मुक्ति' प्राप्त की।

मृगापुत्र के समान तत्व-ज्ञाता व्यक्ति भी संसार-निवृत्त होते हैं।

❑❑

अध्ययन–20

महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन परिचय

साठ गाथाओं से निर्मित हुआ है प्रस्तुत अध्ययन। इस का केन्द्रीय विषय है—महानिर्ग्रन्थ के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन। इसीलिए इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया। महानिर्ग्रन्थ का सत्य यहां निरूपित हुआ है। इसका अर्थ महानिर्ग्रन्थ के अपने जीवन का सत्य भी है और महानिर्ग्रन्थ द्वारा उद्घाटित संसार व जीवात्मा का सत्य भी। यह मनुष्य के अन्तर्जीवन का सत्य भी है और बाह्य जीवन का सत्य भी। मनुष्य की सार्थकता और निरर्थकता, दोनों का सत्य है यह। महानिर्ग्रन्थ द्वारा अनुभूत और अभिव्यक्त होने से यह सत्य जितना प्रामाणिक है, उतना ही स्पष्ट भी।

महानिर्ग्रन्थ अनाथ नहीं होता। असहाय नहीं होता। परावलम्बी नहीं होता। अनाथी मुनि संसारतः वैभवशाली श्रेष्ठी के पुत्र थे। कहीं कोई अभाव न था। नेत्र-पीड़ा ने एक बार उन्हें ऐसा घेरा कि उस पीड़ा से उन्हें कोई मुक्त न कर सका। पीड़ा-ग्रस्त नेत्रों से वे देखते रहे—उपचार करने में विद्यामंत्र असफल रहे। जड़ी-बूटियां असफल रहीं। पिता का सारा धन असफल रहा। मां की ममता असफल रही। भाई-बहिनों का स्नेह असफल रहा। पत्नी की सेवा असफल रही। सफल होने के लिए अपना सभी कुछ छोड़ने को तत्पर ये सब असफल रहे।

असफलता की इस निरन्तरता से उनके अन्तर्नेत्र खुले। उन्होंने देखा—कहने को सब अपने हैं। वास्तव में कुछ भी अपना नहीं। कोई भी अपना नहीं। न धन-वैभव, न सांसारिक विद्याएं, न मोह-ममता, न शरीर-सेवा। बाहर के जड़-चेतन पदार्थों में से कोई साथ नहीं देता। जो इन पर भरोसा करता है, इन्हें अपना मानता है, वह यदि सम्राट् श्रेणिक भी हो, तो अनाथ है। इस दृष्टि से कि उसका कोई नहीं। इस दृष्टि से कि इस सत्य को वह नहीं जानता। वह अनाथ भी है और भ्रमित भी। अनाथ होना उसके जीवन का दुःख है। भ्रमित होना इस दुःख में ही उसके फंसे रहने की आशंका है।

भ्रम का टूटना जीवात्मा की दुःख-मुक्ति की सम्भावना का सूत्रपात है। अनाथ यदि अपने को अनाथ स्वीकार कर ले तो भवसागर की दुःख-परम्परा में परिवर्तन घटित हो सकता है। सम्भावना का द्वार खुल सकता है। बाह्य जड़-चेतन पदार्थों के खोखले सहारे वह छोड़ सकता है। कागज़ की नाव से वह काठ की नौका में सवार हो सकता

है। संसार कागज़ की नाव है। बड़ी सुन्दर है। मोहक है। काठ की नौका से कई गुना ज़्यादा आकर्षक है। धर्म काठ की नौका है। देखने में सुन्दर नहीं लगती। मोहित नहीं करती। कागज़ की नाव के सामने विकर्षक भी लगती है। प्रश्न यदि सागर से पार होने का है, तो काठ की नौका ही काम आयेगी। वही शरण देगी। वही अनाथ को सनाथ बनायेगी। अनाथ उस से स्वयं तो सनाथ होगा ही, दूसरों का नाथ भी बन सकेगा। डूबतों का सहारा बनने की क्षमता भी उसमें आ जायेगी। वह सहारा सांसारिक नहीं होगा। सच्चा होगा।

महानिर्ग्रन्थ धर्म-तीर्थ होता है। आत्मा का संयम आदि सद्प्रवृत्तियों में स्थित रहना उसकी विशेषता होती है। दु:खों के मूलभूत रागादि विकारों के आक्रमण से पूर्णत: सुरक्षित होना उसकी विशेषता होती है। जो सुरक्षित हो, वह सुरक्षा दे भी सकता है। सांसारिकता से सुरक्षित महानिर्ग्रन्थ मैत्री-भावना के साथ अहिंसा महाव्रत का पालन करते हुए अन्य त्रस-स्थावर जीवों को अभय देता है। सुरक्षा देता है। उनका नाथ बनता है। सनाथ वह उन्हें भी बनाता है, जो संसार में फंसे रहते हुए भी उसके पास आते हैं। उसका सम्मान करते हैं। सम्यक् ज्ञान की शरण देकर वह उन्हें अनाथ नहीं रहने देता। अनाथ के महानिर्ग्रन्थ बनने का पथ प्रशस्त कर देता है।

महानिर्ग्रन्थ सांसारिक सहारों के भ्रमपूर्ण आश्रय से भी मुक्त होता है और उनके अहंकार से भी। वह भीतर से भी निर्ग्रन्थ होता है और बाहर से भी। इन्द्रिय-व्यापारों का, मन की गति का और बुद्धि की दिशा का वह शास्ता होता है। आत्मा का गति-निर्धारक होता है। संयम का प्रभावक होता है। कोई भी कारण उसे शुद्ध श्रमणाचार से भ्रष्ट नहीं कर पाता। उसका जीवन मुक्ति-यात्रा का प्रतीक बन जाता है। सच्ची स्वतन्त्रता का उल्लास बन जाता है। रत्न-त्रय का आलोक बन जाता है।

ऐसे महानिर्ग्रन्थ का स्वरूप व आचार इस अध्ययन में उजागर किया गया है। सांसारिकता का अंधकार और सम्यक्त्व की सुबह, दोनों का एक साथ चित्रण दोनों के ही स्वरूप को स्पष्टता से साकार करता है।

सनाथ होने की प्रेरणा देने के साथ-साथ श्रमण-मार्ग के साधकों को सांसारिकता व प्रमाद के विभिन्न स्वरूपों से, मिथ्यात्व के विभिन्न जंजालों से सावधान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह महानियंठिज्जं वीसइमं अज्झयणं

(अथ महानिर्ग्रन्थीयं विंशतितममध्ययनम्)

मूल : सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थ-धम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ।।१।।

संस्कृत : सिद्धेभ्यो नमस्कृत्वा, संयतेभ्यश्च भावतः।
अर्थ-धर्म-गतिं तथ्यां, अनुशिष्टिं शृणुत मम ।।१।।

मूल : पभूय-रयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो।
विहारजत्तं निज्जाओ, मंडिकुच्छिंसि चेइए ।।२।।

संस्कृत : प्रभूतरत्नो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः।
विहारयात्रां निर्यातः, मण्डितकुक्षौ चैत्ये ।।२।।

मूल : नाणा-दुम-लयाइण्णं, नाणा-पक्खि-निसेवियं।
नाणा-कुसुम-संछन्नं, उज्जाणं नंदणोवमं ।।३।।

संस्कृत : नाना-द्रुम-लताऽऽकीर्णं, नाना-पक्षि-निषेवितम्।
नाना-कुसुम-संच्छन्नं, उद्यानं नन्दनोपमम् ।।३।।

मूल : तत्थ . सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ।।४।।

संस्कृत : तत्र स पश्यति साधुं, संयतं सुसमाहितम्।
निषण्णं वृक्षमूले, सुकुमारं सुखोचितम् ।।४।।

मूल : तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए।
अच्चंत-परमो आसी, अउलो रूव-विम्हओ ।।५।।

संस्कृत : तस्य रूपं तु दृष्ट्वा, राजा तस्मिन् संयते।
अत्यन्त-परम आसीत्, अतुलो रूप-विस्मयः ।।५।।

बीसवां अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

१. सिद्धों और संयमियों को भावपूर्वक नमस्कार कर (मोक्ष-रूप) अर्थ एवं (उसके साधनभूत रत्नत्रय) धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्य (से पूर्ण) अनुशिष्टि अनुशासना (शिक्षा) को मुझसे सुनो।

२. प्रभूत रत्नों से सम्पन्न मगध अधिपति राजा श्रेणिक विहार यात्रा (उद्यान क्रीड़ा) के लिए 'मण्डिकुक्षि' नामक चैत्य (उद्यान) में नगर से निकल कर पहुंचा।

३. विविध प्रकार के वृक्षों व लताओं से आकीर्ण नाना प्रकार के पक्षियों द्वारा सुसेवित (आश्रित) तथा नाना प्रकार के पुष्पों से अच्छी तरह आच्छादित (वह) उद्यान नन्दन वन जैसा था।

४. वहां उस (राजा श्रेणिक) ने (एक) संयत सम्यक् समाधि-सम्पन्न एवं सुख (भोगने) के योग्य (युवा अवस्था वाले) सुकुमार साधु को वृक्ष के नीचे देखा।

५. उस (साधु) के रूप को देखकर राजा को उस संयमी के प्रति अत्यधिक उत्कृष्ट एवं अनुपम रूप (सम्बन्धी) आश्चर्य हुआ।

मूल : अहो वण्णो!, अहो रूवं!, अहो अज्जस्स सोमया!।
अहो खंती!, अहो मुत्ती!, अहो भोगे असंगया!।।६।।

संस्कृत : अहो! वर्णो, अहो! रूपमू, अहो! आर्यस्य सौम्यता।
अहो! क्षान्तिरहो! मुक्तिः, अहो! भोगेऽसंगता।।६।।

मूल : तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने, पंजली पडिपुच्छई।।७।।

संस्कृत : तस्य पादौ तु वन्दित्वा, कृत्वा च प्रदक्षिणामू।
नातिदूरमनासन्नः, प्राञ्जलिः परिपृच्छति।।७।।

मूल : तरुणो सि अज्जो!पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया!।
उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता।।८।।

संस्कृत : तरुणोऽस्यार्य! प्रव्रजितः, भोगकाले संयत!।
उपस्थितोऽसि श्रामण्ये, एतमर्थं श्रृणोमि तावत्।।८।।

मूल : अणाहो मि महाराय! नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकम्पगं सुहिं वावि, कंचि नाभिसमेमऽहं।।९।।

संस्कृत : अनाथोऽस्मि महाराज! नाथो मम न विद्यते।
अनुकम्पकं सुहृदं वापि, कंचिन्नाभिसमेम्यहम्।।९।।

मूल : तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमंतस्स, कहं नाहो न विज्जई?।।१०।।

संस्कृत : ततः स प्रहसितो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः।
एवं ते ऋद्धिमतः, कथं नाथो न विद्यते?।।१०।।

मूल : होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया!।
मित्त-नाई-परिवुडो, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।।।११।।

संस्कृत : भवामि नाथो भदन्तानां, भोगान् भुङ्क्ष्व संयत!।
मित्र-ज्ञाति परिवृतः (सन्), मानुष्यं खलु सुदुर्लभम्।।११।।

मूल : अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया! मगहाहिवा!।
अप्पणा अणाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि?।।१२।।

संस्कृत : आत्मनाप्यनाथोऽसि, श्रेणिक! मगधाधिप!।
आत्मनाऽनाथः सन्, कथं नाथो भविष्यसि?।।१२।।

६. (राजा श्रेणिक सोचने लगा-) अहो! कैसा (विस्मयकारी) वर्ण है, अहो! कैसा रूप है! अहो! आर्य की (कैसी) सौम्यता है ! अहो! कितना क्षमा-भाव है! (कितनी) निर्लोभता है! अहो! भोगों के प्रति (कितनी) अनासक्ति है।

७. (तदनन्तर राजा श्रेणिक ने) उस (साधु) के चरणों में वन्दना की और प्रदक्षिणा करके न अधिक दूर और न अधिक निकट (खड़े हुए) हाथ जोड़ कर पूछा।

८. "हे आर्य! (आप तो अभी) युवा हैं। हे संयमी! भोग-योग्य समय (युवावस्था) में ही आप दीक्षित होकर, श्रमण - चर्या के लिए उपस्थित हुए हैं, इसका कारण मैं सुनना चाहता हूं।"

९. (मुनि ने कहा-) "राजन् ! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई नाथ (संरक्षक) नहीं है। मुझ पर कोई अनुकम्पा करने वाला और कोई सुहृद् भी मुझे नहीं मिला।"

१०. यह सुन कर मगध-अधिपति श्रेणिक राजा जोर से हंसा (और मुनि से बोला-) "इस प्रकार (की) ऋद्धि (सौभाग्यशाली, रूपादि) वाले तुम्हारे (जैसे व्यक्ति के) लिए कैसे कोई नाथ नहीं है?"

११. (राजा ने आगे कहा-) "हे भदन्त! मैं (आपका) नाथ होता (बनता) हूं। हे संयती (मुनि) मित्रों व बन्धु-बान्धवों के साथ (मानवोचित) भोगों का सेवन करें। (यह) मनुष्य जन्म निश्चय ही दुर्लभ है।"

१२. (मुनि ने कहा-) " हे मगध-अधिपति श्रेणिक! तुम (स्वयं) अनाथ हो। स्वयं अनाथ होकर (मेरे) नाथ कैसे हो सकोगे?"

मूल : **एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ।**
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयन्निओ ।।१३।।

संस्कृत : एवमुक्तो नरेन्द्रः सः, सुसम्भ्रान्तः सुविस्मितः।
वचनमश्रुतपूर्वं, साधुना विस्मयान्वितः ।।१३।।

मूल : **अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे।**
भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे।।१४।।

संस्कृत : अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे, पुरमन्तःपुरं च मे।
भुनज्मि मानुषान् भोगान्, आज्ञैश्वर्यं च मे'।।१४।।

मूल : **एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकाम-समप्पिए।**
कहं अणाहो भवइ?, मा हु भंते! मुसं वए।।१५।।

संस्कृत : ईदृशे सम्पदग्रे, समर्पित-सर्वकामे।
कथमनाथो भवति? मा खलु भदन्त! मृषा वदतु।।१५।।

मूल : **न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा!**
जहा अणाहो भवई, सणाहो वा नराहिवा।।१६।।

संस्कृत : न त्वं जानीषेऽनाथस्य, अर्थं प्रोत्थां च पार्थिव!
यथाऽनाथो भवति, सनाथो वा नराधिप!।।१६।।

मूल : **सुणेह मे महाराय!, अव्वक्खित्तेण चेयसा।**
जहा अणाहो भवई, जहा मेयं पवत्तियं।।१७।।

संस्कृत : शृणु मे महाराज, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
यथा अनाथो भवति, यथा मयैतत् प्रवर्तितम्।।१७।

मूल : **कोसंबी नाम नयरी, पुराण-पुर-भेयणी।**
तत्थ आसी पिया मज्झ, पभूय-धण-संचओ।।१८।।

संस्कृत : कौशाम्बी नाम्नी नगरी, पुराण-पुर-भेदिनी।
तत्रासीत् पिता मम, प्रभूतधनसंचयः।।१८।।

१३. (दर्शन मात्र से) विस्मित हो रहे राजा को मुनि द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर, (वह राजा) पहले कभी न सुने गए वचन से (तो) और भी अधिक संशयाकुल व आश्चर्य-चकित हो गया।

१४. (राजा ने कहा-) "मेरे पास घोड़े व हाथी हैं, (अनेक सेवक आदि) मनुष्य हैं, (यह सारा) नगर् मेरा है। (मेरा अपना) अन्तःपुर (भी) है। मैं मानवीय (समस्त) भोगों को भोग रहा हूं, मेरी आज्ञा (अप्रतिहत रूप से मान्य होती) है, और (समस्त) ऐश्वर्य मेरे पास है।"

१५. "इस प्रकार के (उपरोक्त) सभी काम-भोगों को (मेरे) सम्मुख उपस्थित कर देने वाली, उत्कृष्ट सम्पदा के होते हुए (भी) मैं अनाथ कैसे हुआ? हे भगवन्! आप असत्य (तो) न बोलें।"

१६. "हे पार्थिव! तुम 'अनाथ' (शब्द) के अर्थ को और (मेरे कथन के अभिप्राय) कारण को भी नहीं समझ पा रहे हो कि नराधिपति भी किस प्रकार 'अनाथ' या 'सनाथ' होता है।"

१७. "हे महाराज! कैसे (व्यक्ति) अनाथ होता है और किस रूप में मैंने (अनाथ शब्द का) प्रयोग किया है, (उस सम्बन्ध में) मुझसे एकाग्रचित के साथ सुनें-"

१८. "प्राचीन नगरों (के महत्व) को भग्न करने वाली (अर्थात् असाधारण सुन्दर) कौशाम्बी नाम की नगरी है। वहां प्रभूत धन-संग्रह वाले मेरे पिता रहते थे।"

मूल : **पढमे वए महाराय!, अउला मे अच्छिवेयणा।**
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ।।१६।।

संस्कृत : प्रथमे वयसि महाराज! अतुला मे ऽक्षि-वेदना।
अभूद् विपुलो दाहः, सर्वगात्रेषु पार्थिव! ।।१६।।

मूल : **सत्थं जहा परम-तिक्खं, सरीर-विवरंतरे।**
आवीलिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छि-वेयणा ।।२०।।

संस्कृत : शस्त्रं यथा परमतीक्ष्णं, शरीर-विवरान्तरे।
आपीड़येदरिः क्रुद्धः, एवं मे ऽक्षि-वेदना ।।२०।।

मूल : **तियं मे अंतरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई।**
इंदासणि-समा घोरा, वेयणा परम दारुणा ।।२१।।

संस्कृत : त्रिकं मे अन्तरेच्छं च, उत्तमांगं च पीड़यति।
इन्द्राशनि-समा घोरा, वेदना परम-दारुणा ।।२१।।

मूल : **उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामंत चिगिच्छगा।**
अवीया सत्थकुसला, मंत-मूल-विसारया ।।२२।।

संस्कृत : उपस्थिता मे आचार्याः, विद्या-मंत्र-चिकित्सकाः।
अद्वितीयाः शास्त्रकुशलाः, मंत्र-मूल-विशारदाः ।।२२।।

मूल : **ते मे चिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं।**
न वि दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ।।२३।।

संस्कृत : ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति, चतुष्पादां यथाहितम्।
न च दुःखाद् विमोचयंति, एषा ममाऽनाथता ।।२३।।

मूल : **पिया मे सव्वसारं पि, दिज्जाहि मम कारणा।**
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ।।२४।।

संस्कृत : पिता मे सर्वसारमपि, दद्यान् मम कारणात्।
न च दुःखाद् विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ।।२४।।

१९. "महाराज! प्रथम वय (यौवन) में मुझे, आंखों में अत्यधिक पीड़ा हो गयी। हे पार्थिव! (इससे मेरे) सभी अंगों में विपुल दाह (जलन) पैदा हो गई।"

२०. "जिस प्रकार (कोई) क्रुद्ध शत्रु शरीर के छिद्रों (आंख, कान आदि मर्म-स्थानों) के अन्दर (कोई) परम तीक्ष्ण शस्त्र घोंप दे- ऐसी (असह्य) पीड़ा (मेरी) आंखों में हो रही थी।"

२१. "इन्द्र के वज्र-प्रहार के समान अत्यधिक दारुण व घोर वेदना से मेरा त्रिक (कटि-भाग,) हृदय-स्थल और मस्तक पीड़ा से आकुल होता रहता था।"

२२. "(तब) विद्या व मंत्र से चिकित्सा करने वाले मन्त्र व मूल (जड़ी बूटियों) के पूर्ण जानकार, अद्वितीय शस्त्र कुशल (या शल्य क्रिया विशेषज्ञ) आचार्य (चिकित्साचार्य) मेरे (उपचार के) लिए उपस्थित हुए।"

२३. "(हे राजन्! मेरे) हित के अनुरूप उन्होंने मेरी (योग्य औषध, योग्य परिचारक,. योग्य चिकित्सक तथा रोगी की सजगता व श्रद्धा - इन चार को ध्यान में रखकर की जाने वाली या वमन, विरेचन, मर्दन व स्वेदन- इन चार स्वरूपों वाली) चतुष्पाद चिकित्सा (भी) की, (किन्तु वे) दुःख से (मुझे) मुक्त न करा सके- यही मेरी 'अनाथता' है।"

२४. "मेरे पिता ने मेरे लिए चिकित्सकों को अपना सर्वस्व दे डाला, (किन्तु वे मुझे) दुःख से मुक्त न करा सके- यह (ही) मेरी अनाथता है।"

मूल : **माया वि मे महाराय! पुत्त-सोग-दुहट्टिया।**
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ।। २५ ।।

संस्कृत : माताऽपि मे महाराज, पुत्रशोक-दुःखार्त्ता।
न च दुःखाद् विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ।। २५ ।।

मूल : **भायरो मे महाराय!, सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा।**
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ।। २६ ।।

संस्कृत : भ्रातरो मे महाराज! स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ।। २६ ।।

मूल : **भइणीओ मे महाराय!, सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा।**
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ।। २७ ।।

संस्कृत : भगिन्यो मे महाराज! स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ।। २७ ।।

मूल : **भारिया मे महाराय!, अणुरत्ता अणुव्वया।**
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचई ।। २८ ।।

संस्कृत : भार्या मे महाराज! अनुरक्ताऽनुव्रता।
अश्रुपूर्णाभ्यां नयनाभ्यां, उरो मे परिसिंचति ।। २८ ।।

मूल : **अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गंध-मल्ल-विलेवणं।**
मए णायमणायं वा, सा बाला नेव भुंजई ।। २९ ।।

संस्कृत : अन्नं पानं च स्नानं च, गन्ध-माल्य-विलेपनम्।
मया ज्ञातमज्ञातं वा, सा बाला नैव भुङ्क्ते ।। २९ ।।

मूल : **खणं पि मे महाराय! पासाओ मे न फिट्टई।**
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ।। ३० ।।

संस्कृत : क्षणमपि मे महाराज!, पार्श्वतोऽपि नापयाति।
न च दुःखाद् विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ।। ३० ।।

मूल : **तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो।**
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणंतए ।। ३१ ।।

संस्कृत : ततोऽहमेवमवोचं, दुःक्षमा खलु पुनः पुनः।
वेदनाऽनुभवितुं या, संसारेऽनन्तके ।। ३१ ।।

२५. "हे महाराज! मेरी माता, पुत्र के दुःख से दुःखी/पीड़ित रहती थी, (किन्तु मुझे वह) दुःख से मुक्त न करा सकी यह (ही) मेरी 'अनाथता' है।"

२६. "बड़े व छोटे मेरे सगे भाई (भी मुझे) दुःख से विमुक्त न करा सके महाराज! यह (ही) मेरी अनाथता है।"

२७. "मेरी बड़ी व छोटी सगी बहनें (भी मुझे) दुःख से मुक्त न करा सकीं, महाराज यह (ही) मेरी अनाथता है।"

२८. "महाराज! मुझ में अनुरक्त व पतिव्रता (या कुलानुरूप सदाचार वाली) मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण आंखों से मेरे वक्ष-स्थल को सींचती रहती थी।"

२९. "वह बाला (मेरे दुःख में दुःखी होकर) मेरे सम्मुख (ज्ञात) में या परोक्ष (अज्ञात) में (भी) अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य, विलेपन का (कभी) उपयोग नहीं करती थी।"

३०. "हे महाराज! (वह मेरी पत्नी) क्षण-मात्र भी मेरे पास से दूर न जाती थी, (किन्तु वह भी मुझे) दुःख से मुक्त न करा सकी- यह (ही) मेरी 'अनाथता' है।"

३१. "तब मैंने (अन्तर में) इस प्रकार कहा- (इस) अनन्त संसार में (प्राणी को) बार-बार (ऐसी) दुःसह वेदना का अनुभव करना होता है।"

मूल : सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला इओ।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वए अणगारियं ।।३२।।

संस्कृत सकृच्च यदि मुच्ये, वेदनाया विपुलाया इतः।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजेयमनगारिताम् ।।३२।।

मूल : एवं च चिंतइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा!।
परियत्तंतीए राईए, वेयणा मे खयं गया ।।३३।।

संस्कृत एवं च चिन्तयित्वा, प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप!
परिवर्त्तमानायां रात्रौ, वेदना मे क्षयं गता ।।३३।।

मूल : तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बंधवे।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइओऽणगारियं ।।३४।।

संस्कृत ततः कल्यः प्रभाते, आपृच्छ्य बान्धवान्।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ।।३४।।

मूल : तओ हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाणं थावराण य ।।३५।।

संस्कृत ततोऽहं नाथो जातः, आत्मनश्च परस्य च।
सर्वेषां चैव भूतानां, त्रसानां स्थावराणां च ।।३५।।

मूल : अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ।।३६।।

संस्कृत आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुघा धेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ।।३६।।

मूल : अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ।।३७।।

संस्कृत आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रं च, दुःष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः ।।३७।।

मूल : इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा! तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे।
नियंठधम्मं लहियाण वी जहा, सीयंति एगे बहुकायरा नरा ।।३८।।

संस्कृत इयं खल्वन्याऽप्यनाथता नृप!, तामेकचित्तो निभृतः शृणु।
निर्ग्रन्थधर्मं लब्ध्वाऽपि यथा, सीदन्त्येके बहु कातरा नरा ।।३८।।

३२. "इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मैं मुक्त हो जाऊं तो क्षान्त, दान्त, आरम्भ रहित, अनगार - चर्या में प्रव्रजित हो जाऊं।"

३३. "हे नराधिपति! ऐसा चिन्तन करते-करते मैं सो गया। रात्रि व्यतीत होने के साथ-साथ मेरी वेदना नष्ट हो गई।"

३४. "प्रातःकाल स्वस्थ होते ही (अपने पूर्व-चिन्तन के अनुरूप) मैं बन्धु-जनों से पूछ (अनुमति प्राप्त) कर क्षमाभावयुक्त, इन्द्रिय निग्रही, आरम्भ-हीन (सावद्य क्रिया से रहित) होते हुए अनगार-चर्या में प्रव्रजित (दीक्षित) हो गया।"

३५. "तब, मैं अपना और दूसरों का एवं त्रस व स्थावर सभी प्राणियों का नाथ हो गया।"

३६. "(क्योंकि) मेरी (अपनी) आत्मा (ही नरक की) वैतरणी नदी है, मेरी आत्मा (ही) कूट शाल्मली वृक्ष (जैसी दुःखदायी) है, आत्मा ही कामदुधा (समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाली) धेनु है और मेरी आत्मा ही नन्दन वन है।"

३७. "आत्मा ही (स्वयं अपने) सुखों तथा दुःखों का कर्ता (उत्पादक) व विकर्ता (विनाशक या भोक्ता) होता है। आत्मा (ही) सुप्रवृत्त (सदाचारी) व दुष्प्रवृत्त (दुराचारी) मित्र या अमित्र होता है।"

३८. "(राजन्!) एक और दूसरी अनाथता यह है, उसे शान्त व एकाग्र चित्त होकर सुनें। जैसे कुछ एक कायर (संयम में उत्साह-हीन) व्यक्ति निर्ग्रन्थ-धर्म को प्राप्त करके भी दुःखी (या शिथिलाचारी) होते हैं।"

मूल : **जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।**
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधणं से ।। ३९ ।।

संस्कृत : यः प्रव्रज्य महाव्रतानि, सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात् ।
अनिगृहीतात्मा च रसेषु गृद्धः, न मूलतः छिनत्ति बन्धनं सः ।। ३९ ।।

मूल : **आउत्तया जस्स न अत्थि काइ, इरियाए भासाए तहेसणाए ।**
आयाण-निक्खेव-दुगुंछणाए, न वीर-जायं अणुजाइ मग्गं ।। ४० ।।

संस्कृत : आयुक्तता यस्य नास्ति काऽपि, ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम् ।
आदान-निक्षेप-जुगुप्सनाया, न वीरयातमनुयाति मार्गम् ।। ४० ।।

मूल : **चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे ।**
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ।। ४१ ।।

संस्कृत : चिरमपि स मुण्डरुचिर्भूत्वा, अस्थिरव्रतस्तपो-नियमेभ्यो भ्रष्टः ।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा, न पारगो भवति खलु सम्परायस्य ।। ४१ ।।

मूल : **पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयंतिए कूडकहावणे वा ।**
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ।। ४२ ।।

संस्कृत : पोल्लेव (सुषिरैव) मुष्टिर्यथा स असारः, अयंत्रितः कूट-कार्षापण इव ।
राढामणिर्वैडूर्य-प्रकाशः, अमहार्घको भवति खलु ज्ञेषु (ज्ञायकेषु) ।। ४२ ।।

मूल : **कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय-वूहइत्ता ।**
असंजए संजय-लप्पमाणे, विणिग्घायमागच्छइ से चिरं पि ।। ४३ ।।

संस्कृत : कुशीललिंगमिह धारयित्वा, ऋषिध्वजं जीविकं बृंहयित्वा ।
असंयतः संयतं (इति) लपन्, विनिघातमागच्छति स चिरमपि ।। ४३ ।।

मूल : **विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।**
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ।। ४४ ।।

संस्कृत : विषं तु पीतं यथा कालकूटं, हन्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम् ।
एषोऽपि धर्मो विषयोपपन्नः, हन्ति वेताल इवाविपन्नः ।। ४४ ।।

३९. "जो प्रव्रजित होकर महाव्रतों का प्रमादवश अच्छी तरह (स्पर्श) पालन नहीं करता, अपनी आत्मा का निग्रह नहीं कर पाता और रसों (सांसारिक सुखों) में आसक्त रहता है (वह) (रागादि या कर्म-रूप) बन्धन का मूलतः उच्छेद नहीं कर पाता।"

४०. "ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और जुगुप्सना (अर्थात् उच्चार व प्रस्रवण की परिष्ठापना) में जिसकी कुछ भी सजगता नहीं होती, वह (उस) मार्ग का-जिस पर वीर पुरुष चला करते हैं- अनुगमन नहीं कर सकता।"

४१. "चिरकाल तक (मात्र) मुण्डन में रुचि रखकर और चिरकाल तक आत्मा को कष्ट (काय-क्लेशमात्र) देकर भी, (यदि कोई) व्रतों में अस्थिर एवं तप-नियमों से भ्रष्ट हो, (तो वह) निश्चय ही संसार को पार करने वाला नहीं हो सकता।"

४२. "जिस प्रकार पोली मुट्ठी (सारहीन) होती है, उस तरह जो असार (सारहीन) होता है, खोटे कार्षापण (सिक्के) की तरह जो अनियन्त्रित (अमान्य) होता है, वह (द्रव्यलिंगी मुनि) वैडूर्य जैसी, मात्र चमक रखने वाली काँच-मणि की तरह जानकारों (परीक्षकों) की दृष्टि में मूल्यहीन (या अल्पमूल्य वाला ही) होता है।"

४३. "(जो) कुशील (आचार-हीन व्यक्ति) साधुओं के वेश तथा ऋषि-ध्वज (रजोहरण आदि मुनि - चिन्ह) को धारण कर उनसे आजीविका चलाता है, असंयत होकर भी (स्वयं को) संयमी कहता है, वह चिरकाल तक (नरक गति आदि) विनाश को प्राप्त होता है।"

४४. "जिस प्रकार पिया हुआ 'कालकूट' विष और अनुचित रीति से (या उलटे रूप से) पकड़ा हुआ शस्त्र (और) वशीभूत नहीं किया हुआ वेताल (पिशाच), घातक होते हैं, उसी प्रकार विषय-वासना से युक्त होने पर यह (निर्ग्रन्थ) धर्म (भी विनाशकारी) होता है।"

मूल : जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे, निमित्त-कोऊहल-संपगाढे ।
कुहेड-विज्जासवदार-जीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले ।। ४५ ।।

संस्कृत : यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः, निमित्त-कौतूहल-सम्प्रगाढः ।
कुहेट-विद्याऽऽस्रवद्वार-जीवी, न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ।। ४५ ।।

मूल : तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियामुवेइ ।
संधावई नरग-तिरिक्ख-जोणिं, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ।। ४६ ।।

संस्कृत : तमस्तमसैव तु स अशीलः, सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
सन्धावति नरक-तिर्यग्योनीः, मौनं विराध्याऽसाधुरूपः ।। ४६ ।।

मूल : उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता, इतो चुओ गच्छइ कट्टु पावं ।। ४७ ।।

संस्कृत : औद्देशिकं क्रीतकृतं नियागं, न मुञ्चति किंचिदनेषणीयम् ।
अग्निरिवसर्वभक्षी भूत्वा, इतश्च्युतो (दुर्गतिं) गच्छति कृत्वा पापम् ।। ४७ ।।

मूल : न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ।। ४८ ।।

संस्कृत : न तदरिः कण्ठछेत्ता करोति, यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता ।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः, पश्चादनुतापेन दयाविहीनः ।। ४८ ।।

मूल : निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवियासमेइ ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए, दुहओ वि से झिज्झइ तत्थ लोए ।। ४९ ।।

संस्कृत : निरर्थिका नाग्न्यरुचिस्तु तस्य, य उत्तमार्थे विपर्यासमेति ।
अयमपि तस्य नास्ति परोऽपि लोकः, द्विधाऽपि स क्षीयते तत्र लोके ।। ४९ ।।

४५. "जो (मुनि) लक्षण शास्त्र व स्वप्न शास्त्र का (जीविका हेतु) प्रयोग करता है, निमित्तशास्त्र तथा कौतुकपूर्ण प्रयोगों में आसक्त रहता है तथा (कर्मों के) आस्रव की द्वार-भूत (या कारणभूत) कुहेट-विद्याओं (मिथ्या आश्चर्य पैदा करने वाली मंत्र-तन्त्र व जादूगरी आदि) से जीविका चलाता है, वह उस (निन्द्य कर्म से सम्बन्धित फल भोग के) समय में (किसी रक्षक की) शरण प्राप्त नहीं कर सकता।"

४६. "वह शील-रहित (मुनि) घोर (अज्ञान रूपी) अन्धकार के कारण सर्वदा दुःखी होकर, विपरीत दृष्टि को प्राप्त करता है। वह असाधु (असंयमी) स्वरूप वाला मुनि धर्म की विराधना कर नरक व तिर्यंच योनियों में निरन्तर दौड़ता (आवागमन करता) रहता है।"

४७. "(उक्त दुःशील मुनि) औद्देशिक (साधु के लिए बने हुए) क्रीत-कृत (खरीद कर प्रदत्त) नियाग (विशेष आमंत्रित कर प्रदत्त आहार को तथा अन्य) अनेषणीय (अग्राह्य आहार) को किंचित् मात्र (भी) नहीं छोड़ता, (वह) अग्नि की भांति सर्वभक्षी होकर, एवं पाप (अर्जित) कर यहां से मर कर (दुर्गतियों में) जाता है।"

४८. "उस (कुशील मुनि) की स्वयं की दुरात्मता (दुराचारी आत्मा) जो (हानि) करती है, वैसी (हानि) गला काटने वाला शत्रु (भी) नहीं कर पाता (उक्त तथ्य को) वह दया (संयम आदि धर्म) से रहित (दुरात्मा) मृत्यु के मुख में पहुंच कर (मात्र) पश्चाताप के साथ, जान पाएगा।"

४९. "उस (असंयमी) की नग्नता (मुनि-चर्या) में रुचि निरर्थक (ही) है, जो उत्तम अर्थ (मोक्ष या अन्तिम समय की आराधना) के विषय में विपरीत बुद्धि रखने लगता है उसके लिए न तो यह लोक (सार्थक) है और न ही परलोक, उन (दोनों) लोकों में वह (निरन्तर चिन्तनीय स्थिति के कारण) क्षीण होता रहता है।"

मूल : एमेव ऽहाच्छंद-कुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परियावमेइ ।।५०।।

संस्कृत : एवमेव यथाच्छन्द-कुशीलरूपः, मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम्।
कुररीव भोगरसाऽनुगृद्धा, निरर्थ-शोका परितापमेति ।।५०।।

मूल : सुच्चाण मेहावि सुभासियं इमं, अणुसासणं नाण-गुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियंठाण वए पहेणं ।।५१।।

संस्कृत : श्रुत्वा मेधावी सुभाषितमिदं, अनुशासनं ज्ञानगुणोपपेतम्।
मार्गं कुशीलानां हित्वा सर्वं, महानिर्ग्रन्थानां व्रजेत् पथा ।।५१।।

मूल : चरित्तमायार-गुणन्निए तओ, अणुत्तरं संजम पालियाणं।
निरासवे संखवियाण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ।।५२।।

संस्कृत : चारित्राचार-गुणान्वितस्ततः, अनुत्तरं संयमं पालयित्वा।
निरास्रवः संक्षपय्य कर्म, उपैति स्थानं विपुलोत्तमं ध्रुवम् ।।५२।।

मूल : एवुग्गदंते वि महातवोधणे, महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियंठिज्जमिणं महासुयं, से काहए महया वित्थरेणं ।।५३।।

संस्कृत : एवमुग्रदान्तोऽपि महातपोधनः, महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुतं, सोऽचीकथत् महता विस्तरेण ।।५३।।

मूल : तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली।
अणाहयं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ।।५४।।

संस्कृत : तुष्टश्च श्रेणिको राजा, इदमुदाह कृताञ्जलिः।
अनाथत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ।।५४।।

मूल : तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं, लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी!
तुब्भे सणाहा य सबंधवा य, जं भे ठिया मग्गि जिणुत्तमाणं ।।५५।।

संस्कृत : तव सुलब्धं खलु मनुष्यजन्म, लाभा सुलब्धाश्च त्वया महर्षे!
यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च, यद् भवन्तः स्थिता मार्गे जिनोत्तमानाम् ।।५५।।

५०. "इसी तरह यथेच्छ (स्वच्छन्द) व कुशील स्वरूप वाला (वह साधु) जिनश्रेष्ठ (भगवन्तों) के मार्ग की विराधना कर, उसी प्रकार सन्ताप को प्राप्त होता है, जिस प्रकार भोग-रसों (मांस-पिण्ड) में आसक्त एवं निरर्थक शोक करने वाली कुररी (गीध) पक्षिणी (अपने मुख में रखे मांस-पिण्ड को बलात् दूसरे पक्षियों द्वारा झपट लेते देखकर, असहाय हो) सन्ताप को प्राप्त होती है।"

५१. "मेधावी इस सुभाषित (सुवचन) को तथा ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर, कुशील (साधुओं) के समस्त मार्गों को छोड़कर महानिर्ग्रन्थों के मार्ग का अनुसरण करें।"

५२. "इस (निर्ग्रन्थ मार्ग का आश्रय लेने) के बाद, चारित्र की आराधना रूप गुण से (या चारित्राचार व ज्ञानादि गुण से) सम्पन्न होकर अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) संयम ('यथाख्यात चारित्र' रूप धर्म) का पालन कर तथा (कर्मों के) आस्रव से रहित हो कर्मक्षय कर (निर्ग्रन्थ मुनि) विपुल (विस्तृत) व उत्तम ध्रुव-स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करता है।"

५३. इस प्रकार उग्र-जितेन्द्रिय महातपोधन, महाप्रतिज्ञ (अत्यन्त दृढ़व्रती) महायशस्वी उस (अनाथी) महामुनि ने इस महानिर्ग्रन्थीय 'महाश्रुत' (महनीय शास्त्र व 'अध्ययन') को बड़े विस्तार से कहा है।

५४. और राजा श्रेणिक ने सन्तुष्ट होकर दोनों हाथ जोड़े हुए यह कहा- "(भगवन्! आपने) अनाथता (के स्वरूप) को यथार्थ रूप में अच्छी तरह मुझे समझा दिया है।"

५५. "हे महर्षि! आपका मनुष्य जन्म सुलब्ध (सार्थक यथार्थ रूप से सफल) हुआ है, आपने जो (यथार्थ) लाभ प्राप्त किया है, वह (भी उत्तरोत्तर गुण-वृद्धि के कारण)सुलब्ध (सार्थक) है। आप (ही वस्तुतः) 'सनाथ' और 'सबान्धव' हैं, क्योंकि आप जिनोत्तम (जिनेश्वर) के मार्ग में स्थित हैं।"

मूल : तंसि नाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया!
खामेमि ते महाभाग! इच्छामि अणुसासिउं ।।५६।।

संस्कृत : त्वमसि नाथोऽनाथानां, सर्वभूतानां संयत!
क्षमयामि त्वां महाभाग!, इच्छाम्यनुशासयितुम् ।।५६।।

मूल : पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो य जो कओ।
निमंतिया य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ।।५७।।

संस्कृत : पृष्ट्वा मया तव, ध्यानविघ्नस्तु यः कृतः।
निमंत्रितश्च भोगैः, तत् सर्वं मर्षय मे ।।५७।।

मूल : एवं थुणित्ताण स रायसीहो, अणगारसीहं परमाइ भत्तिए।
सओरोहो सपरियणो सबंधवो, धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ।।५८।।

संस्कृत : एवं स्तुत्वा स राजसिंहः, अनगारसिंहं परमया भक्त्या।
सावरोधः सपरिजनः सबान्धवः, धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा ।।५८।।

मूल : ऊससिय-रोमकूवो, काऊण य पयाहिणं।
अभिवंदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ।।५९।।

संस्कृत : उच्छ्वसित -रोमकूपः, कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।
अभिवन्द्य शिरसा, अतियातो नराधिपः ।।५९।।

मूल : इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुहं विगयमोहो ।।६०।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : इतरोऽपि गुणसमृद्धः, त्रिगुप्ति-गुप्तस्त्रिदण्डविरतश्च।
विहग इव विप्रमुक्तः, विहरति वसुधां विगतमोहः ।।६०।।
इति ब्रवीमि।

५६. "हे संयत (मुने)! आप अनाथों के तथा समस्त प्राणियों के नाथ हो। हे महाभाग! मैं आपसे क्षमा मांगता हूं और आपसे अनुशासित होना (धर्म मार्ग की शिक्षा प्राप्त करना) चाहता हूं।"

५७. "मैंने आपसे प्रश्न कर (आपके) ध्यान में जो विघ्न किया और भोगों के (सेवन) हेतु निमंत्रित किया मेरे उस सब (अपराध) को आप क्षमा करें।"

५८. इस प्रकार वह राजसिंह (श्रेणिक) परम भक्ति से अनगार-सिंह (अनाथी मुनि) की स्तुति कर निर्मल मन से अपने अन्तःपुर (रानियों) व परिजनों के साथ धर्म के प्रति अनुरक्त (श्रद्धालु) हो गया।

५९. (उस समय) राजा के रोम-कूप (आनन्द से) उल्लसित हो रहे थे। वह प्रदक्षिणा करके, तथा (अन्त में) सिर झुकाकर, वन्दना कर (वापिस) लौट गया।

६०. और अन्य (अर्थात् अनाथी मुनि) भी (मुनि योग्य सत्ताईस) गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से सुरक्षित, तीन दण्डों से विरत, मोह (ममत्व आदि) से रहित एवं पक्षी की भांति विप्रमुक्त (अप्रतिबद्ध विहारी) होकर, भूतल पर विचरण करने लगे।

-ऐसा मैं कहता हूं।

❑❑

अध्ययन–सार :

वन-विहार करते-करते राजा श्रेणिक की दृष्टि एक ध्यानस्थ मुनि पर गई। मुनि से उनके श्रमण-जीवन अंगीकार करने का कारण जानना चाहा। मुनि ने मुनि बनने के पीछे अपनी अनाथता को कारण बताया। राजा श्रेणिक ने मुनि को उनकी अनाथता दूर करने का आश्वासन देते हुए उनके समक्ष विविध राजकीय सुख-भोग भोगने का प्रस्ताव रखा। मुनि ने कहा–राजन् आप स्वयं अनाथ हैं, फिर मेरे नाथ कैसे बन सकते हैं?' राजा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने अनाथ होने का कारण पूछा। मुनि ने बताया–

मैं कौशाम्बी नगरी के प्रतिष्ठित धनाढ्य परिवार में जन्मा था। विवाह भी मेरा उच्च कुल में हुआ था। समस्त सुख-सुविधा मुझे उपलब्ध थी, किन्तु एकाएक मैं असह्य अक्षि-रोग से ग्रस्त हो गया। चिकित्साओं तथा मंत्रादि का प्रयोग किया गया, किन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। माता-पिता, भाई-बहिन, पतिव्रता पत्नी आदि पारिवारिक जनों का स्नेह तथा चिकित्सा हेतु अपार धन व्यय–ये मुझे वेदना से मुक्ति नहीं दिला सके। भला इससे बढ़ कर मेरी अनाथता क्या हो सकती थी? तब मन में विचार जागा–काश! एक बार भी इस वेदना से मुक्ति मिलती, तो मैं अनगार मुनि बन जाता। सोचते-सोचते नींद आ गई। रात बीतते-बीतते मेरी रोग-वेदना शान्त होती गई। प्रातःकाल तक मैं स्वस्थ हो गया था। पूर्व-संकल्प के अनुसार मैं प्रव्रजित हुआ। अब मैं सभी जीवों का रक्षक अर्थात् 'सनाथ' हो गया था।

'अनाथ' व्यक्ति औरों को तो क्या, स्वयं को भी संसार-सागर से पार नहीं करा सकता। साधु-जीवन में अनेक अमर्यादित आचरणों से वह खोटे सिक्के की तरह अपनी अप्रामाणिकता, तथा खाली मुट्ठी की तरह अपनी निस्सारता ही सिद्ध करता है। उसकी दुष्प्रवृत्तिशील आत्मा ही उसके स्वयं के लिए दुर्गतिदायक सिद्ध होती है और उसके दुष्परिणामों से स्वयं को बचाने में वह असमर्थ-'अनाथ' रहता है।

महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि के वचनों को सुनकर राजा श्रेणिक ने अनाथ-सनाथ के अन्तर को समझा और श्रद्धा व भक्ति-भाव से सर झुकाया।

अनाथी मुनि शुद्ध संयम साकार करते हुए विचरने लगे।

❑❑

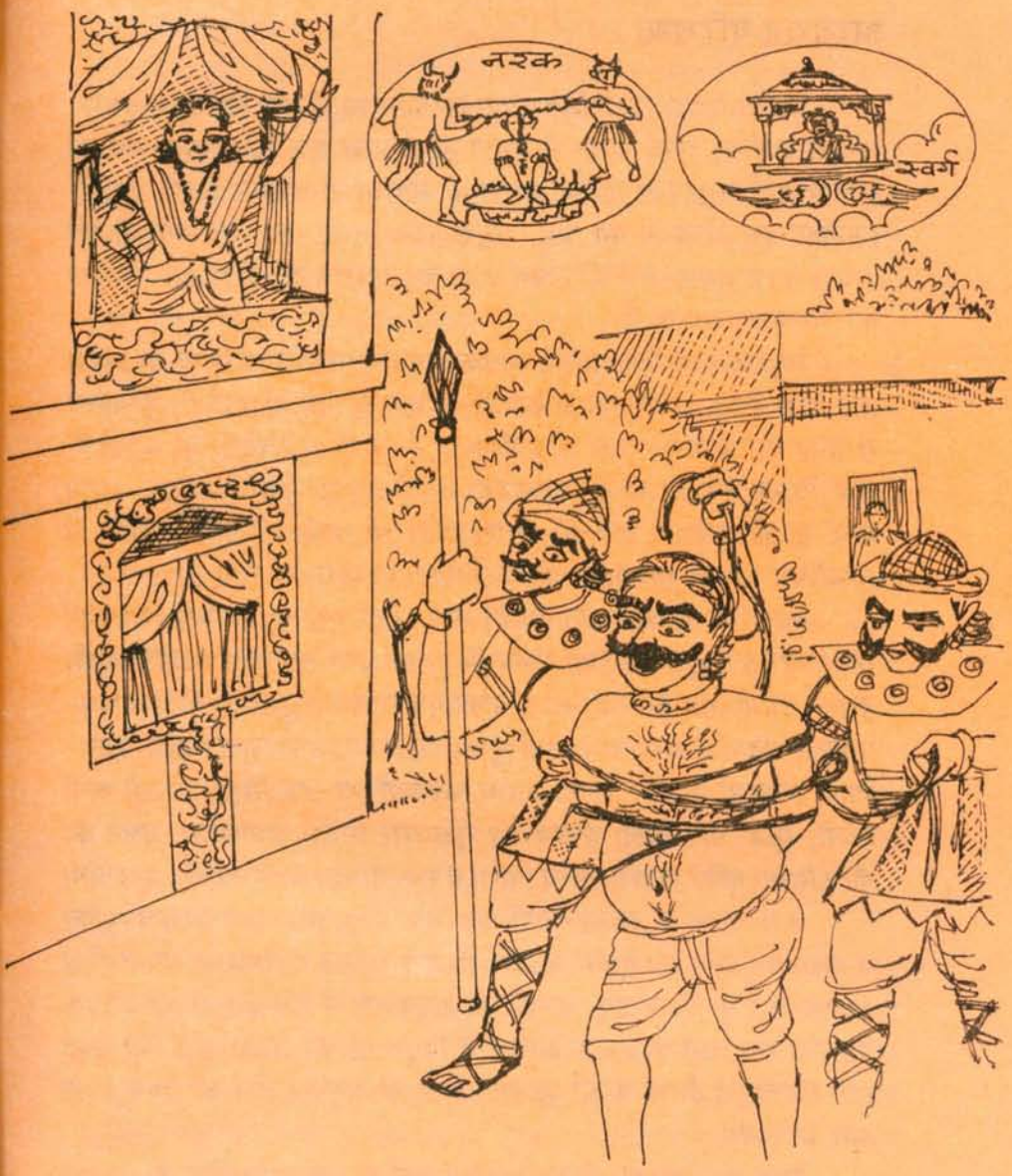

अध्ययन–21

समुद्रपालीय

अध्ययन परिचय

चौबीस गाथाओं से निर्मित प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–श्रमण-धर्म के कर्त्तव्य। उनके पालन से श्रमण मुक्ति प्राप्त करता है। श्रमण-धर्म का स्वरूप यहाँ समुद्रपाल नामक श्रमण के माध्यम से उजागर किया गया है। इसीलिए इस अध्ययन का नाम 'समुद्रपालीय' रखा गया। भवसागर से पार उतारने वाली श्रमण-धर्म की समर्थ नौका का विवेचन होने से भी इस अध्ययन का नामकरण सार्थक है।

समुद्रपाल के पिता पालित श्रावक भगवान् महावीर के शिष्य थे। इस से ज्ञात होता है कि धर्माराधना से आत्मा का कल्याण तो होता ही है, पुण्यबन्ध से समुद्रपाल जैसा पुत्र-रत्न भी प्राप्त होता है। ऊर्जस्वी सम्बन्ध भी मिलते हैं। कर्म-विज्ञान जैन धर्म का मूल आधार है। उसके अनुसार सुख-दुःख शुभ-अशुभ कर्मों के ही परिणाम होते हैं। शरीर-प्राप्ति भी कर्म-परिणाम है। शरीर से सम्बन्धित समस्त सांसारिक संयोग-वियोग भी कर्म-परिणाम हैं।

कारण हो तो कार्य होता ही है। कर्म हों तो सुख-दुःख मिले बिना नहीं रहते। पालित ने शुभ कर्मों का संचय किया था। उन्हें संपत्ति और कीर्ति मिली। उसकी शोभा और अधिक बढ़ाने वाला पुत्र मिला। समुद्रपाल भी पुण्योदय-परक स्थितियों से सम्पन्न थे। उन्हें सुन्दर देह मिली। उच्च कुल मिला। वैभव-शाली संस्कारी परिवार मिला। बहत्तर कलाओं का ज्ञान मिला। रूपसी पत्नी मिली। सुख-भोग मिले। वैराग्य का सुअवसर मिला। श्रमणाचार पालन का गौरव मिला। मुक्ति का परम लक्ष्य मिला। ये सब परिणाम थे। कारण थे– शुभ कर्म।

कर्म आत्मा के स्वभाव नहीं, पर-भाव हैं। मनुष्य-जन्म परभाव-मुक्ति व स्वभाव-प्राप्ति का दुर्लभ अवसर है। इसे पालित ने पहचाना था। तभी वे श्रावक व प्रभु-शिष्य हुए। उनके पुत्र समुद्रपाल ने इसे उन से भी अधिक पहचाना था। तभी वे श्रमण-आचार में निपुण हो कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। महत्त्वपूर्ण है–सत्य की पहचान। सत्य के अनुरूप जीने की प्रबल इच्छा और सामर्थ्य।

सत्य के अनुरूप जीना ही श्रमण-धर्म है। सम्यक् चारित्र है। सम्यक् चारित्र साधने वाला भव्य जीव साधु है। शरीर को साधना का साधन मान उसके निर्वाह हेतु निर्दोष भिक्षाजीवी भिक्षु है। संचय और अहंकार से सदैव दूर रहने वाला भिक्षु, जितेन्द्रिय धर्म-साधक संयमी है। मन-वचन-काया को विवेक से नियंत्रित करने वाला संयत है। पापों से सर्वदा पूर्णतः अलग रहने

वाला विरत है। संयम व तप में श्रम करने वाला श्रमण है। ममत्व-परत्व की ग्रंथियों से मुक्त रहने वाला निर्ग्रन्थ है। सत्य व शान्ति का साकार रूप सन्त है। संसार व शरीर, दोनों के घरों से मोह विसर्जित करने वाला अनगार है।

अनगार का धर्म क्या है? वह किन मूल्यों के लिये जीता है? क्यों जीता है? अपने मूल्यों के लिये जीने में जब अन्तर्बाह्य कठिनाइयाँ आती हैं तो क्या करता है? कैसे उनका सामना करता है? मान-अपमान की विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न होने पर उसका व्यवहार कैसा होता है? विभिन्न जीवों के प्रति वह कैसा भाव रखता है? संसार का उसके जीवन में क्या स्थान है? श्रमण-धर्म का स्वरूप क्या है? सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने के लिये जीवन का कौन सी विशेषताओं से परिपूर्ण होना आवश्यक है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर इस अध्ययन में प्राप्त होते हैं।

समुद्रपाल की कथा धर्म-कथा है। कर्म-विज्ञान इसका आधार है। जिन कर्मों के परिणाम स्वरूप पालित को समुद्रपाल और समुद्रपाल को पालित प्राप्त हुए, उनका प्रत्यक्ष वर्णन यद्यपि यहाँ नहीं किया गया है परन्तु कर्म-विज्ञान की कारण-कार्य-शृंखला सहजता से उनका संकेत कर देती है। बता देती है कि उसकी पृष्ठभूमि में वे हैं। समुद्रपाल का वैराग्य उनके परम सार्थक जीवन के साथ-साथ इस अध्ययन की आधारभूत घटना भी है। यह घटना कर्म-फल व कर्म-प्रक्रिया के विषय में समुद्रपाल के गहन-गम्भीर चिन्तन-मनन के कारण सम्भव हुई। इसी मनन के परिणामस्वरूप वे मुनि हुए। उनके मुनि हो जाने पर मुनित्व की सारगर्भित विवेचना हुई। मुनित्व से वे मुक्ति तक पहुँचे। इस यात्रा की धर्म-कथा से अनेक हो चुके, हो रहे और होने वाले भव्य जीवों के लिये मुक्ति की राह उजागर हुई।

परदेस में एक श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री का विवाह पालित के गुणों के आधार पर उस से कर दिया। उस समय गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। समुद्रपाल की पत्नी 'रूपिणी' चौंसठ कला सम्पन्न थी। उस समय स्त्री-शिक्षा पर ध्यान देना गौरव की बात थी। समुद्रपाल ने मृत्यु-दण्ड प्राप्त अपराधी के दुष्कर्म की घोषणा व उसकी धिक्कार-यात्रा देखी। उस समय की न्याय-व्यवस्था अपराधों या दुष्कर्मों के प्रति घृणा का प्रबल-भाव उत्पन्न करती थी।

भगवान् महावीर के समय की सामाजिकता के साथ-साथ श्रेष्ठतम जीवन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने जीवन का श्रेष्ठतम निर्माण स्वयं करने की प्रेरणा देने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं

(अथ समुद्रपालीयमेकविंशमध्ययनम्)

मूल : **चम्पाए पालिए नाम, सावए आसि वाणिए।**
महावीरस्स भगवओ, सीसो सो उ महप्पणो ।।१।।

संस्कृत : चम्पायां पालितो नाम, श्रावक आसीद् वाणिजः।
महावीरस्य भगवतः, शिष्यः स तु महात्मनः ।।१।।

मूल : **निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए।**
पोएण ववहरंते, पिहुंडं नगरमागए ।।२।।

संस्कृत : नैर्ग्रन्थे प्रवचने, श्रावकः सोऽपि कोविदः।
पोतेन व्यवहरन्, पिहुण्डं नगरमागतः ।।२।।

मूल : **पिहुण्डे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं।**
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ।।३।।

संस्कृत : पिहुण्डे व्यवहरते, वणिक् ददाति दुहितरम्।
तां ससत्त्वां प्रतिगृह्य, स्वदेशमथ प्रस्थितः ।।३।।

मूल : **अह पालियस्स घरणी, समुद्दम्मि पसवई।**
अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालित्ति नामए ।।४।।

संस्कृत : अथ पालितस्य गृहिणी, समुद्रे प्रसूते।
अथ दारकस्तस्मिन् जातः, समुद्रपाल इति नामतः ।।४।।

मूल : **खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं।**
संवड्ढई घरे तस्स, दारए से सुहोइए ।।५।।

संस्कृत : क्षेमेणागतश्चम्पां, श्रावको वाणिजो गृहम्।
संवर्द्धते गृहे तस्य, दारकः स सुखोचितः ।।५।।

इक्कीसवां अध्ययन : समुद्रपालीय

१. चम्पा (नगरी) में 'पालित' नाम का (एक) वणिक् श्रावक (रहता) था। वह महात्मा (विराट् पुरुष) भगवान् महावीर का शिष्य (प्रतिबोधित गृहस्थ) था।

२. वह श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशिष्ट ज्ञाता था। (एक बार) जल-यान से विहार करते हुए (वह) व्यापार हेतु 'पिहुण्ड' (नामक) नगर में आया।

३. पिहुण्ड (नगर) में व्यापार करते हुए, उस (पालित) को (एक) वणिक् ने (अपनी) कन्या (पत्नी के रूप में) दी। कुछ समय बाद, वह (अपनी उस) गर्भवती (पत्नी) को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थित हुआ।

४. 'पालित' (श्रावक) की धर्मपत्नी ने समुद्र में बालक को जन्म दिया। तदनन्तर, वह बालक वहां (समुद्र में) उत्पन्न हुआ था, (इसलिए उसका) 'समुद्रपाल' नाम रखा गया।

५. (वह 'पालित' नामक) वणिक् श्रावक सकुशल (अपने) घर 'चम्पा' (नगरी) में आ गया। उसके घर में वह (बालक) सुखोचित (रीति से) बढ़ने लगा।

मूल : बावत्तरी कलाओ य, सिक्खिए नीइकोविए।
जोव्वणेण य संपन्ने, सुरूवे पियदंसणे ।। ६ ।।

संस्कृत : द्वासप्तति-कलाश्च, शिक्षते नीति-कोविदः।
यौवनेन च सम्पन्नः, सुरूपः प्रियदर्शनः ।। ६ ।।

मूल : तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुन्दगो जहा ।। ७ ।।

संस्कृत : तस्य रूपवतीं भार्यां, पिताऽऽनयति रूपिणीम्।
प्रासादे क्रीडति रम्ये, देवो दोगुन्दको यथा ।। ७ ।।

मूल : अह अन्नया कयाई, पासायालोयणे ठिओ।
वज्झ-मंडण-सोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं ।। ८ ।।

संस्कृत : अथाऽन्यदा कदाचित्, प्रासादालोकने स्थितः।
वध्य-मण्डन-शोभाकं, वध्यं पश्यति वध्यगम् ।। ८ ।।

मूल : तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुहाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ।। ९ ।।

संस्कृत : तं दृष्ट्वा संविग्नः, समुद्रपाल इदमब्रवीत्।
अहोऽशुभानां कर्मणां, निर्याणं पापकमिदम् ।। ९ ।।

मूल : संबुद्धो सो तहिं भगवं, परं संवेगमागओ।
आपुच्छऽम्मापियरो, पव्वए अणगारियं ।। १० ।।

संस्कृत : सम्बुद्धः स तत्र भगवान्, परं संवेगमागतः।
आपृच्छ्याऽम्बा-पितरौ, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ।। १० ।।

मूल : जहित्तु संगं च महाकिलेसं, महंतमोहं कसिणं भयावहं।
परियाय-धम्मं चऽभिरोयएज्जा, वयाणि सीलाणि परीसहे य ।। ११ ।।

संस्कृत : हित्वा संगं च महाक्लेशं, महामोहं कृत्स्नं भयावहम्।
पर्यायधर्मं चाऽभिरोचयेत्, व्रतानि शीलानि परीषहांश्च ।। ११ ।।

६. (उस बालक ने) बहत्तर कलाएं सीख लीं। (वह) नीतिशास्त्र का विद्वान् बन गया था, तथा यौवन-सम्पन्न होकर देखने में प्रिय एवं सुरूप लगने लगा।

७. (उसे विवाह-योग्य जानकर) पिता उस (समुद्रपाल) के लिए 'रूपिणी' (नाम की) रूपवती भार्या ले आए। (वह) 'दोगुन्दक' देव की तरह सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

८. तदनन्तर, कभी एक दिन, प्रासाद के झरोखे में बैठे हुए उसने 'वध्य' (मृत्यु-दण्ड प्राप्त व्यक्ति) के योग्य 'मण्डनों' (लाल कपड़े आदि चिन्हों) से अलंकृत एक वध्य (मृत्यु-दण्ड प्राप्त अपराधी) को (राजपुरुषों द्वारा) बाहर (वध-स्थल की ओर) ले जाते हुए देखा।''

९. उस (अपराधी) को देख कर, समुद्रपाल संवेग (विरक्ति-भाव) से युक्त होकर (मन ही मन) यह कहने लगा-''अहो! यह (इसके) अपने अशुभ कर्मों का पाप-रूप (कैसा दुःखद) परिणाम है!''

१०. वहां (झरोखे में) वह भगवान् (वैराग्य, ज्ञान आदि से सम्पन्न महान् आत्मा समुद्रपाल) परम संवेग (वैराग्य) को प्राप्त होकर, संबोधि-युक्त हो गया। वह माता-पिता से पूछ कर (उनकी अनुमति से) 'अनगारता' (मुनि-चर्या) हेतु प्रव्रजित हो गया।

११. (दीक्षित होने पर समुद्रपाल के मन में (स्वयं) आदर्श मुनि-चर्या का स्वरूप इस प्रकार स्फुरित हुआ, और जिसको उसने अपने जीवन में क्रियान्वित किया)
मुनि महान् क्लेशप्रद, महामोह-जनक व भयंकर समस्त आसक्ति को छोड़ कर, पर्याय-धर्म (चारित्र-धर्म) में, व्रतों में, शील-पालन में, तथा परीषहों (के सहन करने) में अभिरुचि रखे।

मूल : अहिंस-सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच-महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ।।१२।।

संस्कृत : अहिंसां सत्यं चाऽस्तेनकं च, ततश्च ब्रह्माऽपरिग्रहं च।
प्रतिपद्य पंच-महाव्रतानि, चरेद् धर्मं जिनदेशितं विद्वान् ।।१२।।

मूल : सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजय-बंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ।।१३।।

संस्कृत : सर्वेषु भूतेषु दयाऽनुकम्पी, क्षान्ति-क्षमः संयतो ब्रह्मचारी।
सावद्ययोगं परिवर्जयन्, चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः ।।१३।।

मूल : कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे, बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा, वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ।।१४।।

संस्कृत : कालेन कालं विहरेत् राष्ट्रे, बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च।
सिंह इव शब्देन न संत्रस्येत्, वाग्योगं श्रुत्वा नाऽसभ्यं आह ।।१४।।

मूल : उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थ ऽभिरोयएज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए ।।१५।।

संस्कृत : उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्, प्रियमप्रियं सर्वं तितिक्षेत्।
न सर्वं सर्वत्राऽभिरोचयेत्, न चापि पूजां गर्हां च संयतः ।।१५।।

मूल : अणेगछंदा इह माणवेहिं, जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भय-भेरवा तत्थ उइंति भीमा, दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ।।१६।।

संस्कृत : अनेकच्छन्दांसीह मानवेषु, यानू भावतः सम्प्रकरोति भिक्षुः।
भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः, दिव्या मानुष्या अथवा तैरश्चाः ।।१६।।

मूल : परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयंति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए, संगामसीसे इव नागराया ।।१७।।

संस्कृत : परीषहा दुर्विषहा अनेके, सीदन्ति यत्र बहुकातरा नराः।
स तत्र प्राप्तो न व्यथेत् भिक्षुः, संग्रामशीर्ष इव नागराजः ।।१७।।

१२. अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह (इन) पांच महाव्रतों को अंगीकार कर, विद्वान् (तत्वज्ञ मुनि) जिन-उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३. भिक्षु सभी प्राणियों के प्रति (हितोपदेश-प्रदान रूप) दया अनुकम्पा करने वाला, 'क्षमा' भाव से सहनशील, संयत, ब्रह्मचारी, तथा इन्द्रियों का सम्यक् संवरण करने वाला हो (और वह) सावद्य 'योग' (पापकारी प्रवृत्तियों) का त्याग करते हुए विचरण करे।

१४. (मुनि) अपने सामर्थ्य-असामर्थ्य को समझकर, यथासमय समयोचित (मुनि-चर्या का पालन करते हुए) राष्ट्र में विचरण करे। सिंह की तरह (किसी भयोत्पादक) शब्द से संत्रस्त न हो, और वाग्योग (कुवचनों) को सुनकर (भी) असभ्यतापूर्ण न बोले।

१५. (मुनि अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में) उपेक्षा-भाव से विचरण करे। प्रिय व अप्रिय-सभी (परीषहों) को (समभाव से) सहन करता रहे। सर्वत्र सभी (वस्तुओं) की अभिलाषा न रखे, और संयत होकर पूजा व निन्दा पर अपनी रुचि (या ध्यान) न रखे।

१६. इस संसार में मनुष्यों के विविध प्रकार के अभिप्राय (छन्द) हुआ करते हैं, जिन्हें भिक्षु (भी स्वयं में) भाव रूप में सम्यक्तया ग्रहण करता है अथवा जानता है। देवों, मनुष्यों अथवा तिर्यञ्चों के (द्वारा उत्पादित) भयजनक व अतिरौद्र (उपसर्ग भी) प्रकट होते हैं (उन्हें मुनि सहन करे)।

१७. (संयम मार्ग में) अनेक दुस्सह उपसर्ग होते हैं, जहां बहुत-से कायर व्यक्ति खिन्न (व आचार-शिथिल) हो जाते हैं, किन्तु (सच्चा) भिक्षु, उन्हें प्राप्त कर, संग्राम में अग्रणी रहने वाले हस्तिराज की भांति व्यथित (विचलित) नहीं होता।

मूल : **सीओसिणा दंसमसगा य फासा, आयंका विविहा फुसंति देहं ।**
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ।।१८।।

संस्कृत : शीतोष्णा दंश-मशकाश्च स्पर्शाः, आतंका विविधाः स्पृशन्ति देहम् ।
अकुत्कुचस्तत्राधिसहेत, रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ।।१८।।

मूल : **पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे ।**
मेरुव्व वाएण अकंपमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ।।१९।।

संस्कृत : प्रहाय रागं च तथैव दोषं, मोहं च भिक्षुः सततं विचक्षणः ।
मेरुरिव वातेनाकम्पमानः, परीषहान् आत्मगुप्तः सहेत ।।१९।।

मूल : **अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरहं च संजए ।**
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ।।२०।।

संस्कृत : अनुन्नतो नावनतो महर्षिः, न चाऽपि पूजां गर्हां च संयतः ।
स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः, निर्वाणमार्गं विरत उपैति ।।२०।।

मूल : **अरइ-रइ-सहे पहीण-संथवे, विरए आयहिए पहाणवं ।**
परमट्ट-पएहिं चिट्ठई, छिन्न-सोए अममे अकिंचणे ।।२१।।

संस्कृत : अरति-रति-सहः प्रहीण-संस्तवः, विरतआत्महितः प्रधानवान् ।
परमार्थ-पदेषु तिष्ठति, छिन्नशोको ऽममो ऽकिंचनः ।।२१।।

मूल : **विवित्तलयणाइं भइज्ज ताई, निरोवलेवाइं असंथडाइं ।**
इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं, काएण फासिज्ज परीसहाइं ।।२२।।

संस्कृत : विविक्त-लयनानि भजेत् त्रायी, निरुपलेपान्यसंसृतानि ।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः, कायेन स्पृशेत् परीषहान् ।।२२।।

१८. सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छर, तृण-स्पर्श और विविध प्रकार के आतंक (भी, मुनि के) देह को स्पर्श (पीड़ित) करते हैं, तब (उस स्थिति में) कुत्सित शब्द न करता हुआ, उन्हें (समभाव से) सहन करे, और पूर्व-कृत 'रज' (कर्म) का क्षय करे।

१९. विचक्षण भिक्षु (को चाहिए कि वह) राग, द्वेष एवं मोह कों छोड़कर, वायु से कम्पित न होने वाले मेरु पर्वत की भांति, निरन्तर आत्मगुप्त होकर परीषहों को सहन करे।

२०. (अपनी पूजा में) न तो उन्नत (गर्वित) होने वाला, और न (अपनी गर्हा-निन्दा में) अवनत (खिन्न) होने वाला महर्षि, पूजा व गर्हा के प्रति संयत रहे (उनके प्रति लिप्त/आसक्त न हो)। वह (पापादि से) विरत, संयमी होकर, आर्जव को अंगीकार कर, निर्वाण-मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

२१. (जो संयम में) अरति तथा रति को सहन करने वाला, सांसारिक जनों के परिचय (संसर्गादि) से दूर रहने वाला, (रागादि व पापादि से) विरत, आत्म-हित-साधक, प्रधान (संयम) से युक्त, शोक का उच्छेद करने वाला (या पाप कर्मों के स्रोत-आगमन-द्वार को नष्ट करने वाला), ममत्व-रहित तथा अकिंचन होता है, (वही) परमार्थ- (मोक्ष के मार्ग में तथा उसके साधनों) में अवस्थित रह पाता है।

२२. त्रायी (षट्काय जीवों का रक्षक मुनि) महान् यशस्वी ऋषियों द्वारा सेवित, 'उपलेप' (ममत्व रूप आसक्ति के कारणों से, या 'लेप' आदि क्रिया) से रहित, असंसृत (शालि, अन्न आदि बीजों से रहित, या सजावट से रहित), विविक्त (स्त्री-पशु आदि के निवास से रहित, एकान्त) स्थानों (उपाश्रयों) का सेवन करे, और शरीर से परीषहों को सहन करे।

मूल : **सन्नाण-नाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।**
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी, ओभासई सूरिए वंऽतलिक्खे ।।२३।।

संस्कृत : सद्ज्ञान-ज्ञानोपगतो महर्षिः, अनुत्तरं चरित्वा धर्मसंचयम्।
अनुत्तरो ज्ञानधरो यशस्वी, अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ।।२३।।

मूल : **दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।**
तरित्ता समुद्दं व महाभवोहं, समुद्दपाले अपुणागमं गए ।।२४।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्य-पापं, निरंजनः सर्वतो विप्रमुक्तः।
तीर्त्वा समुद्रमिव महाभवौघं, समुद्रपालोऽपुनरागमां गतः ।।२४।।
इति ब्रवीमि।

२३. श्रुत-ज्ञान के द्वारा प्राप्त धार्मिक क्रिया-सम्बन्धी ज्ञान से युक्त (अथवा अनेक प्रशस्त ज्ञानों से युक्त) महर्षि, अनुत्तर (लोकोत्तर व सर्वोत्कृष्ट) धर्म-समूह का आचरण कर, यशस्वी व अनुत्तर (लोकोत्तर-सर्वोत्कृष्ट 'केवल') ज्ञान का धारक होता हुआ, अन्तरिक्ष में सूर्य की भांति, (धर्म-संघ में) प्रकाशमान हुआ करता है।

२४. (उक्त यथार्थ मुनि-चर्या के द्वारा) समुद्रपाल (मुनि) पुण्य व पाप दोनों को क्षीण कर, संयम के प्रति निश्चल (शैलेशी अवस्था को प्राप्त या कर्म-संग से रहित) तथा सर्वतोभावेन (सांसारिक बन्धनों से) विमुक्त होकर समुद्र के समान महान् संसार-प्रवाह को तैर कर, पुनरागमन-रहित (मोक्ष) स्थिति को प्राप्त हो गए।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

विदेशों में व्यापार कर लौटते हुए समुद्र-यात्रा में ही 'पालित' श्रावक की पत्नी ने एक बालक को जन्म दिया। उसका नाम 'समुद्रपाल' प्रसिद्ध हुआ। 'पालित' श्रावक भगवान् महावीर के शिष्य और चम्पा नगरी के विशिष्ट वणिक् श्रावक थे एवं निर्ग्रन्थ-प्रवचन के ज्ञाता भी थे। उनका उक्त पुत्र 'समुद्रपाल' भी सुन्दर, प्रियदर्शी, नीति निपुण एवं समस्त कलाओं का ज्ञाता था। 'रूपिणी' नामक सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह हो गया। उसने एक समय अपने सुरम्य प्रासाद से बाहर एक दृश्य देखा कि एक अपराधी को राजपुरुष वध-स्थान की ओर ले जा रहे हैं। उक्त दृश्य देख कर वह शुभ-अशुभ कर्मों के सुफल-दुष्फलों के सम्बन्ध में सोचता रहा। संसार के प्रति उसके मन में संवेग व विरक्ति का ऐसा ज्वर उठा कि वह अनगार दीक्षा लेने के लिए कृतसंकल्प हो गया।

माता-पिता से अनुमति लेकर, वह मुनि बन कर शास्त्रोचित साधु-चर्या में प्रवृत्त हुआ, और तप-साधना से कर्म-क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गया। अनगार-दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर समुद्रपाल जैसी मुक्तिगामी आत्माएं जिस प्रशस्त चिन्तन के साथ संयम-कर्मों में अग्रसर होती हैं, उसका सार इस प्रकार है:-

मुमुक्षु को चाहिए कि वह आसक्ति व महामोह को महाक्लेशकारी व भयावह समझे और श्रमण-चर्या, संयम, व्रत, शील आदि के पालन में तथा परीषहों को समभाव से सहने में अभिरुचि रखे। पांच महाव्रतों का निर्दोष पालन करते हुए समस्त सावद्य योग (पापाचार) से सर्वथा दूर रहे। समस्त जीवों के प्रति क्षमा व करुणा भाव रखे और अपनी चारित्रिक सामर्थ्य के अनुरूप बलाबल को जानता हुआ सिंह-वृत्ति से विचरण करे। आत्मगुप्त संयमी साधु प्रतिकूलताओं की उपेक्षा करे और देव, मनुष्य-तिर्यञ्च कृत उपसर्गों में भी मेरु की तरह अकम्पित/अव्यथित होता हुआ समभाव से सहन करे। वह न तो किन्हीं भयकारी शब्दों से संत्रस्त हो, न ही किसी को असभ्यवचन कहे। सरल, अकिंचन, ममत्वहीन, संसारीजनों के परिचय से दूर, आत्महित-साधक, परमार्थ में स्थित, प्राणिरक्षक व समभावी साधक निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है। अनुत्तरज्ञान का धारक एवं अनुत्तर धर्म-संचय करने वाला यशस्वी महर्षि अन्तरिक्ष में सूर्य की भांति धर्म-संघ में प्रकाशमान होता है।

❑❑

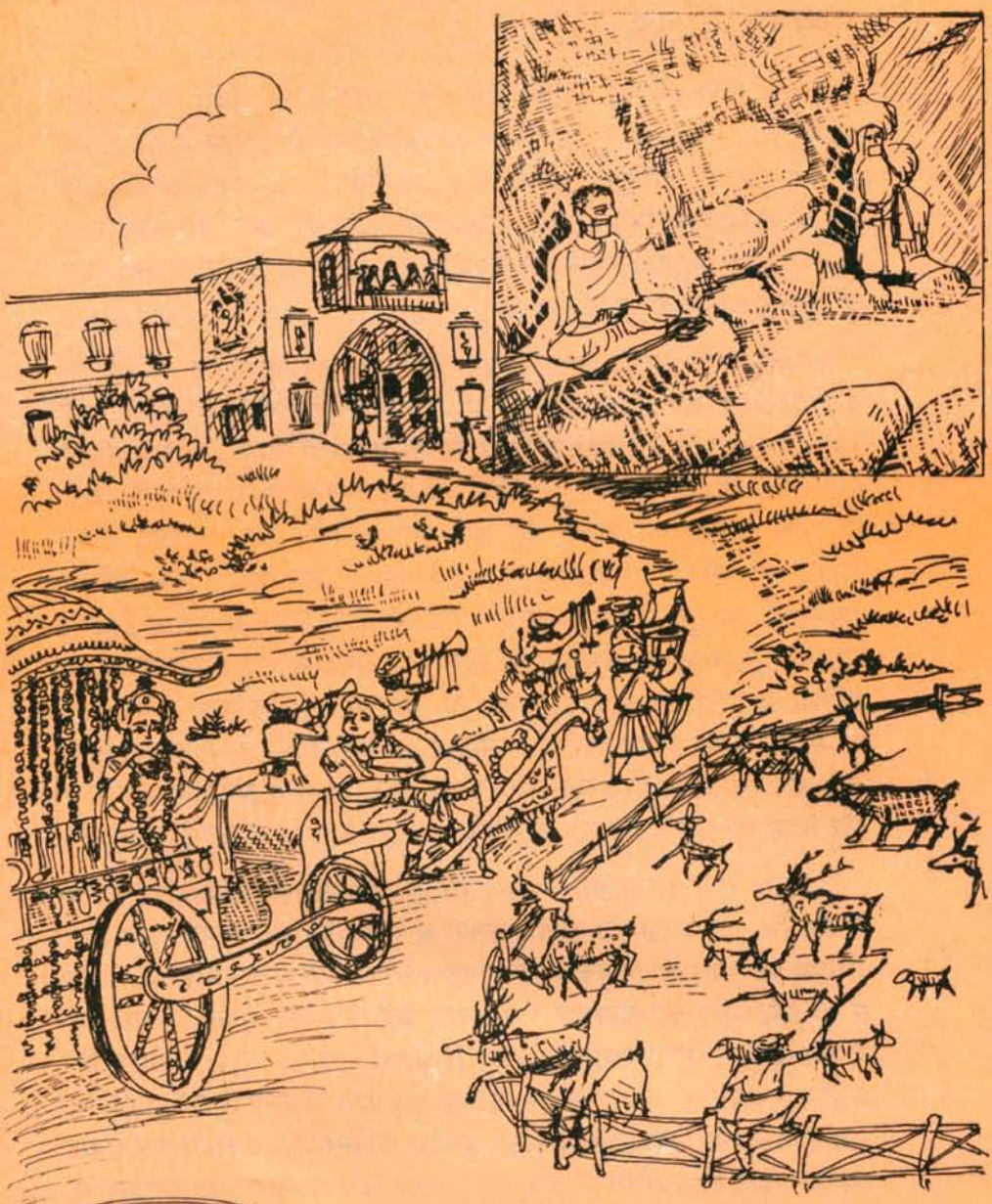

अध्ययन–22

रथनेमीय

अध्ययन परिचय

इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–असंयम पर संयम की विजय। इसमें इक्यावन गाथायें हैं। रथनेमि नामक व्यक्तित्व के माध्यम से यह विषय साकार हुआ है। इसीलिए इसका नाम 'रथनेमीय' रखा गया। रथनेमि जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि के सहोदर भ्राता थे। शौर्यपुर के यदुवंशी राजा समुद्रविजय उनके पिता तथा महारानी शिवादेवी उनकी माता थीं। श्री कृष्ण उनके चचेरे भाई थे।

श्रीकृष्ण ने अत्यंत क्षमता-संपन्न किन्तु विरक्त अरिष्टनेमि के मौन को स्वीकृति मान कर उनका विवाह-सम्बन्ध भोजकुल के राजा उग्रसेन की अनिंद्य सुन्दर पुत्री राजीमती से स्थिर किया। बारात में रथारूढ़ अरिष्टनेमि ने मार्ग-स्थित बाड़ों में बन्दी पशु-पक्षियों की भयाकुल चीख-पुकार सुनी। जाना कि माँस-भोजियों के आहार हेतु उन्हें मारा जायेगा। इससे उद्वेलित होकर उन्होंने पशु-पक्षियों को बंधन व भय-मुक्त कराया और वापिस लौट चले। ये पशु-पक्षी उस युग में सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित हिंसा के प्रतीक हैं। प्रभु द्वारा इन्हें मुक्त कराना वस्तुतः इस हिंसा को अपदस्थ कर इसके स्थान पर अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का सूचक है। सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ दान–अभय-दान की महिमा इससे मंडित होती है। माँसाहार असंयम है और सभी को जीने का अधिकार देना संयम है। प्रस्तुत अध्ययन के पूर्व भाग में असंयम की त्याज्यता और संयम की वांछनीयता पर अरिष्टनेमि-प्रसंग के माध्यम से बल दिया गया है।

उत्तर भाग अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है, जिसके केन्द्र में दो चरित्र हैं-रथनेमि और राजीमती। दोनों असंयम व संयम के बीच तनाव, द्वन्द्व तथा असंयम पर संयम की विजय को रूपायित करते हैं। अरिष्टनेमि के विवाह-मार्ग से ही लौट जाने का समाचार पाकर राजीमती ने शोक, मूर्च्छा, रथनेमि के विवाह-प्रस्ताव की अस्वीकृति आदि स्थितियों से गुज़रते हुए प्रभु-पथ का अनुसरण करने का दृढ़ निश्चय किया। प्रभु द्वारा कैवल्य प्राप्ति करने पर उन्होंने दीक्षा ली। उधर अपने विवाह-प्रस्ताव की अस्वीकृति से विरक्त होकर रथनेमि पहले ही प्रव्रजित हो चुके थे। रैवतक पर्वत पर समवसृत भगवान् के दर्शन-वन्दन हेतु जाते हुए महासती राजीमती तेज़ बारिश में भीगीं और एक गुफा में चली गईं। वहां अंधकार था। एकान्त जान उन्होंने अपने वस्त्र सूखने को फैला दिये। वहां ध्यानस्थ मुनि रथनेमि ने तड़ित्-कौंध के प्रकाश में

निर्वसन राजीमती को देखा। मन में विकार जागा। सांसारिक सुख भोग कर बाद में संयम लेने का प्रस्ताव रखा। इस पर महासती ने प्रबल तर्क-सम्मत प्रेरणा से उन्हें संयम में पुनः स्थिर किया। प्रायश्चितपूर्वक रथनेमि संयम-पथ पर दृढ़ता से बढ़े। साधना बल से रथनेमि व राजीमती, दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

रथनेमि सांसारिकता को त्याग देने वाले मुनि थे। काम ने उन्हें भी नहीं छोड़ा। इस से संयम के शत्रु काम की प्रबलता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। काम को जीतना कठिन है। इसीलिये **जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य को सर्वोत्तम तप कहा गया है। एक ब्रह्मचर्य नष्ट होने से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं और एक ब्रह्मचर्य** के सध जाने से सभी गुण अपने आप सध जाते हैं। ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है। काम, विकार है। जीवन को विकृत करने वाली शक्ति है। आत्मा को भवसागर में फँसाने वाला तूफान है। ब्रह्मचर्य के बल पर इसका सामना किया जा सकता है। इस से मुक्त रहा जा सकता है। इसे जीता जा सकता है।

ब्रह्मचर्य शारीरिक-मानसिक-आत्मिक शक्तियों का स्रोत है। वह अंधविश्वास नहीं है। इच्छाओं का षड्यंत्र समझकर स्वयं को उनका दास बनने से रोकने वाली कला है। शारीरिकता के अंधकार से आत्मिक-निर्मलता के प्रकाश की ओर अग्रसर करने वाला विज्ञान है। पतन को पावनता बना देने वाली प्रेरक शक्ति है। स्व-पर-कल्याण का मूल हेतु है। धर्म है।

राजीमती इस धर्म की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। रथनेमि इस धर्म के बल से पतन को उत्थान बना देने वाले पराक्रम हैं। महासती राजीमती ब्रह्मचर्य की तेजस्वी प्रेरणा हैं। इस प्रसंग का जैन धर्म में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आर्य शय्यंभव ने "दशवैकालिक सूत्र" में इसे संकलित कर यह स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य प्रत्येक संयम-साधक के लिये अनिवार्य है। संयम-पथ से डावाँडोल होने वाला साधक आज भी महासती राजीमती द्वारा दिये गये ओजस्वी उद्बोधन से संयम में पुनः स्थिर होता है। यह इस प्रसंग के त्रिकाल-व्यापी महत्त्व की महत्त्वपूर्ण सूचना है। इस सूचना का आधार होने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं

(अथ रथनेमीयं द्वाविंशमध्ययनम्)

मूल : सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए।
वसुदेवे त्ति नामेणं, राय-लक्खण-संजुए ।।१।।

संस्कृत : शौर्यपुरे नगरे, आसीद् राजा महर्द्धिकः।
'वसुदेव' इति नाम्ना, राज-लक्षण-संयुतः ।।१।।

मूल : तस्स भज्जा दुवे आसी, रोहिणी देवई तहा।
तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता, इट्ठा राम-केसवा ।।२।।

संस्कृत : तस्य भार्ये द्वे आस्तां, रोहिणी देवकी तथा।
तयोर्द्वयोर्द्वौ पुत्रौ, इष्टौ राम-केशवौ ।।२।।

मूल : सोरियपुरंमि नयरे, आसी राया महिड्ढिए।
समुद्दविजये नाम, राय-लक्खण-संजुए ।।३।।

संस्कृत : शौर्यपुरे नगरे, आसीद् राजा महर्द्धिकः।
समुद्रविजयो नाम, राज-लक्षण-संयुतः ।।३।।

मूल : तस्स. भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे ।।४।।

संस्कृत : तस्य भार्या शिवा नाम्नी, तस्याः पुत्रो महायशाः।
भगवानरिष्टनेमिरिति, लोकनाथो दमीश्वरः ।।४।।

मूल : सो ऽरिट्ठनेमि-नामो उ, लक्खणस्सर-संजुओ।
अट्ठ-सहस्स-लक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी ।।५।।

संस्कृत : सो ऽरिष्टनेमि-नामा तु, स्वरलक्षण-संयुतः।
अष्टसहस्रलक्षणधरः, गौतमः कालकच्छविः ।।५।।

बाईसवां अध्ययन : रथनेमीय

१. 'शौर्यपुर' (अर्थात्-द्वारका) नगर में, राजकीय लक्षणों (व गुणों)[1] से युक्त, 'वसुदेव' नाम का महान् ऋद्धि-सम्पन्न राजा (रहता) था।

२. रोहिणी व देवकी -(ये) दो उसकी भार्याएं थीं। उन दोनों के दो प्रिय पुत्र राम (बलदेव) तथा केशव (कृष्ण) थे।

३. 'शौर्यपुर' नगर में राजकीय लक्षणों से युक्त तथा महान् ऋद्धिशाली 'समुद्रविजय' नाम का (एक अन्य) राजा (भी) था। (वे वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता थे)

४. उनकी 'शिवा' नाम की भार्या थी। उसके (ही) पुत्र - महायशस्वी, लोकनाथ, तथा इन्द्रियजयी व्यक्तियों में अग्रणी श्रेष्ठ भगवान् अरिष्टनेमि थे।

५. वे अरिष्टनेमि नाम के (भगवान्) औदार्य आदि लक्षणों से युक्त (प्रशस्त) सुस्वर वाले थे (स्वस्तिक आदि) एक हजार आठ शुभ लक्षणों[1] के धारक थे। उनका गोत्र गौतम था, और उनकी (शारीरिक) कान्ति श्याम वर्ण की थी।

---

१. सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार, हाथ व पांव में चक्र व स्वस्तिक आदि चिन्हों से तथा नीतिशास्त्र के अनुरूप धैर्य, शौर्य आदि गुणों से युक्त।

मूल : वज्जरिसह-संघयणो, समचउरंसो झसोयरो।
तस्स राईमई कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ।।६।।

संस्कृत : वज्रऋषभ-संहननः, समचतुरस्रो झषोदरः।
तस्य राजीमतीं कन्यां, भार्यां याचते केशवः ।।६।।

मूल : अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी।
सव्व-लक्खाण-संपन्ना, विज्जु-सोयामणि-प्पभा ।।७।।

संस्कृत : अथ सा राजवर-कन्या, सुशीला चारुप्रेक्षिणी।
सर्वलक्षण - सम्पन्ना, विद्युत्सौदामिनी - प्रभा ।।७।।

मूल : अहाह जणओ तीसे, वासुदेवं महिड्ढियं।
इहागच्छउ कुमारो, जा से कन्नं ददामि हं ।।८।।

संस्कृत : अथाऽह जनकस्तस्याः, वासुदेवं महर्द्धिकम्।
इहाऽऽगच्छतु कुमारः, येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम् ।।८।।

मूल : सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कय-कोउय-मंगलो।
दिव्व-जुयल-परिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ ।।९।।

संस्कृत : सर्वौषधिभिः स्नापितः, कृत-कौतुक-मंगलः।
परिहित-दिव्य-युगलः, आभरणै-र्विभूषितः ।।९।।

मूल : मत्तं च गंधहत्थिं, वासुदेवस्स जिट्ठयं।
आरूढो सोहई अहियं, सिरे चूडामणी जहा ।।१०।।

संस्कृत : मत्तं च गन्धहस्तिनं, वासुदेवस्य ज्येष्ठकम्।
आरूढः शोभतेऽधिकं, शिरसि चूडामणिर्यथा ।।१०।।

मूल : अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिओ।
दसारचक्केण तओ, सव्वओ परिवारिओ ।।११।।

संस्कृत : अथोच्छ्रितेन छत्रेण, चामराभ्यां च शोभितः।
दशार्ह-चक्रेण ततः, सर्वतः परिवारितः ।।११।।

मूल : चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं।
तुडियाणं सन्निनाएणं, दिव्वेणं गगणं फुसे ।।१२।।

संस्कृत : चतुरंगिण्या सेनया, रचितया यथाक्रमम्।
तूर्याणां सन्निनादेन, दिव्येन गगन-स्पृशा ।।१२।।

६. (अरिष्टनेमि) 'वज्रऋषभनाराच' संहनन तथा 'समचतुरस्र' संस्थान वाले थे। उनका उदर मछली के (उदर) जैसा था। केशव (वासुदेव) ने उन (अरिष्टनेमि) के लिए (राजा उग्रसेन से, उनकी) कन्या राजीमती की भार्या रूप में याचना की।

७. राजा (उग्रसेन) की वह श्रेष्ठ कन्या (राजीमती) सुशील, सुन्दर दृष्टि वाली, समस्त (शुभ) लक्षणों से पूर्ण, तथा विद्युत्-ज्योत्स्ना जैसी शारीरिक कान्ति वाली थी।

८. तब, उस (राजीमती) के पिता (उग्रसेन) ने महान् ऋद्धिसम्पन्न वासुदेव से कहा- "कुमार (अरिष्टनेमि स्वयं) यहां आएं, तो मैं उन्हें (अपनी) कन्या दे दूंगा।"

९. (तब अरिष्टनेमि को) सभी औषधियों (के जल) से स्नान करवाया गया, (वैवाहिक विधि व रीति-रिवाज के अनुरूप) 'कौतुक' व मांगलिक (कार्य) सम्पन्न किये गए। दिव्य वस्त्र-युगल पहनाये गये और आभूषणों से विभूषित किया गया।

१०. वासुदेव के मदयुक्त ज्येष्ठ 'गन्धहस्ती' पर, आरूढ़ होकर (अरिष्टनेमि) सिर पर चूड़ामणि की तरह, अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे।

११. तदनन्तर, वे (अरिष्टनेमि) ऊंचे (उठे हुए) छत्र से तथा (दोनों ओर डुलाये जाते हुए) चामरों से सुशोभित हो रहे थे। दशार्ह (यदुवंशी 'समुद्रविजय' आदि दश भ्राताओं) का समूह-चक्र उन्हें चारों ओर घेरे हुए था।

१२. यथाक्रम से नियोजित (सजाई गई) चतुरंगिणी (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक रूप) सेना के साथ और वाद्यों के गगन स्पर्शी दिव्य शब्दों के साथ (उन्होंने) प्रस्थान किया।

मूल : एयारिसीए इड्ढीए, जुईए उत्तिमाइ य।
नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हि-पुंगवो ।।१३।।

संस्कृत : एतादृश्या ऋद्ध्या, द्युत्या उत्तमया च।
निजकात् भवनात्, निर्यातो वृष्णिपुङ्गवः ।।१३।।

मूल : अह सो तत्थ निज्जंतो, दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ।।१४।।

संस्कृत : अथ स तत्र निर्यन्, दृष्ट्वा प्राणिनो भयद्रुतान्।
वाटैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धान् सुदुःखितान् ।।१४।।

मूल : जीवियंतं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासित्ता से महापन्ने, सारहिं इणमब्बवी ।।१५।।

संस्कृत : जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्, मांसार्थं भक्षयितव्यान्।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञः, सारथिमिदमब्रवीत् ।।१५।।

मूल : कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धा य अच्छहिं? ।।१६।।

संस्कृत : कस्यार्थमिमे प्राणाः, एते सर्वे सुखैषिणः।
वाटैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धाश्च तिष्ठन्ति? ।।१६।।

मूल : अह सारही तओ भणइ- एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुं जणं ।।१७।।

संस्कृत : अथ सारथिस्ततो भणति-एते भद्रास्तु प्राणिनः।
युष्माकं विवाहकार्ये, भोजयितुं बहुं जनम् ।।१७।।

मूल : सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणि-विणासणं।
चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि उ ।।१८।।

संस्कृत : श्रुत्वा तस्य वचनं, बहु-प्राणि-विनाशनम्।
चिन्तयति स महाप्राज्ञः, सानुक्रोशो जीवेषु तु ।।१८।।

मूल : जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ।।१९।।

संस्कृत : यदि मम कारणादेते, हन्यन्ते सुबहुजीवाः।
न मे एतत्तु निःश्रेयसं, परलोके भविष्यति ।।१९।।

१३. इस प्रकार की उत्तम ऋद्धि (वैभव) व द्युति (प्रकाशमान्) के साथ वे वृष्णि-पुंगव (वृष्णि-कुल में श्रेष्ठ अरिष्टनेमि) अपने भवन से निकले।

१४. इसके बाद, (राजमार्ग से) गुजरते हुए वहां (मार्ग में) उन (अरिष्टनेमि) ने भय-त्रस्त, बाड़ों व पिंजरों में बन्द किये गये, अत्यन्त दुःखी प्राणियों को देखा।

१५. (वे प्राणी) जीवन की अन्तिम स्थिति (मृत्यु-मुख) को प्राप्त थे, (क्योंकि) मांस के लिए उनका भक्षण किया जाने वाला था। (यह) देखकर उन महाप्राज्ञ (अरिष्टनेमि) ने (अपने) सारथी को इस प्रकार कहा-

१६. "इन सब सुखार्थी प्राणियों को, किसके निमित्त से बाड़ों व पिंजरों में रोककर रखा गया है?"

१७. तब, सारथी ने कहा - "ये भद्र (निर्दोष) प्राणी तो आपके विवाह-कार्य में बहुत से व्यक्तियों को (मांस) भोजन कराने के लिए (बन्द किये गये) हैं।"

१८. उस (सारथी) के बहुजीव-घात (के सूचक) वचन को सुनकर, (उन) जीवों के प्रति करुणा-युक्त (दयार्द्र) हुए उन महाप्राज्ञ (अरिष्टनेमि) ने सोचा।

१९. "यदि मेरे कारण से ये बहुत से प्राणी मारे जाते हैं, तो यह मेरे लिए परलोक में कल्याणप्रद नहीं होगा।"

मूल : सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ।।२०।।

संस्कृत : स कुण्डलयोर्युगलं, सूत्रकं च महायशः।
आभरणानि च सर्वाणि, सारथिने प्रणामयति ।।२०।।

मूल : मण-परिणामो य कओ , देवा य जहोइयं समोइण्णा।
सव्विड्ढीइ सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे ।।२१।।

संस्कृत : मनः-परिणामश्च कृतः, देवाश्च यथोचितं समवतीर्णाः।
सर्वर्द्धया सपरिषदः, निष्क्रमणं तस्य कर्तुं ये ।।२१।।

मूल : देव-मणुस्स-परिवुडो, सिबिया-रयणं तओ समारूढो।
निक्खमिय बारगाओ, रेवययंमि ठिओ भयवं ।।२२।।

संस्कृत : देव-मनुष्य-परिवृतः, शिविकारत्नं ततः समारूढः।
निष्क्राम्य द्वारकातः, रैवतके स्थितो भगवान् ।।२२।।

मूल : उज्जाणं संपत्तो, ओइण्णो उत्तमाउ सीयाओ।
साहस्सीए परिवुडो, अह निक्खमई उ चित्ताहिं ।।२३।।

संस्कृत : उद्यानं सम्प्राप्तः, अवतीर्ण उत्तमायाः शिविकायाः।
सहस्रेण परिवृतः, अथ निष्क्रामति तु चित्रायाम् ।।२३।।

मूल : अह से सुगंध-गंधिए, तुरियं मउय-कुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ।।२४।।

संस्कृत : अथ स सुगन्ध-गन्धिकान्, त्वरितं मृदुक-कुञ्चितान्।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, पञ्चमुष्टिभिः समाहितः ।।२४।।

मूल : वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छिय-मणोरहं तुरियं, पावसु तं दमीसरा! ।।२५।।

संस्कृत : वासुदेवश्च तं भणति, लुप्तकेशं जितेन्द्रियम्।
ईप्सित-मनोरथं त्वरितं, प्राप्नुहि त्वं दमीश्वर! ।।२५।।

२०. (कुमार अरिष्टनेमि की आज्ञानुरूप सारथी द्वारा उन प्राणियों को बाड़ों से मुक्त कर दिये जाने के बाद, संतुष्ट होकर) उन महायशस्वी (अरिष्टनेमि) ने दोनों कुण्डल, करधनी तथा समस्त आभरण (उतार कर) सारथी को दे दिए (और बिना विवाह किये ही लौट गए)।

२१. (दीक्षा-हेतु जहां अरिष्टनेमि के) मन में ये परिणाम (मनोभाव) उत्पन्न हुए, (वैसे ही) उनका यथोचित अभिनिष्क्रमण (महोत्सव) मनाने के लिए समस्त ऋद्धियों तथा (अपनी-अपनी त्रिविध) परिषदों के साथ (लोकान्तिक आदि) देव (पृथ्वी पर) उपस्थित हुए।

२२. तदनन्तर, देवों और मनुष्यों से घिरे हुए भगवान् (अरिष्टनेमि) शिविकारत्न (देवनिर्मित 'उत्तरकुरु' नामक श्रेष्ठ पालकी) पर आरूढ़ हुए, और द्वारिका से निष्क्रमण कर, रैवतक (गिरनार) पर्वत पर उपस्थित हुए (जा पहुंचे)।

२३. (वहां सहस्राम्रवन नामक) उद्यान में पहुंचकर, उत्तम शिविका से उतर कर 'चित्रा' नक्षत्र में एक हजार (दीक्षार्थी) व्यक्तियों के साथ उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया (अर्थात् श्रमण-दीक्षा ग्रहण की)।

२४. शीघ्र ही, समाधि-युक्त (अर्थात् यावज्जीवन सावद्य व्यापार के त्याग की प्रतिज्ञा से युक्त) उन (अरिष्टनेमि) ने सुगन्ध से वासित किये गये मृदु व घुंघराले केशों का स्वयं (अपने हाथों से) पंचमुष्टि-लुंचन किया।

२५. वासुदेव ने इन केशहीन व जितेन्द्रिय (अरिष्टनेमि) को कहा-"हे जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ! आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करें।"

मूल : **नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेण तवेण य।**
खंतीए मुत्तीए चेव, वड्ढमाणो भवाहि य।।२६।।

संस्कृत : ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तपसा च।
क्षान्त्या मुक्त्या चैव, वर्धमानो भव च।।२६।।

मूल : **एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहू जणा।**
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगापुरिं।।२७।।

संस्कृत : एवं तौ राम-केशवौ, दशार्हाश्च बहुजनाः।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा, अतिगता द्वारकापुरीम्।।२७।।

मूल : **सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।**
नीहासा य निराणंदा, सोगेण उ समुच्छिया।।२८।।

संस्कृत : श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हासा च निरानन्दा, शोकेन तु समवसृता।।२८।।

मूल : **राईमई विचिन्तेइ, धिरत्थु मम जीवियं।**
जाऽहं तेण परिच्चत्ता, सेयं पव्वइउं मम।।२९।।

संस्कृत : राजीमती विचिन्तयति, धिगस्तु मम जीवितम्।
याऽहं तेन परित्यक्ता, श्रेयः प्रव्रजितुं मम।।२९।।

मूल : **अह सा भमर-सन्निभे, कुच्च-फणग-प्पसाहिए।**
सयमेव लुंचई केसे, धिइमंता ववस्सिया।।३०।।

संस्कृत : अथ सा भ्रमर-सन्निभान्, कूर्च-फनक-प्रसाधितान्।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, धृतिमती व्यवसिता।।३०।।

मूल : **वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं।**
संसार-सागरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं।।३१।।

संस्कृत : वासुदेवश्च तां भणति, लुप्तकेशां जितेन्द्रियाम्।
संसार-सागरं घोरं, तर कन्ये! लघु-लघु।।३१।।

२६. "आप (सम्यक्) ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा क्षान्ति व मुक्ति (निर्लोभवृत्ति) के साथ (मुक्ति-मार्ग पर, आगे ही आगे) बढ़ते (या इन गुणों से समृद्ध होते) जाएं।"

२७. इस प्रकार, राम (बलराम), केशव (वासुदेव), दशार्ह (समुद्रविजय आदि दशों यादव भ्राता) तथा (अन्य) बहुत-से व्यक्ति अरिष्टनेमि की वन्दना कर, द्वारिकापुरी को लौट आए।

२८. जिनेन्द्र (अरिष्टनेमि) की प्रव्रज्या (की घटना) को सुनकर, (उस राजीमती) राज-कन्या की हंसी (प्रसन्नता) और आनन्द समाप्त हो गए, और (वह) शोक से स्तब्ध (मूर्च्छित) हो गई।

२९. राजीमती विचार करने लगी-"मेरे जीवन को धिक्कार है, जो कि मेरा उनके (अरिष्टनेमि) द्वारा परित्याग कर दिया गया। मेरे लिए (तो अब) प्रव्रज्या लेना ही श्रेयस्कर होगा।"

३०. (भगवान् अरिष्टनेमि के सान्निध्य में) धैर्यसम्पन्न तथा (संयम-अंगीकार करने के लिए) सुनिश्चित अध्यवसाय वाली उस (राजीमती) ने कूर्च (बांस की बनी मोटी कंघी) व फनक (कंघी) से संवारे हुए तथा भवंरे-जैसे (काले-काले) अपने केशों का स्वयं लुंचन किया।

३१. वासुदेव ने केशहीन हो चुकी उस इन्द्रिय-जयी (राजीमती) को कहा-"हे कन्ये! तू घोर संसार-सागर को अतिशीघ्र पार कर।"

मूल : **सा पव्वइया संती, पव्वावेसी तहिं बहुं।**
सयणं परियणं चेव, सीलवंता बहुस्सुया।।३२।।

संस्कृत : सा प्रव्रजिता सती, प्रव्राजयामास तत्र बहुं।
स्वजनं परिजनं चैव, शीलवती बहुश्रुता।।३२।।

मूल : **गिरिं रेवतयं जंती, वासेणुल्ला उ अंतरा।**
वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया।।३३।।

संस्कृत : गिरिं रैवतकं यान्ती, वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा।
वर्षान्त्येऽन्धकारे, अन्तो लयनस्य सा स्थिता।।३३।।

मूल : **चीवराइं विसारंती, जहाजाय त्ति पासिया।**
रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो य तीइ वि।।३४।।

संस्कृत : चीवराणि विस्तारयन्ती, यथाजातेति दृष्ट्वा।
रथनेमिर्भग्नचित्तः, पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि।।३४।।

मूल : **भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं।**
बाहाहिं काउं संगुप्फं, वेवमाणी निसीयई।।३५।।

संस्कृत : भीता च सा तत्र दृष्ट्वा, एकान्ते संयतं तकम्।
बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं, वेपमाना निषीदति।।३५।।

मूल : **अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ।**
भीयं पवेविरं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे।।३६।।

संस्कृत : अथ सोऽपि राजपुत्रः, समुद्रविजयांगजः।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा, इदं वाक्यमुदाहरत्।।३६।।

मूल : **रहनेमी अहं भद्दे!, सुरूवे! चारुभासिणी।**
ममं भयाहि सुअणु!, न ते पीला भविस्सई।।३७।।

संस्कृत : रथनेमिरहं भद्रे!, सुरूपे! चारुभाषिणि!
मां भजस्व सुतनो! न ते पीड़ा भविष्यति।।३७।।

मूल : **एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।**
भुत्तभोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो।।३८।।

संस्कृत : एहि तावद् भुञ्जीवहि भोगान्, मानुष्यं खलु सुदुर्लभम्।
भुक्तभोगौ ततः पश्चात्, जिनमार्गं चरिष्यावः।।३८।।

३२. प्रव्रजित होकर उस शील-सम्पन्न व बहुश्रुत (राजीमती) ने वहां (द्वारका में) बहुत-से स्वजनों व परिजनों को भी प्रव्रजित करवाया।

३३. (एक बार राजीमती) रैवतक पर्वत पर जाती हुई, बीच में वर्षा से भीग गई। वर्षा होने की स्थिति में वह अन्धकार वाली (एक) गुफा के अन्दर ठहर गई।

३४. (उस गुफा में राजीमती ने अपने) वस्त्रों को (सुखाने के लिये उतार कर) फैला दिया था। (गुफा में पहले से स्थित मुनि) रथनेमि ने (उसे) यथाजात (नग्न) रूप में देखा, और उनका चित्त भग्न (विचलित) हो गया। बाद में उस (राजीमती) की भी (उस पर) दृष्टि पड़ी।

३५. वहां एकान्त (स्थान) में उस संयमी को देख कर वह भयभीत हो गई, और बाहुओं से (अपने तन को) आवृत कर, कांपती हुई बैठ गई।

३६. तब, समुद्रविजय के अंगजात (पुत्र) उस राजकुमार (रथनेमि) ने भी (उसे) भयभीत व कांपती हुई देखकर, यह वाक्य कहा-

३७. "भद्रे! मैं रथनेमि हूँ। सुरूपवती! चारुभाषिणी! तू मुझसे भयभीत न हो (मुझे स्वीकार कर)। हे सुतनु! (इससे) तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।"

३८. "आओ! हम (दोनों) भोगों का सेवन करें। मनुष्य-जन्म निश्चय ही अतिदुर्लभ है। भोगों को भोग लेने के बाद, (हम) जिन-मार्ग (संयम-चर्या) पर चल पड़ेंगे।"

मूल : दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोय-पराजियं ।
राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ।। ।३९ ।।

संस्कृत : दृष्ट्वा रथनेमिं तं, भग्नोद्योग-पराजितम् ।
राजीमत्यसाम्भ्रान्ता, आत्मानं समवारीत् तत्र ।।३९ ।।

मूल : अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए ।
जाइं कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वए ।।४० ।।

संस्कृत : अथ सा राजवरकन्या, सुस्थिता नियमव्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च, रक्षन्ती तकमवदत् ।।४० ।।

मूल : जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो ।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो ।।४१ ।।

संस्कृत : यद्यपि रूपेण वैश्रवणः, ललितेन नलकूबरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि, यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः ।।४१ ।।

मूल : पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ।।४२ ।।

संस्कृत : प्रस्कन्दते ज्वलितं ज्योतिषम्, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ।।४२।।

मूल : धिरत्थु तेऽजसोकामी!, जो तं जीविय-कारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।४३ ।।

संस्कृत : धिगस्तु तेऽयशस्कामिन्, यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ।।४३ ।।

मूल : अहं च भोगरायस्स, तं चसि अंधग-वण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ।।४४ ।।

संस्कृत : अहं च भोजराजस्य, त्वं चास्यन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ।।४४ ।।

मूल : जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ।।४५ ।।

संस्कृत : यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हडः, अस्थितात्मा भविष्यसि ।।४५ ।।

३९. उस रथनेमि को (संयम में) भग्नचित्त (उत्साहहीन) तथा (स्त्री-परीषह से) पराजित हुआ देख कर राजीमती घबराई नहीं, उसने वहीं अपने (शरीर) को (वस्त्रों से पुनः) ढँक लिया।

४०. (अभिग्रह आदि) नियमों व (पंचमहा) व्रतों में सुस्थिर उस श्रेष्ठ राज-कन्या (श्रमणी) ने जाति, कुल एवं शील की रक्षा करते हुए उन (रथनेमि) से कहा-

४१. "अगर आप रूप (सौन्दर्य) में कुबेर (भी) हों, लीला-विलास में नलकूबर हों, और अगर आप साक्षात् इन्द्र (भी) हों, तो भी मैं आपको नहीं चाहूंगी।

४२. "(हे रथनेमि! आपको यह ज्ञात होगा-) अगन्धन-कुल में पैदा होने वाले (सर्प) धूमशिखा वाली दुःसह प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हो (कर, मर जाते हैं, किन्तु वमन किये हुए) विष को (पुनः) पीना (कभी) नहीं चाहते।

४३. "हे अपकीर्ति के इच्छुक! आपको धिक्कार है कि (तुच्छ सुख व भोगमय असंयमीय) जीवन के लिए आप अपने वमन किये गये (परित्यक्त) का (पुनः) पान करना चाह रहे हैं, इससे तो आपका मर जाना (कहीं) श्रेयस्कर होता।"

४४. "मैं 'भोज' राजा की (पौत्री) हूँ, और आप 'अन्धकवृष्णि' के (पौत्र) हैं। हम गन्धन सर्प की भांति (वमन किये हुए को पुनः पीने वाले) न बनें। आप स्थिर-चित्त होकर, संयम का आचरण करें।"

४५. "यदि आप स्त्री को देखकर (राग-पूर्ण) भाव करते रहेंगे, तो जहां-जहां नारी को देखेंगे (वहां) आप वायु (के झोंकों) से प्रकम्पित होने वाली 'हड़' (नामक वनस्पति) की तरह अस्थिर चित्त वाले होते रहेंगे।"

मूल : **गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।**
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ।। ४६ ।।

संस्कृत : गोपालो भाण्डपालो वा, यथा तद्द्रव्याऽनीश्वरः।
एवमनीश्वरस्त्वमपि, श्रामण्यस्य भविष्यसि ।। ४६ ।।

मूल : **तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं।**
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ।। ४७ ।।

संस्कृत : तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम्।
अंकुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ।। ४७ ।।

मूल : **कोहं माणं निगिण्हित्ता, माया लोभं च सव्वसो।**
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे ।। ४८ ।।

संस्कृत : क्रोधं मानं निगृह्य, मायां लोभं च सर्वशः।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य, आत्मानमुपसमाहरत् ।। ४८ ।।

मूल : **मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ।**
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ।। ४९ ।।

संस्कृत : मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्, यावज्जीवं दृढव्रतः ।। ४९ ।।

मूल : **उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली।**
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ।। ५० ।।

संस्कृत : उग्रं तपश्चरित्वा, जातौ द्वावपि केवलिनौ।
सर्वं कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ।। ५० ।।

मूल : **एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।**
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो ।। ५१ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तमः ।। ५१ ।।
इति ब्रवीमि।

४६. "जिस प्रकार (कोई) ग्वाला या भाण्डपाल (वेतन लेकर सामान की रक्षा करने वाला) उन (गाय व भाण्ड आदि) द्रव्यों का मालिक नहीं होता, उसी प्रकार आप मात्र मुनि-वेश के धारक भी श्रमणत्व (संयमादि) के स्वामी (वास्तविक अधिकारी) नहीं हो सकेंगे।"

४७. (इसलिये) "आप क्रोध, मान, माया व लोभ को सर्वांशतः निगृहीत करके, इन्द्रियों को वशीभूत कर, स्वयं को (अनाचार से) निवृत्त करें।"

४८. उस संयम-युक्त (साध्वी राजीमती) के सुभाषित वचन को सुनकर, अंकुश से (वशीभूत होने वाले) हाथी की तरह, वे (रथनेमि श्रमण) धर्म में सम्यक् प्रकार से स्थिर हो गए।

४९. वे मन, वचन व शरीर से गुप्त, जितेन्द्रिय व दृढ़व्रती हो गए, और उन्होंने श्रमण-चर्या का यावज्जीवन निश्चल (अविचलित) रूप में पालन किया।

५०. उग्र तप का आचरण कर, वे (रथनेमि व राजीमती) दोनों 'केवली' हुए, और उन्होंने समस्त कर्मों का क्षय कर, अनुत्तर 'सिद्धि' (लोकोत्तर, सर्वश्रेष्ठ 'मुक्ति') को प्राप्त किया।

५१. सम्बुद्ध (हेय-उपादेय के ज्ञाता), पण्डित (विषय-प्रवृत्ति के दोषों के ज्ञाता) व प्रविचक्षण (आगम-मर्मज्ञ, या चारित्र-युक्त व्यक्ति) ऐसा ही किया करते हैं। वे, पुरुषोत्तम (रथनेमि) की तरह, भोगों (के सेवन) से निवृत्त हो जाया करते हैं।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

शौर्यपुर के ऋद्धि सम्पन्न नरेश वसुदेव के रोहिणी से बलराम और देवकी से श्रीकृष्ण नामक दो पुत्र थे। वहीं दूसरे सम्राट् समुद्रविजय व रानी शिवा देवी को भगवान् अरिष्टनेमि के माता-पिता होने का गौरव मिला। भगवान् अत्यंत शुभ शरीर, बुद्धि व आत्मा से सम्पन्न थे। श्रीकृष्ण ने उनके लिये सर्वशुभलक्षण-सम्पन्न राजकुमारी राजीमती से विवाह-संबंध स्थिर किया। विवाह हेतु जाते हुए अरिष्टनेमि ने बाड़े में बंद भयग्रस्त पशु-पक्षी देखे। सारथी से पूछने पर जाना कि इन्हें मांस-भोजियों को खिलाने के लिये पकड़ा गया है। उनके हृदय में वैराग्य जन्मा। अभिनिष्क्रमण कर लोंच करते हुए उन्होंने दीक्षा ली। यह सुन राजीमती ने भी दीक्षा ली। रैवतक पर्वत जाते हुए वर्षा से भीग कर वे गुफा में गईं। गीले वस्त्र फैलाते हुए रथनेमि ने उन्हें यथाजात रूप में देखा। भोग भोगने का निमंत्रण दिया। कहा कि संयमाचरण बाद में कर लेंगे। राजीमती ने अपनी देह आवृत्त कर उन्हें धिक्कारते हुए अंगधन कुल के सर्प की भांति वमित विष या त्यागी हुई विषय-वासना को पुनः न पीने या अपनाने की प्रेरणा दी। कहा कि 'वह सर्प अग्नि में जल मरना वमित-विष पीने से श्रेयस्कर मानता है। तू संयम में स्थिर हो कुल की मर्यादा का पालन कर। यदि नहीं करेगा तो श्रामण्य-भाव का स्वामी श्रमण होते हुए भी नहीं बन सकेगा। कषायों व इन्द्रियों का दास मत बन। आत्मा को संयम में स्थिर कर।'

यह सुन रथनेमि अंकुश से मद-रहित हाथी के समान कषाय-रहित-साधक हो गया। जितेन्द्रिय हो कर जीवन-भर शुद्ध संयम साधना की। साधना से राजीमती व रथनेमि, दोनों सर्व कर्म क्षय कर अनुत्तर गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए। भगवान् महावीर ने कहा कि सम्यक् सम्बुद्ध तथा विचक्षण पुरुष रथनेमि के समान भोग-निवृत्त हो जाते हैं।

❑❑

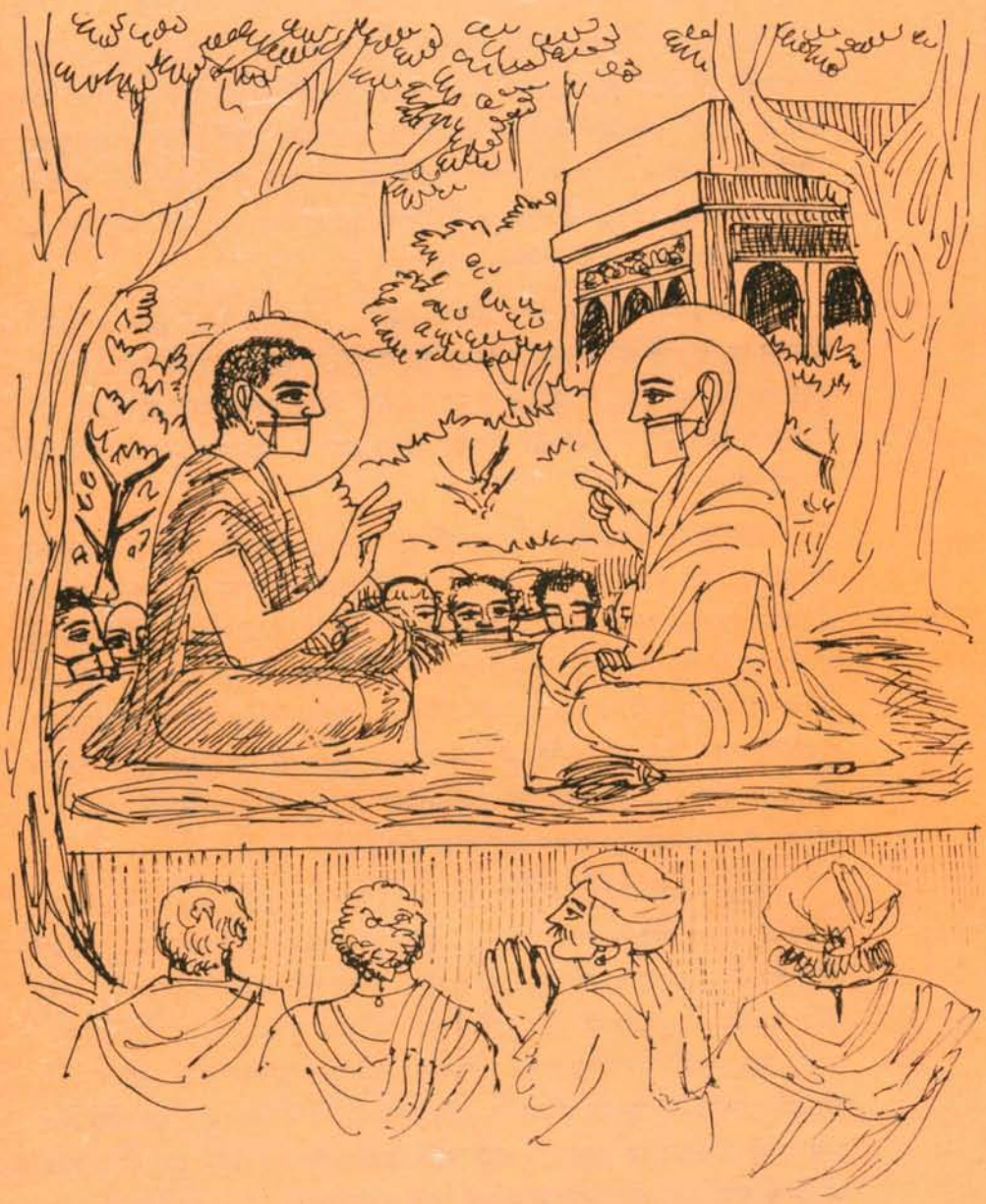

अध्ययन–23

केशी-गौतमीय

अध्ययन परिचय

इस तेइसवें अध्ययन में नवासी गाथायें हैं। इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है—इतिहास के संक्रमण-युग में धर्म-संघ की सर्वसम्मत प्रभावना। जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार श्रमण एवम् चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के शिष्य इन्द्रभूति गौतम के मध्य सम्पन्न हुए ऐतिहासिक संवाद के माध्यम से यह विषय साकार हुआ है। इसीलिये इस अध्ययन का नाम 'केशी-गौतमीय' रखा गया।

केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी, दोनों विशिष्ट ज्ञान व चरित्र सम्पन्न व्यक्तित्व थे। उनकी महानता का परिणाम था कि उनके बीच न वाद हुआ, न विवाद। हुआ तो केवल संवाद। संवाद की तेजस्वी किरणों से उस युग में व्याप्त शंकाओं व भ्रमों का कुहासा छँटा। धर्म का सुस्पष्ट स्वरूप सभी के सामने आया।

सर्वविदित है कि घटित हो चुकी घटनाओं का आलेख इतिहास कहलाता है। प्रस्तुत अध्ययन की विशेषता यह है कि इसमें इतिहास के इस रूढ़ अर्थ से भिन्न, व्यापक एवम् गहन अर्थ इतिहास का ग्रहण किया गया है। परिस्थितियों में जब परिवर्तन होता है तो जन-मानस व जन-चेतना में भी परिवर्तन होता है। मनुष्य के भीतर होने के कारण यह परिवर्तन अदृश्य किन्तु महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिये कि इसी परिवर्तन से मनुष्य का आगामी व्यवहार और जीवन निर्धारित होता है। इतिहास के समानान्तर मनुष्य में होने वाले आन्तरिक परिवर्तनों से प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि निर्मित हुई है।

वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के धर्म-शासन-काल में मनुष्य सरल-हृदयी व जड़-बुद्धि हुआ करते थे। उन्हें 'ऋजु-जड़' कहा गया। उसके बाद वे सरल-हृदयी व प्रज्ञावान् हुए। उन्हें 'ऋजु-प्राज्ञ' कहा गया। भगवान् महावीर के समय में वे हृदय से वक्र तथा बुद्धि से जड़ हो गये। उन्हें 'वक्र-जड़' कहा गया। यह मनुष्य के आंतरिक परिवर्तनों का इतिहास है। इन परिवर्तनों के अनुरूप प्रथम व अंतिम तीर्थंकरों ने पंच-याम धर्म का तथा शेष सभी तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का निरूपण किया। जिस युग के साधक के लिये धर्म का जो उचित रूप था, वही उसे मिला।

भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्रवर्तित चातुर्याम धर्म के भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित पंचयाम धर्म में रूपान्तरण का समय ही इस अध्ययन की अन्तर्वस्तु

के निर्माण का समय है। केशीकुमार श्रमण चातुर्याम धर्म के प्रतिनिधि हैं और गौतम स्वामी पंचयाम धर्म के। दोनों का संवाद वस्तुतः दो उज्ज्वल परम्पराओं का संवाद है। एक बार दोनों श्रावस्ती पधारे। केशीकुमार श्रमण तिन्दुक तथा गौतम स्वामी कोष्ठक उद्यान में अपने-अपने शिष्यों सहित ठहरे। दोनों के शिष्यों ने एक-दूसरे को देखा। श्रावस्तीवासियों ने दोनों को देखा। दोनों जैन साधक थे। दोनों के आचार व वेशभूषा में भिन्नता भी थी। इस भिन्नता से जिज्ञासायें जागीं। गौतम स्वामी तिन्दुक उद्यान पधारे। केशीकुमार श्रमण से हुए उनके संवाद ने सभी का समाधान किया। श्रुत व धर्म का उत्कर्ष हुआ।

संवाद तभी संभव होता है जब संवाद-कर्त्ताओं के मन में कोई ग्रन्थि न हो। अहंकार किसी भी रूप में उपस्थित न हो। विजय-पराजय का भाव न हो। पूर्वाग्रह न हो। दुराग्रह न हो। संकीर्णता न हो। यशोलिप्सा न हो। कृत्रिमता न हो। प्रदर्शन-वृत्ति न हो। पक्षपात न हो। केशीकुमार श्रमण व गौतम स्वामी का मन निर्मल था। दोनों में कोई ग्रंथि न थी। वे पूर्णतः निर्ग्रन्थ थे। गौतम स्वामी का बिना किसी निमंत्रण के तिन्दुक उद्यान पहुंचना और केशीकुमार श्रमण का पंचयाम धर्म स्वीकार कर लेना इसका स्पष्ट सूचक है। यह दोनों की ऋजुता व प्राज्ञता का प्रमाण भी है। इसीलिये दोनों में संवाद संभव हुआ। अनेक प्रश्नों को उत्तर मिला। धर्म की पतित-पावनी धारा में देश-कालानुरूप परिवर्तन का औचित्य स्पष्ट हुआ। उस चर्चा से सभा में उपस्थित साधकों, देवों व श्रोताओं के साथ-साथ उस तथा आगामी युग की असंख्य धर्मनिष्ठ आत्मायें लाभान्वित हुईं।

चर्चा में सम्मिलित विषयों का क्षेत्र बाह्य वेश-भूषा से लेकर धर्म-साधना-पद्धति व निर्वाण तक विस्तृत है। प्रश्नोत्तरों की अनेक शैलियाँ इस चर्चा की विशेषता है। जिस शैली में प्रश्न किया गया, उसी में उत्तर भी दिया गया है। लक्षणा में सम्पन्न प्रश्नोत्तरों के बाद अभिधा में प्रश्नोत्तरों द्वारा उनकी व्याख्या भी की गई है। इस से चर्चा अधिक जिज्ञासुओं के लिये अधिक बोध-गम्य बनी है। उद्देश्य है—परिवर्तित मनः स्थिति एवम् परिस्थिति में भी धर्म का उद्योत अपरिवर्तित एवम् अप्रतिहत रहे।

प्रस्तुत अध्ययन इस उद्देश्य व इसकी सार्थक सफलता को साकार करता है। व्यवहार एवम् भाषा-प्रयोग के क्षेत्रों में धर्मज्ञता की प्रबल प्रेरणा देने के कारण भी इस अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं

(अथ केशिगौतमीयं त्रयोविंशमध्ययनम्)

मूल : जिणे पासित्ति नामेणं, अरहा लोगपूइओ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ।।१।।

संस्कृत : जिनः पार्श्व इति नाम्ना, अर्हन् लोकपूजितः।
संबुद्धात्मा च सर्वज्ञः, धर्मतीर्थकरो जिनः ।।१।।

मूल : तस्स लोगपदीवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ।।२।।

संस्कृत : तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशः।
केशीकुमारश्रमणः, विद्याचरणपारगः ।।२।।

मूल : ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं नगरिमागए ।।३।।

संस्कृत : अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, श्रावस्तीं नगरीमागतः।।३।।

मूल : तिन्दुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमण्डले।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ।।४।।

संस्कृत : तिन्दुकं नामोद्यानं, तस्मिन् नगरमण्डले।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ।।४।।

मूल : अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे।
भगवं वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ।।५।।

संस्कृत : अथ तस्मिन्नेव काले, धर्मतीर्थकरो जिनः।
भगवान् वर्धमान इति, सर्वलोके विश्रुतः ।।५।।

तेईसवां अध्ययन : केशिगौतमीय

१. पार्श्व (नाथ) नामक जिन (राग-द्वेष विजेता) अर्हत् (हुए। वे) लोकपूजित, संबुद्धात्मा, सर्वज्ञ एवं धर्मतीर्थ के प्रवर्तक (२३वें) तीर्थंकर 'जिन' (समस्त कर्मों का क्षय कर) सिद्ध हुए थे।

२. उन लोक में दीपक के समान (अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले) (तीर्थंकर पार्श्वनाथ) के महायशस्वी शिष्य केशीकुमार श्रमण विद्या (ज्ञान) व चारित्र के पारगामी थे।

३. अवधि-ज्ञान व श्रुतज्ञान से प्रबुद्ध (ज्ञान-समृद्ध) (वे केशीकुमार श्रमण अपने) शिष्य-संघ के साथ 'समायुक्त' होकर, ग्रामानुग्राम (एक गांव से दूसरे गांव) विचरण करते हुए, श्रावस्ती नगरी में पधारे।

४. उस नगर की सीमा में (ही अर्थात् समीप में) 'तिन्दुक' नामक उद्यान था। प्रासुक (निर्दोष) संस्तारक (तृण आसन) तथा शय्या (वसति) युक्त उस (उद्यान) में (वे आए, और) ठहर गए।

५. उस ही समय, समस्त लोक में प्रसिद्ध, 'जिन' (वीतराग) भगवान् वर्द्धमान (महावीर) इस नाम के धर्म-तीर्थ-प्रवर्तक (२४ वें तीर्थंकर) (भी) विहार कर रहे थे।

मूल : तस्स लोगपदीवस्स, आसि सीसे महायसे।
भगवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ।।६।।

संस्कृत : तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशाः।
भगवान् गौतमो नाम, विद्याचरणपारगः ।।६।।

मूल : बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयन्ते, सेवि सावत्थिमागए ।।७।।

संस्कृत : द्वादशाङ्गविद् बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, सोऽपि श्रावस्तीमागतः ।।७।।

मूल : कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मी नयरमण्डले।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ।।८।।

संस्कृत : कोष्ठकं नामोद्यानं, तस्मिन्नगरमण्डले।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ।।८।।

मूल : केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे।
उभओवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ।।९।।

संस्कृत : केशीकुमार श्रमणः, गौतमश्च महायशः।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ।।९।।

मूल : उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना, गुणवन्ताण ताइणं ।।१०।।

संस्कृत : उभयोः शिष्यसंघानां, संयतानां तपस्विनाम्।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवतां त्रायिणाम् ।।१०।।

मूल : केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो व केरिसो।
आयारधम्मप्पणिही, इमा वा सा व केरिसी ।।११।।

संस्कृत : कीदृशो वायं धर्मः, अयं धर्मो वा कीदृशः?।
आचारधर्मप्रणिधिः, अयं वा स वा कीदृशः ।।११।।

मूल : चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ।।१२।।

संस्कृत : चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ।।१२।।

६. लोक में दीपक के समान (अज्ञान-अन्धकार को दूर करने वाले) उन (भगवान वर्द्धमान महावीर) के भगवान् (चार ज्ञानों के धारी) तथा विद्या (ज्ञान) व चारित्र के पारगामी 'गौतम' (इन्द्रभूति) नामक महायशस्वी शिष्य थे।

७. द्वादशांग (श्रुत) के ज्ञाता व प्रबुद्ध वे (गौतम स्वामी) भी (अपने) शिष्य-संघ के साथ, ग्रामानुग्राम (एक गांव से दूसरे गांव में) विचरण करते हुए, 'श्रावस्ती' (नगरी) में पधारे।

८. उस नगर की सीमा में (ही अर्थात् समीप में) 'कोष्ठक' (या क्रोष्टुक) नामक (एक) उद्यान था। (वे) प्रासुक (निर्दोष) संस्तारक (आसन) व शय्या वाले (उद्यान) में (आए, और) ठहर गये।

९. (महायशस्वी) केशीकुमार श्रमण तथा महायशस्वी गौतम स्वामी-दोनों ही वहां आत्मलीन व सम्यक् समाधि-युक्त (होकर) विचरण करने लगे।

१०. वहां, संयम-परायण, तपस्वी, गुणवान् तथा त्रायी (षट्काय जीवों के रक्षक उन) दोनों के शिष्य-संघों में (यह) चिन्तन (विचार) उत्पन्न हुआ।

११. "यह (हमारा) 'धर्म' कैसा है, और (उनका) यह धर्म कैसा है? आचार-धर्म की व्यवस्था (समाचारी) यह (हमारी) कैसी है, और (उनकी) वह (समाचारी) कैसी है?"

१२. "यह 'चातुर्याम' (चार महाव्रतों वाला) धर्म है जिसकी देशना महामुनि पार्श्वनाथ ने की है, और (यह) पंचशिक्षात्मक (पांच महाव्रतों वाला) धर्म है जिसकी देशना (महामुनि) वर्द्धमान स्वामी ने की है।"

मूल : अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं? ।।१३।।

संस्कृत : अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः।
एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किं नु कारणम् ।।१३।।

मूल : अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ।।१४।।

संस्कृत : अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम्।
समागमे कृतमती, उभौ केशिगौतमौ ।।१४।।

मूल : गोयमे पडिरूवन्नू, सीससंघसमाउले।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो, तिन्दुयं वणमागओ ।।१५।।

संस्कृत : गौतमः प्रतिरूपज्ञः, शिष्यसंघसमाकुलः।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाणः, तिन्दुकं वनमागतः ।।१५।।

मूल : केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं।
पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ।।१६।।

संस्कृत : केशीकुमारश्रमणः, गौतमं दृष्ट्वाऽऽगतम्।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्, सम्यक् संप्रतिपद्यते ।।१६।।

मूल : पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ।।१७।।

संस्कृत : पलालं प्रासुकं तत्र, पंचमं कुशतृणानि च।
गौतमस्य निषद्यायै, क्षिप्रं संप्रणामयति ।।१७।।

मूल : केसीकुमारसमणे, गोयमे य महायसे।
उभओ निसण्णा सोहन्ति, चन्दसूरसमप्पभा ।।१८।।

संस्कृत : केशीकुमारश्रमणः, गौतमश्च महायशः।
उभौ निषण्णौ शोभेते, चन्द्रसूर्यसमप्रभौ ।।१८।।

१३. "(वर्द्धमान महावीर द्वारा निरूपित) जो (यह) धर्म 'अचेलक' (अवस्त्र या अल्पमूल्य के और अल्प परिमाण वाले श्वेतवस्त्र रखने की व्यवस्था वाला) है, और यह (पार्श्वनाथ-परम्परा का धर्म) 'सान्तरोत्तर' (यानी सान्तर-विशिष्ट वर्ण वाले, या बहुमूल्य वस्त्रों के रखने की व्यवस्था वाला) है। एक (ही मोक्ष-रूप) कार्य में (हम (दोनों) प्रवृत्त हैं, (फिर भी) इनमें विशेषता (भेद) का (आखिर) कारण क्या है?"

१४. तब, केशी और गौतम-उन दोनों ने (अपने) शिष्यों के 'वितर्क' (जिज्ञासा-पूर्ण विचार) को जानकर, वहां (श्रावस्ती में, परस्पर) मिलने का विचार किया।

१५. गौतम स्वामी 'प्रतिरूप' (औचित्यपूर्ण व्यवहार) के ज्ञाता थे। (केशी कुमार के) कुल को ज्येष्ठ मानते हुए, (अपने) शिष्य-समुदाय-सहित (वे स्वयं) तिन्दुक वन में पधारे।

१६. केशीकुमार श्रमण ने (भी) गौतम स्वामी को आया देख कर (उनकी) अच्छी तरह, 'प्रतिरूप प्रतिपत्ति' (यथोचित व्यवहार-संगत आदर-सत्कार की क्रिया) की।

१७. (उन्होंने) वहां तुरन्त ही गौतम स्वामी को बैठने के लिए प्रासुक (जीव-रहित, निर्दोष) पलाल (शाली, ब्रीहि, कोद्रव, कांगणी) इन चार प्रकार के अनाजों के (पलाल/घास) तथा पांचवीं 'कुश' (नामक) घास (डाभ) को प्रस्तुत किया।

१८. केशीकुमार श्रमण तथा महायशस्वी गौतम स्वामी-दोनों बैठे हुए (उस समय) चन्द्र व सूर्य की तरह शोभायमान हो, विराज रहे थे।

मूल : **समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया।**
गिहत्थाणं अणेगाओ, साहस्सीओ समागया।।१६।।

संस्कृत : समागता बहवस्तत्र, पाखण्डाः कौतुकाश्रिताः।
गृहस्थानामनेकानां, सहस्राणि समागतानि।।१६।।

मूल : **देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।**
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो।।२०।।

संस्कृत : देवदानवगन्धर्वाः, यक्षाराक्षसकिन्नराः।
अदृश्यानां च भूतानाम्, आसीत् तत्र समागमः।।२०।।

मूल : **पुच्छामि ते महाभाग! केसी गोयममब्बवी।**
तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी।।२१।।

संस्कृत : पृच्छामि त्वां महाभाग! केशीगौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत्।।२१।।

मूल : **पुच्छ भन्ते! जहिच्छं ते, केसिं गोयमअब्बवी।**
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी।।२२।।

संस्कृत : पृच्छतु भदन्त! यथेष्टं ते, केशिनं गौतमोऽब्रवीत्।
ततः केशी अनुज्ञातः, गौतममिदमब्रवीत्।।२२।।

मूल : **चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।**
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी।।२३।।

संस्कृत : चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना।।२३।।

मूल : **एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं?।**
धम्मे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते।।२४।।

संस्कृत : एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किन्नु कारणम्?।
धर्मे द्विविधे मेधाविन्! कथं विप्रत्ययो न ते।।२४।।

मूल : **तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी।**
पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं।।२५।।

संस्कृत : ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत्।
प्रज्ञा समीक्षते धर्मं, तत्त्वं तत्त्वविनिश्चयम्।।२५।।

१९. वहां, बहुत-से कौतूहल-प्रेमी, अज्ञानी अन्य-मतावलम्बी (परिव्राजक आदि) तथा हजारों गृहस्थ (श्रावक भी) पहुंच गए।

२०. वहां देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर तथा (अन्य) अदृश्य देवों का समागम हो गया।

२१. केशी श्रमण, गौतम स्वामी से बोले-"हे महाभाग! आपसे मैं (कुछ) पूछना चाहता हूँ। तब, केशीकुमार के (ऐसा) कहने पर गौतम स्वामी इस प्रकार बोले-

२२. "भन्ते! जैसी इच्छा हो, पूछें"-(ऐसा) गौतम स्वामी ने केशीकुमार से कहा। तदनन्तर अनुज्ञा प्राप्त कर, केशीकुमार ने गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा-

२३. "यह जो चातुर्याम धर्म है, जिसकी देशना महामुनि पार्श्वनाथ द्वारा हुई है, और जो यह 'पंचयाम' धर्म है, वह (महामुनि) वर्द्धमान द्वारा उपदिष्ट है।"

२४. एक (ही लक्ष्य रूप) कार्य में प्रवृत्त होने वालों (में विद्यमान वेश व चर्या) के (इस) भेद में (आखिर) कारण क्या है? हे मेधाविन्! (इन) दो प्रकार के धर्मों के विषय में आपको सन्देह कैसे (उत्पन्न) नहीं होता?"

२५. तब, (इस प्रकार) कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-"तात्विक निर्णय से युक्त धर्म के तत्व (यथार्थ स्वरूप) की समीक्षा (तो) 'प्रज्ञा' द्वारा ही (सम्भव) होती है।"

मूल : **पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा।**
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए।।२६।।

संस्कृत : पूर्वे ऋजुजडास्तु, वक्रजडाश्च पश्चिमाः।
मध्यमा ऋजुप्रज्ञास्तु, तेन धर्मो द्विधा कृतः।।२६।।

मूल : **पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।**
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ।।२७।।

संस्कृत : पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणां दुरनुपालकः।
कल्पो मध्यमगानां तु, सुविशोध्यः सुपालकः।।२७।।

मूल : **साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।**
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा!।।२८।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मे, तं मां कथय गौतम!।।२८।।

मूल : **अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।**
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा।।२९।।

संस्कृत : अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेन च महायशसा।।२९।।

मूल : **एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं?।**
लिंगे दुविहे मेहावी! कहं विप्पच्चओ न ते।।३०।।

संस्कृत : एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किन्नु कारणम्?।
लिङ्गे द्विविधे मेधाविन्! कथं विप्रत्ययो न ते।।३०।।

२६. "प्रथम (तीर्थंकर) के (समय में) साधु ऋजु व जड़ हुआ करते थे। अन्तिम (तीर्थंकर के समय में ये) वक्र व जड़ होते हैं, और मध्यवर्ती (तीर्थंकरों के समय में) ऋजु व प्राज्ञ होते हैं[1], इसलिए (उन लोगों की प्रज्ञा व स्वभाव को ध्यान में रखकर) 'धर्म' के दो रूप (उपदिष्ट) किये गये हैं।"

२७. "पूर्ववर्ती (प्रथम तीर्थंकर-कालीन) साधुओं के लिए 'कल्प' (साधु-सम्बन्धी आचार-नियम) दुर्विशोध्य (यथावत् शुद्ध रूप में दुर्ग्राह्य) हुआ करता है, चरम-कालीन तीर्थंकर के साधुओं के लिए (यह 'कल्प' शुद्ध रूप में दुर्ग्राह्य होने के साथ-साथ) दुस्साध्य (कठिनता से पालनीय) होता है, किन्तु मध्यवर्ती (तीर्थंकरों के समय में यह 'कल्प') 'सुविशोध्य' (सम्यक्तया समझ में आने योग्य) तथा 'सुपालनीय' (सरलता से पालन करने योग्य) होता है।"

२८. (केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा संशय दूर कर दिया है। मुझे एक और सन्देह है। हे गौतम! उसके सम्बन्ध में (भी) मुझे आप बताएं।"

२९. "महायशस्वी वर्द्धमान द्वारा जो (इस) 'अचेलक' (अवस्त्र व अल्पमूल्य अल्पपरिणाम वाले वस्त्रों के प्रयोग की अनुमति से युक्त) धर्म की देशना दी गई है, (किन्तु) महायशस्वी पार्श्वनाथ द्वारा जो (इस) 'सान्तरोत्तर' (विविधवर्णी व बहुमूल्य, अपेक्षाकृत अधिक परिणाम वाले वस्त्रों के प्रयोग की अनुमति से युक्त) धर्म की देशना दी गई है।"

३०. "एक (ही लक्ष्य रूप) कार्य में प्रवृत्त (इन दोनों) में (इस) भेद का (आखिर) क्या कारण है? हे मेधाविन्! (इन) दो प्रकार के लिंगों (साधु-वेशों) के सम्बन्ध में आपको (कभी) सन्देह कैसे नहीं होता है?"

---

१. ऋजु-जड़-सरल-स्वभावी, किन्तु मन्दमति। वक्र-जड़-विविध कुतर्क करने के स्वभाव वाले, साथ ही मन्दबुद्धि भी। ऋजु-प्राज्ञ-सरलस्वभावी तथा तत्व को शीघ्र हृदयंगम कर लेने वाले।

मूल : **केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी।**
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ।। ३१ ।।

संस्कृत : केशिनमेवं ब्रुवाणं तु, गौतम इदमब्रवीत्।
विज्ञानेन समागम्य, धर्मसाधनमीप्सितम् ।। ३१ ।।

मूल : **पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविह विगप्पणं।**
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ।। ३२ ।।

संस्कृत : प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम्।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम् ।। ३२ ।।

मूल : **अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा।**
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ।। ३३ ।।

संस्कृत : अथ भवेत्प्रतिज्ञा तु, मोक्षसद्भूतसाधनानि।
ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं चैव निश्चये ।। ३३ ।।

मूल : **साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।**
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।। ३४ ।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।। ३४ ।।

मूल : **अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा।**
ते य ते अहिगच्छन्ति, कहं ते निज्जिया तुमे ।। ३५ ।।

संस्कृत : अनेकानां सहस्राणां, मध्ये तिष्ठसि गौतम।
ते च त्वामभिगच्छन्ति, कथं ते निर्जितास्त्वया ।। ३५ ।।

मूल : **एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।**
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ।। ३६ ।।

संस्कृत : एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च, पञ्चसु जितेषु जिता दश।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ।। ३६ ।।

३१. केशीकुमार के इस प्रकार कहने पर गौतम स्वामी ने यह कहा- "विशिष्ट ज्ञान ('केवल') से जान-समझ कर (ही) धर्म के साधनों (साधु-वेशों) को अभीष्ट (प्रतिपादित) किया गया है।"

३२. "नाना प्रकार (के उपकरणों) की परिकल्पना (तो वास्तव में लोगों की) प्रतीति के उद्देश्य से की गई है। साथ ही (इस) 'लिंग' (बाह्य साधु-वेश) का लोक में प्रयोजन (तो 'संयम' की) यात्रा (के निर्वाह) हेतु, तथा (स्वयं को 'साधु' होने का बोध) ग्रहण करने हेतु (या अपनी पहचान कराने हेतु) हुआ करता है।"

३३. "निश्चय दृष्टि से तो (दोनों वेशवालों के लिए मान्य तथा तीर्थंकरों की एक) प्रतिज्ञा (स्वीकृत सिद्धान्त) है ही कि (सम्यक्) दर्शन, ज्ञान व चारित्र (ये रत्नत्रय) मोक्ष के वास्तविक साधन (भूत मार्ग) हैं।"

३४. (केशीकुमार मुनि ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मुझे (एक) और संशय है। हे गौतम! उसके सम्बन्ध में (भी) आप बताएं।"

३५. "हे गौतम! आप अनेक सहस्र (शत्रुओं) के (बीच) मध्य रहते हैं, और वे (आपको जीतने के लिए) आपकी ओर आ रहे हैं। आपने उन्हें किस प्रकार विजय किया है?"

३६. (गौतम स्वामी बोले-) "(भगवन्!) एक (शत्रु) को जीत लेने पर पांच (शत्रु) जीत लिए जाते हैं, पांचों को जीत लेने पर, दश (शत्रु) जीत लिए जाते हैं, और दस (शत्रुओं) को जीत कर मैं सभी शत्रुओं को जीत चुका हूँ।"

मूल : सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।। ३७ ।।

संस्कृत : शत्रवश्च इति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।। ३७ ।।

मूल : एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ।। ३८ ।।

संस्कृत : एक आत्माऽजितः शत्रुः, कषाया इन्द्रियाणि च।
तान् जित्वा यथान्यायं, विहराम्यहं मुने! ।। ३८ ।।

मूल : साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।। ३९ ।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।। ३९ ।।

मूल : दीसन्ति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी! ।। ४० ।।

संस्कृत : दृश्यन्ते बहवो लोके, पाशबद्धाः शरीरिणः।
मुक्तपाशो लघुभूतः, कथं त्वं विहरसि मुने! ।। ४० ।।

मूल : ते पासे सव्वसो छित्ता, निहन्तूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ।। ४१ ।।

संस्कृत : तान् पाशान् सर्वशश्छित्त्वा, निहत्योपायतः।
मुक्तपाशो लघुभूतः, विहराम्यहं मुने! ।। ४१ ।।

मूल : पासा य इइ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।। ४२ ।।

संस्कृत : पाशाश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।। ४२ ।।

मूल : रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ।। ४३ ।।

संस्कृत : रागद्वेषादयस्तीव्राः, स्नेहपाशा भयंकराः।
तान् छित्त्वा यथान्यायं, विहरामि यथाक्रमम् ।। ४३ ।।

३७. केशीकुमार श्रमण ने गौतमस्वामी से कहा है- "हे गौतम! (आपने अभी) किन शत्रुओं का वर्णन किया है?" (इस प्रकार) कह रहे केशीकुमार को, तब गौतम स्वामी ने यह कहा-

३८. "अविजित आत्मा (वशीभूत नहीं किया हुआ मन) 'एक' शत्रु है, (चार) कषाय व (पांच) इन्द्रियां (नौ शत्रु) हैं। उन (मन, चार कषाय, पांच इन्द्रियां- इन दस शत्रुओं) को जीतकर, मैं न्याय-संगत (शास्त्र-मर्यादानुरूप) रीति से विहार करता हूँ।"

३९. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

४०. "हे मुने! (इस) संसार में बहुत-से शरीरधारी (प्राणी) पाश में बंधे दिखाई देते हैं। (आप) पाश-मुक्त व लघुभूत (वायु-जैसे हलके/पाप-भार से मुक्त) होकर कैसे विचरण करते हैं?"

४१. (गौतमस्वामी बोले-) "हे मुने! उन पाशों (बन्धनों) का सभी तरह से छेदन (काट) कर तथा (उन्हें) उपाय-पूर्वक विनष्ट कर, मैं पाश-मुक्त व लघुभूत वायु की तरह हलका-भारमुक्त होकर विचरण करता हूं।"

४२. केशीकुमार श्रमण ने गौतमस्वामी को कहा- "(आपने) किन पाशों के बारे में कहा है? ऐसा कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

४३. "हे मुने! तीव्र राग द्वेष आदि व स्नेह (आसक्ति, ममत्व भाव ही) भयंकर 'पाश' (बन्धन) हैं। उन्हें न्याय-संगत रीति से छेदन (जीत) कर, क्रमानुरूप ज्ञान-क्रिया (परम्परा) के अनुरूप मैं विहार करता हूँ।"

मूल : साहु गायेम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।४४।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।४४।।

मूल : अन्तोहिअयसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा! ।
फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कहं? ।।४५।।

संस्कृत : अन्तर्हृदयसंभूता, लता तिष्ठति गौतम! ।
फलति विषभक्ष्याणि, सा तूद्धृता (उत्पाटिता) कथम्? ।।४५।।

मूल : तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ।।४६।।

संस्कृत : तां लतां सर्वतश्छित्त्वा, उद्धृत्य समूलिकाम्।
विहरामि यथान्यायं, मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात् ।।४६।।

मूल : लया य इइ का वुत्ता? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।४७।।

संस्कृत : लता च इति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।४७।।

मूल : भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी! ।।४८।।

संस्कृत : भवतृष्णा लता उक्ता, भीमा भीमफलोदया।
तामुच्छित्त्य यथान्यायं, विहरामि महामुने! ।।४८।।

मूल : साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।४९।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।४९।।

मूल : संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा! ।
जे डहन्ति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ।।५०।।

संस्कृत : संप्रज्वलिता घोराः, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम! ।
ये दहन्ति शरीरस्थाः, कथं विध्यापितास्त्वया ।।५०।।

४४. (केशीकुमार श्रमण ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

४५. "हे गौतम! एक लता (है जो) अन्तर हृदय में पैदा होती है। उसको विष-तुल्य फल (भक्ष्य) लगते हैं। (आप ने) उस लता को कैसे उखाड़ फैंका है?"

४६. (गौतम स्वामी ने कहा-) "मुने! मैं उस लता (विष-बेल) को सर्वथा काट कर और मूल से उखाड़ कर न्यायोचित (शास्त्रमर्यादानुरूप) रीति से विहार करता हूं (इसलिए) विष-(फलों) के खाने से मुक्त हो चुका हूं।"

४७. (तब) केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "किस लता का (आपने) कथन किया है?" तदनन्तर (इस प्रकार) कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

४८. "हे महामुने! भव-तृष्णा (सांसारिक सुख-इच्छा) को ही भयप्रद (क्लिष्ट कर्म रूप फल देने वाली) भयंकर लता कहा है, उसे न्यायोचित (शास्त्रमर्यादा अनुरूप) रीति से उखाड़कर मैं विचरण करता हूं।"

४९. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ट है। आपने मेरा यह संशय (भी) दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में मुझे आप बताएं।"

५०. "हे गौतम! घोर (प्रचण्ड) प्रज्ज्वलित अग्नियां (संसार में) विद्यमान हैं, जो प्राणियों के शरीर में स्थित होकर (प्राणियों के अन्तर को) जलाती रहती हैं, आपने उन्हें कैसे बुझाया?"

मूल : **महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं।**
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहन्ति मे ।।५१।।

संस्कृत : महामेघप्रसूतात्, गृहीत्वा वारि जलोत्तमम्।
सिञ्चामि सततं देहं, सिक्ता न च दहन्ति माम् ।।५१।।

मूल : **अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।**
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।५२।।

संस्कृत : अग्नयश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।५२।।

मूल : **कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं।**
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ।।५३।।

संस्कृत : कषाया अग्नय उक्ताः, श्रुतशीलतपो जलम्।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्नाः खलु न दहन्ति माम् ।।५३।।

मूल : **साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।**
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।५४।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।५४।।

मूल : **अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।**
जंसि गोयम! आरूढो, कहं तेण न हीरसि? ।।५५।।

संस्कृत : अयं साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति।
यस्मिन् गौतम! आरूढः, कथं तेन न ह्रियसे ।।५५।।

मूल : **पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।**
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ।।५६।।

संस्कृत : प्रधावन्तं निगृण्हामि, श्रुतरश्मिसमाहितम्।
न मे गच्छत्युन्मार्गं, मार्गं च प्रतिपद्यते ।।५६।।

मूल : **आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।**
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।५७।।

संस्कृत : अश्वश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।५७।।

५१. (गौतम स्वामी ने कहा-) "(हे महामुने) महामेघ (या महामेधा-महान्-प्रज्ञा) के स्रोत से श्रेष्ठ (पवित्र) जल लेकर मैं निरन्तर उन (अग्नियों) को सींचता रहता हूँ। सिंचित् हुई (ये अग्नियां) मुझे जला नहीं पातीं।"

५२. केशी कुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "आपने किन अग्नियों का कथन किया है?" यह कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

५३."(क्रोध आदि चार) कषायों को 'अग्नि' कहा है। श्रुत, शील व तप (पवित्र) जल हैं। 'श्रुत' ज्ञान की धारा से प्रताड़ित/सिंचित् हुई (तथा निस्तेज होने से) विनष्ट-बुझ चुकी (वे अग्नियां) मुझे जला ही नहीं पातीं।"

५४. (श्रमण केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने ने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

५५. "यह दुःसाहसी भयंकर दुष्ट घोड़ा (चारों ओर) दौड़ता रहता है, जिस पर आप आरूढ़ हुए हैं, वह (दुष्ट घोड़ा आपको उन्मार्ग पर) कैसे नहीं ले गया?"

५६. (गौतमस्वामी ने कहा-) "(हे महामुने!) दौड़ने वाले (उस घोड़े) को मैं श्रुत(ज्ञान) की रस्सी (लगाम) से बांधे हुए हूँ, (नियंत्रित किए हूं।) (अतः) मुझे (वह घोड़ा) उन्मार्ग पर नहीं ले जाता, और वह (प्रशस्त) मार्ग पर (ही) चलता है।"

५७. केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से कहा- "(आपने) अश्व किसे कहा है?" (तदनन्तर) यह कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

मूल : मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ।।५८।।

संस्कृत : मनः साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति।
तं सम्यक् तु निगृण्हामि, धर्मशिक्षायै कंथकम्(इव) ।।५८।।

मूल : साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।५९।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।५९।।

मूल : कुप्पहा बहवे लोए, जेसिं नासन्ति जन्तवो।
अद्धाणे कहं वट्टन्तो, तं न नाससि गोयमा! ।।६०।।

संस्कृत : कुपथा बहवो लोके, यैर्नश्यन्ति जन्तवः।
अध्वनि कथं वर्तमानः, त्वं न नश्यसि गौतम! ।।६०।।

मूल : जे य मग्गेण गच्छन्ति, जे य उम्मग्गपट्ठिया।
ते सव्वे वेइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी ।।६१।।

संस्कृत : ये च मार्गेण गच्छन्ति, ये चोन्मार्गप्रस्थिताः।
ते सर्वे विदिता मया, तस्मान्न नश्याम्यहं मुने! ।।६१।।

मूल : मग्गे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।६२।।

संस्कृत : मार्गश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।६२।।

मूल : कुप्पवयणपासण्डी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ।।६३।।

संस्कृत : कुप्रवचनपाखण्डिनः, सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः।
सन्मार्गं तु जिनाख्यातम्, एष मार्गो हि उत्तमः ।।६३।।

५८. "(हे महामुने!) मन (ही) दुःसाहसी, भयंकर दुष्ट अश्व है जो चारों ओर दौड़ता रहता है। धर्म-शिक्षा के द्वारा उसे 'कन्थक' (श्रेष्ठ प्रशिक्षित घोड़े) की तरह नियंत्रित किए रहता हूँ।"

५९. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय (भी) दूर कर दिया है। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

६०. "हे गौतम! संसार में अनेक कुमार्ग हैं जिनमें प्राणी नष्ट हो जाते हैं- अर्थात् भटक जाते हैं। (सु) मार्ग पर चलते हुए आप किस प्रकार भ्रष्ट हो भटके नहीं हैं?"

६१. (गौतम स्वामी ने कहा-) "हे मुने! जो सन्मार्ग पर चलते हैं, और जो उन्मार्ग पर चलते हैं, मैंने उन सब (के सुफल-दुष्फल) को जान लिया है, इसलिए मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट हो भटका नहीं हूँ।"

६२. श्रमण केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "आपने किस मार्ग (सन्मार्ग व उन्मार्ग) का कथन किया है?" (तदनन्तर) यह कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने कहा-

६३. "(हे महामुने!) कुप्रवचनों (मिथ्या, एकान्तवादी मान्यताओं) के सभी मतानुयायी- 'उन्मार्ग की ओर प्रस्थान करने वाले हैं। सन्मार्ग (तो एकमात्र) जिनेन्द्र-उपदिष्ट (अनेकान्त व अहिंसा का मार्ग ही) है। और यही दया-विनयमूलक होने से, एकमात्र उत्तम मार्ग है।"

मूल : **साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।**
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।६४।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम।।६४।।

मूल : **महाउदगवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।**
सरणं गई पइट्ठं य, दीवं कं मन्नसी? मुणी! ।।६५।।

संस्कृत : महोदकवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम्।
शरणं गतिं प्रतिष्ठां च, द्वीपं कं मन्यसे? मुने!।।६५।।

मूल : **अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।**
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ।।६६।।

संस्कृत : अस्त्येको महाद्वीपः, वारिमध्ये महालयः।
महोदकवेगस्य, गतिस्तत्र न विद्यते ।।६६।।

मूल : **दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।**
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।६७।।

संस्कृत : द्वीपश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।६७।।

मूल : **जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।**
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।६८।।

संस्कृत : जरामरणवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम्।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ।।६८।।

मूल : **साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।**
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।६९।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।६९।।

मूल : **अण्णवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावई।**
जंसि गोयममारूढो, कहं पारं गमिस्ससि? ।।७०।।

संस्कृत : अर्णवे महौघे, नौर्विपरिधावति।
यस्यां गौतम! आरूढः, कथं पारं गमिष्यसि? ।।७०।।

६४. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

६५. "हे मुने! महान् वेगपूर्ण जल-प्रवाह में बहते/ डूबते हुए प्राणियों के लिए आप किसे शरण स्थान, गति (आधार-स्थान), प्रतिष्ठा (आश्रय) का स्थान, व द्वीप (निवास-स्थान) मानते हैं?"

६६. (गौतम स्वामी ने कहा-) "जल (प्रवाह) के बीच एक विशाल/महाद्वीप है। वहां महान् जल प्रवाह (जन्म-मृत्यु) के वेग की गति (पहुंच) नहीं हो पाती।"

६७. मुनि केशी कुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "आपने किस द्वीप का कथन किया है?" (तदनन्तर) यह कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

६८. "(उक्त) जल प्रवाह में, जन्म जरा-मृत्यु के वेग में बहते/डूबते हुए प्राणियों के लिए (जिनोक्त) धर्म (ही) उत्तम शरण-स्थान, गति (आधार-भूमि), प्रतिष्ठा (आश्रय-स्थान) व द्वीप (निवास योग्य सुरक्षित स्थल) है।

६९. (केशीकुमार मुनि ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय (भी) दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

७०. "हे गौतम! महा प्रवाह से युक्त समुद्र में (एक) नौका विपरीत दिशाओं में दौड़ती हुई डगमगा रही है। जिस पर आप (गौतम) आरूढ़ हैं। ऐसी स्थिति में आप कैसे पार जा सकेंगे?"

मूल : जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ।।७१।।

संस्कृत : या त्वास्राविणी नौः, न सा पारस्य गामिनी।
या निरास्राविणी नौः, सा तु पारस्य गामिनी ।।७१।।

मूल : नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।७२।।

संस्कृत : नौश्चेति कोक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।७२।।

मूल : सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।।७३।।

संस्कृत : शरीरमाहुर्नौरिति, जीव उच्यते नाविकः।
संसारोऽर्णव उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ।।७३।।

मूल : साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।७४।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।७४।।

मूल : अधंयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं? सव्वलोगम्मि पाणिणं ।।७५।।

संस्कृत : अन्धकारे तमसि घोरे, तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः।
कः करिष्यत्युद्योतं? सर्वलोके प्राणिनाम् ।।७५।।

मूल : उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोयपभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ।।७६।।

संस्कृत : उद्गतो विमलो भानुः, सर्वलोकप्रभाकरः।
सः करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ।।७६।।

मूल : भाणू अ इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।७७।।

संस्कृत : भानुश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।७७।।

७१. (गौतम स्वामी ने कहा-) "जो नौका सछिद्र होती है, वह पार नहीं हो सकती। किन्तु जो छिद्र रहित नौका होती है, वह पार जा सकती है।"

७२. श्रमण केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "आपने किस नौका का कथन किया है?" (तदनन्तर) यह कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

७३. "(इस) शरीर को नौका कहा है, जीव को नाविक कहा है और जन्म-मृत्यु रूप संसार को समुद्र कहा है, जिसे महर्षि कर्मों के आगमन रूपी छिद्र से रहित, शरीर रूपी नौका द्वारा पार कर पाते हैं।"

७४. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने ने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

७५. (हे गौतम!) घोर अन्धकार में बहुत से प्राणी रह रहे हैं। समस्त संसार में उन अज्ञान से अन्ध बने जीवों के लिए कौन प्रकाश (मार्ग दर्शन) करेगा?

७६. (गौतम स्वामी ने कहा-) "समस्त लोक को प्रकाशित करने वाला विमल (मेघादि से अनाच्छादित) सूर्य उदित हो चुका है। वह (ही) समस्त लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश (मार्गदर्शन) करेगा।"

७७. श्रमण केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "आपने किस सूर्य का कथन किया है?" (तदनन्तर) यह कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

मूल : उग्गओ खीणसंसारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ।।७८।।

संस्कृत : उद्गतः क्षीणसंसारः, सर्वज्ञो जिनभास्करः।
स करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ।।७८।।

मूल : साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ।।७९।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ।।७९।।

मूल : सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी! ।।८०।।

संस्कृत : शारीरमानसैर्दुःखैः, बाध्यमानानां प्राणिनाम्।
क्षेमं शिवमनाबाधं, स्थानं किं मन्यसे मुने! ।।८०।।

मूल : अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ।।८१।।

संस्कृत : अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यू, व्याधयो वेदनास्तथा ।।८१।।

मूल : ठाणे य इइ के वुत्ते? केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।८२।।

संस्कृत : स्थानं चेति किमुक्तं? केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।।८२।।

मूल : निव्वाणंति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ।।८३।।

संस्कृत : निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यच्चरन्ति महर्षयः ।।८३।।

मूल : तं ठाणं सासयावासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ।।८४।।

संस्कृत : तत्स्थानं शाश्वतावासं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवौघान्तकरा मुने! ।।८४।।

७८. "(जिसका) संसार (राग-द्वेष रूप भाव जगत्) क्षीण नष्ट हो चुका है (ऐसे) सर्वज्ञ जिनेन्द्र रूपी सूर्य का उदय हो चुका है, वही समस्त लोक के प्राणियों के लिए प्रकाश (व मार्गदर्शन) करेगा।"

७९. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने ने मेरा यह संशय दूर कर दिया। (किन्तु एक) अन्य संशय भी मुझे है, हे गौतम! उसके विषय में (भी) मुझे आप बताएं।"

८०. "हे मुने! (विविध) शारीरिक व मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे प्राणियों के लिए आप किसे क्षेमकारी, शिव (जरा, रोग आदि उपद्रव से रहित) तथा बाधारहित स्थान मानते हैं?"

८१.(गौतम स्वामी ने कहा-) "(हे मुने!) लोक के अग्रभाग में एक शाश्वत स्थान है, जहां पहुंचना कठिन होता है, और वहां वृद्धावस्था, मृत्यु तथा (किसी प्रकार की) व्याधियां व वेदनाएं नहीं होतीं।"

८२. श्रमण केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी से कहा- "आपने किस स्थान का कथन किया है?" ऐसा कहने पर केशीकुमार को गौतम स्वामी ने यह कहा-

८३. "(वह स्थान) 'निर्वाण' (नाम वाला) है, बाधारहित है, 'सिद्धि' (पद) है, लोक के अग्रभाग में स्थित है। (वह) क्षेमकारी, शिव और बाधाओं (बन्धनों) से रहित है, जहां महर्षि विचरण करते हैं।"

८४. "वह स्थान (प्राणियों के लिए) शाश्वत आवास है, जो लोक के अग्रभाग में स्थित और दुष्प्राप्य है। संसार-समुद्र का अन्त कर देने वाले मुनि (ही) जिसे प्राप्त करते हैं और वे पुनः शोक-युक्त नहीं होते।"

मूल : साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
नमो ते संसयातीत! सव्वसुत्तमहोयही ।।८५।।

संस्कृत : साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
नमस्तुभ्यं संशयातीत! सर्वसूत्रमहोदधे! ।।८५।।

मूल : एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे।
अभिवन्दित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ।।८६।।

संस्कृत : एवं तु संशये छिन्ने, केशी घोरपराक्रमः।
अभिवन्द्य शिरसा, गौतमं तु महायशसम् ।।८६।।

मूल : पंचमहव्वयधम्मं, पडिवज्जइ भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ।।८७।।

संस्कृत : पञ्चमहाव्रतधर्मं, प्रतिपद्यते भावतः।
पूर्वस्य पश्चिमे, मार्गे तत्र सुखावहे ।।८७।।

मूल : केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमे।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ।।८८।।

संस्कृत : केशिगौतमयोर्नित्यं, तस्मिन्नासीत् समागमः।
श्रुतशीलसमुत्कर्षः, महार्थार्थविनिश्चयः ।।८८।।

मूल : तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु, भयवं केसिगोयमे ।।८९।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : तोषिता परिषत् सर्वा, सन्मार्गं समुपस्थिता।
संस्तुतौ तौ प्रसीदताम्, भगवन्तौ केशिगौतमौ ।।८९।।
इति ब्रवीमि।

८५. (महामुनि केशीकुमार ने कहा-) "हे गौतम! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया है। हे संशयातीत! सर्व-सूत्रों (सिद्धान्त-शास्त्रों आगमों) के समुद्र! आपको (मेरा) नमस्कार है।"

८६. इस प्रकार (अपने) संशय का निवारण हो जाने पर, घोर पराक्रम वाले केशीकुमार श्रमण ने महायशस्वी गौतम स्वामी को सिर झुकाकर अभिवन्दना की और-

८७. (उन्होंने) पूर्व (आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव) तथा पश्चिम (अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर) के सुखावह कल्याणकारी मार्ग में (अथवा पूर्व तीर्थंकर भ. पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से अन्तिम तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित मार्ग में) भावपूर्वक 'पांच महाव्रत' रूप धर्म को वहां अंगीकार किया।

८८. (उस उद्यान में) केशीकुमार श्रमण तथा गौतमस्वामी के (मध्य हुए) उस 'समागम' में श्रुत (ज्ञान) व शील (चारित्र) का उत्कर्ष हुआ और महान् अर्थ वाले (अर्थात् मोक्ष के साधक) पदार्थों (शिक्षाव्रतों, नियमों व साधुचर्या आदि) के सम्बन्ध में निश्चय (भी) हुआ।

८९. (इस धर्म-चर्चा से) समस्त (देव-मनुष्य) परिषद् संतुष्ट हुई, और सन्मार्ग के प्रति समुद्यत (भी) हुई। (उस परिषद् द्वारा) उन (दोनों-) भगवान् केशीकुमार व भगवान् गौतम स्वामी की स्तुति की गयी, वे प्रसन्न हों।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

एक बार भगवान् पार्श्वनाथ के सुयोग्य शिष्य केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती के तिंदुक उद्यान में तथा भगवान् महावीर के सुयोग्य शिष्य गौतम स्वामी श्रावस्ती के कोष्ठक उद्यान में अपने-अपने शिष्यों सहित पधारे। उनके शिष्यों में एक-दूसरे की वेश व आचार सम्बन्धी भिन्नता देख कर जिज्ञासायें जागीं। उनके समाधान हेतु गौतम स्वामी तिन्दुक उद्यान पधारे। केशी श्रमण ने उनका यथा योग्य सत्कार किया। वहां दोनों में हुए संवाद से सभी की जिज्ञासायें शमित हुईं।

गौतम स्वामी ने फरमाया कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु-जड़, अंतिम के वक्र-जड़ व शेष तीर्थंकरों के साधु ऋजु-प्राज्ञ होते हैं। साधक-स्थिति के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ ने चतुर्याम व भगवान् महावीर ने पंचयाम धर्म प्रतिपादित किया। वेशभूषा व उपकरणों के प्रति अपने साधकों की सहज अनासक्ति के कारण पार्श्व प्रभु ने उनके नियम विस्तार से प्रतिपादित नहीं किये जबकि वीर प्रभु ने अपने साधकों की स्थिति के कारण किये। सभी तीर्थंकरों ने सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र को मोक्ष-मार्ग बताया। पांचों इन्द्रियों, चारों कषायों व एक मन, इन दस को जीत लेने पर सब शत्रुओं को जीत लिया जाता है। राग द्वेष के बंधन धर्म से कटते हैं। सांसारिक तृष्णा की विष-बेल धर्म से समूल उखड़ती है। कषायों की आग श्रुत, शील व तप के जल से बुझती है। मन का दुष्ट घोड़ा शास्त्र-ज्ञान-रूपी लगाम से वशीभूत हो सन्मार्ग-गामी बनता है। मिथ्यादर्शन उन्मार्ग है। जिनेन्द्र-कथित धर्म सन्मार्ग है। ज्ञान से उन्मार्ग-त्याग व सन्मार्ग-वरण संभव है। धर्म ही जरा-मरण-वेग में बहते प्राणियों के लिये एकमात्र द्वीप व उत्तम शरण है। शरीर नौका, जीव नाविक व संसार समुद्र है। महर्षि इसे पार कर निर्वाण प्राप्त करते हैं। समाधान प्राप्त कर केशी श्रमण शिष्यों सहित प्रभु महावीर के धर्म-संघ में सम्मिलित हुए। देव-मनुष्य-असुरों से परिपूर्ण वह धर्म-सभा उस ज्ञान-चर्चा से सन्मार्ग पर दृढ़ आस्था-सम्पन्न हुई।

❑❑

अध्ययन—24

प्रवचन-माता

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है—समस्त संसार से शीघ्र ही मुक्त होने का मार्ग। इसमें सत्ताईस गाथायें हैं। आठ प्रवचन-माताओं के माध्यम से यह विषय साकार हुआ है। इसीलिये इसका नाम 'प्रवचन-माता' रखा गया। प्रवचन का अर्थ है—समस्त द्वादशांगी जिन-वाणी। मां बालक को जन्म देती है। उसका पालन-पोषण करती है। उसका व्यक्तित्व निर्मित करती है। उसी में अपने होने की सार्थकता पाती है। उसी प्रकार जिन-वाणी साधक को जन्म देती है। उसका पालन-पोषण करती है। उसका व्यक्तित्व निर्मित करती है। उसी में फलित व अभिव्यक्त होकर साकार होती है। इस मां की विशेषता यह है कि इसका वात्सल्य जन्म व मृत्यु तक सीमित नहीं होता। साधक के परम लक्ष्य प्राप्त करने तक यह वात्सल्य उसे बल देता रहता है।

प्रवचन-माता साधक को प्रायः सहजता से प्राप्त नहीं होती। मनुष्य-देह, प्रवचन-श्रवण के अवसर, श्रद्धा, ज्ञान व तदनुरूप आचरण के संयोग के समान उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। प्रवचन-मातायें दुर्लभ शुभ संयोगों के उपस्थित होने पर अपने श्रम व पराक्रम से जीव अर्जित करता है। यह अर्जन उसकी आत्मिक सम्पदा है। अक्षय सम्पदा। एक बार इसे अर्जित कर लेने पर भव-भ्रमण से ये मातायें उसकी रक्षा करती हैं। उसे सन्मार्ग देती हैं। प्रस्तुत अध्ययन जिन-वाणी-सार-रूपी इन्हीं माताओं का स्वरूप स्पष्ट करता है।

पांच समितियों और तीन गुप्तियों से यह स्वरूप निर्मित हुआ है। शुभ दिशा में प्रवृत्ति समिति है और अशुभ भावों-वचनों-कर्मों का निवारण गुप्ति। गुप्ति का अर्थ है—अपने जीवन से अशुभ का मूलोच्छेद करते हुए अपनी आत्मा को अशुभ के अनिष्ट से सुरक्षित कर देना। समिति का अर्थ है—अपने जीवन को शुभत्व से परिपूर्ण करते हुए अपनी आत्मा को परम मंगल के मार्ग पर अग्रसर कर देना। अशुभ से सुरक्षित और शुभ से परिपूर्ण जीवन ही प्रवचन-माता-सम्पन्न जीवन है।

वस्तुतः आठ प्रवचन-माताओं के रूप में उस विवेक को अभिव्यक्ति मिली है, जो पाप-कर्म-बंधन को असम्भव बना देता है। इन से यह भी ज्ञात होता है कि विवेक केवल अमूर्त या निराकार शक्ति नहीं है। पांच समितियों और तीन गुप्तियों के रूप में सक्रिय होते हुए उसे देखा भी जा सकता है। जाना जा सकता है। भिन्न-भिन्न संदर्भों में विवेक-शक्ति को साकार रूप देने के

कारण साधक-जीवन में आठों प्रवचन-माताओं का आत्यंतिक महत्त्व है। विवेक को यदि आत्मा मान लें तो आठ प्रवचन-माताओं से युक्त साधना उसका शरीर होगी। दूसरे शब्दों में यह साधना ही साधक की मां होगी, जो उसके अस्तित्व की अनिवार्यता है।

अहिंसा के प्रकाश में यह साधना सम्भव व सम्पन्न होती है। अहिंसा ही सम्यक् आचार का प्रतिमान है। विवेक वस्तुतः अहिंसा-बोध ही है। साधक द्वारा विवेक से आना-जाना 'ईर्या समिति' का पालन करना है। असत्य, कठोर व अहितकारी भाषा न बोलना 'भाषा समिति' का पालन करना है। आहार, स्थान व अन्य आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करने में आगम-वर्णित मर्यादाओं का पालन करना 'एषणा समिति' है। वस्तुओं को विवेक से उठाना-रखना व उपयोग करना 'आदान-निक्षेप' के अन्तर्गत आता है। मल-मूत्र-विसर्जन व अनुपयोगी पदार्थों को परठते हुए विवेक से संचालित होना -परिष्ठापना समिति' कहलाती है। पांचों समितियों का उद्देश्य पूर्णतः अहिंसक व्यवहार करना है।

मन से सभी पापों का पूर्ण निवारण मनोगुप्ति है। वचन को अशुभत्व से मुक्त रखना वचन-गुप्ति है। कर्मों को पाप-स्पर्श से दूर रखना काय-गुप्ति है। तीनों गुप्तियों का उद्देश्य प्रत्येक पाप की प्रत्येक आशंका से अपने जीवन को सुरक्षित रखना है। पांच समितियां व तीन गुप्तियाँ साधक-जीवन का मूल-आचार हैं। इन आठों प्रवचन-माताओं का गहन विवेचन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

प्रवचन-माताओं के आत्यंतिक महत्त्व का एक और पक्ष यह है कि इनका पालन किये बिना आज तक कोई भी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त न हुआ। दूसरी ओर जैन इतिहास में ऐसे महापुरुष हो चुके हैं, जिन्हें द्वादशांग की स्वाध्याय करने का अवसर नहीं मिला परन्तु इन प्रवचन-माताओं के ज्ञानाधार पर जो सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। मुनि गजसुकुमाल ऐसे ही महापुरुषों में से एक हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में किया गया धर्म-मार्ग का सुस्पष्ट व सर्वांगपूर्ण विवेचन श्रमण जीवन का आधार तो है ही, वांछनीय जीवन-पद्धति भी है। इस दृष्टि से अन्य सभी वर्गों के लिये वांछनीय जीवन प्रदान कर सकने की पूर्ण क्षमता रखने के कारण भी इस अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह समिइओ चउवीसइमं अज्झयणं

(अथ समितयः (इति) चतुर्विंशमध्ययनम्)

मूल : अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिआ ।।१।।

संस्कृत : अष्टौ प्रवचनमातरः, समितयो गुप्तयस्तथैव च।
पञ्चैव च समितयः, तिस्रो गुप्तय आख्याताः ।।१।।

मूल : इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ।।२।।

संस्कृत : ईर्याभाषैषणादानोच्चाररूपाः समितय इति।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः, कायगुप्तिश्चाष्टमी ।।२।।

मूल : एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ।।३।।

संस्कृत : एता अष्टौ समितयः, समासेन व्याख्याताः।
द्वादशांगं जिनाख्यातं, मातं यत्र तु प्रवचनम् ।।३।।

मूल : आलम्बणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ।।४।।

संस्कृत : आलम्बनेन कालेन, मार्गेण यतनया च।
चतुष्कारणपरिशुद्धां, संयत ईर्यां रीयेत ।।४।।

मूल : तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पह-वज्जिए ।।५।।

संस्कृत : तत्रालम्बनं ज्ञानं, दर्शनं चरणं तथा।
कालश्च दिवस उक्तः, मार्ग उत्पथवर्जितः ।।५।।

चौबीसवां अध्ययन : प्रवचन-माता

१. आठ प्रवचन-माताएं हैं- समिति और गुप्ति। (ये) समितियां पांच, तथा गुप्तियां तीन कही गई हैं।

२. ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति, उच्चार समिति, (इन पांच समिति रूप प्रवचन माताओं के साथ) मनोगुप्ति (छठी), वचन गुप्ति (सातवीं) तथा काय गुप्ति आठवीं (प्रवचन माता) है।

३. ये आठ समितियां[1] संक्षेप में वर्णित की गई हैं, (किन्तु यदि इनका विस्तार करें तो) जिसमें जिनेन्द्र प्ररूपित द्वादश अंग रूप (समग्र) प्रवचन 'मात' (अर्थात् समाहित, अन्तर्भूत है, और इसी माता के गर्भ से प्रसूत होता) है।

४. मुनि इन चार कारणों- आलम्बन, काल, मार्ग व यतना से परिशुद्ध 'ईर्या' (समिति के अनुरूप) गमन करे।

५. इनमें (ईर्या-समिति का) आलम्बन है- ज्ञान, दर्शन व चारित्र (अर्थात् ज्ञान आदि पूर्वक ही ईर्या-गमन करना अपेक्षित है)। उसका काल है- दिन (अर्थात् रात में गमन नहीं करना चाहिए) और मार्ग है-उन्मार्ग का त्याग।

---

१. प्रविचार (निवृत्ति), अप्रविचार (प्रवृत्ति) रूप से गुप्तियाँ दो प्रकार की हैं। प्रवृत्ति अंश से गुप्तियों को भी समिति कहा जाता है।

मूल : दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ।।६।।

संस्कृत : द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा।
यतनाश्चतुर्विधा उक्ताः, ता मे कीर्तयतः शृणु ।।६।।

मूल : दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ।।७।।

संस्कृत : द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत, युगमात्रं च क्षेत्रतः।
कालतो यावद्रीयेत, उपयुक्तश्च भावतः ।।७।।

मूल : इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पञ्चहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ।।८।।

संस्कृत : इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्यायं चैव पञ्चधा।
तन्मूर्त्तिः (सन्) तत्पुरस्कारः, उपयुक्त ईर्यां रीयेत ।।८।।

मूल : कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ।।९।।

संस्कृत : क्रोधे माने च मायायां, लोभे चोपयुक्तता।
हास्ये भये च मौखर्ये, विकथासु तथैव च ।।९।।

मूल : एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ।।१०।।

संस्कृत : एतान्यष्टौ स्थानानि, परिवर्ज्य संयतः।
असावद्यां मितां काले, भाषां भाषेत प्रज्ञावान् ।।१०।।

मूल : गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ।।११।।

संस्कृत : गवेषणायां ग्रहणे च, परिभोगैषणा च या।
आहारोपधिशय्यासु, एतास्तिस्रोऽपि शोधयेत् ।।११।।

६. द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से - (इस प्रकार) 'यतना' चार प्रकार की कही गई है। उसका मैं वर्णन कर रहा हूं, सुनो!

७. द्रव्य से (यतना है) आंखों से (गन्तव्य मार्ग को) देखना। क्षेत्र से (यतना) है- युगमात्र (चार हाथ भूमि) को देखकर चले। काल से (यतना) है- (गमन करते समय तक देखकर चलना)। भाव से उपयोग (जीव रक्षा का विचार) युक्त गमन करना।

८. (ईर्या समिति में यह अपेक्षित है-साधक) इन्द्रियों के (शब्द, रूप आदि) विषयों (में उपयोग) का तथा (वाचना आदि) पांच प्रकार के स्वाध्याय का परित्याग कर, (मात्र) उस (गमन क्रिया) में ही तन्मय होकर तथा उसी (गमन) को आगे रखकर - प्रमुखता देकर, उपयोग-पूर्वक ईर्या (समिति के अनुरूप) गमन करे।

९. (भाषा समिति में अपेक्षित है-) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य (वाचालता) और साथ ही विकथाओं के प्रति (निवृत्ति-हेतु उपयोग पूर्वक) सजग रहे।

१०. इन आठ (उक्त क्रोध आदि) स्थानों का त्याग करते हुए, प्रज्ञावान, संयमी (मुनि यथोचित) समय पर, निरवद्य (पापादि दोष-रहित) व परिमित (भाषा-समिति के अनुरूप) भाषा का उच्चारण करे।

११. (एषणा समिति में अपेक्षित है अशन आदि) आहार, (वस्त्र-पात्र आदि) उपधि, और मकान, पाट आदि शय्या (-इन तीनों) के विषय में गो-एषणा (गोचरी के अन्वेषण में प्रवृत्ति), ग्रहण-एषणा (आहारादि ग्रहण, तथा परिभोग-एषणा आहार का सेवन व उपभोग) -इन तीनों की परिशुद्धि की जाय (अर्थात् सभी दोषों को टाल कर आहार ग्रहण करे। इस तरह, उपधि व शय्या हेतु प्रवृत्ति तथा उनका ग्रहण व उपयोग/सेवन किया जाए।)

मूल : उग्गमुप्पायणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई ।।१२।।

संस्कृत : उद्गमनोत्पादनदोषान् प्रथमायां, द्वितीयायां शोधयेदेषणादोषान्।
परिभोगैषणायां चतुष्कं, विशोधयेद् यतमानो यतिः ।।१२।।

मूल : ओहोवहोवग्गहियं, भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो वा, पउंजेज्ज इमं विहिं ।।१३।।

संस्कृत : ओघोपधिमौपग्रहिकोपधिं, भाण्डकं द्विविधं मुनिः।
गृण्हन्निक्षिपंश्च, प्रयुञ्जीतेमं विधिम् ।।१३।।

मूल : चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ।।१४।।

संस्कृत : चक्षुषा प्रतिलेख्य, प्रमार्जयेत् यतो यतिः।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समितः सदा ।।१४।।

मूल : उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ।।१५।।

संस्कृत : उच्चारं प्रस्रवणं, खेलं सिंघाणं जल्लकम्।
आहारमुपधिं देहं, अन्यद्वापि तथाविधम् ।।१५।।

मूल : अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ।।१६।।

संस्कृत : अनापातमसंलोकम्, अनापातं चैव भवति संलोकम्।
आपातमसंलोकम्, आपातं चैव संलोकम् ।।१६।।

१२. यतना-पूर्वक 'यति' प्रथम एषणा (गवेषणा) में उद्गम व उत्पादन (नामक १६-१६ दोषों) का, द्वितीय एषणा (ग्रहण-एषणा) में एषणा (सम्बन्धी शंकित आदि १० दोषों का) और परिभोग (एषणा) में संयोजना, अप्रमाण, अंगार-धूम, कारण-इन चार (दोषों) का शोधन करे (अर्थात् इन दोषों को न आने दे)।

१३. (आदान-निक्षेप समिति में अपेक्षित यह है) ओघ-उपधि (सामान्य व नित्य-ग्राह्य उपकरण) तथा औपग्रहिक (विशेष व कारणवश ग्राह्य उपकरण) दण्डादि इन दोनों प्रकार के उपकरणों, को लेते (या उठाते) समय, तथा रखते समय इस (आगे निर्दिष्ट की जाने वाली) विधि का प्रयोग करे।

१४. (उक्त) समिति से युक्त 'यति' यतना - पूर्वक दोनों प्रकार के उपकरणों का आंखों से देखकर 'प्रतिलेखन' करे, (रजोहरण आदि से) प्रमार्जन करे और (तब उनका) ग्रहण व निक्षेप करे (ग्रहण करे या उठावे और रखे या विसर्जित करे)।

१५. (परिष्ठापना-समिति में अपेक्षित यह है) उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), श्लेष्म (कफ) सिंघानक (नाक का मैल), शरीर का मैल, (बचा हुआ) आहार, उपधि (जीर्ण आदि वस्त्र उपकरण), शरीर (मृत आदि का शव) या इसी तरह के दूसरे (परिष्ठापना योग्य) पदार्थ (का उपयुक्त स्थण्डिल भूमि में यतना-पूर्वक विसर्जन या परिष्ठापना करे)।

१६. (परिष्ठापना स्थल का स्वरूप चार प्रकार का कहा है-) १. अनापात-असंलोक (स्वपक्ष व पर-पक्ष के लोगों का आवागमन न हो, साथ ही किसी व्यक्ति की दृष्टि नहीं पड़ रही हो) २. अनापात-संलोक (लोगों का आवागमन तो न हो, किन्तु कोई देख रहा हो) ३. आपात-असंलोक (लोगों का आवागमन हो, किन्तु किसी व्यक्ति की दृष्टि नहीं पड़ रही हो।) ४. आपात-संलोक (लोगों का आवागमन भी हो तथा लोगों पर दृष्टि पड़ रही हो।)

मूल : **अणावायमसंलोए, परस्सणुवघाइए।**
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य ।।१७।।

संस्कृत : अनापातेऽसंलोके, परस्यानुपघातके।
समेऽशुषिरे चापि, अचिरकालकृते च ।।१७।।

मूल : **विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए।**
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ।।१८।।

संस्कृत : विस्तीर्णे दूरमवगाढे, नासन्ने बिलवर्जिते।
त्रसप्राणबीजरहिते, उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ।।१८।।

मूल : **एयाओ पञ्च समिईओ, समासेण वियाहिया।**
एत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो ।।१९।।

संस्कृत : एताः पञ्च समितयः, समासेन व्याख्याताः।
इतश्च तिस्रो गुप्तीः, प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्या ।।१९।।

मूल : **सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।**
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्तिओ चउव्विहा ।।२०।।

संस्कृत : सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा च, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ।।२०।।

मूल : **संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।**
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ।।२१।।

संस्कृत : संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
मनः प्रवर्तमानं तु, निवर्त्तयेद्यतं यतिः ।।२१।।

१७. (इनमें से स्थण्डिल-भूमि) १. अनापात-असंलोक (ही होनी चाहिए,) तथा वह २. पर-उपघात (दूसरे प्राणियों के घात) से रहित ३. सम ४. अशुषिर (पोली या घास व पत्तों से ढकी आदि न हो) और ५. कुछ समय पहले (अचिरकाल) की अचित्त न हो अर्थात् काफी समय पूर्व अचित्त हो।

१८. (इसके अतिरिक्त वह स्थण्डिल भूमि) ६. विस्तीर्ण-(कम से कम एक हाथ लम्बी-चौड़ी) ७. दूर अवगाढ़ (अर्थात् नीचे चार अंगुल गहराई तक अचित्त हो), ८. अनासन्न (गाँव उद्यान आदि से दूर) हो, ९. विवर्जित-बिलों से रहित तथा १० द्वीन्द्रिय आदि त्रस-प्राणियों तथा शालि आदि बीजों से रहित भी हो, वहां (उक्त १० विशेषताओं से युक्त भूमि में ही) उच्चार (मल) आदि का विसर्जन करे।

१९. पांच समितियों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अब यहां से (आगे) तीन गुप्तियों का क्रमशः वर्णन करूंगा।

२०. १. सत्या (सत्य पदार्थ के सम्बन्ध में विचारणा) २. मृषा (असत्य पदार्थ के सम्बन्ध में विचारणा) ३. सत्या-मृषा (सत् व असत् दोनों मिले-जुले पदार्थों से सम्बन्धित विचारणा) तथा ४. असत्या मृषा (न सत्य और न झूठ ऐसे पदार्थों से सम्बन्धित विचारणा इस प्रकार) मनोगुप्ति चार प्रकार की है।

२१. मनो - गुप्ति के पालन में अपेक्षित है -यति (मुनि) इन तीनों में प्रवृत्त हो रहे मन को यतनापूर्वक निवृत्त (दूर) करे। १. संरम्भ (मानसिक हिंसा आदि हेतु मानसिक योजना, संकल्प; इच्छा आदि), २. समारम्भ (मानसिक पर-पीड़ा कारक ध्यान क्रिया में उद्यत होना) तथा ३. आरम्भ (मानसिक परघातकारक अशुभ परिणाम से युक्त होना)।

मूल : **सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।**
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा।।२२।।

संस्कृत : सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, वचोगुप्तिश्चतुर्विधा।।२२।।

मूल : **संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।**
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई।।२३।।

संस्कृत : संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
वचः प्रवर्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः।।२३।।

मूल : **ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।**
उल्लंघणपल्लंघणे, इन्दियाण य जुंजणे।।२४।।

संस्कृत : स्थाने निषीदने चैव, तथैव च त्वग्वर्तने।
उल्लंघने प्रलंघने, इन्द्रियाणां च योजने।।२४।।

मूल : **संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि तहेव य।**
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई।।२५।।

संस्कृत : संरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
कायं प्रवर्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः।।२५।।

मूल : **एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।**
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो।।२६।।

संस्कृत : एताः पञ्च समितयः, चरणस्य च प्रवर्तने।
गुप्तयो निवर्तने उक्ताः, अशुभार्थेभ्यः सर्वेभ्यः।।२६।।

२२. (इसी प्रकार) १. सत्या वचनगुप्ति- (सत्पदार्थों के सम्बन्ध में भाषण), २. मृषा (असत्पदार्थों के सम्बन्ध में भाषण), ३. सत्या-मृषा (सच व झूठे - दोनों मिश्रित पदार्थों के सम्बन्ध में भाषण) तथा चौथी ४. असत्या-मृषा (न सच और न झूठ ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध में भाषण इस प्रकार) वचन गुप्ति चार प्रकार की होती है।

२३. वचनगुप्ति में अपेक्षित है यति (मुनि) १. (वाचिक) संरम्भ (परविनाशक मंत्रादि जप की भावना, संकल्प व योजना से उत्पन्न सूक्ष्मध्वनि रूप वचन), २. (वाचिक) समारम्भ (पर पीड़ा हो इस उद्देश्य से वचन-प्रयोग में उद्यत होना व आक्रोशपूर्ण वचन प्रयोग) तथा ३. (वाचिक) आरम्भ (मंत्रादि का जप या ऐसा कठोर वचन जो पर जीव का घात ही कर दे) (इन तीनों) में प्रवृत्त हो रहे वचन को यतना - पूर्वक निवृत करे, जिह्वा को रोके और शुभ वचन में प्रवृत्त करे।

२४. खड़े होने में, बैठने में, तथा करवट बदलने या लेटने में, उल्लंघन (गड्ढे आदि को लांघने) में, प्रलंघन (सीधा चलने-फिरने) में तथा इन्द्रियों के (शब्द आदि विषयों में) व्यापार में (कायगुप्ति अपेक्षित है)।

२५. (उक्त) कायिक व्यापारों में होने वाले संरम्भ (हिंसा आदि के संकल्प के फलस्वरूप काय का आवेशपूर्ण व सचेष्ट होना) 'समारम्भ' (पर-पीड़ा आदि के उद्देश्य से विहित समस्त कायिक व्यापार) तथा आरम्भ (ऐसा कायिक व्यापार जो पर - जीव का घात ही कर दे) में प्रवृत्त शरीर को 'यति' यतना-पूर्वक निवृत्त करे- रोके।

२६. ये पांच समितियां चारित्र की प्रवृत्ति में (चरित्र की विशुद्धि के उद्देश्य से अनुष्ठान करने योग्य) होती हैं। (किन्तु) गुप्तियां समस्त अशुभ विषयों से निवृत्ति में (तथा चारित्र प्रवृत्ति में भी उपयोगी) कही गई हैं।

मूल : **एयाओ पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।**
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ।। २७ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एताः प्रवचनमातृः, यः सम्यगाचरेन्मुनिः।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ।। २७ ।।
इति ब्रवीमि ।

२७. जो पण्डित मुनि इन प्रवचन माताओं का अच्छी तरह अनुष्ठान/पालन करता है। वह शीघ्र ही समस्त संसार (बन्धनों) से मुक्त हो जाता है।

-ऐसा मैं कहता हूं।

❑❑

अध्ययन–सार :

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप व उच्चार-प्रस्रवण नामक पांच समितियां तथा मन, वचन व काया की तीन गुप्तियाँ, ये आठ प्रवचन-मातायें जिन-वाणी-सार हैं। आलम्बन, काल, मार्ग व यतना इन चार कारणों तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से साधक ईर्या समिति का पालन करे। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता तथा विकथाओं का त्याग कर भाषा समिति का पालन करे। आहार, उपधि व शैया की गवेषणा, ग्रहणैषणा व परिभोगैषणा के सभी दोषों का परिहार कर 'एषणा समिति' का पालन करे। सामान्य व विशेष, सभी उपकरणों को उठाने-रखने में प्रतिलेखना व विवेक से काम लेते हुए आदान-निक्षेपण समिति का पालन करे। शरीर के विसर्जन योग्य पदार्थों को अनापात-असंलोक, अचित्त, सम स्थण्डिल भूमि में विसर्जित करते हुए 'उच्चार प्रस्रवण समिति' का पालन करे। आरम्भ-समारम्भ की ओर प्रवृत्त मन का निरोध कर मनोगुप्ति का पालन करे। पाप-पूर्ण वचनों का परित्याग कर वचन-गुप्ति का पालन करे, और शरीर के सभी छोटे-बड़े कार्यों में पाप-रहित होते हुए काय-गुप्ति का पालन करे।

उक्त आठ प्रवचन-माताओं के अनुरूप जो विवेकशील साधक आचरण करता है, वह भवसागर से शीघ्र ही पार हो जाता है।

❑❑

अध्ययन–25

यज्ञीय

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन में पैंतालीस गाथायें हैं। इस का केन्द्रीय विषय है– धर्म के नाम पर मिथ्याचार का अनावरण और धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रकाशन। यज्ञ के माध्यम से यह विषय साकार हुआ है। इसीलिये इस अध्ययन का नाम 'यज्ञीय' रखा गया। भगवान् महावीर के युग में धार्मिक परिदृश्य का केन्द्र था-यज्ञ। ब्राह्मण संस्कृति में कर्म-काण्ड का प्रमुख रूप भी यज्ञ ही था। स्थूल व सूक्ष्म हिंसा से परिपूर्ण यज्ञ के माध्यम से विभिन्न कामनाओं की सन्तुष्टि के लिये विभिन्न देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती थी। यज्ञ को मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्म तथा यज्ञ-कर्त्ताओं को सर्वश्रेष्ठ मनुष्य माना जाता था।

इस अध्ययन के दो प्रमुख पात्र वाराणसीवासी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण जयघोष तथा विजयघोष यज्ञ-कर्त्ता सहोदर थे। वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। एक दिन गंगा तट पर स्नानार्थ गये जयघोष ने देखा-एक मच्छर को मेंढक ने, उस मेंढक को सर्प ने तथा उस सर्प को कुरर पक्षी ने अपने मुँह में दबोच लिया है। काल सबके पीछे है। अपने काल को भूल कर सभी दूसरे का काल बन रहे हैं। यह दृश्य देख जयघोष का हृदय करुणा एवम् विरक्ति से भर गया। चिन्तन गतिशील हो उठा। सघन होती जिज्ञासायें उन्हें गंगा-पार ले गईं। वहाँ मुनियों से समाधान पाकर उन्होंने श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर ली। संयम व तप-साधना से उनका जीवन परिपूर्ण हो गया। मासखमण तप करते हुए विचरते-विचरते वे वाराणसी पधारे। मासखमण तप के पारणे हेतु विजयघोष द्वारा आयोजित विशाल यज्ञ-मण्डप में पहुँचे। तप से कृश-देह मुनि जयघोष को विजयघोष ने नहीं पहचाना। भिक्षा देने से मना करते हुए कहा कि यह भोजन निज-पर-उद्धार में समर्थ ब्राह्मणों के लिये है। इस अज्ञान को देख द्रवित हुए मुनि जयघोष ने वहाँ ज्ञान-वितरित करने की कृपा की। सच्चे यज्ञ का स्वरूप बताते हुए निज-पर-उद्धार का वास्तविक मार्ग दिखाया। सत्य मार्ग पहचान कर विजयघोष भी उस पर अग्रसर हुए। श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर उन्होंने भी मुनि जयघोष की भाँति आत्म-कल्याण किया। दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

दो महान् आत्माओं की यह मुक्ति-गाथा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। भगवान् महावीर के युग में प्रचलित अज्ञान, हिंसा व अधर्म को पहचानने के लिये सम्यक् दृष्टि यह प्रदान करती है। इसकी विशेषता है कि व्यक्ति और युग, दोनों के मिथ्याचार को सम्यक् आचार में एक साथ रूपान्तरित करने की

क्षमता इसमें है। जयघोष-विजयघोष-संवाद वस्तुतः श्रमण व ब्राह्मण संस्कृतियों का संवाद भी है। इस संवाद का बल विजय-पराजय पर न होकर अहिंसा को मानव-धर्म के आधार रूप में स्थापित करने पर है। सत्य को पहचानने तथा उसके अनुरूप आचरण करने पर है। जीवन की सही दिशा पर है।

प्रस्तुत अध्ययन के महत्त्व का एक आयाम यह भी है कि मुनि जयघोष ने ब्राह्मणों से ब्राह्मणों की ही भाषा में संवाद किया है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र और यज्ञ इस भाषा के आधार-शब्द हैं। इन्हीं शब्दों के प्रयोग से प्रचलित अर्थों से भिन्न तथा सम्यक् अर्थ व्यक्त किये गये हैं। यह पुराने शब्दों में नये व सच्चे अर्थों की सृष्टि है। प्रकारान्तर से यह पुराने मनुष्य में नये व सच्चे मनुष्य की सृष्टि भी है। पुराने समाज में नये व सच्चे समाज की सृष्टि भी है। पुराने युग में नये व सच्चे युग की सृष्टि भी है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन इतिहास-निर्माता अध्ययन है।

इस अध्ययन में जयघोष मुनि भगवान् महावीर के प्रतिनिधि साधु हैं। मासखमण तप के पारणे हेतु विजयघोष के यज्ञ-मण्डप में पहुँचकर वे अपमान को सम-भाव से सहते हैं। उनके लिये अपना अपमान नहीं, दूसरों का अज्ञान महत्त्वपूर्ण है। अज्ञान-अंधकार से उन्हें उबारना उनके लिये पारणे से कहीं अधिक आवश्यक है। इसीलिये अपमान का प्रत्युत्तर वे संवाद का वातावरण निर्मित कर देते हैं। ज्ञान प्रदान कर देते हैं। यह उनके करुणा- भाव की महानता है। विरोधियों के प्रति सन्त-व्यवहार की बानगी है। धर्म, ज्ञान व मुक्ति के सन्देश-वाहक होने की सार्थकता है।

इस अध्ययन का फल विजयघोष द्वारा श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर लेना तो है ही, उन पशु-पक्षियों को जीने का अधिकार मिलना भी है, जो विजयघोष द्वारा यज्ञ-कर्त्ता बने रहने की स्थिति में बली-प्रथा के निर्दोष शिकार बनते। सम्यक् ज्ञान की प्रभावना के माध्यम से जयघोष मुनि अनेक अपरिचित जीवों को सर्वश्रेष्ठ दान, अभय दान, भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार अभय व अहिंसा-धर्म का 'जय-घोष' होता है। इस घोष के साथ-साथ जैन दर्शन का मूल आधार स्पष्ट करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह जन्नइज्जं पंचवीसइमं अज्झयणं

(अथ यज्ञीयं पञ्चविंशतितममध्ययनम्)

मूल : माहणकुलसंभूओ, आसि विप्पो महायसो।
जायाई जमजन्नम्मि, जयघोसि त्ति नामओ ।।१।।

संस्कृत : ब्राह्मणकुलसंभूतः, आसीद् विप्रो महायशः।
यायाजी यमयज्ञे, जयघोष इति नामतः ।।१।।

मूल : इन्दियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी।
गामाणुगामं रीयंते, पत्तो वाणारसिं पुरिं ।।२।।

संस्कृत : इन्द्रियग्रामनिग्राही, मार्गगामी महामुनिः।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ।।२।।

मूल : वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे।
फासुए सेज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ।।३।।

संस्कृत : वाराणस्यां बहिः, उद्याने मनोरमे।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ।।३।।

मूल : अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे।
विजयघोसि त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ।।४।।

संस्कृत : अथ तस्मिन्नेव काले, पुर्यां तत्र ब्राह्मणः।
विजयघोष इति नाम्ना, यज्ञं यजति वेदवित् ।।४।।

मूल : अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ।।५।।

संस्कृत : अथ स तत्रानगारः, मासक्षमणपारणायाम्।
विजयघोषस्य यज्ञे, भिक्षार्थमुपस्थितः ।।५।।

पच्चीसवां अध्ययन : यज्ञीय

१. ब्राह्मण कुल में उत्पन्न 'यम - यज्ञ' (हिंसामय यज्ञ) के -यायाजी' प्रतिदिन यज्ञ करने वाले 'जयघोष' -इस नाम के (एक) महायशस्वी ब्राह्मण थे।

२. इन्द्रिय-समूह के निग्रह करने वाले/(मुक्ति के रत्नत्रय रूप) मार्ग के पथिक 'महामुनि' (होकर वे) एक गांव से दूसरे गांव तक विचरण करते हुए (एक बार) वाराणसी नगरी में पहुंचे।

३. वाराणसी (नगरी) के बाहर (उस) मनोरम उद्यान में जहां प्रासुक (निर्जीव, निर्दोष) शय्या (निवास-स्थान) एवं (प्रासुक) संस्तारक (तृण-आसन आदि उपलब्ध) थे, (वहां) ठहर गए।

४. तदनन्तर उस समय, उस नगरी (वाराणसी) में वेदों का ज्ञाता (तथा जयघोष मुनि का गृहस्थपक्षीय सहोदर भ्राता) विजयघोष नाम का (एक) ब्राह्मण (वैदिक) यज्ञ कर रहा था।

५. इसके पश्चात् (वहां) वे अनगार (जयघोष) मासखमण (एक मास के उपवास रूप तप) के पारणे (व्रतान्त भोजन) के लिए विजयघोष के (द्वारा किए जा रहे) यज्ञ में भिक्षा हेतु उपस्थित हुए।

मूल : समुवट्ठियं तहिं सन्तं, जायगो पडिसेहए।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ ।।६।।

संस्कृत : समुपस्थितं तत्र सन्तं, याजकः प्रतिषेधयति।
न खलु दास्यामि तुभ्यं भिक्षां, भिक्षो! याचस्वान्यतः ।।६।।

मूल : जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ।।७।।

संस्कृत : ये च वेदविदो विप्राः, यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः।
ज्योतिःशास्त्रांगविदो ये च, ये च धर्माणां पारगाः ।।७।।

मूल : जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू! सव्वकामियं ।।८।।

संस्कृत : ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
तेभ्योऽन्नमिदं देयं, भो भिक्षो! सर्वकाम्यम् ।।८।।

मूल : सो तत्थ एवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी।
नवि रुट्ठो नवि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ।।९।।

संस्कृत : स तत्रैवं प्रतिषिद्धः, याजकेन महामुनिः।
नापि रुष्टो नापि तुष्टः, उत्तमार्थगवेषकः ।।९।।

मूल : नन्नट्ठं पाणहेउं वा, नवि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ।।१०।।

संस्कृत : नान्नार्थं पानहेतुं वा, नापि निर्वाहणाय वा।
तेषां विमोक्षणार्थाम्, इदं वचनमब्रवीत् ।।१०।।

मूल : नवि जाणासि वेयमुहं, नवि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ।।११।।

संस्कृत : नापि जानासि वेदमुखं, नापि यज्ञानां यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम् ।।११।।

६. वहां (यज्ञ में भिक्षा हेतु) उपस्थित हुए सात्विक (मुनि) को यज्ञकर्ता (विजयघोष) ने (भिक्षा देने से) निषेध कर दिया (और कहा-) "हे भिक्षु! (मैं) तुम्हें तो भिक्षा नहीं दूंगा।"

७. "(हे भिक्षो!) यह भोजन तो उनके लिए है जो वेदों के ज्ञाता विप्र हैं, और जो यज्ञ (सम्पन्न करने) के लिए (नियुक्त) द्विज हैं और जो ज्योतिष शास्त्र (आदि छः वैदिक) अंगों के ज्ञाता तथा जो धर्मों (धर्मशास्त्रों) के पारंगत (विद्वान) हैं;"

८. "(और) जो अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं, हे भिक्षु! उन्हीं को यह सर्वकामिक (सभी अभिलषित वस्तुओं व छहों रसों से युक्त, सबको अभीष्ट) अन्न देने के लिए है।"

९. वहां इस प्रकार यज्ञकर्ता द्वारा मना कर दिए जाने पर (भी) वे, उत्तम पदार्थ (मोक्ष) के गवेषक महामुनि, न तो रुष्ट ही हुए और न ही संतुष्ट।

१०. (उन्होंने) न तो अन्न (भोजन की प्राप्ति) के लिए, न ही जल के लिए और न ही (वस्त्र-पात्र आदि द्वारा) जीवन-निर्वाह के लिए (कुछ कहा) किन्तु उन (ब्राह्मणों) की (मिथ्या ज्ञान निवृत्ति व कर्म-बन्धनों से) मुक्ति कराने के उद्देश्य से यह वचन कहा-

११. (तुम) न तो वेद के मुख (प्रमुख रूप से प्रतिपादित विषय) को जानते हो, न ही यज्ञों का , जो 'मुख' (यज्ञीय प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने वाला प्रमुख व्यक्ति) होता है (उसे) जानते हो, नक्षत्रों का जो मुख (प्रधान) होता है, (उसे) और धर्मों का जो 'मुख' (उद्गम-स्रोत) है, न उसे ही जानते हो।

मूल : **जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।**
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण।।१२।।

संस्कृत : ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
न तान् त्वं विजानासि, अथ जानासि तदा भण।।१२।।

मूल : **तस्सक्खेवपमोक्खं च, अचयन्तो तहिं दिओ।**
सपरिसो पंजली होउं, पुच्छई तं महामुणिं।।१३।।

संस्कृत : तस्याक्षेपप्रमोक्षं च, (दातुम्) अशक्नुवन् तत्र द्विजः।
सपरिषत् प्राञ्जलिर्भूत्वा, पृच्छति तं महामुनिम्।।१३।।

मूल : **वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं।**
नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं।।१४।।

संस्कृत : वेदानां च मुखं ब्रूहि, ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि, ब्रूहि धर्माणां वा मुखम्।।१४।।

मूल : **जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।**
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ।।१५।।

संस्कृत : ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
एतं मे संशयं सर्वं, साधो! कथय (मया) पृष्टः।।१५।।

मूल : **अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं।**
नक्खत्ताण मुहं चन्दो, धम्माणं कासवो मुहं।।१६।।

संस्कृत : अग्निहोत्रमुखा वेदाः, यज्ञार्थी वेदसां मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः, धर्माणां काश्यपो मुखम्।।१६।।

मूल : **जहा चन्दं गहाईया, चिट्ठन्ति पंजलीउडा।**
वन्दमाणा नमंसन्ता, उत्तमं मणहारिणो।।१७।।

संस्कृत : यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः, तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटाः।
वन्दमाना नमस्यन्तम्, उत्तमं मनोहारिणः।।१७।।

१२. "(इसी प्रकार दुःख आदि से) जो स्वयं का तथा अन्य का उद्धार करने में समर्थ होते हैं, उनको (भी) तुम नहीं जानते हो, और यदि जानते हो तो कहो।"

१३. उन (जयघोष मुनि) के आक्षेपों (प्रश्नों) के प्रमोक्ष (समाधान) देने में असमर्थ हुआ (विजयघोष) ब्राह्मण, (यज्ञ-संलग्न ब्राह्मणों की) परिषद् के साथ, करबद्ध होकर वहां उन (जयघोष) महामुनि से पूछने लगा-

१४. "(कृपया आप ही) वेदों के 'मुख' (प्रमुख रूप से प्रतिपाद्य विषय) को बताएं। यज्ञों का जो 'मुख', (प्रवृत्ति का प्रमुख साधक) हो, उसे (भी) बताएं। नक्षत्रों के 'मुख' (प्रधान) को बताएं तथा धर्मों के 'मुख' (उद्गम स्रोत) को भी बताएं।"

१५. जो "अन्य का तथा स्वयं का उद्धार करने में समर्थ होते हैं (वह भी बताएं)। मुझे ये सभी संशय हैं। हे साधो! आपसे पूछ रहा हूँ, बताएं।"

१६. (जयघोष मुनि बोले-) "अग्निहोत्र (यज्ञ ही) वेदों का मुख रूप (प्रमुख प्रतिपाद्य विषय) है। यज्ञार्थी (होता) यज्ञों का मुख (यज्ञीय प्रवृत्ति में प्रमुख) है। नक्षत्रों का मुख (प्रमुख) चन्द्र है, तथा (सभी) धर्मों के मुख (उद्गम-स्रोत) काश्यप (-ऋषभदेव) हैं।"

१७. "जिस प्रकार मनोहारी ग्रह आदि चन्द्रमा के समक्ष उत्तम रीति से करबद्ध होकर वन्दना-नमस्कार करते हुए स्थित रहते हैं, (उसी प्रकार काश्यप- ऋषभदेव के प्रति मनुजेन्द्र, देवेन्द्र आदि वन्दना-नमस्कार करते हुए स्थित रहते हैं।)"

मूल : **अजाणगा जन्नवाई, विज्जामाहणसंपया।**
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो ।।१८।।

संस्कृत : अजानाना यज्ञवादिनः, विद्याब्राह्मणसम्पदाम्।
मूढाः स्वाध्यायतपसा, भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ।।१८।।

मूल : **जो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा।**
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ।।१९।।

संस्कृत : यो लोके ब्राह्मण उक्तः, अग्निरिव महितो यथा।
सदा कुशलसन्दिष्टं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।१९।।

मूल : **जो न सज्जइ आगन्तुं पव्वयन्तो न सोयइ।**
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ।।२०।।

संस्कृत : यो न स्वजत्यागन्तुं, प्रव्रजन्न शोचति।
रमत आर्यवचने, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२०।।

मूल : **जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं।**
रागदोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं ।।२१।।

संस्कृत : जातरूपं यथामृष्टं, निर्ध्मातमलापकम्।
रागद्वेषभयातीतं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२१।।

मूल : **तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं।**
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ।।२२।।

संस्कृत : तपस्विनं कृशं दान्तम्, अपचितमांसशोणितम्।
सुव्रतं प्राप्तनिर्वाणं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२२।।

१८. ''यज्ञवादी (द्रव्य-यज्ञ के समर्थक ब्राह्मण आदि) अनजान हैं (इस बात से) कि ब्राह्मणों की सम्पत्ति (तो) विद्या (सद्ज्ञान) हुआ करती है। (सद्ज्ञान-विद्या से युक्त ब्राह्मण ही स्वपर-उद्धारक हो सकते हैं, किन्तु आप ब्राह्मणों की स्थिति यह है कि) स्वाध्याय व तप से ढँके हुए (होने पर भी) उस अग्नि के समान हैं, जो राख से ढँकी होती है। (अर्थात् जैसे राख से ढँकी आग भले ही बाहर से शान्त दिखाई पड़े, अन्दर से अशान्त रहती है, वैसे ही आप ब्राह्मण लोग बाहर से वेद-अध्ययन रूप स्वाध्याय व अज्ञानपूर्ण बाल तप से शान्त प्रतीत हों, किन्तु अन्दर से कषाय-अग्नि के प्रज्वलित होते रहने से अशान्त ही हैं)।"

१९. "जिसे 'ब्राह्मण' कहा जाता है, वह अग्नि की तरह संसार में सदा पूजनीय होता है, कुशल (तत्वज्ञ) पुरुषों द्वारा (ब्राह्मण रूप में) निर्दिष्ट उस (व्यक्ति) को ही हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२०. "जो न तो किसी प्रियमित्र स्वजन आदि के आने पर, आसक्त होता है और न ही उन के जाने पर शोक किया करता है (अपितु) आर्य (सद्पुरुषों के) वचनों में रमण करता है, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२१. "जो (कसौटी पर) घिसे हुए तथा अग्नि में (तपाकर) निर्मल (विशुद्ध किए हुए) स्वर्ण की तरह राग, द्वेष, भय (आदि मलों) से रहित है, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२२. "(जो) तपस्वी है, (तपश्चर्या के कारण) कृशकाय (एवं) दान्त (इन्द्रियनिग्रही), मांस व रक्त के अपचय (कमी) वाला, सुव्रती तथा निर्वाण प्राप्त (मोक्ष अभिलाषा वाला या शान्त प्रकृति वाला होता है) उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

मूल : तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ।।२३।।

संस्कृत : त्रसप्राणिनो विज्ञाय, संग्रहेण च स्थावरान्।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२३।।

मूल : कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ।।२४।।

संस्कृत : क्रोधाद्वा यदि वा हास्यात्, लोभाद्वा यदि वा भयात्।
मृषा न वदति यस्तु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२४।।

मूल : चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ।।२५।।

संस्कृत : चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुम्।
न गृहात्यदत्तं यः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२५।।

मूल : दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ।।२६।।

संस्कृत : दिव्यमानुष्यतैरश्चं, यो न सेवते मैथुनम्।
मनसा कायवाक्येन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२६।।

मूल : जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ।।२७।।

संस्कृत : यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२७।।

मूल : अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ।।२८।।

संस्कृत : अलोलुपं मुधाजीविनम्, अनगारमकिञ्चनम्।
असंसक्तं गृहस्थेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२८।।

मूल : जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ।।२९।।

संस्कृत : हित्वा पूर्वसंयोगं, ज्ञातिसंगांश्च बान्धवान्।
यो न सजति भोगेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ।।२९।।

२३. "जो त्रस व स्थावर प्राणियों को संक्षेप से (एवं विस्तार से) जानकर (उनकी) त्रिविध रूप (मन, वचन, काया) से हिंसा नहीं करता, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२४. "जो क्रोध से, अथवा हास्य से, या लोभ से या भय से (या मान व माया से भी), असत्य भाषण नहीं करता, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२५. "जो सचित्त (सजीव) या अचित्त (निर्जीव वस्तु) को, थोड़ा या अधिक (किसी के) बिना दिए हुए नहीं ग्रहण करता, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२६. "जो देव, मनुष्य एवं तिर्यंच से सम्बन्धित मैथुन का मन-वचन-काया से सेवन नहीं किया करता, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२७. "जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर (भी) जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो (संसार में रह कर भी) काम-भोगों से निर्लिप्त रहता है, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२८. "(जो रस आदि में) लोलुप नहीं होता, मुधाजीवी (निर्दोष भिक्षा पर जीने वाला होता) है, अनगार (गृहत्यागी) व अकिंचन (अपरिग्रही) है, तथा गृहस्थों में अनासक्त (अधिक परिचय नहीं बढ़ाने वाला) रहता है, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

२९. "जो पूर्व (गृहस्थ अवस्था में होने वाले) 'संयोगों' को छोड़ कर (पुनः) इन ज्ञाति-जनों व बान्धवों में आसक्त नहीं होता, उसे (ही) हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।"

मूल : **पसुबन्धा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा।**
न तं तायन्ति दुस्सीलं, कम्माणि बलवन्ति हि।।३०।।

संस्कृत : पशुबन्धाः सर्ववेदाः, इष्टं च पापकर्मणा।
न तं त्रायन्ते दुःशीलं, कर्माणि बलवन्ति हि।।३०।।

मूल : **न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।**
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो।।३१।।

संस्कृत : नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः।।३१।।

मूल : **समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।**
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो।।३२।।

संस्कृत : समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः।।३२।।

मूल : **कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।**
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।३३।।

संस्कृत : कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यो कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा।।३३।।

मूल : **एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ।**
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं।।३४।

संस्कृत : एतान्प्रादुरकार्षीद् बुद्धः, यैर्भवति स्नातकः।
सर्वकर्मविनिर्मुक्तं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्।।३४।।

मूल : **एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।**
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।।३५।।

संस्कृत : एवं गुणसमायुक्ताः, ये भवन्ति द्विजोत्तमाः।
ते समर्थाः समुद्धर्त्तुं, परमात्मानमेव च।।३५।।

३०. "(यज्ञ-स्तूप के साथ) पशुओं के बन्धन (व वध को प्रतिपादित करने) वाले (तथाकथित) समस्त वेद, तथा (पशु-हिंसा) पाप-कर्म के साथ किया गया यज्ञ (ये) उस दुःशील (अनाचारी) व हिंसक की रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि कर्म बलवान होते हैं।"

३१. "मात्र सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं हुआ करता। न ही ओंकार (के जप आदि) से (कोई) ब्राह्मण होता है। (इसी प्रकार) न ही वनवास करने (मात्र) से कोई मुनि होता है, और न ही कुश (से निर्मित) चीवर पहनने (मात्र) से 'तापस' होता है।"

३२. "(वस्तुतः कोई व्यक्ति) समता-भाव (रखने) से 'श्रमण' होता है, ब्रह्मचर्य पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से 'मुनि' होता है, और तप से 'तापस' होता है।"

३३. "यथार्थ में तो प्रशस्त कर्म से (ही कोई व्यक्ति) ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र (भी) कर्म से (ही) होता है।"

३४. "बुद्ध सर्वज्ञ (अर्हन्त देव) ने इन (अहिंसा आदि) तत्वों को प्रकट किया है। इन (की साधना) से जो व्यक्ति 'स्नातक' (केवली या पूर्णता को प्राप्त) होने वाला होता है, समस्त कर्मों से विनिर्मुक्त होने (की क्षमता) वाले उस (व्यक्ति) को (ही) हम ब्राह्मण कहते हैं।"

३५. "इस प्रकार के (विविध) गुणों से युक्त जो उत्तम द्विज होते हैं, वे (ही) स्वयं का तथा दूसरे का उद्धार कर पाने में समर्थ होते हैं।"

मूल : **एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य बम्भणे।**
समुदाय तयओ तं तु, जयघोसं महामुणिं ।। ३६ ।।

संस्कृत : एवं तु संशये छिन्ने, विजयघोषश्च ब्राह्मणः।
समादाय ततस्तं तु, जयघोषं महामुनिम् ।। ३६ ।।

मूल : **तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली।**
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ।। ३७ ।।

संस्कृत : तुष्टश्च विजयघोषः, इदमुदाह कृताञ्जलिः।
ब्राह्मणत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ।। ३७ ।।

मूल : **तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ।**
जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ।। ३८ ।।

संस्कृत : यूयं यष्टारो यज्ञानां, यूयं वेदविदो विदः।
ज्योतिषाङ्गविदो यूयं, यूयं धर्माणां पारगाः ।। ३८ ।।

मूल : **तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।**
तमणुग्गहं करेहम्हं, भिक्खेणं भिक्खु उत्तमा! ।। ३९ ।।

संस्कृत : यूयं समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
तदनुग्रहं कुरुतास्माकं, भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः! ।। ३९ ।।

मूल : **न कज्जं मज्झ भिक्खेण, खिप्पं निक्खमसू दिया।**
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसागरे ।। ४० ।।

संस्कृत : न कार्यं मम भैक्ष्येण, क्षिप्रं निष्क्राम द्विज!।
मा भ्रम भयावर्ते, घोरे संसारसागरे ।। ४० ।।

मूल : **उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।**
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ।। ४१ ।।

संस्कृत : उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्राम्यति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ।। ४१ ।।

३६. "इस तरह, जयघोष महामुनि के कथन द्वारा संशय दूर हो जाने पर विजय घोष[1] ब्राह्मण ने उनकी वाणी को (और इस तथ्य को भी) सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया।"

३७. संतुष्ट होकर विजयघोष ने करबद्ध होकर यह कहा-"(आपने) मुझे ब्राह्मणत्व के यथार्थ रूप का अच्छी तरह उपदेश दिया है।"

३८. "आप (ही) यज्ञों के (अहिंसादि पांच महाव्रत रूप से) यथार्थ यज्ञ कर्ता हैं। आप (ही) वेदज्ञाता आत्म-ज्ञाता विद्वान् हैं, आप ही ज्योतिष (आत्मद्रष्टा) (वैदिक) अंग के ज्ञाता हैं, तथा आप ही धर्मों के पारगामी हैं।"

३९. "आप ही स्वयं का तथा दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं। हे भिक्षु-श्रेष्ठ! भिक्षा लेकर हम (सब) पर अनुग्रह करें।"

४०. (जयघोष मुनि ने कहा-)"हे द्विज! मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। (तुम तो) शीघ्र अभिनिष्क्रमण करो, ताकि भयंकर आवर्तों (भंवरों) वाले घोर संसार-सागर में भ्रमण न करना पड़े।"

४१. "(तथ्य यह है कि-) उपलेप (कर्म-लेप तो) भोगों (के सेवन) में (ही) होता है। अभोगी (भोगविरत तो कर्मों से) लिप्त नहीं होता, (अतः) भोगी संसार में भ्रमण करता है और भोगरहित मुक्त हो जाता है।"

---

१. इस लम्बी वार्ता के पश्चात् विजयघोष ने महामुनि जयघोष को पहचान लिया कि ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं।

मूल : उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ।।४२।।

संस्कृत : आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ, गोलकौ मृत्तिकामयौ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये, य आर्द्रः स तत्र लगति ।।४२।।

मूल : एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ।।४३।।

संस्कृत : एवं लगन्ति दुर्मेधसः, ये नराः कामलालसाः।
विरक्तास्तु न लगन्ति, यथा स शुष्क गोलकः ।।४३।।

मूल : एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अन्तिए।
अणगारस्स निक्खन्तो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं ।।४४।।

संस्कृत : एवं स विजयघोषः, जयघोषस्यान्तिके।
अनगारस्य निष्क्रान्तः, धर्मं श्रुत्वाऽनुत्तरम् ।।४४।।

मूल : खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ।।४५।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च।
जयघोषविजयघोषौ, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ।।४५।।
इति ब्रवीमि ।

४२. "एक गीला और एक सूखा (ऐसे) दो मिट्टी के गोले (दीवार पर) फैंके जाएं तो दोनों दीवार पर लगते (तो) हैं (किन्तु) जो गीला होता है, वह वहीं (दीवार पर) चिपक जाता है (और सूखा गोला नहीं चिपकता)"।

४३. "इसी प्रकार जो कामभोग-लिप्सा वाले दुर्बुद्धि मनुष्य हैं, (वे ही विषयों में) चिपक (बंध) जाते हैं। (किन्तु) विरक्त (उसी तरह) नहीं चिपकते (बंधते) जैसे कि (दीवार पर फैंका गया मिट्टी का) सूखा गोला।"

४४. इस प्रकार उस विजयघोष ने अनगार जयघोष (महामुनि) के पास अनुत्तर (लोकोत्तर व सर्वश्रेष्ठ) धर्म को सुनकर अभिनिष्क्रमण किया (प्रव्रज्या ग्रहण की।)

४५. जयघोष तथा विजयघोष (दोनों मुनियों) ने संयम व तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

ब्राह्मण-कुलोत्पन्न महायशस्वी जयघोष यज्ञ-अनुराग छोड़ संयमी मुनि हुए। विचरते हुए वाराणसी पहुँचे। मासखमण तप के पारणे हेतु विजयघोष द्वारा आयोजित यज्ञ में उपस्थित हुए। विजयघोष ने भिक्षा देने से मना करते हुए कहा कि यह अन्न निज-पर-उद्धार में समर्थ ब्राह्मणों के लिये ही है। यह सुन जयघोष मुनि ने विजयघोष को अज्ञान-अंधकार- ग्रस्त जान करुणार्द्र हो ज्ञान दिया। बतलाया कि वेदों का मुख अग्निहोत्र है और यज्ञों का मुख यज्ञार्थी। नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्म के मुख हैं–भगवान् ऋषभदेव। वस्तुतः ब्राह्मण वही है जो राग-द्वेष रहित, भयातीत, सुव्रती, अहिंसक, सत्यवादी, अस्तेय-सम्पन्न, ब्रह्मचारी, रस-परित्यागी और अनासक्त हो। यज्ञ पाप-कर्म-पूर्ण होने के कारण त्राण नहीं कर सकते। व्यक्ति समभाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। कर्म से ही वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है। कर्मों से मुक्त तथा गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण ही स्व-पर-उद्धार में समर्थ है।

यह जानकर विजयघोष के संशय निर्मूल हुए। उन्होंने जयघोष मुनि की स्तुति करते हुए आभार व्यक्त किया। भिक्षा लेने की प्रार्थना की। जयघोष मुनि ने कहा कि भिक्षा से नहीं, तुम्हारे अभिनिष्क्रमण व उद्धार से प्रयोजन है। भोगी गीली मिट्टी के गोले की तरह संसार-रूपी दीवार से चिपक जाता है जबकि ज्ञानी सूखी मिट्टी के गोले की तरह संसार-रूपी दीवार से नहीं चिपकता। विरक्त साधक संसार त्याग कर निज-पर-उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

यह सुन विरक्त हो विजयघोष ने अनुत्तर श्रमण-धर्म अंगीकार किया। दीक्षा ली। जयघोष-विजयघोष, दोनों मुनियों ने तप-संयम द्वारा सिद्धि पाई।

❑❑

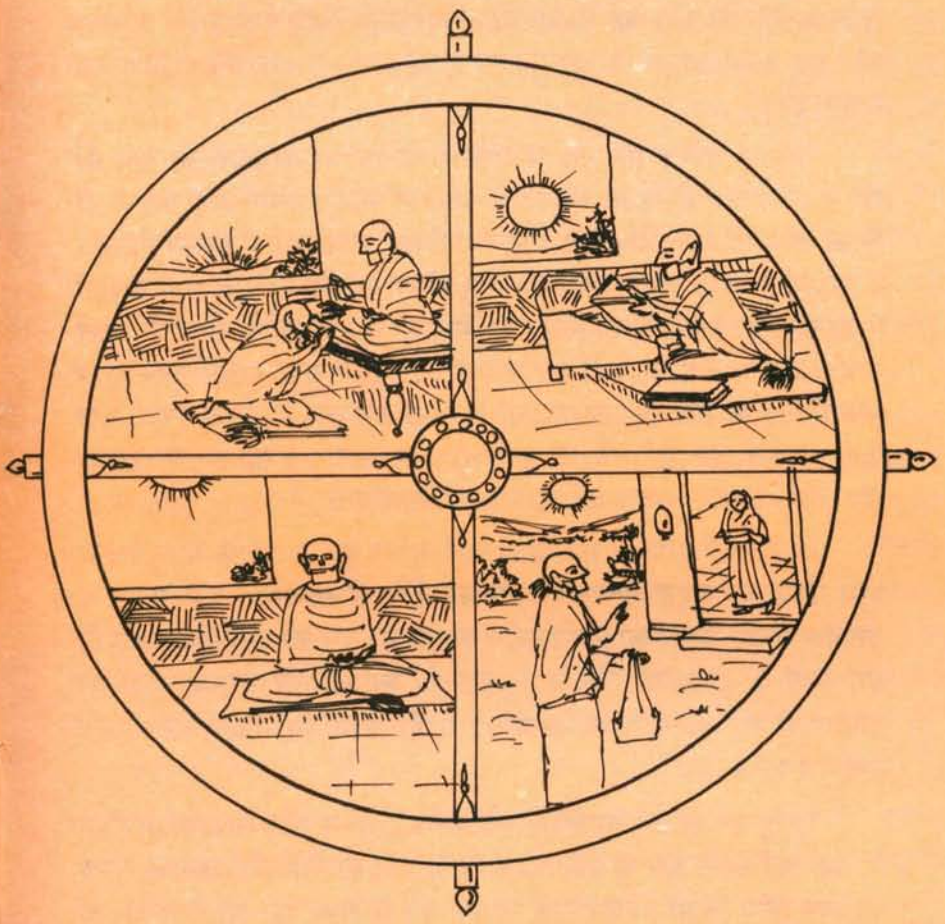

अध्ययन–26

सामाचारी

अध्ययन परिचय

तरेपन गाथाओं से निर्मित प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–श्रमण-जीवन के आचार की सम्यक् व्यवस्था। इसीलिये इसका नाम 'सामाचारी' रखा गया। यह श्रमण-जीवन की समय-सारणी है। इसके अनुरूप जीते हुए अपने आयुष्य के सम्पूर्ण समय को संयम से आलोकित किया जा सकता है।

सम्यक् चारित्र समभाव से उत्पन्न आचार या व्यवहार का नाम है। समभाव का अर्थ है–न तो अपने प्रति आसक्त और उदासीन होना तथा न ही किसी अन्य के प्रति। आसक्ति और उदासीनता, भावों की दो परस्पर विपरीत अवस्थायें हैं। जीव प्रायः इन्हीं दोनों बिन्दुओं पर या दोनों के बीच कहीं न कहीं स्थित होता है। इन दोनों का निषेध समभाव है। सम-भाव को साध लेने वाले साधक को न तो दुःख दुखी कर पाते हैं और न ही सुख सुखी। सुख-दुःख सांसारिकता के रूप हैं। सांसारिकता से ऊपर उठ कर सत्य को पूर्णतः देख पाने, अनुभव कर पाने और जी पाने की क्षमता प्रदान करता है–सम-भाव। सम-भाव-सम्मत आचार की सुव्यवस्था 'सामाचारी' है।

व्यक्ति की दृष्टि से सामाचारी कर्म-मुक्ति का प्रामाणिक माध्यम और परम सिद्धि का सुदृढ़ सोपान है। संघ की दृष्टि से सामाचारी धर्म-प्रताप के चतुर्दिक् प्रचार-प्रसार का विश्वसनीय आधार है। संघ की एकता का स्रोत है। धर्म-तीर्थ के दीर्घजीवी होने का सूचक है। व्यक्ति और समाज, दोनों की दृष्टियों से यह कल्याण का साकार रूप है। सभी का मंगल करने वाली मानवीय शक्ति है।

मुमुक्षु साधक की अहर्निश-चर्या में किस समय कौन सा कार्य अपेक्षित है, यह यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। निश्चित कार्य के समय का ज्ञान बिना किसी उपकरण के साधक को हो सके, इस की व्यवस्था की गई है। धूप-छाँव, आकाश और नक्षत्रों की गति व स्थिति इस व्यवस्था के आधार हैं। स्पष्ट है कि इनके ज्ञान से श्रमण किसी बाह्य उपकरण पर निर्भर नहीं रहता। यह ज्ञान उसके स्वावलम्बन का स्रोत है।

यहाँ प्रतिपादित सामाचारी के दसों भेद सामाचारी-सम्पन्न साधक में विविधानेक गुणों की सृष्टि करते हैं। उपाश्रय से जाते हुए 'आवस्सियं' और आते हुए 'निसीहियं' के उच्चारण का विधान श्रमण जीवन में गोपनीय कार्य

के नितान्त अभाव का सूचक है। इस से जीवन खुली पुस्तक जैसा बनता है। गुरु-आज्ञा से अपना या दूसरों का कार्य करने से अहंकार का तिरोभाव और सहायक बनने की प्रेरणा का उदय होता है। लाये हुए द्रव्यों के उपभोग हेतु अन्य मुनियों को आमंत्रित करने से सात्विक स्नेह की वृद्धि होती है। द्रव्यासक्ति कम होती है। दूसरों से अपना कार्य कराने के लिये दूसरों की इच्छा को निर्णायक महत्त्व देने से विनयशीलता आती है। संघ-एकता सुदृढ़ होती है। स्व-दोष-समीक्षा व आत्म-निन्दा से विकास-पथ प्रशस्त होता है। गुरु-आज्ञा को सदैव स्वीकार करने से अनाशातना और विनयशीलता बढ़ती है। गुरु के पधारने पर उठ कर सम्मान-भाव-व्यंजना से आत्मा का उत्थान होता है। गुरु-आज्ञा से दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वृद्धि हेतु दूसरे गण में जाने व निश्चित समय तक रहने से अप्रमत्तता या जागरूकता बढ़ती है। इन सभी गुणों की प्राप्ति से सामाचारी-सम्पन्न साधक मुक्ति-मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता जाता है।

अहोरात्रि का आधा भाग स्वाध्याय हेतु निर्धारित करना जीवन में स्वाध्याय के महत्त्व का स्वत: सिद्ध प्रमाण है। ज्ञान आत्मा का गुण है, जो स्वाध्याय से उजागर होता है। इसी को अंतर्नेत्रों का खुलना कहते हैं। अप्रमत्त होना कहते हैं। इसी से सभी पापों से बचाने वाली विवेक-शक्ति का उद्‌भव और विकास होता है। विवेक-शक्ति ही यतना-सम्पन्न व्यवहार के रूप में अभिव्यक्त होती है। ऐसा साधक दो प्रहर या अहोरात्रि का एक-चौथाई भाग ध्यान-लीन हो कर आनन्द-प्राप्ति में व्यतीत या सार्थक करता है। उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक अहोरात्रि का एक चौथाई भाग ही पर्याप्त होता है। मात्र एक प्रहर की निद्रा उसे सामाचारी-पालन की ऊर्जा दे देती है।

सामाचारी सम्पन्नता की सब से महत्त्वपूर्ण देन है—संयम में उत्साह। सामाचारी किसी पर लादी नहीं जाती। उसका एक सार्थक जीवन-पद्धति के रूप में चुनाव होता है। अपना चुनाव होने के कारण वह कुण्ठाओं का नहीं, आनन्द का स्रोत होती है। ऊब का नहीं, उल्लास का संचार करती है। बन्धन का नहीं, मुक्ति का अनुभव प्रदान करती है। समय को संयम का प्रतिरूप बनाकर साधक को काल-जेता बना देती है। सामाचारी-सम्पन्न साधक को समय नहीं रचता। वह समय को रचता है।

शरीर के स्थान पर आत्मा के लिए जीने की सशक्त प्रेरणा देने के कारण प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है। ❑❑

अह सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं

अथ सामाचारी षड्विंशमध्ययनं

मूल : **सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं।**
जं चरित्ताण निग्गंथा, तिण्णा संसार-सागरं ।। १ ।।

संस्कृत : सामाचारीं प्रवक्ष्यामि, सर्वदुःखविमोक्षणीम्।
यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः, तीर्णाः संसार-सागरम् ।। १ ।।

मूल : **पढमा आवस्सिया नाम, बिइया य निसीहिया।**
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ।। २ ।।

संस्कृत : प्रथमाऽऽवश्यकी नाम्नी, द्वितीया च नैषेधिकी।
आप्रच्छना च तृतीया, चतुर्थी प्रतिप्रच्छना ।। २ ।।

मूल : **पंचमी छन्दणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ।**
सत्तमो मिच्छाकारो उ, तहक्कारो य अट्ठमो ।। ३ ।।

संस्कृत : पंचमी छन्दना नाम्नी, इच्छाकारश्च षष्ठी।
सप्तमी मिथ्याकारस्तु, तथाकारश्चाष्टमी ।। ३ ।।

मूल : **अब्भुट्ठाणं च नवमं, दसमी उपसंपदा।**
एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ।। ४ ।।

संस्कृत : अभ्युत्थानं च नवमी, दशमी उपसंपद्।
एषा दशांगा साधूनां, सामाचारी प्रवेदिता ।। ४ ।।

मूल : **गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं।**
आपुच्छणं सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणं ।। ५ ।।

संस्कृत : गंमन आवश्यकीं कुर्यात्, स्थाने कुर्यान्नैषेधिकीम्।
आप्रच्छना स्वयंकरणे, परकरणे प्रतिप्रच्छना ।। ५ ।।

छब्बीसवां अध्ययन : सामाचारी

१. मैं समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाली (उस) 'सामाचारी' (साधु-जीवन की विशिष्ट चर्या) का निरूपण करूंगा, जिसका आचरण कर, निर्ग्रन्थ (मुनि) संसार-सागर को पार कर गए हैं (वर्तमान में भी पार कर रहे हैं और भविष्य में भी पार करेंगे)।

२. आवश्यकी नाम की पहली सामाचारी है, दूसरी 'नैषेधिकी' है, तीसरी 'आपृच्छना', तथा चौथी (सामाचारी) 'प्रतिपृच्छना' है।

३. 'छन्दना' नाम की पांचवीं (सामाचारी), 'इच्छाकार' छठी, 'मिथ्याकार' सातवीं, तथा 'तथाकार' आठवीं (सामाचारी) है।

४. नवीं 'अभ्युत्थान', तथा दसवीं 'उपसंपदा' (नामक सामाचारी) है। साधुओं की ये दश अंगों वाली 'सामाचारी' बताई गई है।

५. (अपने निवास से बाहर) जाते हुए ('आवस्सियं' का उच्चारण करे) यह आवश्यकी (सामाचारी) है। (निवास-) स्थान में (प्रवेश करते समय 'निसीहियं' का उच्चारण करे) यह "नैषेधिकी' (सामाचारी) है। स्वयं (किसी कार्य को) करते समय (गुरु से अनुमति-ग्रहण करना) 'आपृच्छना' (सामाचारी) होती है तथा दूसरे कार्य (शास्त्र वाचना, वैयावृत्यादि करने के लिए गुरु से अनुमति लेना) 'प्रतिपृच्छना' (सामाचारी) होती है।

मूल : **छन्दणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो य सारणे।**
मिच्छाकारो य निन्दाए, तहक्कारो पडिस्सुए ।। ६ ।।

संस्कृत : छन्दल द्रव्यजातेन, इच्छाकारश्च सारणे।
मिथ्याकारश्च निन्दायां, तथाकारः प्रतिश्रुते ।। ६ ।।

मूल : **अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपदा।**
एवं दुपंचसंजुत्ता, सामायारी पवेइया ।। ७ ।।

संस्कृत : अभ्युत्थानं गुरुपूजायां, अवस्थाने उपसंपद्।
एवं द्विपंचसंयुक्ता, सामाचारी प्रवेदिता ।। ७ ।।

मूल : **पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए।**
भण्डयं पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरुं ।। ८ ।।

संस्कृत : पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते।
भाण्डकं प्रतिलिख्य, वन्दित्वा च ततो गुरुम् ।। ८ ।।

मूल : **पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह।**
इच्छं निओइउं भन्ते! वेयावच्चे व सज्झाए ।। ९ ।।

संस्कृत : पृच्छेत्प्राञ्जलिपुटः, किं कर्तव्यं मयेह?
इच्छामि नियोजयितुं भदन्त!, वैयावृत्ये वा स्वाध्याये ।। ९ ।।

मूल : **वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ।**
सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।। १० ।।

संस्कृत : वैयावृत्ये नियुक्तेन, कर्तव्यमग्लान्या।
स्वाध्याये वा नियुक्तेन, सर्वदुःखविमोक्षणे ।। १० ।।

६. (भिक्षा द्वारा प्राप्त) द्रव्य-सामग्री (भोजन-वस्त्रादि) (गुरु तथा सहधर्मी मुनियों को आमंत्रित करने में अनुरोध स्वरूप) 'छन्दना' (सामाचारी) होती है, सारण (अपनी इच्छा से दूसरों के कार्य करने से पूर्व तथा दूसरों से अपना कार्य करवाने से पूर्व, उनसे विनम्र निवेदन करने) में 'इच्छाकार' (सामाचारी) होती है। (कृत दोषों की निवृत्ति हेतु, गुरुजनों के समक्ष आत्म-) निंदा करने में 'मिथ्याकार' (सामाचारी) होती है, और 'प्रतिश्रवण' (गुरुजनों के उपदेश आज्ञा आदि को सुनकर, स्वीकृति सूचना) में 'तथाकार' (सामाचारी) होती है।

७. गुरुपूजा (व सत्कार आदि की क्रिया) में 'अभ्युत्थान' (आसन आदि से उठना क्रिया-स्वरूप) सामाचारी होती है।, (विशिष्ट प्रयोजन-वश (अध्ययनादि) दूसरे गण के आचार्य के पास) 'आसन' (रहने) में 'उपसम्पदा' (मर्यादित काल तक शिष्यत्व स्वीकार करने की सामाचारी) होती है। इस प्रकार दश (अंगों से युक्त) 'सामाचारी' कही गई है।

८. सूर्य के उदय होने पर (दिन के चार भागों में से) प्रथम भाग (प्रहर) के प्रथम चतुर्थांश (दो घड़ी ४८ मिनटों में) भाण्डों (पात्र आदि उपकरणों) की प्रतिलेखना करे, तदनन्तर गुरु की वन्दना करे, फिर,

९. (शिष्य/मुनि) करबद्ध होकर पूछे- "अब मुझे क्या करना चाहिए? भगवन्! मैं (आपकी आज्ञा से) वैयावृत्य (सेवा) में या फिर स्वाध्याय में नियुक्त होना चाहता हूँ।"

१०. (गुरु द्वारा) वैयावृत्य में नियुक्त किए जाने पर बिना ग्लानि के (शरीर-श्रम की चिन्ता न करते हुए हर्षपूर्वक वैयावृत्य) करनी चाहिए। या फिर स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर (बिना ग्लानि के, बिना थके व उंत्साहपूर्वक) सभी दुःखों से विमुक्त करने वाली स्वाध्याय करनी चाहिए।

मूल : **दिवसस्स चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।**
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि।।११।।

संस्कृत : दिवसस्य चतुरो भागान्, कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, दिनभागेषु चतुर्ष्वपि।।११।।

मूल : **पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।**
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं।।१२।।

संस्कृत : प्रथमायां पौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्।।१२।।

मूल : **आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया।**
चित्तासोएसु मासेसु, तिप्पया हवइ पोरिसी।।१३।।

संस्कृत : आषाढे मासे द्विपदा, पौषे मासे चतुष्पदा।
चैत्राश्विनयोर्मासयोः, त्रिपदा भवति पौरुषी।।१३।।

मूल : **अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेण च दुरंगुलं।**
वड्ढए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं।।१४।।

संस्कृत : अङ्गुलं सप्तरात्रेण, पक्षेण च द्वयंगुलम्।
वर्धते हीयते वापि, मासेन चतुरंगुलम्।।१४।।

११. विचक्षण (बुद्धिमान) साधु दिन के चार भाग करे। फिर, दिन के (उन) चारों भागों में (स्वाध्याय आदि) उत्तरगुणों की आराधना करनी चाहिए।

१२. (दिन के) प्रथम प्रहर में (साधु इसके प्रथम १/४ भागः प्रतिलेखना काल को छोड़कर) स्वाध्याय (करे) तथा द्वितीय प्रहर में ध्यान करे, तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या (आहार-ग्रहण) तथा चौथे प्रहर (के प्रारम्भिक ३/४ भाग) में फिर स्वाध्याय (तथा शेष १/४ भाग में प्रतिलेखना) करे।

१३. आषाढ़ मास में दो पादों की (अर्थात् २४ अंगुल प्रमाण वाली) 'पौरुषी'[1], पौष मास में चार पादों की (४८ अंगुल प्रमाण वाली) तथा चैत्र व अश्विन मास में तीन पादों की (अर्थात् ३६ अंगुल प्रमाण वाली) 'पौरुषी' हुआ करती है।

१४. (पौरुषी के प्रमाण में) सात रात्रियों (अर्थात् एक सप्ताह) में एक-एक अंगुल की, पक्ष (१५ दिन) में २-२ अंगुलों की तथा एक मास में चार-चार अंगुलों की (श्रावण से पौष मास तक, क्रमशः) वृद्धि तथा (माघ से आषाढ़ तक) हानि होती रहती है।

---

१. पौरुषी' का अर्थ है- सूर्य के प्रकाश में अंग की छाया से, या २४ अंगुल प्रमाण किसी शंकु (छड़ी आदि) की छाया से नापा जाने वाला 'काल प्रमाण'। यदि कोई व्यक्ति अपना दाहिना हाथ सूर्य-मण्डल के समक्ष कर, खड़ा हो और घुटने के मध्य तर्जनी रखे , तब पैर की एड़ी से लेकर तर्जनी अंगुली वाले स्थान तक की छाया 'पौरुषी' कही जाएगी। प्रत्येक मास में इसका प्रमाण १३ से १६ तक की गाथाओं में बताया गया है। आषाढ पूर्णिमा को सूर्योदय से एक प्रहर बीतने पर इस छाया का प्रमाण २४ अंगुल या दो पाद होगा, फिर बढ़ते हुए श्रावण-पूर्णिमा को २ पाद ४ अंगुल, भाद्रपद-पूर्णिमा को २ पाद ८ अंगुल, आश्विन मास की पूर्णिमा को तीन पाद, कार्तिक-पूर्णिमा को ३ पाद ४ अंगुल, मार्गशीर्ष-पूर्णिमा को ३ पाद ८ अंगुल, फाल्गुन-पूर्णिमा को ३ पाद ४ अंगुल, चैत्र -पूर्णिमा को ३ पाद, वैशाख पूर्णिमा को २ पाद ८ अंगुल, ज्येष्ट पूर्णिमा को २ पाद ४ अंगुल, आषाढ़ पूर्णिमा को दो पाद रह जाएगा। मुनि निर्दिष्ट मास के अनुसार पौरुषी के प्रमाण से यह जान सकता है कि प्रथम प्रहर हुआ कि नहीं।

मूल : **आसाढबहुले पक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य।**
फग्गुणवइसाहेसु य, बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ।।१५।।

संस्कृत : आषाढे पक्षबहुले, भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।
फाल्गुने वैशाखे च, बोद्धव्या अवमरात्रयः ।।१५।।

मूल : **जेट्ठामूले आसाढसावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।**
अट्ठहिं बीयतयम्मि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ।।१६।।

संस्कृत : ज्येष्ठामूले आषाढे श्रावणे, षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके, तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ।।१६।।

मूल : **रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।**
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि ।।१७।।

संस्कृत : रात्रावपि चतुरो भागान्, भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, रात्रिभागेषु चतुर्ष्वपि ।।१७।।

मूल : **पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।**
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ।।१८।।

संस्कृत : प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, चतुर्थ्यां भूयोऽपि स्वाध्यायम् ।।१८।।

मूल : **जं नेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तम्मि नहचउब्भाए।**
संपत्ते विरमेज्जा, सज्झाय पओसकालम्मि ।।१९।।

संस्कृत : यन्नयति यदा रात्रिं, नक्षत्रं तस्मिन्नेव नभश्चतुर्भागे।
संप्राप्ते विरमेत्, स्वाध्यायात् प्रदोषकाले ।।१९।।

१५. आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन व वैशाख मास के कृष्ण पक्ष में एक-एक रात कम होती है (अर्थात् एक तिथि का क्षय होकर, १४ दिनों का पक्ष रह जाता है)।

१६. **ज्येष्ठा (ज्येष्ठ मास के मूल नक्षत्र),** आषाढ़ व श्रावण- इस प्रथम 'त्रिक' (तीन महीनों के वर्ग) में छः-छः अंगुल, (भाद्रपद, आश्विन व कार्तिक- इस) द्वितीय 'त्रिक' में आठ अंगुल, (मार्गशीर्ष, पौष व माघ- इस) तृतीय 'त्रिक' में दस अंगुल तथा (फाल्गुन, चैत्र, वैशाख -इस) चतुर्थ 'त्रिक' में आठ अंगुल की वृद्धि करने से 'प्रतिलेखना' (का पौरुषी-काल) अभीष्ट है।[1]

१७. विचक्षण (विद्वान्) भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। फिर उन चारों भागों में भी (स्वाध्याय आदि) उत्तरगुणों (की आराधना) को सम्पन्न करे।

१८. (रात्रि के चार भागों में से) प्रथम पौरुषी (के १/४ भाग को छोड़ कर बचे समय) में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा तथा चतुर्थ (पौरुषी के प्रारम्भिक ३/४ भाग) में पुनः स्वाध्याय करे।

१९. जिस नक्षत्र को रात्रि पूरी करनी होती है (अर्थात् जो नक्षत्र सारी रात भर उदित रहता हो) वह नक्षत्र आकाश के प्रथम चतुर्थ भाग में पहुंच जाए (अर्थात् आकाश के प्रारम्भिक १/४ भाग मार्ग में प्रविष्ट हो, तब रात्रि के सन्धि काल स्वरूप) प्रदोषकाल में (प्रथम प्रहर के १/४ भाग समाप्त होने वाले समय में) स्वाध्याय से विरत रहना चाहिए।

---

१. तात्पर्य यह है कि प्रथम त्रिक में जो 'पौरुषी' का प्रमाण बताया गया है, उससे छः अंगुल प्रमाण बढ़ जाए, तब पात्र आदि का प्रतिलेखन करना चाहिए। जैसे-ज्येष्ठ पूर्णिमा को २ पाद १० अंगुल, आषाढ़ पूर्णिमा को २ पाद ६ अंगुल, श्रावण पूर्णिमा को २ पाद १० अंगुल, भाद्रपद पूर्णिमा को ३ पाद ४ अंगुल, इस प्रकार 'पौरुषी' छाया हो तो 'प्रतिलेखना' कर्त्तव्य है।

मूल : **तम्मेव य नक्खत्ते, गयणचउब्भागसावसेसम्मि।**
वेरत्तियंपि कालं, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ।।२०।।

संस्कृत : तस्मिन्नेव च नक्षत्रे, गगनचतुर्भागसावशेषे।
वैरात्रिकमपि कालं, प्रतिलेख्य मुनिः कुर्यात् ।।२०।।

मूल : **पुव्विल्लंमि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भण्डयं।**
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ।।२१।।

संस्कृत : पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, प्रतिलेख्य भाण्डकम्।
गुरुं वन्दित्वा स्वाध्यायं, कुर्याद् दुःखविमोक्षणम् ।।२१।।

मूल : **पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं।**
अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायणं पडिलेहए ।।२२।।

संस्कृत : पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
अप्रतिक्रम्य कालं, भाजनं प्रतिलेखयेत् ।।२२।।

मूल : **मुहपोत्तिं पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं।**
गोच्छगलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ।।२३।।

संस्कृत : मुखवस्त्रिकां प्रतिलेख्य, प्रतिलेखयेद् गोच्छकम्।
अङ्गुलिलातगोच्छकः, वस्त्राणि प्रतिलेखयेत् ।।२३।।

मूल : **उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।**
तो विइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जिज्ज ।।२४।।

संस्कृत : ऊर्ध्वं स्थिरमत्वरितं, पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलेखयेत्।
ततो द्वितीयं प्रस्फोटयेत्, तृतीयं च पुनः प्रमृज्यात् ।।२४।।

२०. उसी नक्षत्र के लिए जब आकाश (के तीन भागों को पार करते हुए उस) का मात्र चतुर्थ भाग (पार करना) शेष रह जाए, तब वैरात्रिक काल (अर्थात् रात्रि की समाप्ति का काल, जो स्वाध्याय के लिए 'अकाल'-अयोग्य काल माना जाता है, उस) को देख-समझ कर (यथोचित काल-प्रवृत्ति) करे (अर्थात् रात्रि के चतुर्थ प्रहर में प्रारम्भ के ३/४ भाग में, यानी छः घड़ी तक तो स्वाध्याय करे, किन्तु अंतिम २ घड़ी में विरात्रि काल जानकर, स्वाध्याय छोड़ दे और करणीय कार्य प्रतिलेखन आदि करे)।

२१. (दिन के) प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्भाग में (प्रथम प्रहर की प्रथम दो घड़ियों में, इस प्रहर के प्रारम्भिक १/४ भाग में) भाण्डों (उपकरणों) की प्रतिलेखना करके, गुरु-वन्दना के अनन्तर (प्रथम प्रहर की अंतिम छः घड़ियों में, अंतिम ३/४ भाग में) दुःख-मोचक स्वाध्याय करे।

२२. (इसी प्रथम) पौरुषी के चतुर्थ भाग में (उक्त प्रारम्भिक २ घड़ियों में) गुरु वन्दना के अनन्तर, काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किए बिना ही, भाजनों की प्रतिलेखना करे। (यहां यह संकेत किया गया है कि स्वाध्याय की समाप्ति के सूचक कायोत्सर्गादि या ईर्यापथिक प्रतिक्रमण तथा स्वाध्याय-सम्बन्धी चौदह अतिचारों का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भविष्य में पुनः स्वाध्याय में प्रवृत्त होना है।)

२३. मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर 'गोच्छग' (रजोहरण, प्रमार्जनी-पूंजणी) की प्रतिलेखना करे। 'गोच्छग' की प्रतिलेखना करते हुए मुनि उंगलियों से उसको पकड़ के उसकी विशिष्ट रूप प्रतिलेखना करे, पश्चात् वस्त्रों की प्रतिलेखना करे।

२४. प्रथम तो ऊर्ध्व (उकडू) आसन से स्थिर बैठ कर शीघ्रता किए बिना वस्त्र की प्रतिलेखना करे (चलता फिरता जीव-जन्तु दीखे तो उसे निरुपद्रव स्थान पर रख दे)। दूसरी बार में वस्त्र को धीरे से झटकार दे और तीसरी बार में वस्त्र की पुनः प्रमार्जना करे (यदि कोई जीव-जन्तु देखने में आ जाए तो उसे सुरक्षित स्थान पर रख दे)।

मूल : **अणच्चावियं अवलियं, आणाणुबंधिममोसलिं चेव।**
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणिविसोहणं ।। २५ ।।

संस्कृत : अनर्तितमवलितं, अननुबंध्यमौशली चैव।
षट्पूर्वा नवखोटकाः, पाणिप्राणिविशोधनं ।। २५ ।।

मूल : **आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।**
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ।। २६ ।।

संस्कृत : आरभटा संमर्दा, वर्जयितव्या च मौशली तृतीया।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ।। २६ ।।

मूल : **पसिढिलपलम्बलोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा।**
कुणइ पमाणे पमायं, संकियगणणोवगं कुज्जा ।। २७ ।।

संस्कृत : प्रशिथिलं प्रलंबो लोलः, एकामर्षाऽनेकरूपधुना।
कुरुते प्रमाणे प्रमादं, शंकिते गणनोपगं कुर्यात् ।। २७ ।।

२५. (प्रतिलखेना में वस्त्र या शरीर को) न नचाते हुए, न मोड़ते हुए, दृष्टि से न दिखाई पड़े- इस प्रकार वस्त्र का विभाग न करते हुए (या वस्त्र को जोर से न झटकते हुए) वस्त्र को दीवार आदि से स्पृष्ट न कराते हुए, वस्त्र के छः 'पूर्व' (दोनों हिस्सों को तीन-तीन बार खंखेरना) व 'खेटक' (वस्त्र का अपने सामने जो भाग है, उसके तीन-तीन भागों की कल्पना कर, प्रत्येक भाग को तीन-तीन बार शोधन) करते हुए, हाथ में आए प्राणी की प्रमार्जना करे।

२६. (प्रतिलेखना में) इन (तेरह दोषों/प्रमादों से पूर्ण प्रतिलेखनाओं) का त्याग करे- १. **आरभटा** (निर्दिष्ट विधि को छोड़ कर या जल्दी जल्दी एक वस्त्र की पूरी तरह प्रतिलेखना किए बिना दूसरे की प्रतिलेखना करने लगना), २. **संमर्दा** (जिस वस्त्र की प्रतिलेखना करनी है, उसके कोने मुड़े ही रहें, सलवट भी निकाली न गई हो, या उस वस्त्र पर ही बैठ कर प्रतिलेखना करना), ३. **मौसली** (प्रतिलेखन-योग्य वस्त्र आदि को ऊपर नीचे, इधर-उधर दीवार से या अन्य पदार्थ से स्पृष्ट करना), ४. **प्रस्फोटना** (धूलि-धूसरित वस्त्र की तरह जोर से झटकना), ५. **विक्षिप्ता** (प्रतिलेखना किए गए वस्त्र आदि को प्रतिलेखना रहित वस्त्र आदि में मिला देना या प्रतिलेखित वस्त्रों को इधर-उधर फेंक देना या इतना अधिक ऊँचा उठा लेना कि ठीक से प्रतिलेखना न हो सके), ६. **वेदिका** (प्रतिलेखना के समय, घुटनों के ऊपर-नीचे या मध्य में या बगल में हाथ रख लेना, या घुटनों को भुजाओं के बीच में रखना)।

२७. (इसी तरह ये सात निषिद्ध विधियां भी वर्जनीय हैं-)
७. **प्रशिथिल** (वस्त्र को ढीला पकड़ना), ८. **प्रलम्ब** (वस्त्र के कोनों को भूमि तक लटका देना), ९. **लोल** (वस्त्र को भूमि से या हाथ से रगड़ना), १०. **एकामर्शा** (एक ही दृष्टि में सम्पूर्ण वस्त्र को देख जाना), ११. **अनेक रूप-धुनना** (अनेक वस्त्रों को एक साथ, एक बार में ही, या एक वस्त्र को तीन बार से अधिक झटकना),

मूल : **अणूणाइरित्तपडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य।**
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ।। २८ ।।

संस्कृत : अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखना, अविव्यत्यासा तथैव च।
प्रथमं पदं प्रशस्तं, शेषाणि त्वप्रशस्तानि ।। २८ ।।

मूल : **पडिलेहणं कुणन्तो, मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा।**
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ।। २९ ।।

संस्कृत : प्रतिलेखनां कुर्वन्, मिथः कथां करोति जनपदकथां वा।
ददाति वा प्रत्याख्यानं, वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा ।। २९ ।।

मूल : **पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।**
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ।। ३० ।।

संस्कृत : पृथ्व्यप्कायं, तेजोवायुवनस्पतित्रसानाम्।
प्रतिलेखनाप्रमत्तः, षण्णामपि विराधको भवति ।। ३० ।।

मूल : **पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।**
पडिलेहणाआउत्तो, छण्हं संरक्खओ होइ ।। ३१ ।।

संस्कृत : पृथ्व्यप्, तेजो वायु-वनस्पति-त्रसाणाम्।
प्रतिलेखनाऽऽयुक्तः षण्णां संरक्षको भवति ।। ३१ ।।

१२. **प्रमाण - प्रमाद** (प्रमाद के कारण, निर्दिष्ट प्रमाण-नौ बार- से अधिक या कम प्रस्फोटन व प्रमार्जन करना) तथा १३. **शंकित - गणना** (निर्दिष्ट प्रमाण में शंका होने पर, हाथ की अंगुलियों की पर्व-रेखाओं से गिनती) की जाए।

२८. (प्रस्फोटन व प्रमार्जन के निर्दिष्ट) प्रमाण से न कम, न ज्यादा, तथा अविपरीत प्रतिलेखना ही कर्तव्य होती है। उक्त तीन विकल्पों के आधार पर बने आठ विकल्पों में प्रथम विकल्प[1] ही प्रशस्त है, शेष तो (सात विकल्प) अप्रशस्त होते हैं।

२९. (यदि) प्रतिलेखना करते समय (मुनि) परस्पर-कथा (संभाषण आदि) या फिर जनपद (देश व स्त्री आदि) से सम्बन्धित कथा करता है, अथवा (बीच-बीच में किसी को) प्रत्याख्यान (त्याग-नियम भी) दिलाता रहता है, अथवा वाचना दिलाता है, या स्वयं वाचना ग्रहण करता है, (तो ऐसी स्थिति में वह 'प्रमादी' है और फल-स्वरूप)

३०. प्रतिलेखना में प्रमाद करने वाला (वह) साधक पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रस- इन छहों (जीवों) का विराधक (हिंसक) होता है।

३१. (किन्तु) प्रतिलेखना में उपयोग-युक्त (साधक) पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रस- इन छहों (जीवों) का संरक्षक होता है।

---

१. प्रशस्त विकल्प है- अन्यून (कम नहीं), अनतिरिक्त (अधिक भी नहीं) तथा अविपरीत (मर्यादित विधि के प्रतिकूल भी नहीं)। सात अप्रशस्त विकल्प इस प्रकार हैं- १. अन्यून, अनतिरिक्त, किन्तु विपरीत, २. अविपरीत होते हुए भी न्यून व अतिरिक्त, ३. अनतिरिक्त व अविपरीत होते हुए भी न्यून, ४. अन्यून होते हुए भी अतिरिक्त और विपरीत भी ५. अनतिरिक्त होते हुए भी न्यून और विपरीत भी ६. अन्यून व अविपरीत होते हुए भी अतिरिक्त, ७. न्यून भी, अतिरिक्त भी, विपरीत भी।

मूल : **तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाणं गवेसए।**
छण्हं अन्नतराए, कारणम्मि समुट्ठिए।। ३२।।

संस्कृत : तृतीयायां पौरुष्यां, भक्तं पानं गवेषयेत्।
षण्णामन्यतरस्मिन्, कारणे समुत्थिते।। ३२।।

मूल : **वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए व संजमट्ठाए।**
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए।। ३३।।

संस्कृत : वेदनायै वैयावृत्याय, इर्यार्थाय च संयमार्थाय।
तथा प्राणप्रत्ययाय, षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै।। ३३।।

मूल : **निग्गन्थो धिइमन्तो, निग्गन्थी वि न करेज्जा छहिं चेव।**
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ।। ३४।।

संस्कृत : निर्ग्रन्थो धृतिमान्, निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्याद् षड्भिश्चैव।
स्थानैस्त्वेभिः, अनतिक्रमणाय तस्य भवति (तानि)।। ३४।।

मूल : **आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।**
पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए।। ३५।।

संस्कृत : आतंक उपसर्गे, तितिक्षया ब्रह्मचर्यगुप्तिषु।
प्राणिदयाहेतोः तपोहेतोः, शरीरव्यवच्छेदार्थाय।। ३५।।

मूल : **अवसेसं भण्डगं गिज्झ, चक्खुसा पडिलेहए।**
परमद्धजोयणाओ, विहारं विहरए मुणी।। ३६।।

संस्कृत : अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा, चक्षुषा प्रतिलेखयेत्।
परममर्धयोजनात्, विहारं विहरेन्मुनिः।। ३६।।

मूल : **चउत्थीए पोरिसीए, निक्खिवित्ताण भायणं।**
सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं।। ३७।।

संस्कृत : चतुर्थ्यां पौरुष्यां, निक्षिप्य भाजनम्।
स्वाध्यायं च ततः कुर्यात्, सर्वभावविभावनम्।। ३७।।

३२. (दिन की) तीसरी पौरुषी (प्रहर-वेला) में (निम्नलिखित) छः कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर (मुनि) भक्त-पान (आहार) की गवेषणा करे।

३३. (वे छः कारण हैं-) १. वेदना (क्षुधा की शान्ति) के लिए, २. वैयावृत्य के लिए, ३. ईर्या समिति के पालन के लिए, ४. संयम के निर्वाह हेतु, ५. प्राणों को बचाये रखने के लिए तथा छठा कारण है- धर्म-चिन्तन (अप्रशस्त दुर्ध्यान न हों- इस) के लिए।

३४. धृति-सम्पन्न साधु व साध्वी (निम्नलिखित) छः कारणों से (भक्तपान आहार की गवेषणा) न करे, जिससे उनके संयम का अतिक्रमण (उल्लंघन) न हो।

३५. १. रोग होने पर, २. उपसर्ग होने पर, ३. ब्रह्मचर्य सम्बन्धी गुप्ति की सुरक्षा हेतु ४. प्राणि दया हेतु, ५. तप के लिए तथा ६. शरीर-विच्छेद (अन्तिम समय, संलेखना) के लिए (अर्थात् इन परिस्थितियों/उद्देश्य के निमित्त आहार-पानी का त्याग-शास्त्र समर्थित है)।

३६. (भिक्षा - चर्या से पूर्व) समस्त भाण्ड-उपकरणों (वस्त्र व पात्र आदि) को लेकर, आंखों से उनकी प्रतिलेखना करे (उन्हें लेकर) मुनि (अपने निवास-स्थान से या भिक्षा-स्थान से अधिक से अधिक) आधे योजन की दूरी तक (ही) विहार करे।

३७. चतुर्थ पौरुषी (प्रहर) में भाजनों (उपकरणों) को (प्रतिलेखनापूर्वक) सुस्थापित करके, समस्त पदार्थों के प्रकाशक 'स्वाध्याय' (तप का अनुष्ठान) करे।

मूल : **पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं।**
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए।। ३८।।

संस्कृत : पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य, शय्यां तु प्रतिलेखयेत्।। ३८।।

मूल : **पासवणुच्चारभूमिं च , पडिलेहिज्ज जयं जई।**
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।। ३९।।

संस्कृत : प्रस्रवणोच्चारभूमिं च, प्रतिलेखयेद् यतं यतिः।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम्।। ३९।।

मूल : **देवसियं च अईयारं, चिन्तिज्जा अणुपुव्वसो।**
नाणंमि दंसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य।। ४०।।

संस्कृत : दैवसिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः।
ज्ञाने च दर्शने चैव, चारित्रे तथैव च।। ४०।।

मूल : **पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।**
देवसियं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं।। ४१।।

संस्कृत : पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
दैवसिकं त्वतिचारं, आलोचयेद्यथाक्रमम्।। ४१।।

मूल : **पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं।**
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।। ४२।।

संस्कृत : प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम्।। ४२।।

मूल : **पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।**
थुइमंगलं च काऊणं, कालं संपडिलेहए।। ४३।।

संस्कृत : पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
स्तुतिमंगलं च कृत्वा, कालं संप्रतिलेखयेत्।। ४३।।

३८. (दिन की इस चतुर्थ) पौरुषी के (प्रारम्भ के ३/४ भाग में अर्थात् छः घड़ियों तक, स्वाध्याय कर, इसी प्रहर के अन्तिम) चतुर्थ भाग (२ घड़ियों) में (स्वाध्याय समाप्त कर) गुरु को वन्दना करे, तदनन्तर काल-प्रतिक्रमण (स्वाध्याय विरति व कायोत्सर्ग) कर (अपने शयन-स्थान) 'शय्या' की प्रतिलेखना करे।

३९. उसके बाद, यतनाशील 'यति' (मुनि) प्रस्रवण (मूत्र-त्याग) व उच्चार (मल-त्याग) की भूमि का प्रतिलेखन करे, तदनन्तर समस्त दुःखों से छुड़ाने वाला 'कायोत्सर्ग' करे।

४०. (कायोत्सर्ग में) ज्ञान, दर्शन व चारित्र में लगे दिवस-सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४१. कायोत्सर्ग को सम्पन्न कर, गुरु की वन्दना करे (पश्चात्) यथाक्रम से दिवस-सम्बन्धी अतिचारों की (गुरु के समीप) आलोचना करे।

४२. प्रतिक्रमण कर, (माया आदि) शल्य से रहित होकर, गुरु की वन्दना करे। फिर सब दुःखों से मुक्त कराने वाला 'कायोत्सर्ग' करे।

४३. कायोत्सर्ग को सम्पन्न कर, गुरु की वन्दना करे (पश्चात्) 'चतुर्विंशति स्तव' व 'नमोत्थुणं' आदि स्तुति-मंगल करके, काल की (प्रदोष-कालोचित) प्रतिलेखना करे।

मूल : **पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइयं झाणं झियायई।**
तइयाए निद्दमोक्खं तु, सज्झायं तु चउत्थिए।।४४।।

संस्कृत : प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत्।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, स्वाध्यायं तु चतुर्थ्यामू।।४४।।

मूल : **पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया।**
सज्झायं तु तओ कुज्जा, अबोहन्तो असंजए।।४५।।

संस्कृत : पौरुष्यां चतुर्थ्यां, कालं तु प्रतिलेख्य।
स्वाध्यायं तु ततः कुर्यात्, अबोधयन्नसंयतान्।।४५।।

मूल : **पोरिसीए चउब्भाए, वन्दिऊण तओ गुरुं।**
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए।।४६।।

संस्कृत : पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य, कालं तु प्रतिलेखयेत्।।४६।।

मूल : **आगए कायवोस्सग्गे, सव्वदुक्खविमोक्खणे।**
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।।४७।।

संस्कृत : आगते कायव्युत्सर्गे, सर्वदुःखविमोक्षणे।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम्।।४७।।

मूल : **राइयं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।**
नाणंमि दंसणंमि य, चरित्तंमि तवंमि य।।४८।।

संस्कृत : रात्रिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः।
ज्ञाने दर्शने च, चारित्रे तपसि च।।४८।।

मूल : **पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।**
राइयं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं।।४९।।

संस्कृत : पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
रात्रिकं त्वतिचारं, आलोचयेद्यथाक्रमम्।।४९।।

४४. (रात्रि की) प्रथम पौरुषी (प्रहर) में स्वाध्याय (करे), तथा द्वितीय में ध्यान करे। तृतीय में निद्रा से मुक्ति का कार्य (अर्थात् शयन) करे। चतुर्थ प्रहर में (पुनः) स्वाध्याय करे।

४५. चतुर्थ पौरुषी (प्रहर) में 'काल' की प्रतिलेखना कर (अर्थात् स्वाध्यायादि-सम्बन्धी वर्ज्य बातों का ध्यान रखते हुए, चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भिक छः घड़ी तक ही स्वाध्याय कर्तव्य है, उसके बाद नहीं-इसका ध्यान रखते हुए) असंयमी व्यक्तियों को न जगाते हुए (अर्थात् उनकी निद्रा न टूटे-इस रीति से) स्वाध्याय करे।

४६. (इसी) चतुर्थ पौरुषी के (तीन चौथाई भाग बीतने पर तथा चतुर्थ प्रहर के दो घड़ी प्रमाण काल शेष रहने पर) चतुर्थ भाग में गुरु की वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (अर्थात् स्वाध्याय से विरत होता हुआ, प्रभात-) काल की प्रतिलेखना करे (अर्थात् स्वाध्याय-वर्ज्य बातों का सम्यक् निरीक्षण करे)।

४७. इसके पश्चात् सभी दुःखों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग (का समय) आने पर सर्व दुःखों से मुक्त कराने वाला 'कायोत्सर्ग' करे।

४८. (कायोत्सर्ग में) ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप में लगे रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४९. कायोत्सर्ग को सम्पन्न कर गुरुवन्दना करे, और फिर अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों की (गुरु के समक्ष) आलोचना करे।

मूल : **पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।**
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।।५०।।

संस्कृत : प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम्।।५०।।

मूल : **किं तवं पडिवज्जामि? एवं तत्थ विचिन्तए।**
काउस्सग्गं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंथवं।।५१।।

संस्कृत : किं तपः प्रतिपद्ये? एवं तत्र विचिन्तयेत्।
कायोत्सर्गं तु पारयित्वा, कुर्यात् जिनसंस्तवम्।।५१।।

मूल : **पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।**
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं।।५२।।

संस्कृत : पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
तपः सम्प्रतिपद्य, कुर्यात् सिद्धानां संस्तवम्।।५२।।

मूल : **एसा सामायारी, समासेण वियाहिया।**
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं।।५३।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एषा सामाचारी, समासेन व्याख्याता।
यां चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम्।।५३।।
इति ब्रवीमि।

५०. प्रतिक्रमण करने के बाद (माया आदि) शल्यों से रहित होकर गुरु की वन्दना करे, और फिर समस्त दुःखों से मुक्ति दिला सकने वाला 'कायोत्सर्ग' करे।

५१. (कायोत्सर्ग में चिन्तन करे कि) "मैं आज कौन-सा तप स्वीकार करूं?" कायोत्सर्ग को पूरा करने के बाद गुरु की वन्दना करे।

५२. कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर गुरु-वन्दना करके (कायोत्सर्ग के समय चिन्तित/संकल्पित यथोचित) तप को (प्रत्याख्यान रूप में गुरु-देव से) स्वीकार कर, सिद्धों की ('नमोत्थुणं' आदि से) स्तुति करे।

५३. संक्षेप में (साधु-जीवनचर्या से सम्बद्ध) यह 'सामाचारी' कही गई है, जिसका आचरण कर, बहुत-से जीव संसार-सागर को पार कर गए (पार कर रहे हैं और भविष्य में भी पार करेंगे)।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

संसार-सागर से अनेक निर्ग्रन्थों को पार कराने वाली सामाचारी के दस अंग हैं–आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, अभ्युत्थान एवं उपसम्पदा। विचक्षण भिक्षु दिन के प्रथम प्रहर में प्रतिलेखना कर गुरु आज्ञा के अनुरूप सेवा या स्वाध्याय करे। मास, पक्ष व पौरुषी के नियम जाने। रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा व चतुर्थ में स्वाध्याय करे। रात्रि में नक्षत्र-गति व स्थिति से समय जाने। दिन-चर्या प्रतिलेखना व गुरु-वन्दना से प्रारम्भ करे। प्रतिलेखना के दोषों से बच कर नियत विधि से प्रतिलेखना करे। ध्यान केन्द्रित कर अप्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करे। षट्कायिक जीवों का रक्षक बने। सात में से एक कारण से दिन के तृतीय प्रहर में भिक्षा हेतु जाये और छह में से एक कारण के उपस्थित होने पर न जाये। चतुर्थ प्रहर में प्रतिलेखना पूर्वक पात्र रखे और स्वाध्याय करे। फिर गुरु-वन्दन कर कायोत्सर्ग व शैया-प्रतिलेखना करे। प्रस्रवण- उच्चार-भूमि-प्रतिलेखना करे। फिर कायोत्सर्ग में दिन के अतिचार सोचे। गुरु-वन्दना कर उनकी आलोचना करे। प्रतिक्रमण करे। गुरु-वन्दन व कायोत्सर्ग करे। पुनः गुरु-वन्दन व सिद्धों की वन्दना करे। काल-प्रतिलेखना करे। रात को स्वाध्याय, ध्यान, शयन व स्वाध्याय करे। रात के अंतिम भाग में गुरु-वन्दना, काल-प्रतिक्रमण व काल-प्रतिलेखना करे। कायोत्सर्ग में रात के अतिचार सोचे। गुरु-वन्दना कर उनकी आलोचना करे। प्रतिक्रमण, गुरु-वन्दन व कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में आगामी दिवस के तप का संकल्प-चिन्तन करे। गुरु-वन्दन कर तप स्वीकार करे और सिद्धों की स्तुति करे। यही सामाचारी का संक्षिप्त रूप है, जिसके पालन से अनेक जीव मुक्त हुए।

❑❑

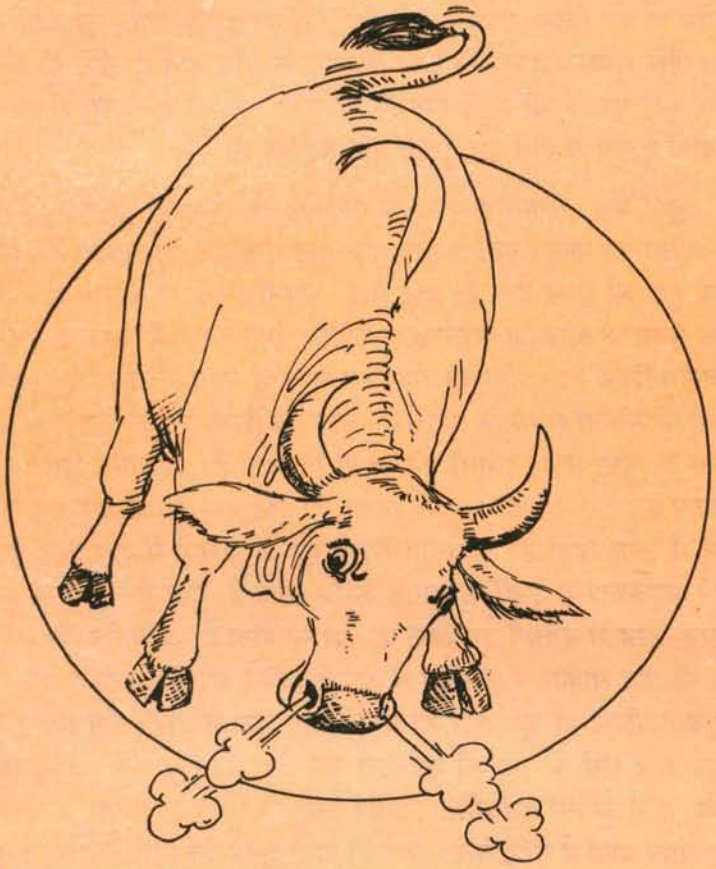

अध्ययन–27

खलुंकीय

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन में कुल सत्रह गाथायें हैं। इस का केन्द्रीय विषय है–अविनीत शिष्यता। खलुंक शब्द का अर्थ है : दुष्ट बैल। दुष्ट बैल के माध्यम से यह विषय साकार हुआ है। इसीलिए इसका नाम 'खलुंकीय' रखा गया। जैसे सम्बन्ध दुष्ट बैल और किसान के बीच होते हैं, वैसे ही अविनीत शिष्य और गुरु के बीच भी होते हैं। दोनों ही सम्बन्ध सु-फलों से शून्य रहते हैं। दोनों दु:खों से होते हुए दु:खों तक पहुंचते हैं।

दुष्ट बैल स्वामी द्वारा बताये मार्ग पर नहीं चलता। अविनीत शिष्य भी गुरु-आज्ञा का पालन नहीं करता। दुष्ट बैल किसान को सताता है। अविनीत शिष्य गुरु को कष्ट देता है। दुष्ट बैल अपनी इच्छा से चलता है। अविनीत शिष्य मनमाना आचरण करता है। दुष्ट बैल अपने स्वामी का स्नेह नहीं पाता। अविनीत शिष्य गुरु-कोप को आमंत्रित करने के लिये तत्पर रहता है। दुष्ट बैल स्वामी के संकेतों से भड़क उठता है। अविनीत शिष्य गुरु के संकेतों से झल्लाने लगता है। दुष्ट बैल स्वामी को आंखें दिखाता है। अविनीत शिष्य गुरु का अपमान करने में गर्व का अनुभव करता है। दुष्ट बैल स्वामी को अयोग्य सिद्ध करने में लगा रहता है। अविनीत शिष्य गुरु के वचनों में दोष देख-देख कर अपने व्यक्तित्व में उन्हीं का संग्रह करता रहता है। दुष्ट बैल स्वामी के कार्य में तरह-तरह से बाधायें उपस्थित कर प्रसन्न होता है। अविनीत शिष्य गुरु की एक भी बात साकार न होने देने में अपनी शक्ति की सफलता देखता है। दुष्ट बैल क्रोधाविष्ट हो जुए और गाड़ी को तोड़ देता है। अविनीत शिष्य गुरु के प्रभाव और धर्म के रथ को खण्डित कर देता है। दुष्ट बैल और अविनीत शिष्य, दोनों अपनी हठधर्मिता, अपने अहंकार, अपनी दुष्टता, अपने अज्ञान और अपने पापों में वृद्धि करते रहते हैं। दोनों दु:ख देते रहते हैं। दोनों दु:ख पाते रहते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन इस दु:ख-प्रक्रिया के मूल आधार को स्पष्ट करता है। इसका मूल आधार है–अविनय। विनय गुणों के संग्रह का मार्ग है तो अविनय दोषों के संग्रह की राह। इस राह से स्वयं बचने तथा दूसरों को बचाने के लिए इसे जानना आवश्यक है। जैन धर्म में ज्ञान का अत्यन्त महत्त्व है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध ज्ञान के स्रोत हैं। अविनीत शिष्य द्वारा गुरु का तिरस्कार वस्तुत: ज्ञान-स्रोत का तिरस्कार है। आत्म-कल्याण का तिरस्कार है। धर्म का तिरस्कार है।

अविनीत शिष्य अपने अज्ञान का उत्पादक-व्यवस्थापक होता है। द्वेष, असहिष्णुता, दम्भ, कुटिलता, प्रमाद, कलह-प्रियता, लालच, स्व-पर-पीड़ा, कायरता, चरित्रहीनता, अविश्वसनीयता, उद्दण्डता, विवेक-शून्यता आदि उसके स्वभाव की विशेषतायें होती हैं। इन विशेषताओं से उसे मोह होता है। परिणामतः ये उसके जीवन से मूल-बद्ध होती जाती हैं।

अविनीत शिष्य होने का अर्थ साधक का संयम से च्युत होना है। कहने को वह साधक कहलाता है। साधना उसके जीवन में नहीं रहती। उसके जीवन में रहता है—साधना का प्रदर्शन या साधना का पाखण्ड। इस पाखण्ड का ही प्रचार-प्रसार वह किया करता है। ऐसे में धर्म-रथ की चूलें हिलने लगती हैं। अविश्वसनीयता और अनास्था उसके पहियों को धुरी से अलग कर देती हैं। धर्म-रथ खण्डित होकर ठहर जाता है। गति-शून्य रथ उपहास का पात्र बनने लगता है। अनेक-जीवों का सम्भावित उद्धार-मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

अविनीत शिष्य केवल गुरु का ही अपराधी नहीं होता। वह अपनी आत्मा का भी अपराधी होता है। उन सब आत्माओं का भी अपराधी होता है, जो उसके कारण स्वभाव को जीने से वंचित रह जाती हैं। वह सत्य का भी अपराधी होता है। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्चर्य और अपरिग्रह जैसे मंगलमय जीवन-मूल्यों का भी अपराधी होता है। आगम का भी अपराधी होता है। तीर्थ का भी अपराधी होता है। धर्म और जिन-शासन का भी अपराधी होता है।

ऐसे अविनीत शिष्य को पालते-पोसते और सहते रहना भी धर्म-संघ-तीर्थ को परोक्षतः क्षति पहुंचाना है। उलटे कटोरे में ज्ञान का अमृत नहीं भरा जा सकता। मायावी और लोभी को धर्म का अक्षय धन नहीं सौंपा जा सकता। गर्गाचार्य यह सब जानते थे। उन्होंने अपनी अविनीत शिष्य-सम्पदा त्याग दी। आपदाओं से मुक्त होकर वे एकाकी आत्म-संयम-पथ पर अग्रसर हो गये। अपने संयम को उन्होंने बचा लिया। अपने अविनीत शिष्यों का संयम-धन बचाने के समस्त प्रयत्नों में असफल होने पर उन्होंने उन्हें ऐसे छोड़ दिया जैसे व्यक्ति अपने फटे-पुराने वस्त्रों को छोड़ देता है। बाद में उन अविनीतों का क्या हश्र हुआ, यह किसी भी स्वाध्यायशील सजग मानस के लिये सहज कल्पना-गम्य है।

अविनीत शिष्य के लक्षणों का स्पष्ट रूप से वर्णन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है। उन्हें जान-समझ कर उनसे बचने की प्रबल प्रेरणा देने के कारण इसकी स्वाध्याय मंगलमय है। ❑❑

अह खलुंकिज्जं सत्तवीसइमं अज्झयणं

अथ खलुङ्कीयं सप्तविंशमध्ययनम्

मूल : थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए।
आइण्णे गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए ।।१।।

संस्कृत : स्थविरो गणधरो गार्ग्यः, मुनिरासीद् विशारदः।
आकीर्णो गणिभावे, समाधिं प्रतिसन्धत्ते ।।१।।

मूल : वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ।।२।।

संस्कृत : वाहने वाह्यमानस्य, कान्तारमतिवर्तते।
योगे वाह्यमानस्य, संसारोऽतिवर्तते ।।२।।

मूल : खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएई, तोत्तओ से यं भज्जई ।।३।।

संस्कृत : खलुंकान् यस्तु योजयति, विध्यमानः क्लिश्यति।
असमाधिं च वेदयन्ति, तोत्रकस्तस्य च भज्यते ।।३।।

मूल : एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पह-पट्ठिओ ।।४।।

संस्कृत : एकं दशति पुच्छे, एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्।
एको भनक्ति समिलाम्, एक उत्पथ-प्रस्थितः ।।४।।

सत्ताईसवां अध्ययन : खलुंकीय

१. स्थविर (धर्म-स्थिर), गणधर (गण/गच्छ के अधिपति), (शास्त्रों में) विशारद तथा (गर्ग कुल में उत्पन्न होने के कारण) गार्ग्य (नाम वाले एक) मुनि (थे, जो गुणों से) आकीर्ण (युक्त) गणि भाव (आचार्य पद) में स्थित होते हुए 'समाधि' (रत्नत्रयात्मक अपनी या पराई भाव-समाधि के टूटने पर, पुनः उस) का प्रतिसंधान करने (या जोड़ने की क्षमता) वाले थे।

२. जिस प्रकार, वाहन को ठीक तरह से वहन करने वाले (विनीत वृषभ आदि) को (ठीक तरह से जोत कर) हांकने वाले सारथी का अरण्य (जैसा बीहड़ मार्ग) भी पार हो जाता है, (उसी प्रकार) 'योग' (संयमपूर्ण व्यापार) में (विनीत शिष्यों को ठीक तरह संयोजित कर) चलाते (अर्थात् प्रवृत्त कराते) हुए (आचार्य तथा उन शिष्यों) का संसार (रूपी मार्ग) पार हो जाता है।

३. किन्तु जो 'खलुंक' (दुष्ट, अविनीत बैल) को (वाहन में) जोतता है, वह (उन्हें प्रताड़ित करता हुआ) क्लेश ही पाता है (अर्थात् मार-मार कर थक जाता है), 'असमाधि' (चित्त की अशान्ति व अस्वस्थता) का भी अनुभव करता है, और (अन्त में) उसका चाबुक भी टूट जाता है।

४. (क्रोधित होकर, सारथी किसी) एक (बैल) के पुच्छ (पूंछ) को मरोड़ देता है। (चिकौंटी) काटता है, दूसरे (के पृष्ठ भाग) को (चाबुक की लकड़ी से) बींधता है। (और उन बैलों में से कोई) एक जुए की समिला (कील) को (ही) तोड़ देता है तो (दूसरा) एक उन्मार्ग पर चल पड़ता है।

मूल : एगो पडइ पासेणं, निवेसई निवज्जई।
उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगवी वए ।।५।।

संस्कृत : एकः पतति पार्श्वेण, निविशति निपद्यते।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठः बालगवीं व्रजेत् ।।५।।

मूल : माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ।।६।।

संस्कृत : मायी मूर्ध्ना पतति, क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम्।
मृतलक्षेण तिष्ठति, वेगेन च प्रधावति ।।६।।

मूल : छिन्नाले छिंदई सेल्लिं, दुद्दन्तो भंजए जुगं।
सेवि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायए ।।७।।

संस्कृत : छिन्नालः छिनत्ति सिल्लिं, दुर्दान्तो भनक्ति युगम्।
सोऽपि च सूत्कृत्य, उज्झाय पलायते ।।७।।

मूल : खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ती धिइदुब्बला ।।८।।

संस्कृत : खलुंका यादृशा योज्याः, दुःशिष्या अपि खलु तादृशाः।
योजिता धर्मयाने, भज्यन्ते धृतिदुर्बलाः ।।८।।

मूल : इड्ढीगारविए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविएं एगे, एगे सुचिरकोहणे ।।९।।

संस्कृत : ऋद्धिगौरविक एकः, एकोऽत्र रसगौरवः।
सातागौरविक एकः, एकः सुचिरक्रोधनः ।।९।।

मूल : भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए।
थद्धे एगेऽणुसासम्मी, हेऊहिं कारणेहि य ।।१०।।

संस्कृत : भिक्षालसिक एकः, एकोऽवमानभीरुकः।
स्तब्ध एकोऽनुशास्मि, हेतुभिः कारणैश्च ।।१०।।

५. कोई (दुष्ट बैल तो) एक ओर (बाएं या दाएं) पार्श्व में गिर पड़ता है। बैठ जाता है, (कोई) लेट जाता है, (कोई) कूदता है (कोई) छलांग लगाता है, (कोई) शठ (धूर्त-बैल) तरुण गाय के पीछे (लगाम तुड़ा कर) दौड़ने लगता है।

६. (कोई-कोई) मायावी छल से सिर के बल (निढाल होकर) गिर पड़ता है, (कोई) क्रुद्ध होकर विपरीत पथ पर चल पड़ता है। (कोई) मरने का (मायापूर्ण) लक्षण बनाकर पड़ जाता है (और कोई-कोई) वेग से दौड़ने लगता है।

७. (कोई) छिनाल (दुष्ट बैल) रास को (ही) छिन्न-भिन्न कर डालता है, (कोई) दुर्दान्त होकर जुए को तोड़ डालता है, और साथ ही सूं-सूं आवाज करता हुआ (वाहन को ही) छोड़ कर (या स्वयं को वाहन से छुड़ा कर) भागने लगता है।

८. जिस प्रकार दुष्ट बैल, जोते जाने पर (वाहन आदि को क्षति पहुंचाने वाले) होते हैं, वैसे ही (संयम अनुष्ठान में धैर्यहीन व दुर्बल-चित्त होने वाले) दुष्ट (अविनीत) शिष्य भी, धर्म-यान में जोते जाने पर (धर्मयान को -धार्मिक मर्यादाओं को) तोड़ देते हैं (अर्थात् संयमादि धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं)।

९. (गार्ग्याचार्य अपने शिष्यों के विषय में चिन्तन कर रहे हैं-) "मेरा कोई (शिष्य) ऋद्धि ऐश्वर्य पर गर्व कर रहा है, कोई 'रस' (स्वादिष्ट खाद्य-पेय पदार्थों की उपलब्धि) पर गर्व किए हुए है (या रस-लोलुप हो रहा है), कोई 'साता' (सुख) का अभिमान किए है (या सुख-सुविधा पर गर्वित है) और कोई अतिचिरकाल तक क्रोधयुक्त रहता है।"

१०. कोई भिक्षाचर्या में आलसी हो गया है, कोई अपमान-भीरु है, तो कोई ढीठ हो गया है। किसी को हेतु व कारणों के द्वारा गुरु (के रूप में) अनुशासित करता हूँ, (तब)

मूल : **सो वि अन्तरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई।**
आयरियाणं तु वयणं, पडिकूलेइ ऽभिक्खणं ।।११।।

संस्कृत : सोऽप्यन्तरभाषावान्, दोषमेव प्रकरोति।
आचार्याणां तु वचनं, प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ।।११।।

मूल : **न सा ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई।**
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोत्थ वज्जउ ।।१२।।

संस्कृत : न सा मां विजानाति, नापि सा मह्यं दास्यति।
निर्गता भविष्यति मन्ये, साधुरन्यस्तत्र व्रजतु ।।१२।।

मूल : **पेसिया पलिउंचन्ति, ते परियन्ति समन्तओ।**
रायवेट्ठिं च मन्नन्ता, करेन्ति भिउडिं मुहे ।।१३।।

संस्कृत : प्रेषिताः परिकुञ्चन्ति, ते परियन्ति समन्तात्।
राजवेष्टिमिव च मन्यमानाः, कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे ।।१३।।

मूल : **वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया।**
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमन्ति दिसो दिसिं ।।१४।।

संस्कृत : वाचिताः संगृहीताश्चैव, भक्तपानेन पोषिताः।
जातपक्षा यथा हंसाः, प्रक्राम्यन्ति दिशो दिशम् ।।१४।।

११. वह बीच में (ही) बोल उठता है और दूसरे में (या गुरु में) ही दोष निकालने लगता है, तथा आचार्यों (आदि) के वचनों के प्रतिकूल ही निरन्तर आचरण करता है (या उलटे आचार्य को ही शिक्षा देने तथा उन पर आक्षेप करने लगता है)।"

१२. (जब किसी शिष्य को किसी श्राविका से भिक्षा, या ग्लान आदि के लिए औषधि आदि कोई वस्तु लाने के लिए कहा जाता है तो प्रत्युत्तर में वह कहता है-) "वह मुझे पहचानती ही नहीं है, और न वह मुझे (वस्तु) देगी।" (अथवा कहता है-) "मैं समझता हूं (अभी तो) वह (घर से कहीं अन्यत्र) चली गई होगी।" (अथवा वह कहता है-) "क्या मैं ही कोई अकेला शिष्य हूँ, और भी तो हैं, अतः कोई अन्य साधु चला जाए।"

१३. "(किसी कार्य के लिए) उन्हें भेज भी दिया जाए, तो वे अनादर या कुटिलता करने लगते हैं (या तो वे काम ही ठीक से पूरा कर नहीं लौटते, या जाते ही नहीं, और कहते हैं कि मुझे कब कहा था, या वस्तु लाकर छिपा देते हैं, या ऐसा कह देते हैं कि वह दाता तो मिला ही नहीं- इत्यादि कुटिलता पूर्ण आचरण/भाषण करते हैं।) वे (आज्ञा-पालन में रुचि न रखते हुए) इधर-उधर घूमते-फिरते रहते हैं, तथा गुरु-आज्ञा को राजा की बेगार की भांति मानते हुए और मुख पर भृकुटि (त्योरी) चढ़ा लेते हैं।"

१४. "(इन्हें मैंने सूत्र की) वाचना दी, अपने पास रखा (या दीक्षित किया), आहार-पानी से (इनका) पोषण भी किया। किन्तु पंख आने पर हंस (-शावक जिस प्रकार दशों दिशाओं में स्वच्छन्द हो उड़ जाते हैं, उन्हीं हंसों) की तरह ये विविध दिशाओं में (गुरुओं का साथ छोड़ कर, स्वेच्छाचारी होते हुए) प्रस्थान कर जाते हैं।"

मूल : **अह सारही विचिंतेइ, खलुंकेहिं समागओ।**
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं? अप्पा म अवसीयई ।।१५।।

संस्कृत : अथ सारथिर्विचिन्तयति, खलुंकैः समागतः।
किं मम दुष्टशिष्यैः? आत्मा मेऽवसीदति ।।१५।।

मूल : **जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा।**
गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हइ तवं ।।१६।।

संस्कृत : यादृशा मम शिष्यास्तु, तादृशा गलिगर्दभाः।
गलिगर्दभांस्त्यक्त्वा, दृढं प्रगृह्णामि तपः ।।१६।।

मूल : **मिउ मद्दवसंपन्नो, गम्भीरो सुसमाहिओ।**
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा ।।१७।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : मृदुर्मार्दवसम्पन्नः, गम्भीरः सुसमाहितः।
विहरति महीं महात्मा, शीलभूतेनात्मना ।।१७।।
इति ब्रवीमि।

१५. अब (इन दुष्ट बैलों के समान अविनीत शिष्यों) से खिन्न होकर, सारथि (की भांति, आचार्य गार्ग्य) सोचने लगते हैं- "(इन) दुष्ट शिष्यों से मुझे (आखिर लाभ) क्या है? (अपितु इन से तो) मेरी आत्मा दुखी/व्याकुल ही रहती है।"

१६. "जिस तरह के गलिगर्दभ (आलसी-निकम्मे गधे) होते हैं, वैसे ही ये मेरे शिष्य हैं।" (उक्त चिन्तन के फलस्वरूप) उन (गर्गाचार्य) ने गलिगर्दभ (जैसे शिष्यों) को छोड़ कर, दृढ़तापूर्वक तपःसाधना को अंगीकार किया।

१७. (बाहर से) मृदु (सुकोमल), अन्दर से मार्दव-सम्पन्न (अहंकार रहित), गम्भीर सुसमाधियुक्त वे महात्मा (गर्गाचार्य) शील (चारित्र)- सम्पन्न आत्मा से युक्त होकर, पृथ्वी पर (स्वपर-कल्याण हेतु) विचरण करने लगे।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

स्थविर गार्ग्य मुनि संयम, ज्ञान व आचार्यत्व के गुणों से सम्पन्न थे। गाड़ी में जुता गुण-सम्पन्न बैल संसार-वन से सहज ही पार हो जाता है। दुष्ट बैल जुता हो तो गाड़ीवान उसे मारता व दुखी होता है। क्षुब्ध हो वह तरह-तरह से उसे सन्मार्ग-गामी बनाने की चेष्टा में असफल होता है। दुष्ट बैल उसे तरह-तरह से कष्ट दिया करता है। वह वाहन तोड़ देता है। अविनीत शिष्य भी धर्म-यान को खण्डित कर देते हैं। वे कषाय-ग्रस्त और ढीठ होते हैं। गुरु-वचनों में दोष देखते हैं। गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। कार्य करने के अवसर पर बहाने बनाते हैं। स्वेच्छाचारी हो जाते हैं।

ऐसे मूर्ख और निकम्मे अविनीत शिष्यों से खिन्न होकर गार्ग्याचार्य ने उन्हें छोड़ दिया। सम्यक् चारित्र से सम्पन्न गार्ग्याचार्य एकाकी ही विचरण करने लगे।

❑❑

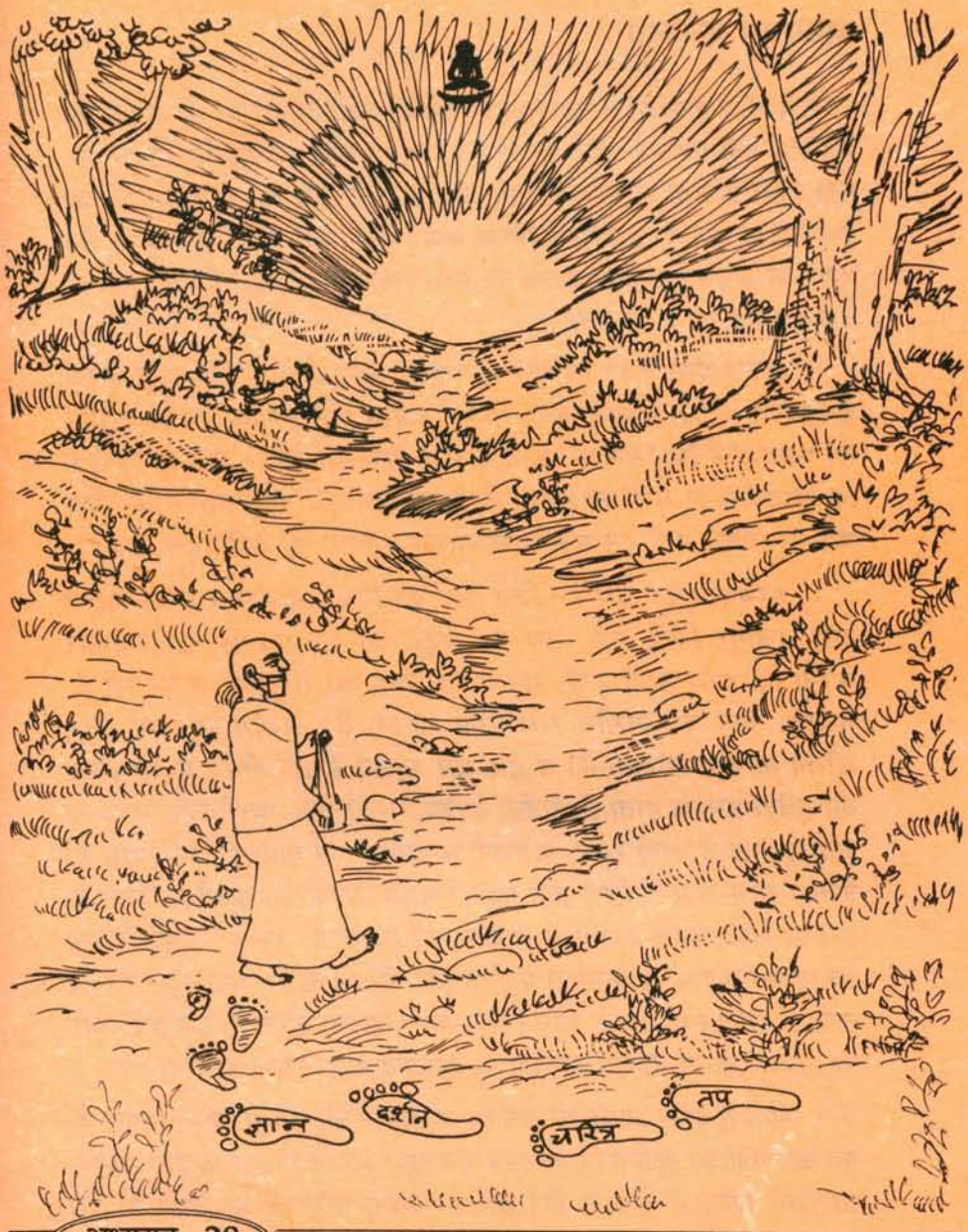

अध्ययन—28

मोक्ष-मार्ग-गति

अध्ययन परिचय

छत्तीस गाथाओं से यह अध्ययन निर्मित हुआ है। इस का केन्द्रीय विषय है–मोक्ष तक पहुँचाने वाले साधनों को साधना। मोक्ष की राह पर साधक की गति जिस प्रक्रिया से सम्भव एवम् तीव्र होती है, उस का सांगोपांग परिचय इसमें दिया गया है। इसीलिये इसका नाम 'मोक्ष-मार्ग-गति' रखा गया। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा का परम लक्ष्य केवल मोक्ष है। भले ही वह उसे पहचाने या न पहचाने।

अपना परम लक्ष्य पहचान लेने वाली भव्य आत्मायें उसे प्राप्त करती हैं–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप के माध्यम से। ध्यातव्य है कि 'सम्यक्' शब्द मोक्ष के सभी साधनों से जुड़ा है। स्पष्ट है कि सम्यक्त्व इन सभी का आधार है। इसके अभाव में उक्त चारों साधन मिल कर भी साधना नहीं बन सकते। साध्य तक साधक को नहीं पहुंचा सकते।

सम्यक्त्व का अर्थ है–जिन-धर्म को निज धर्म मानना। जिन-वाणी द्वारा उजागर किये गये सत्य पर अटूट आस्था रखना। यह स्वीकार करना कि सत्य ज्ञानेन्द्रियों, मन व मस्तिष्क की सीमाओं से परे भी है, वस्तुतः ज्ञान को असीम सम्भावना मानना है। असीम ज्ञान के लिए जीवन के द्वार खोलना है। ये द्वार जब खुलते हैं तो जीवन में सम्यक्त्व का प्रवेश प्रारम्भ होता है। सर्वज्ञों ने त्रिकाल-त्रिलोक-व्यापी जिस सत्य को साक्षात् देखा है, वही सृष्टि-कल्याण के प्रयोजन से कहा है। वही सत्य है। उसका साक्षात्कार सर्वज्ञता तक पहुंचने वाली अनेक आत्माओं ने किया है। उस पर शंका करना आत्मा के विकास को रोकना है। उस पर आस्था रखना आत्मा को कषायों व कर्मों से प्रदूषित होने से बचाना है। अपने मूल स्वरूप तक.....निर्मल स्वरूप तक पहुंचने में उसकी सहायता करना है। उसे मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर करना है। इस मान्यता पर अखण्ड श्रद्धा 'सम्यक् दर्शन' है।

सम्यक् दर्शन आत्मा के विकास या उत्थान का सब से पहला सोपान है। यह अन्तर्नेत्रों का खुलना है। अन्तर्नेत्र जब खुल जाते हैं तो साधक द्वारा सम्यक् ज्ञान की दिशा में अग्रसर होने की सम्भावना परिपक्व हो जाती है। इस सम्भावना का अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यव एवं केवल ज्ञान का साकार होना साधक के पौरुष एवं साधना की निरन्तरता व दृढ़ता पर निर्भर है। जिनेन्द्र-प्ररूपित साधना की निरन्तरता व दृढ़ता ही सम्यक् चारित्र है। बाह्य

तथा आभ्यन्तर, दोनों स्तरों पर सजग सक्रियता सम्यक् तप है। तप कर्म-निर्जरा का विशेष साधन है। श्रद्धा से ज्ञान, ज्ञान से चारित्र, चारित्र से तप, तप से निर्जरा और निर्जरा से मोक्ष-प्राप्ति के साधन प्राप्त होने के साथ-साथ मोक्ष-प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप मोक्ष प्राप्ति के साधन होने के साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया के चरण भी हैं। जिनेन्द्र प्रभु के पथ-प्रकाशक निर्देश भी हैं। मोक्ष-मार्ग-साधक की पहचान भी हैं।

चारों का वर्णन प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य है। मोक्ष तक पहुंचाने वाले साधनों की साधना से सम्बन्धित अनेक जिज्ञासाओं का शमन इस से होता है। ज्ञान कितने प्रकार का होता है? ज्ञान से क्या होता है? द्रव्य किसे कहते हैं? द्रव्य कितने प्रकार के होते हैं? द्रव्य, गुण और पर्याय में परस्पर क्या सम्बन्ध है? जीव क्या है? पुद्गल किसे कहते हैं? पर्याय का क्या आशय है? तत्व कितने हैं? सम्यक् दर्शन क्या है? सम्यक्त्व कितने प्रकार का होता है? उन सभी प्रकारों का क्या अभिप्राय है? सम्यक्त्व-प्राप्ति के उपाय कौन से हैं? सम्यक्त्वी की पहचान क्या है? सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और मोक्ष में परस्पर क्या सम्बन्ध है? सम्यक् चारित्र कितने प्रकार का होता है? सम्यक् तप के कितने भेद हैं? दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से जीव क्या प्राप्त करता है? मोक्ष कैसे प्राप्त होता है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत अध्ययन में मिलते हैं। इन सभी की दिशा जीवात्मा के लिए ऊर्ध्वगामी है।

कर्म-भार से मुक्त होने की कला यहां बतलाई गई है। आत्म-उपलब्धि का विज्ञान यहां प्रतिपादित किया गया है। परम सार्थकता का दर्शन यहां विवेचित किया गया है। श्रमण-धर्म का मर्म यहां उजागर किया गया है। प्रकारान्तर से यह सर्वज्ञों द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त करने का इतिहास है। रत्नत्रय-सम्पन्न आत्माओं द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का भविष्य है। मुमुक्षु साधकों की सम्यक् साधना का वर्तमान है।

लक्ष्य तक वही पहुंचेगा, जो राह से परिचित होगा। राह की कठिनाइयों व चुनौतियों को अपनी सतत यात्रा से निरर्थक कर देने की क्षमता जिसमें होगी। मोक्ष-मार्ग की कठिनाइयों के साथ-साथ मोक्ष-मार्ग-पथिक में अपेक्षित क्षमताओं का भी सांगोपांग ज्ञान इस अध्ययन से मिलता है। श्रमणत्व का स्वरूप साकार करने तथा मोक्षमार्ग पर गतिशील होने की सशक्त प्रेरणा देने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह मोक्खमग्गगई अट्ठवीसइमं अज्झयणं

अथ मोक्षमार्गगतिरष्टाविंशमध्ययनम्

मूल : **मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।**
चउकारणसंजुत्तं, नाण-दंसण-लक्खणं ।। १ ।।

संस्कृत : मोक्षमार्गगतिं तथ्यां, श्रृणुत जिनभाषिताम्।
चतुःकारणसंयुक्तां, ज्ञानदर्शनलक्षणाम् ।। १ ।।

मूल : **नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।**
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।। २ ।।

संस्कृत : ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ।। २ ।।

मूल : **नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।**
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ।। ३ ।।

संस्कृत : ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एतं मार्गमनुप्राप्ताः, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ।। ३ ।।

मूल : **तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।**
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ।। ४ ।।

संस्कृत : तत्र पंचविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम्।
अवधिज्ञानं तु तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ।। ४ ।।

अट्ठाईसवां अध्ययन : मोक्षमार्गगति

१. (सम्यक्) ज्ञान आदि चार कारणों से युक्त, ज्ञान-दर्शन लक्षणों वाली (अर्थात् मूलतः 'सम्यक् ज्ञान-दर्शन' की प्राप्ति के बाद अवश्य प्राप्त होने वाली या सामान्य - विशेषात्मक) जिनेन्द्र निरूपित यथार्थ मोक्ष - मार्ग की (लक्ष्यभूत 'सिद्ध' नामक) गति को सुनें।

२. वरदर्शी (सम्यग्द्रष्टा व सर्वज्ञ) जिनेन्द्रों ने सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप (इन चारों का समुदित/समन्वित जो रूप है) इसको (मोक्ष का) मार्ग बताया है।

३. (सम्यक्) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस (चतुष्ट्य - रूप वाले) मार्ग का अनुसरण करने वाले जीव सद्गति (मुक्ति) में (ही) जाते हैं।

४. उनमें ज्ञान पांच प्रकार का है- श्रुतज्ञान[1], आभिनिबोधिक (मति), तीसरा अवधि - ज्ञान, (चौथा) मनःपर्यय ज्ञान, तथा (पांचवां) केवल ज्ञान।

---

१. जैनागमों में ज्ञान के ५ भेद वर्णित किए हैं, उनमें प्रथम आभिनिबोधिक ज्ञान है। प्रस्तुत गाथा में इसे द्वितीय स्थान पर रखा है। इसका कारण यह है- श्रुतज्ञान से ही शेष चार ज्ञानों का स्वरूप बोध होता है। अतः यहां पर इस दृष्टि से श्रुत ज्ञान को प्रथम रखा है। मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान ये दोनों लब्धि की दृष्टि से अन्योन्याश्रित हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय का कोई प्रश्न ही नहीं होता है।

मूल : **एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।**
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि दंसियं ।। ५ ।।

संस्कृत : एतत्पंचविधं ज्ञानं, द्रव्याणां च गुणानां च।
पर्यायाणां च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्दर्शितम् ।। ५ ।।

मूल : **गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।**
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ।। ६ ।।

संस्कृत : गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः।
लक्षणं पर्यायाणां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ।। ६ ।।

मूल : **धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो।**
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।। ७ ।।

संस्कृत : धर्मोऽधर्म आकाशं, कालः पुद्गलजन्तवः।
एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ।। ७ ।।

मूल : **धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।**
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जंतवो ।। ८ ।।

संस्कृत : धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालपुद्गलजन्तवः ।। ८ ।।

मूल : **गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।**
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ।। ९ ।।

संस्कृत : गतिलक्षणस्तु धर्मः, अधर्मः स्थितिलक्षणः।
भाजनं सर्वद्रव्याणां, नभोऽवगाहलक्षणम् ।। ९ ।।

मूल : **वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।**
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ।। १० ।।

संस्कृत : वर्तनालक्षणः कालः, जीव उपयोगलक्षणः।
ज्ञानेन दर्शनेन च, सुखेन च दुःखेन च ।। १० ।।

मूल : **नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।**
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।। ११ ।।

संस्कृत : ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च, एतज्जीवस्य लक्षणम् ।। ११ ।।

५. यह पांच प्रकार का ज्ञान सभी द्रव्यों, उनके सभी गुणों तथा (उनके सभी) पर्यायों का बोधक है। इस पंचविध ज्ञान का उपदेश (केवल-) ज्ञानी (सर्वज्ञ तीर्थंकर) आत्माओं द्वारा किया गया है।

६. (जो) गुणों का आश्रय (आधार है, वह) 'द्रव्य' होता है, और 'गुण' (वे हैं जो) किसी एक द्रव्य पर आश्रित रहते हैं, पर्यायों का लक्षण है- (द्रव्य व गुण-इन) दोनों के आश्रित होकर रहना।

७. वरदर्शी (सर्वज्ञ/सम्यग्द्रष्टा) जिनेन्द्रों ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व जीव इस (षड्द्रव्यमय) लोक का निरूपण किया है।

८. धर्म, अधर्म, आकाश (-ये तीनों संख्या में) एक-एक द्रव्य (कहे गए हैं, तथा) काल, पुद्गल और जीव (ये संख्या की दृष्टि से) अनन्त कहे गए हैं।

९. गति (में हेतु- निमित्त होना यह) 'धर्म' का लक्षण है, स्थिति (में हेतु-निमित्त होना, यह) 'अधर्म' का लक्षण है। सभी द्रव्यों का भाजन (आधार) ''आकाश'' है जो 'अवकाश' (देना - इस) लक्षण वाला है।

१०. 'काल' का लक्षण है- 'वर्तना' (परिवर्तन)। जीव का लक्षण 'उपयोग' (चैतन्य - व्यापार) है। ज्ञान, पंचविध, दर्शन, सुख व दुःख से (संयुक्त यह जीव ही होता है, या इनसे जीव की सत्ता का बोध होता है)।

११. ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप एवं वीर्य व उपयोग (ये भी) 'जीव' के लक्षण हैं। (ये लक्षण अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाए जाते।)

मूल : **सद्दन्धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा।**
वण्णरसगन्धफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।१२।।

संस्कृत : शब्दाऽन्धकारोद्योतः, प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः, पुद्गलानां तु लक्षणम् ।।१२।।

मूल : **एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।**
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ।।१३।।

संस्कृत : एकत्वं च पृथक्त्वं च, संख्या-संस्थानमेव च।
संयोगाश्च विभागाश्च, पर्यायाणां तु लक्षणम् ।।१३।।

मूल : **जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।**
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ।।१४।।

संस्कृत : जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापाश्रवौ तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः, सन्त्येते तथ्या नव ।।१४।।

मूल : **तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।**
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ।।१५।।

संस्कृत : तथ्यानां तु भावानां, सद्भाव उपदेशनम्।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्वं तद् व्याख्यातम् ।।१५।।

मूल : **निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव।**
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ।।१६।।

संस्कृत : निसर्गोपदेश रुचिः, आज्ञा-रुचिः सूत्र-बीज रुचिरेव।
अभिगम-विस्तार-रुचिः, क्रिया-संक्षेप-धर्म-रुचिः ।।१६।।

मूल : **भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च।**
सह सम्मइयासव-संवरो य, रोएइ उ निस्सग्गो ।।१७।।

संस्कृत : भूतार्थेनाधिगताः, जीवा अजीवाश्च पुण्यं पापं च।
सह संमत्याऽऽश्रवसंवरौ च, रोचते (यस्मै) तु निसर्गः ।।१७।।

१२. शब्द, अन्धकार, उद्योत (प्रकाश) प्रभा, छाया, आतप तथा वर्ण, रस, गन्ध व स्पर्श- ये 'पुद्गल' (में ही प्राप्त होने से 'पुद्गल') के लक्षण हैं।

१३. एकत्व (एकत्रित होना), पृथक्त्व (पृथक् हो जाना), संख्या (एक दो आदि संख्या - बद्ध होना), संस्थान (आकृति धारण करना), तथा संयोग (संयुक्त होना), व विभाग (विभक्त हो जाना) -ये पर्यायों के लक्षण हैं।

१४. जीव, अजीव, बन्ध (जीव कर्म संयोग), पुण्य, पाप, आस्रव (कर्म-आगमन का मार्ग), संवर (कर्म-निरोध का कारण), निर्जरा (कर्मक्षय) व मोक्ष (समस्तकर्मनाश)- ये नव तथ्य (तत्व) हैं।

१५. इन 'तथ्य' (अर्थात् यथार्थ सत्ता वाले) जीव-अजीवादि नव पदार्थों की सत्ता से सम्बन्धित, उपदेश के प्रति भाव-सहित श्रद्धा करने वाले के उस (श्रद्धा - भाव) को 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

१६. (इस सम्यक्त्व के १० भेद और तदनुरूप सम्यक्त्वी के भी १० भेद होते हैं-) १. निसर्गरुचि, २. उपदेश-रुचि, ३. आज्ञारुचि, ४. सूत्र-रुचि, ५. बीज-रुचि, ६. अभिगम-रुचि, ७. विस्तार-रुचि ८. क्रिया-रुचि ९. संक्षेप-रुचि और १० धर्म-रुचि।

१७. निसर्गरुचि वह (उसकी) है, जो पर-उपदेश के बिना ही अपनी सम्मति (सहज ज्ञान-शक्ति) से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर- इन (तत्वों) को यथार्थ रूप से जानकर श्रद्धा करता है।

मूल : **जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।**
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ।।१८।।

संस्कृत : यो जिनदृष्टान् भावान्, चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव।
एवमेव नान्यथेति च, स निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः ।।१८।।

मूल : **एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।**
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ।।१९।।

संस्कृत : एतान् चैव तु भावान्, उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति।
छद्मस्थेन जिनेन वा, (सः) उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः ।।१९।।

मूल : **रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।**
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ।।२०।।

संस्कृत : रागो द्वेषो मोहः, अज्ञानं यस्यापगतं भवति।
आज्ञया रोचमानः, सः खल्वाज्ञारुचिर्नाम ।।२०।।

मूल : **जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।**
अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ।।२१।।

संस्कृत : यः सूत्रमधीयानः, श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम्।
अङ्गेन बाह्येन वा, सः सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः ।।२१।

मूल : **एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं।**
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ।।२२।।

संस्कृत : एकेनानेकानि, पदानि यः प्रसरति तु सम्यक्त्वम्।
उदक इव तैलविन्दुः, स बीजरुचिरिति ज्ञातव्यः ।।२२।।

मूल : **सो होई अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।**
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ।।२३।।

संस्कृत : स भवत्यभिगमरुचिः, श्रुतज्ञानं येनार्थतो दृष्टम्।
एकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकानि दृष्टिवादश्च ।।२३।।

१८. जो जिनेन्द्र द्वारा प्रत्यक्ष देखे गए तथा उनके द्वारा उपदिष्ट किए गए (द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव- इन चार प्रकारों, या नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव) इन चार प्रकारों से पदार्थों के प्रति स्वतः (बिना किसी से उपदेश प्राप्त किए ही) "(सर्वज्ञ ने जैसा कहा है) यह ऐसा ही है, अन्य रूप नहीं है" इस प्रकार (दृढ़) श्रद्धा रखता है, उसे 'निसर्गरुचि' समझना चाहिए।

१९. जो (किसी) अन्य से - छद्मस्थ या जिनेन्द्र देव से- उपदिष्ट (होकर, उस उपदेश में प्रतिपादित) इन (जीव, अजीव आदि) पदार्थों पर श्रद्धान करता है, उसे 'उपदेशरुचि' जानना चाहिए।

२०. जिस व्यक्ति के राग, द्वेष, मोह, अज्ञान दूर हो गए हों, उसकी आज्ञा (से तत्वों) में रुचि रखने वाला 'आज्ञारुचि' नामक (सम्यक्त्वी) होता है।

२१. जो 'श्रुत' का अध्ययन करता हुआ, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य 'श्रुत' (सम्बन्धी अध्ययन आदि के कारण) से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उसे 'सूत्ररुचि' जानना चाहिए।

२२. जल में फैल जाने वाली तेल की बूंद की भांति (जीव आदि पदार्थों में से किसी) एक पद (पदार्थ के ज्ञान) से अनेक पदों (पदार्थों के ज्ञान के रूप) में जिसका सम्यक्त्व विस्तृत हो जाता है, उसे 'बीजरुचि' समझना चाहिए।

२३. जिसने ग्यारह अंग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद (आदि) श्रुतज्ञान को अर्थसहित देखा-अधिगत किया हो, वह 'अभिगम-रुचि' होता है।

मूल : दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ।।२४।।

संस्कृत : द्रव्याणां सर्वे भावाः, सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः।
सर्वैर्नयविधिभिः, विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यः ।।२४।।

मूल : दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ।।२५।।

संस्कृत : दर्शनज्ञानचारित्रे, तपोविनये सत्यसमितिगुप्तिषु।
यः क्रियाभावरुचिः, सः खलु क्रियारुचिर्नाम ।।२५।।

मूल : अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ।।२६।।

संस्कृत : अनभिगृहीतकुदृष्टिः, संक्षेपरुचिरिति भवति ज्ञातव्यः।
अविशारदः प्रवचने, अनभिगृहीतश्च शेषेषु ।।२६।।

मूल : जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ।।२७।।

संस्कृत : योऽस्तिकायधर्मं, श्रुतधर्मं खलु चारित्रधर्मं च।
श्रद्दधत्ते जिनाभिहितं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यः ।।२७।।

मूल : परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थसेवणं वावि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ।।२८।।

संस्कृत : परमार्थसंस्तवो वा, सुदृष्टपरमार्थसेवनं वापि।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च, सम्यक्त्वश्रद्धानम् ।।२८।।

मूल : नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त-चरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ।।२९।।

संस्कृत : नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम्।
सम्यक्त्व-चारित्रे, युगपत्पूर्वं च सम्यक्त्वम् ।।२९।।

२४. समस्त प्रमाणों से तथा सभी नय-विधियों से जिसने द्रव्यों के सभी भावों (स्वरूप आदि) को जान लिया है, उसे 'विस्तार-रुचि' जानना चाहिए।

२५. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य (भाषण), समिति व गुप्ति इन क्रियाओं में जो भाव-सहित रुचि रखता है, वह 'क्रियारुचि' नामक (सम्यक्त्वी) है।

२६. जिसने कुदृष्टि (मिथ्यात्व या अन्य एकान्तवादी मतों के प्रति श्रद्धान) को ग्रहण नहीं किया है, (जिन-मत के अतिरिक्त) शेष (कपिल आदि के मतों) का ज्ञाता भी नहीं है और (जिनोक्त) उपदेश में अविशारद (अल्पज्ञानी) है, (किन्तु जिन-मत पर अचल श्रद्धा रखता है) उसे 'संक्षेपरुचि' जानना चाहिए।

२७. जो जिनेन्द्र-निरूपित (पांच) अस्तिकायों के धर्म (स्वरूप) पर तथा श्रुत-धर्म व चारित्र धर्म पर श्रद्धा रखता है, उसे धर्मरुचि जानना चाहिए।

२८. परमार्थ (जीव आदि पदार्थ समूह) से परिचित होना, तथा जिन्होंने परमार्थ का साक्षात्कार व ज्ञान प्राप्त किया है, उनकी सेवा करना एवं सम्यक्त्व-भ्रष्ट व कुदृष्टिसंपन्न व्यक्तियों से दूर रहना- यह 'सम्यक्त्व श्रद्धान' (सम्यक्त्व की प्रतीति कराने वाला चिन्ह) है।

२९. सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता, किन्तु दर्शन (सम्यक्त्व) की 'भजना' (यानी विकल्प है, अर्थात् चारित्र के बिना सम्यक्त्व हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता) है। सम्यक्त्व व चारित्र (कभी) एक साथ भी होते हैं, किन्तु चारित्र (हो तो उस)के पूर्व में सम्यक्त्व (होता ही) है।

मूल : **नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।**
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।। ३० ।।

संस्कृत : नादर्शनिनो ज्ञानं, ज्ञानेन विना न भवन्ति चारित्रगुणाः।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ।। ३० ।।

मूल : **निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।**
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ।। ३१ ।।

संस्कृत : निःशङ्कितं निःकांक्षितं, निर्विचिकित्स्यममूढदृष्टिश्च।
उपबृंहास्थिरीकरणे, वात्सल्यप्रभावनेऽष्टौ ।। ३१ ।।

मूल : **सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।**
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ।। ३२ ।।

संस्कृत : सामायिकमत्र प्रथमं, छेदोपस्थापनं भवेद् द्वितीयम्।
परिहारविशुद्धिकं, सूक्ष्मं तथा संपरायं च ।। ३२ ।।

मूल : **अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।**
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ।। ३३ ।।

संस्कृत : अकषायं यथाख्यातं, छद्मस्थस्य जिनस्य वा।
एतच्चयरिक्तकरं, चारित्रं भवत्याख्यातम् ।। ३३ ।।

३०. दर्शन (सम्यक्त्व) से रहित को (सम्यक्) ज्ञान नहीं होता। (सम्यक्) ज्ञान के बिना चारित्र रूप गुण नहीं होते। (चारित्र-)गुणों से रहित को 'मोक्ष' (पूर्ण कर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के बिना 'निर्वाण' नहीं होता।

३१. १. निःशंकता (जिन प्रवचन में शंका न रखना), २. निष्कांक्षता (सांसारिक सुखों व मिथ्यामतों के प्रति अनिच्छा), ३. निर्विचिकित्सा (धर्म फल में सन्देह न करना, तथा मुनियों के मलिन वस्त्र युक्त शरीर से घृणा न करना एवं देव-गुरु आदि की निन्दा न करना), ४. अमूढ़-दृष्टि (देव, गुरु व शास्त्र से सम्बद्ध मोहपूर्ण/ अज्ञानमय दृष्टि न रखना), ५. उपबृंहा (अपने सद्गुणों की वृद्धि करना, तथा अन्य गुणी जनों की प्रशंसा करके, उनके गुणों को बढ़ावा देना), ६. स्थिरीकरण (सम्यक्त्व व चारित्र से विचलित होने वालों को धर्म में स्थिर करना), ७. वात्सल्य (स्वधर्मी के प्रति हार्दिक निःस्वार्थ प्रेम करना एवं श्रावक व साधु-वर्ग की यथोचित सेवा करना), ८. प्रभावना (निज आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए तथा धर्म व संघ के कल्याण व उन्नति के लिए प्रयास करना व प्रचार करना), ये आठ (सम्यक्त्व के अंग) हैं।

३२. (चारित्र पांच प्रकार का है- पहला) सामायिक चारित्र, (दूसरा) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (तीसरा) परिहार-विशुद्धि चारित्र तथा (चौथा) सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र, और

३३. (पांचवां) पूर्णतः कषायों से रहित 'यथाख्यात' चारित्र है, जो छद्मस्थ व जिन (केवली· इन दोनों) को होता है। ये (कर्मों के) संचय को रिक्त करने वाले होने के कारण 'चारित्र' (नाम से) कहे जाते हैं।

मूल : **तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।**
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ।। ३४ ।।

संस्कृत : तपश्च द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ।। ३४ ।।

मूल : **नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।**
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ।। ३५ ।।

संस्कृत : ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ।। ३५ ।।

मूल : **खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।**
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ।। ३६ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च।
प्रहीणसर्वदुःखार्थाः, प्रक्रामन्ति महर्षयः ।। ३६ ।।
इति ब्रवीमि।

३४. तप के दो भेद बताए गए हैं- १. बाह्य तप और २. आभ्यन्तर तप। (इनमें) बाह्य तप छः प्रकार का, इसी तरह आभ्यन्तर तप (भी छः प्रकार का) कहा गया है।

३५. (आत्मा) ज्ञान से (जीव आदि) भावों (पदार्थों) को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र से (कर्म-आस्रव का) निरोध करता है, और तप से विशुद्ध होता है।

३६. महर्षि समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संयम व तप से पूर्व कर्मों का क्षय करके (अपने लक्ष्य- मुक्ति व सिद्धि कर्क ओर) प्रस्थान कर जाते हैं। (पुनः नहीं लौटते।)

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

सर्वज्ञ जिनेन्द्रों ने सत्य बतलाया है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है। मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यव तथा केवल, पांच प्रकार के ज्ञान से सभी कुछ जाना जाता है। छह द्रव्यों से युक्त लोक, जीव, पुद्गल, पर्याय, नौ तत्व; इन सभी को जानना सम्यक् ज्ञान है। जिनभाषित इस ज्ञान पर अटूट आस्था सम्यक् दर्शन है। निसर्ग, उपदेश, आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम, विस्तार, क्रिया, संक्षेप तथा धर्म-रुचि, इन रूपों में सम्यक्त्व के दस प्रकार हैं। परम अर्थ को जानना, उसे जानने वालों का गुणगान व उनकी सेवा करना तथा मिथ्यात्वियों से दूर रहना सम्यक्त्वी के लक्षण हैं।

सम्यक्त्व से ज्ञान, ज्ञान से चारित्र और चारित्र से मोक्ष होता है। सन्देह-मुक्ति, आकांक्षा-मुक्ति, निर्विचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, सम्यक्त्व के अंग हैं। सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यात्, ये पांच प्रकार के सम्यक् चारित्र हैं। छह प्रकार का बाह्य और छह प्रकार का आभ्यन्तर तप होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप से जीव सम्पूर्ण कर्म-क्षय कर मुक्ति प्राप्त करता है।

❑❑

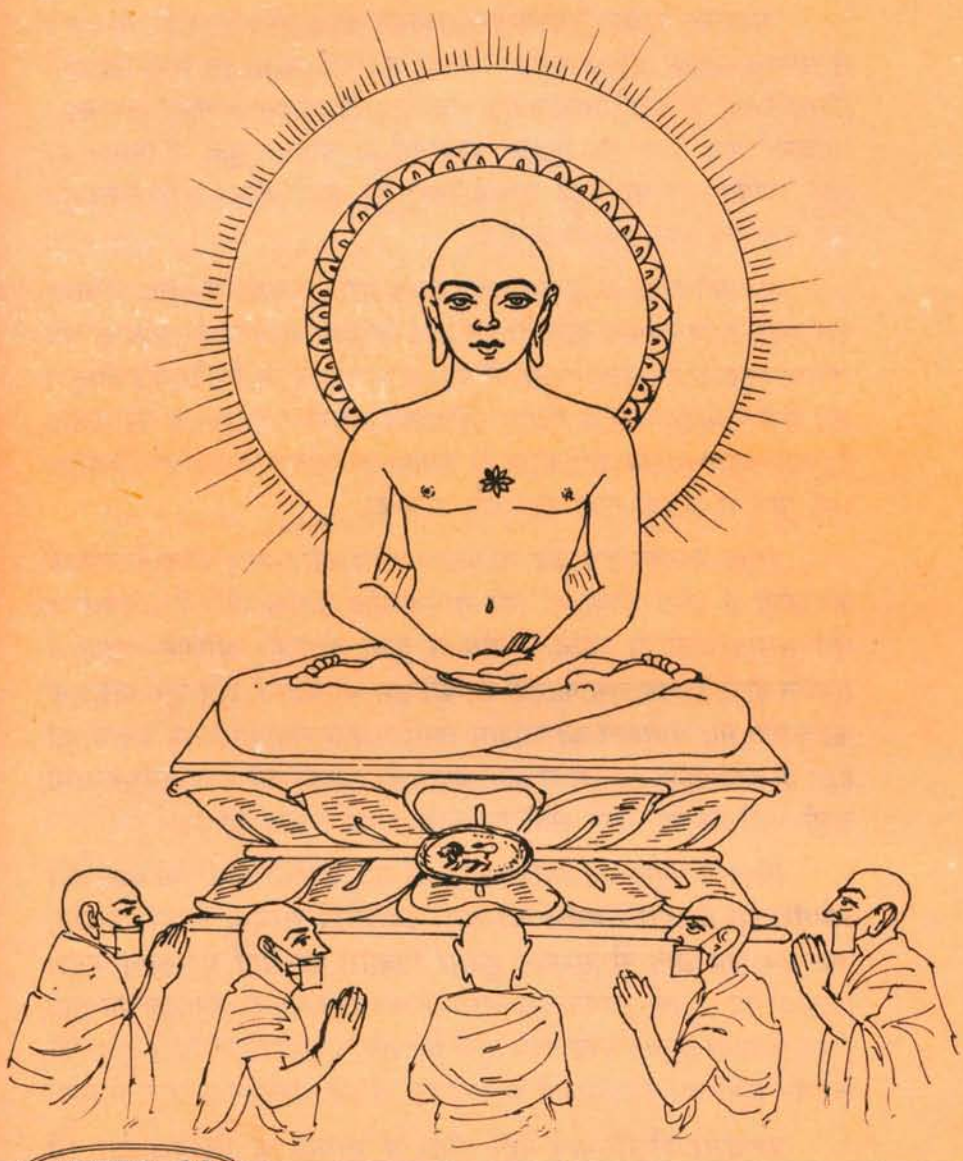

अध्ययन–29

सम्यक्त्व-पराक्रम

अध्ययन परिचय

'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक इस अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–सम्यक्त्व से सम्पन्न साधक की अन्तर्बाह्य क्रियाएं व उनके लाभ। इन सभी क्रियाओं में साहस और दृढ़ता की आवश्यकता होती है। इसीलिये इस का नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' रखा गया। यह तिहत्तर प्रश्नोत्तरों या चौहत्तर सूत्रों से निर्मित है। जिन-भाषित सत्य पर अटूट आस्था रखते हुए अपने जीवन को उसका मूर्त रूप बना देना सम्यक्त्व-पराक्रम है।

मोक्ष की इच्छा से प्रारम्भ होते हुए यह पराक्रम सर्वकर्म-मुक्त अवस्था तक पहुंचता या सम्पन्न होता है। इन दोनों बिन्दुओं के बीच है–साधना। यह साधना बहुरूपी है। अंतर्जगत् में भी साधक साधना करता है और बहिर्जगत् में भी। दोनों में कोई अन्तर या विरोध नहीं होता। साधना-लीन साधक जो सोचता है, वही कहता है और वही करता है। उसका पूरा जीवन जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित धर्म-मार्ग पर अथक यात्रा का पर्याय होता है।

प्रस्तुत अध्ययन इस यात्रा के प्रत्येक चरण को उजागर करता है। साधक की छोटी से छोटी क्रिया भी सार-गर्भित और सार्थक होती है। विवेक व धर्म-सम्मत होती है। औचित्य-बोध से युक्त होती है। परिणाम-चेतना से सम्पन्न होती है। वह शुभ कारणों का परिणाम भी होती है और शुभ परिणामों का कारण भी। सम्यक्त्व का पराक्रम उसमें आकार लेता है। संयम उस में मूर्त होता है। धर्म-संघ-रथ उस से आगे बढ़ता है। साधक की ऐसी लगभग सभी छोटी-बड़ी क्रियाएं अपने औचित्य के साथ यहां प्रस्तुत हुई हैं।

जिज्ञासा मनुष्य की आदिम वृत्ति ही नहीं, उसकी सर्वाधिक मूल्यवान् सम्पत्ति भी है। इस सम्पत्ति का जब-जब उसने सम्यक् उपयोग किया, तब-तब वह ज्ञान से सम्पन्न हुआ। विकास के मार्ग पर आगे बढ़ा। जिज्ञासा का सम्यक् उपयोग इस अध्ययन का प्रश्न पक्ष है और ज्ञान का सही दिशा में प्रसार इसका उत्तर पक्ष। दोनों का समन्वय यहां इस प्रकार हुआ कि लगभग सभी धर्म-जिज्ञासाओं के समाधान से यह अध्ययन सम्पन्न हो गया।

प्रश्नोत्तर शैली-मात्र नहीं होते। वे साधक के विकास-द्वार भी होते हैं। जिज्ञासा और ज्ञान के बीच सेतु भी होते हैं। इतिहास के सन्देश-वाहक भी होते हैं। वचन-विनिमय के सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वाधिक सहज रूप हैं–प्रश्नोत्तर। इस रूप में अभिव्यक्त होकर ज्ञान

आत्मीय लगने लगता है। शताब्दियों की दूरियां समाप्त कर देता है। इतना महत्वपूर्ण रूप है प्रस्तुत अध्ययन का।

सभी प्रश्नों में अंतर्निहित एक प्रश्न को यदि देखा जाये तो वह है, "साधना के इस रूप या इस चरण से जीव को क्या प्राप्त होता है?" यह प्रश्न सभी प्रश्नों में उपस्थित होने के कारण इस अध्ययन का मूल प्रश्न है। इस प्रश्न का विश्लेषण बतलाता है कि इसमें अन्य अनेक प्रश्नों की अर्थ-छायाएं भी सम्मिलित हैं। इस साधना को जीव क्यों करे? इस साधना का औचित्य क्या है? इस साधना की ओर साधक को प्रेरित करने वाली शक्ति कौन-सी है? यदि किसी कारण से इस साधना में साधक की स्थिरता डगमगाने लगे तो पुनः स्थिर होने के लिए ऊर्जा वह कहां से पाये? इस साधना का सम्यक्त्व-पराक्रम नामक विराट् साधना में क्या स्थान है? ये सभी प्रश्न उक्त मूल प्रश्न में समाहित हैं। इसीलिए जब मूल प्रश्न का उत्तर मिलता है तो इन सभी प्रश्नों का उत्तर भी स्वतः मिल जाता है। इस अर्थ में ये प्रश्नोत्तर अत्यन्त सारगर्भित हैं।

एक प्रश्नोत्तर में साधना का एक रूप या चरण सुस्पष्ट होता है। दूसरे से लेकर बहत्तरवें सूत्र तक यह प्रश्नोत्तर-शृंखला चलती है। साधना के इकहत्तर रूपों या चरणों को यहां उजागर किया गया है। स्पष्ट है कि इस अध्ययन की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु सम्यक्त्व के पराक्रम के समान ही विस्तृत है। इतनी विस्तृत कि इसमें सम्पूर्ण उत्तराध्ययन की अंतर्वस्तु का सार समाहित हो गया है। इसके एक-एक उत्तर में अर्थ की गहनता है। इतनी गहनता कि उसमें उतर कर अनेक अलौकिक उपलब्धि-रत्न प्राप्त किए जा सकते हैं। अन्तिम दो सूत्रों में सम्पूर्ण साधना के परिणाम की सांगोपांग अभिव्यक्ति हुई है। योग-निरोध व शैलेशी अवस्था को यहां देखा व जाना जा सकता है।

साधक-जीवन के मर्म की विस्तार एवं गहनता से विवेचना करने के साथ-साथ गद्य की शक्ति का जीवन्त प्रतिरूप उद्घाटित करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह सम्मत्तपरक्कमं एगूणतीसइमं अज्झयणं

अथ सम्यक्त्वपराक्रममेकोनत्रिंशमध्ययनम्

मूल : सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु **सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता, पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, फासित्ता, पालइत्ता, तीरित्ता, कित्तइत्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।**

संस्कृत : श्रुतं मयाऽऽयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्। इह खलु सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम्। यत्सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पालयित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य, आज्ञयाऽनुपाल्य बहवो जीवाः सिध्यन्ति, बुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति।

मूल : **तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहाः- १ संवेगे, २ निव्वेए, ३ धम्मसद्धा, ४ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया, ५ आलोयणया, ६ निंदणया, ७ गरिहणया, ८ सामाइए, ९ चउव्वीसत्थवे, १० वंदणे, ११ पडिक्कमणे, १२ काउस्सग्गे, १३ पच्चक्खाणे, १४ थयथुईमंगले, १५ कालपडिलेहणया, १६ पायच्छित्तकरणे, १७ खमावणया, १८ सज्झाए, १९ वायणया, २० पडिपुच्छणया, २१ परियट्टणया, २२ अणुप्पेहा, २३ धम्मकहा, २४ सुयस्स आराहणया, २५ एगग्गमणसंनिवेसणया, २६ संजमे, २७ तवे, २८ वोदाणे, २९ सुहसाए, ३० अप्पडिबद्धया, ३१ विवित्तसयणासणसेवणया, ३२ विणियट्टणया, ३३ संभोगपच्चक्खाणे, ३४ उवहिपच्चक्खाणे, ३५ आहारपच्चक्खाणे, ३६ कसायपच्चक्खाणे, ३७ जोगपच्चक्खाणे, ३८ सरीरपच्चक्खाणे,**

उन्तीसवां अध्ययन : सम्यक्त्व - पराक्रम

हे आयुष्मन्! मैंने सुना है उन (श्रमण) भगवान् (महावीर) ने ऐसा कहा है-

(सूत्र-१) इस (जिन - प्रवचन रूप 'उत्तराध्ययन' सूत्र) में 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक अध्ययन की काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने प्ररूपणा की है, जिस पर सम्यक् श्रद्धान् कर, प्रतीति करके, रुचि करके (मन, वचन व काया से जिसके हार्द को) स्पर्श करके पालन (अतिचार - रहित क्रियान्वित) करके, (अध्ययनादि द्वारा आदि से अन्त तक या जीवन के अन्तिम क्षण तक हृदयंगम करते हुए) पार करके (गुरु आदि के समक्ष) कथन (या गुणानुवाद-कीर्तन व स्वाध्याय) कर (गुरु-निर्देशन में) शुद्ध उच्चारण के साथ, अशुद्धि रहित बनाते हुए या गुणस्थान क्रम से उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त करते हुए विशुद्ध करके, आराधना करके तथा (गुरु व जिनेन्द्र की) आज्ञा के अनुरूप विधिपूर्वक पालन करके बहुत से प्राणी सिद्ध, बुद्ध व मुक्त होते हैं। परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं, और समस्त दुःखों का अन्त कर लेते हैं।

उस (जिनेन्द्र-प्ररूपणा) का अर्थ (प्रतिपाद्य विषय-अनुक्रम) यह, इस प्रकार (तिहत्तर बोलों में) बताया जाता है-

१. संवेग	२. निर्वेद
३. धर्मश्रद्धा	४. गुरु व साधर्मिकों की सेवा-शुश्रूषा
५. आलोचना	६. निन्दा
७. गर्हा	८. सामायिक
९. चतुर्विंशति स्तव	१०. वन्दना
११. प्रतिक्रमण	१२. कायोत्सर्ग

३९ सहायपच्चक्खाणे, ४० भत्तपच्चक्खाणे, ४१ सब्भावपच्चक्खाणे, ४२ पडिरूवणया, ४३ वेयावच्चे, ४४ सव्वगुणसंपण्णया, ४५ वीयरागया, ४६ खन्ती, ४७ मुत्ती, ४८ मद्दवे, ४९ अज्जवे, ५० भावसच्चे, ५१ करणसच्चे, ५२ जोगसच्चे, ५३ मणगुत्तया, ५४ वयगुत्तया, ५५ कायगुत्तया, ५६ मणसमाधारणया, ५७ वयसमाधारणया, ५८ कायसमाधारणया, ५९ नाणसंपन्नया, ६० दंसणसंपन्नया, ६१ चरित्तसंपन्नया, ६२ सोइंदियनिग्गहे, ६३ चक्खुंदियनिग्गहे, ६४ घाणिंदियनिग्गहे, ६५ जिब्भिंदियनिग्गहे, ६६ फासिंदियनिग्गहे, ६७ कोहविजए, ६८ माणविजए, ६९ मायाविजए, ७० लोहविजए, ७१ पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजए, ७२ सेलेसी, ७३ अकम्मया ।।१।।

संस्कृत : तस्य अयमर्थः एवमाख्यायते, तद्यथाः- १ संवेगः २ निर्वेदः, ३ धर्मश्रद्धा, ४ गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणम्, ५ आलोचना, ६ निन्दा, ७ गर्हाः, ८ सामायिकम्, ९ चतुर्विंशतिस्तवः, १० वन्दनम्, ११ प्रतिक्रमणम्, १२ कायोत्सर्गः, १३ प्रत्याख्यानम् १४ स्तवस्तुतिमङ्गलम्, १५ कालप्रतिलेखना, १६ प्रायश्चित्तकरणम्, १७ क्षमापना, १८ स्वाध्यायः, १९ वाचना, २० प्रतिप्रच्छना, २१ परिवर्तना, २२ अनुप्रेक्षा, २३ धर्मकथा, २४ श्रुतस्य आराधना, २५ एकाग्रमनःसंनिवेशना, २६ संयमः, २७ तपः, २८ व्यवदानम्, २९ सुखशायः, ३० अप्रतिबद्धता, ३१ विविक्त-शयनासनसेवना, ३२ विनिवर्तना, ३३ सम्भोगप्रत्याख्यानम्, ३४ उपधिप्रत्याख्यानम्, ३५ आहारप्रत्याख्यानम्, ३६ कषाय-प्रत्याख्यानम्, ३७ योगप्रत्याख्यानम्, ३८ शरीरप्रत्याख्यानम्, ३९ सहाय्यप्रत्याख्यानम्, ४० भक्तप्रत्याख्यानम्, ४१ सद्भाव-प्रत्याख्यानम्, ४२ प्रतिरूपता, ४३ वैयावृत्यम्, ४४ सर्वगुणसम्पन्नता, ४५ वीतरागता, ४६ क्षान्तिः, ४७ मुक्तिः, ४८ मार्दवम्, ४९ आर्जवम्, ५० भावसत्यम्, ५१ करणसत्यम्, ५२ योगसत्यम्, ५३ मनोगुप्तिता, ५४ वचोगुप्तिता, ५५ कायगुप्तिता, ५६ मनःसमाधारणा, ५७ वाक्समाधारणा, ५८ कायसमाधारणा, ५९ ज्ञानसम्पन्नता, ६० दर्शनसम्पन्नता, ६१ चारित्रसम्पन्नता, ६२ श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः, ६३ चक्षुरिन्द्रियनिग्रहः, ६४ घ्राणेन्द्रियनिग्रहः, ६५ जिह्वेन्द्रियनिग्रहः, ६६ स्पर्शेन्द्रियनिग्रहः, ६७ क्रोधविजयः, ६८ मानविजयः, ६९ मायाविजयः, ७० लोभविजयः, ७१ रागद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः, ७२ शैलेशी, ७३ अकर्मता ।।१।।

१३. प्रत्याख्यान
१४. स्तव, स्तुति-मंगल
१५. काल-प्रतिलेखना
१६. प्रायश्चित्त करण
१७. क्षमापना
१८. स्वाध्याय
१९. वाचना
२०. प्रतिप्रच्छना
२१. परावर्तना (पुनरावृति)
२२. अनुप्रेक्षा
२३. धर्मकथा
२४. श्रुत-आराधना
२५. एकाग्रमन की स्थापना
२६. संयम
२७. तप
२८. व्यवदान (विशुद्धि)
२९. सुखसाता
३०. अप्रतिबद्धता
३१. विविक्त शयन-आसन-सेवन
३२. विनिवर्तना
३३. संभोग-प्रत्याख्यान
३४. उपधि-प्रत्याख्यान
३५. आहार-प्रत्याख्यान
३६. कषाय-प्रत्याख्यान
३७. योग-प्रत्याख्यान
३८. शरीर-प्रत्याख्यान
३९. सहाय-प्रत्याख्यान
४०. भक्त-प्रत्याख्यान
४१. सद्भाव-प्रत्याख्यान
४२. प्रतिरूपता
४३. वैयावृत्य
४४. सर्वगुणसम्पन्नता
४५. वीतरागता
४६. क्षान्ति
४७. मुक्ति (निर्लोभता)
४८. आर्जव (ऋजुता)
४९. मार्दव (मृदुता)
५०. भावसत्य
५१. करणसत्य
५२. योगसत्य
५३. मनोगुप्ति
५४. वचनगुप्ति
५५. कायगुप्ति
५६. मनःसमाधारणा
५७. वाक्समाधारणा
५८. काय समाधारणा
५९. ज्ञान-सम्पन्नता
६०. दर्शन-सम्पन्नता
६१. चारित्र-सम्पन्नता
६२. श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह
६३. चक्षुइन्द्रिय-निग्रह
६४. घ्राण-इन्द्रिय-निग्रह
६५. जिह्वा-इन्द्रिय-निग्रह
६६. स्पर्श-इन्द्रिय-निग्रह
६७. क्रोध-विजय
६८. मान-विजय
६९. माया-विजय
७०. लोभ-विजय
७१. प्रेम-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय
७२. शैलेशी (अवस्था)
७३. अकर्मता

मूल : **संवेगेणं भंते! जीवे किं जणयइ? संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणंताणुबंधिकोह-माण-माया लोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊणं दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ।। २ ।।**

संस्कृत : संवेगेन भदन्त! जीवः किं जनयति? संवेगेनानुत्तरां धर्मश्रद्धां जनयति। अनुत्तरया धर्मश्रद्धया संवेगं शीघ्रमागच्छति। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् क्षपयति। नवं च कर्म न बध्नाति। ततूप्रत्ययिकां च मिथ्यात्वविशुद्धिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति। दर्शनविशुद्ध्या च विशुद्धोऽस्त्येककः तेनैव भवग्रहणेन सिध्यति। विशुद्ध्या च विशुद्धः तृतीयं पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति ।। २ ।।

मूल : **निव्वेएणं भंते! जीवे किं जणयइ? निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरंभपरिच्चायं करेमाणे संसार-मग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ ।। ३ ।।**

संस्कृत : निर्वेदेन भदन्त! जीवः किं जनयति? निर्वेदेन दिव्य-मानुष्य-तैरश्चेषु कामभोगेषु निर्वेदं शीघ्रमागच्छति। ततः सर्वविषयेभ्यो विरज्यति। सर्वविषयेभ्यो विरज्यमान आरम्भ-परित्यागं कुर्वाणः संसारमार्गं व्युच्छिनत्ति, सिद्धिमार्गं प्रतिपन्नश्च भवति ।। ३ ।।

(सू.२) (प्रश्न-) भन्ते! 'संवेग' (मोक्ष प्राप्त करने की तीव्रतम/अनन्य अभिलाषा) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) प्राप्त करता है?

(उत्तर-) 'संवेग' से (जीव) अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धर्म-श्रद्धा को (उत्पन्न) प्राप्त करता है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से (वह) संवेग को शीघ्र (और अपेक्षाकृत अधिक भी) अधिगत करता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभ का क्षय करता है तथा नये कर्मों का बन्ध नहीं करता। उस (कषाय-क्षय) के फल स्वरूप मिथ्यात्व-विशुद्धि करके (सम्यक्) दर्शन का आराधक होता है। दर्शन-विशुद्धि से विशुद्ध होकर कोई एक (विरला) उसी भव (जन्म) से सिद्ध (मुक्त) हो जाता है। सामान्यतः दर्शन-विशुद्धि से विशुद्ध होने वाला (यदि कुछ कर्म शेष भी रह जाएं, तो भी) तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करता।

(सू.३) (प्रश्न-) भन्ते! निर्वेद से सांसारिक-शारीरिक भोगों से वैराग्य, सांसारिक दुःखों से नित्य भीरुता एवं काम-भोगों को छोड़ने की तीव्र भावना आदि से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) प्राप्त करता है ?

(उत्तर-) 'निर्वेद' से देवों, मनुष्यों व तिर्यंचों के (जीवन से सम्बन्धित) काम-भोगों में शीघ्र (व विशिष्ट) 'निर्वेद' (वैराग्य) को अधिगत करता है, (और क्रमशः) सभी विषयों से विरक्त हो जाता है। सभी विषयों से विरक्त होकर 'आरम्भ' का (अर्थात् हिंसा एवं परिग्रह आदि का भी) त्याग करता है। 'आरम्भ' (व परिग्रह) का त्याग करता हुआ, (वह) संसार के मार्ग का विच्छेद करता है, और सिद्धि (मुक्ति) के मार्ग को प्राप्त होता है।

मूल : **धम्मसद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जई, आगारधम्मं च णं चयइ। अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ। अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ।। ४ ।।**

संस्कृत : धर्मश्रद्धया भदन्त! जीवः किं जनयति? धर्मश्रद्धया सातासौख्येषु रज्यमानो विरज्यते। आगारधर्मं च त्यजति। अनगारो जीवः शारीरमानसानां दुःखानां छेदनभेदनसंयोगादीनां व्युच्छेदं करोति। अव्याबाधं च सुखं निर्वर्तयति ।। ४ ।।

मूल : **गुरु-साहम्मियसुस्सूसणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवदुग्गईओ निरुंभइ। वण्णसंजलणभत्ति-बहुमाणयाए माणुस्स-देवसुगईओ निबंधई। सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणिइत्ता भवइ ।। ५ ।।**

संस्कृत : गुरु-साधर्मिकशुश्रूषणेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। गुरु-साधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं जनयति। विनयप्रतिपन्नश्च जीवः अनत्याशातनाशीलो नैरयिक-तिर्यग्योनिक-मनुष्य देवदुर्गतीर्निरुणद्धि। वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानतया मनुष्य-देवसुगतीर्निबध्नाति। सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति। प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति। अन्येषाञ्च बहूनां जीवानां विनेता भवति ।। ५ ।।

(सू.४) (प्रश्न-) भन्ते! धर्म-श्रद्धा से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) प्राप्त करता है?

(उत्तर) धर्म-श्रद्धा से साता-सुखों (सातावेदनीय कर्म से उत्पन्न इन्द्रिय विषय-सुखों) से (जीव) विरक्त हो जाता है, और गृहस्थ धर्म (गृहस्थ-जीवन की सावद्य प्रवृत्ति) को छोड़ देता है। (वह) जीव अनगार होकर छेदन-भेदन रूप शारीरिक दुःखों का तथा (अनिष्ट) संयोग आदि मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है, तथा (फलस्वरूप) अव्याबाध (बाधारहित) सुख को उपलब्ध करता है।

(सू.५) (प्रश्न-) भन्ते! गुरु और साधर्मी जनों की शुश्रूषा (सेवा-भावना व सद्बोध-प्राप्ति की इच्छा) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) गुरु और साधर्मिकों की शुश्रूषा से (जीव) विनय-प्रतिपत्ति (विनय-स्वभाव का उद्भव तथा अंगीकरण) को उपलब्ध करता है। विनय-प्राप्त जीव (गुरुओं के अविनय, तिरस्कार, परिवाद, आदि) आशातना का अधिकांशतः न करने के स्वभाव वाला होता हुआ, नारकी व तिर्यंच गति, (म्लेच्छ आदि) मनुष्य व किल्विषक परमाधर्मी आदि देवों से सम्बन्धित दुर्गतियों का निरोध कर लेता है। (अपितु गुरु-जनों आदि की) प्रशंसा, गुण-प्रकाशन, भक्ति (व्यावहारिक आदर) एवं (आन्तरिक प्रीति रूप) बहुमान द्वारा मनुष्यों व देवों से सम्बन्धित सुगति का बन्ध करता है। सिद्धि व सुगति (के मार्ग) को विशुद्ध (प्रशस्त) करता है। विनय-मूलक सभी प्रशस्त कार्यों का साधक होता है, और अन्य भी अनेक जीवों को 'विनयी' बना देने वाला (विनय-धर्म में प्रवर्तक) हो जाता है।

मूल : **आलोयणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? । आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाण मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जुभावं च जणयइ । उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ । पुव्ववद्धं च णं निज्जरेइ ।। ६ ।।**

संस्कृत : आलोचनया भदन्त! जीवः किं जनयति?। आलोचनया मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानां मोक्षमार्गविघ्नानामनन्तसंसारवर्द्धनानामुद्धरणं करोति। ऋजुभावं प्रतिपन्नश्च जीवोऽमायी स्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।। ६ ।।

मूल : **निंदणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। निंदणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढीपडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ।। ७ ।।**

संस्कृत : निन्दनेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। निन्दनया पश्चात्तापं जनयति। पश्चादनुतापेन विरज्यमानः करणगुणश्रेणिं प्रतिपद्यते। करणगुणश्रेणिप्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीयं कर्मोद्घातयति ।। ७ ।।

(सू.६) (प्रश्न-) भन्ते! आलोचना (गुरुजनों के सम्मुख अपने दोषों के प्रकाशन; स्वयं अपने दोषों का निरीक्षण व समीक्षा) के द्वारा (जीव) क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध (प्राप्त) करता है?

(उत्तर-) आलोचना द्वारा मोक्ष-मार्ग में विघ्न (पैदा करने वाले) तथा अनन्त संसार का बन्ध कराने वाले माया (शठता व वंचकता), निदान (तप व धर्म के फल रूप में सांसारिक सुखों की कामना) व मिथ्यादर्शन (असद् दृष्टि, देव, गुरु व तत्वों के यथार्थ स्वरूप से अपरिचय तथा उनके विपरीत स्वरूप को ग्रहण करना आदि) को उखाड़ फैंकता है। ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु भाव को प्राप्त हुआ (वह) जीव माया-रहित होकर स्त्रीवेद व नपुंसक वेद का (नया) बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध (स्त्रीवेद व नपुंसक वेद) की निर्जरा (भी) करता है।

(सू.७) (प्रश्न-) भन्ते! 'निन्दना' (स्वकीय दोषों पर स्वयं का तिरस्कार, पश्चाताप, आत्म-स्वकीय दोषों का समीक्षण कर उनके प्रति तिरस्कार-भाव एवं उन पर पश्चाताप करने) से जीव क्या (गुण व विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) निन्दना (निन्दा) से (जीव) पश्चाताप (का आत्म-परिणाम) उत्पन्न करता है। पश्चाताप (के भाव) के द्वारा (प्राप्त) विरक्ति-युक्त होता हुआ 'करणगुणश्रेणी' (आध्यात्मिक उन्नति के आठवें सोपान-गुणस्थान में, क्षपक श्रेणी के प्रारम्भ में होने वाली आत्मिक अपूर्व विशुद्ध भाव-धारा) को प्राप्त करता है। 'करणगुणश्रेणी' को प्राप्त अनगार (मुनि) मोहनीय कर्म को विनष्ट कर देता है।

मूल : **गरहणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेई, पसत्थे य पडिवज्जइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ।। ८ ।।**

संस्कृत : गर्हया भदन्त! जीवः किं जनयति?। गर्हयाऽपुरस्कारं जनयति। अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते, प्रशस्तयोगांश्च प्रतिपद्यते। प्रशस्तयोगप्रतिपन्नश्चानगारोऽनन्तघातिनः पर्यायान् क्षपयति ।। ८ ।।

मूल : **सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सामाइएणं सावज्जजोग-विरइं जणयइ ।। ९ ।।**

संस्कृत : सामायिकेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। सामायिकेन सावद्ययोगविरतिं जनयति ।। ९ ।।

मूल : **चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।। १० ।।**

संस्कृत : चतुर्विंशतिस्तवेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। चतुर्विंशतिस्तवेन दर्शनविशुद्धिं जनयति ।। १० ।।

मूल : **वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ ।। ११ ।।**

संस्कृत : वन्दनया भदन्त! जीवः किं जनयति?
वन्दनया नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति। उच्चैर्गोत्रं कर्म बध्नाति। सौभाग्यं चाप्रतिहतमाज्ञाफलमुत्पादयति। दाक्षिण्यभावं च जनयति ।। ११ ।।

(सू.८) (प्रश्न-) भन्ते! गर्हणा (दूसरों या गुरुजनों के सम्मुख अपने दोषों के प्रकाशन, एवं आत्म-साक्षी से उन दोषों के त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) गर्हणा से (जीव) अपुरस्कार (सम्मान के अलाभ या अवज्ञा) को उपलब्ध करता है। अपुरस्कृत होने वाला जीव अप्रशस्त (मानसिक, वाचिक व कायिक) व्यापारों से निवृत्त होने लगता है। प्रशस्त (कायिक आदि) व्यापारों में प्रवृत्त अनगार 'अनन्त' (ज्ञान व दर्शन आदि स्वरूपों) का घात करने वाले पर्यायों (पुद्गल द्रव्य की ज्ञानावरण आदि कर्म रूपों में होने वाली परिणतियों) का क्षय करता है।

(सू.९) (प्रश्न-) भन्ते! सामायिक (समभाव की साधना) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट लाभ) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) सामायिक द्वारा जीव सावद्य (पापकारक असत्प्रवृत्ति रूप) योगों से विरति भाव को उपलब्ध करता है।

(सू.१०) (प्रश्न-) भन्ते! चतुर्विंशति(चौबीस तीर्थंकरों के)स्तव (गुणकीर्तन) से जीव क्या (गुण व विशिष्ट लाभ) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) चतुर्विंशति स्तव से दर्शन-विशुद्धि (सम्यक्त्व गुण में होने वाले दोषों की विशुद्धि) को उपलब्ध करता है।

(सू.११) (प्रश्न-) भन्ते! वन्दना से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) वन्दना से (जीव) नीच गोत्र (कर्म) का क्षय करता है, उच्च गोत्र (कर्म) को बांधता है। (वह) अप्रतिहत (कहीं बाधित न होने वाले) आज्ञा-फल व सौभाग्य को प्राप्त करता है तथा 'दाक्षिण्य भाव' (लोक-अनुकूलता, लोक-प्रियता, सर्व-विधकुशलता) को उपार्जित करता है।

मूल : **पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयण-मायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।।१२।।**

संस्कृत : प्रतिक्रमणेन भदन्त! जीवः किं जनयति?
प्रतिक्रमणेन व्रतच्छिद्राणि पिदधाति, पिहितव्रतच्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवोऽशबलचारित्रश्चाष्टसु प्रवचनमातृषूपयुक्तोऽपृथक्त्वः सुप्रणिहितो विहरति।।१२।।

मूल : **काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ।।१३।।

संस्कृत : कायोत्सर्गेण भदन्त! जीवः किं जनयति?
कायोत्सर्गेणातीतप्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तं विशोधयति। विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निवृतहृदयोऽपहृतभार इव भारवहः प्रशस्त-ध्यानोपगतः सुखं सुखेन विहरति।।१३।।

(सू.१२) (प्रश्न-) भन्ते! प्रतिक्रमण (ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रमाद-वश लगे दोषों-असंयम, अशुभयोग, आदि पर-स्थानों से प्रतिक्रमित -निवृत्त होने की साधना) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) प्रतिक्रमण से (जीव) व्रतों के छिद्रों (अतिचार रूप दोषों) को ढँकता है (अर्थात् व्रतों को दोषों से बचाता है)। व्रत-छिद्रों को निरुद्ध कर देने वाला (वह) जीव (हिंसा आदि कर्मों के) आस्रव को निरुद्ध कर लेता है, अशबल (दोष-रहित, विशुद्ध) चारित्र वाला हो जाता है, (पांच समितियों व तीन गुप्तियों वाली) आठ प्रवचन-माताओं (की आराधना) में उपयोगयुक्त (सावधान, सचेष्ट) रहता हुआ (संयम/विशुद्ध चारित्र से) अपृथक्त्व (एकरस/तल्लीन) हो जाता है तथा सम्यक् समाधि सम्पन्न (व संयमाराधक) होकर (संयममार्ग में) विचरण करता है।

(सू.१३) (प्रश्न-) भन्ते! कायोत्सर्ग (अतिचार-दोषों की निवृत्ति के लिए शरीर के प्रति ममत्व का शास्त्रोक्त विधि से त्याग कर, स्व-स्वरूप में अवस्थित होने की साधना) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'कायोत्सर्ग' से (जीव) अतीत व वर्तमान काल के प्रायश्चित्त (के योग्य अतिचार रूप दोषों) की विशुद्धि करता है। प्रायश्चित्त (योग्य अतिचार-रूप दोषों) से शुद्ध होकर (वह) जीव (सर पर से) भार को उतार देने वाले भारवाहक की तरह, निर्वृत्त (स्वस्थ, शान्त, चिन्ता-मुक्त व निराकुल चित्त वाला हो जाता है, तथा प्रशस्त ध्यान में स्थित/लीन) होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।

मूल : **पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ। पच्चखाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।।१४।।

संस्कृत : प्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?
प्रत्याख्यानेनास्रव-द्वाराणि निरुणद्धि। प्रत्याख्यानेन इच्छानिरोधं जनयति। इच्छानिरोधगतश्च जीवः सर्वद्रव्येषु विनीततृष्णः शीतीभूतो विहरति।।१४।।

मूल : **थयथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
थव-थुइमंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ। नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ।।१५।।

संस्कृत : स्तव-स्तुतिमङ्गलेन भदन्त! जीवः कि जनयति?।
स्तव-स्तुति-मङ्गलेन ज्ञानदर्शन-चारित्र-बोधिलाभं जनयति। ज्ञान-दर्शनचारित्र-बोधि-लाभसम्पन्नश्च जीवोऽन्तक्रियां कल्पविमानोत्पत्तिकामाराधनामाराध्नोति।।१५।।

मूल : **कालपडिलेहणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
कालपडिलेहणयाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।।१६।।

संस्कृत : कालप्रतिलेखनया भदन्त! जीवः किं जनयति?
कालप्रतिलेखनया ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति।।१६।।

मूल : **पायच्छित्तकरणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
पायच्छित्तेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ।
निरइयारे आवि भवइ।
सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारफलं च आराहेइ।।१७।।

(सू.१४) (प्रश्न-) भन्ते! प्रत्याख्यान (भावी दोषों की सम्भावना से बचने के लिए मन, वचन, काय से त्याग, नियम, व्रत आदि की स्वीकृति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'प्रत्याख्यान' से (जीव कर्मबन्ध के हेतु राग आदि) आस्रव-द्वारों को निरुद्ध करता है (अर्थात् इच्छाओं का निरोध कर, सर्वत्र वितृष्णा भाव रखता हुआ रागादि की उत्पत्ति पर अंकुश लगाता है।)

(सू.१५) (प्रश्न-) भन्ते! 'स्तव-स्तुति' (भक्ति व बहुमान-पूर्वक आराध्य के अरिहन्त/सिद्ध के गुणों के कीर्तन) रूप (भाव-) मंगल से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'स्तव-स्तुति' (रूप भाव-मंगल) से (जीव) ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप 'बोधि' (जिनेन्द्र-प्ररूपित धर्मतत्व-बोध) का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप 'बोधि' के लाभ से सम्पन्न वह जीव 'अन्तक्रिया' (मुक्ति को प्राप्त कराने वाली) या 'कल्प' (वैमानिक देवों के) विमानों में उत्पत्ति कराने वाली 'आराधना' का आराधक होता है।

(सू.१६) (प्रश्न-) भन्ते! 'काल-प्रतिलेखना' (स्वाध्याय आदि धर्म-क्रिया के लिए शास्त्रोक्त उपयुक्त/ अनुपयुक्त समय के सम्बन्ध में ध्यान या सावधानी रखने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) काल की प्रतिलेखना से (जीव) ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

(सू.१७) (प्रश्न-) भन्ते! 'प्रायश्चित्त' (विहित पापों की आलोचना आदि द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि की क्रिया) करने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) प्रायश्चित्त करने से (जीव) पाप-कर्मों की विशुद्धि (निवृत्ति) करता है, तथा अतिचार (दोषों) से रहित (व्रतादि साधना

संस्कृत : प्रायश्चित्तकरणेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
प्रायश्चित्तेन पापकर्मविशुद्धिं जनयति।
निरतिचारश्चापि भवति।
सम्यक् च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानः (सम्यक्त्व-) मार्गञ्च (सम्यक्त्व-) मार्गफलञ्च विशोधयति, आचारञ्चाचारफलञ्चराधयति।।१७।।

मूल : **खमावणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**
खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भाव-विसोहिं काऊण निब्भए भवइ।।१८।।

संस्कृत : क्षमापनया भदन्त! जीवः किं जनयति?
क्षमापनया प्रह्लादनभावं जनयति। प्रह्लादनभावमुपगतश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु मैत्रीभावमुत्पादयति मैत्रीभावमुपगतश्चापि जीवः भावविशुद्धिं कृत्वा निर्भयो भवति।।१८।।

मूल : **सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।।१९।।

संस्कृत : स्वाध्यायेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति।।१९।।

मूल : **वायणाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**
वायणाएणं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।।२०।।

संस्कृत : वाचनया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
वाचनया निर्जरां जनयति। श्रुतस्य चानुषज्जनेन अनाशातनायां वर्तते। श्रुतस्यानुषज्जनेनाशातनायां वर्तमानस्तीर्थधर्ममवलम्बते। तीर्थधर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति।।२०।।

करने वाला) हो जाता है। सम्यक् 'प्रायश्चित्त' अंगीकार करने वाला (जीव) 'मार्ग' (सम्यग्दर्शन) तथा 'मार्ग-फल' (ज्ञान, दोनों) को विशुद्ध/निर्मल कर लेता है। (फलस्वरूप, वह) आचार व आचार-फल (मुक्ति) का आराधक हो जाता है।

(सू.१८) (प्रश्न-) भन्ते! क्षामणा/क्षमापना (दुष्कृत्य या अपराध के लिए गुरु-जनों से क्षमा मांगना, और अन्य के अपराध आदि के लिए क्षमा प्रदान) करने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) क्षामणा/क्षमापना करने से (जीव) प्रह्लाद (मानसिक प्रसन्नता) को प्राप्त करता है। मानसिक प्रसन्नता प्राप्त करने वाला सभी (द्वीन्द्रियादि) प्राणियों, (वनस्पति आदि) भूतों, (पंचेन्द्रिय) जीवों व (पृथ्वी आदि स्थावर) सत्वों के साथ मैत्रीभाव का निर्माण करता है। मैत्रीभाव को प्राप्त करने वाला जीव भावों की विशुद्धि कर निर्भय हो जाता है।

(सू.१९) (प्रश्न-) भन्ते! 'स्वाध्याय' (काल-मर्यादा पूर्वक शास्त्र का अध्ययन) या 'स्व' निज आत्मा का स्व (निज स्वरूप में अध्ययन/रमण) करने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'स्वाध्याय' से (जीव अपने) ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

(सू.२०) (प्रश्न-) भन्ते! 'वाचना' (स्वयं या गुरुमुख से सत्शास्त्र' के अध्ययन, तथा शिष्यादि को शास्त्र के अध्यापन) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'वाचना' से (जीव अपने कर्मों की) निर्जरा करता है तथा 'श्रुत' (के पठन-पाठन करते रहने से उस) की आशातना (अवज्ञा के दोष) से मुक्त रहता है। 'श्रुत' की 'अनाशातना' में रहता हुआ (वह) तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला (स्व-अध्ययन, श्रमण-धर्म व शास्त्र-परम्परा को अविच्छिन्न रखने वाला) होता

मूल : **पडिपुच्छणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
पडिपुच्छणयाएणं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिदइ।।२१।।

संस्कृत : प्रतिप्रच्छनया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
प्रतिप्रच्छनया सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति। काङ्क्षामोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति।।२१।।

मूल : **परियट्टणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
परियट्टणयाएणं वंजणाइं जणयइ। वंजणलद्धिं च उप्पाएइ।।२२।।

संस्कृत : परिवर्तनया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
परिवर्तनया व्यञ्जनानि जनयति।
व्यञ्जनलब्धिञ्चोत्पादयति।।२२।।

मूल : **अणुप्पेहाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। अणुप्पेहाएणं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ। दीह-कालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिया बंधइ, सिया नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पा-मेव वीइवयइ।।२३।।**

है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला (जीव) महानिर्जरा (समस्त कर्म-क्षय) व महापर्यवसान (संसार-विनाश अर्थात् 'मुक्ति' प्राप्त करने) वाला हो जाता है।

(सू.२१) (प्रश्न-) भंते! 'प्रतिपृच्छना' (पूर्व-पठित शास्त्र आदि में किसी प्रकार के सन्देह के उत्पन्न होने पर, गुरु आदि से विनय-पूर्वक शंका-समाधान करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'प्रतिपृच्छना' से (जीव) सूत्र, अर्थ तथा दोनों (अर्थात् सूत्रार्थ से सम्बन्धित सन्देह के दूर हो जाने से उन) सन्देहों को विशुद्ध करता है, तथा कांक्षा-मोहनीय (संशयोत्पादक व मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म-विशेष) कर्म का उच्छेद करता है।

(सू.२२) (प्रश्न-) भन्ते! 'परावर्तना' (पठित पाठ/शास्त्र की पुनरावृत्ति या पुनःपुनः स्मरण से) जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'परावर्तना' से (जीव) व्यंजनों (पठित पाठ से सम्बन्धित अक्षरों को स्मृति पट पर यथावत् पुनः) उत्पन्न करता है, और (ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के प्रभाव से) 'व्यंजन-लब्धि' (अक्षर-लब्धि : एक अक्षर के स्मरणमात्र से शेष सैकड़ों अक्षरों की स्मृति हो जाने की शक्ति) का (तथा 'पदानुसारिता': एक पद से अन्य पदों का स्मरण आदि 'पद-लब्धि' का भी) उपार्जन करता है।

(सू.२३) (प्रश्न-) भन्ते! 'अनुप्रेक्षा' (सूत्र व सूत्रार्थ का तात्विक चिन्तन-मनन) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'अनुप्रेक्षा' (अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षाओं तथा धर्मध्यान व शुक्लध्यान से सम्बन्धित चार-चार अनुप्रेक्षाओं) से (जीव) प्रगाढ़ बन्धन में बंधी हुई तथा आयु कर्म को छोड़ कर (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय - इन) सात कर्म प्रकृतियों के बन्धन को शिथिल

संस्कृत : अनुप्रेक्षया भदन्त! जीवः किं जनयति?
अनुप्रेक्षयाऽऽयुर्वर्ज्जा सप्तकर्मप्रकृतीर्गाढबन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति। दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति। आयुः कर्म च स्याद् बध्नाति स्यान्न बध्नाति। आशातावेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति। अनादिकञ्चाऽनवदग्रं दीर्घाद्ध्वं चतुरन्तं संसारकान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति ।। २३ ।

मूल : **धम्मकहाएणं भंते! जीवे किं जणयइ? ।**
धम्मकहाएणं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाएणं पवयणं पभावेइ। पवयण-पभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ।। २४ ।।

संस्कृत : धर्मकथया भदन्त! जीवः किं जनयति? ।
धर्मकथया निर्जरां जनयति। धर्मकथया प्रवचनं प्रभावयति।
प्रवचनप्रभावेण जीव आगमिष्यद्भद्रतायाः कर्म निबध्नाति ।। २४ ।।

मूल : **सुयस्स आराहणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ? ।**
सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ।। २५ ।।

संस्कृत : श्रुतस्याऽऽराधनया भदन्त! जीवः किं जनयति? ।
श्रुतस्याऽराधनयाऽज्ञानं क्षपयति, न च संक्लिश्यति ।। २५ ।।

बना देता है। (उन कर्म-प्रकृतियों की) दीर्घकालिक स्थिति को अल्पकालिक कर देता है, उनके तीव्र अनुभाव (कटु-विपाकी अनुभाग-रसबन्ध) को मन्द (निर्बल, निर्बलतर आदि) अनुभाव वाला बना देता है। बहुप्रदेशों वाली (कर्म-प्रकृतियों) को अल्पप्रदेश वाली बना देता है। आयुकर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् (तद्भवमोक्षगामी होने की स्थिति में या आयु बंधने के योग्य शास्त्रोक्त परिस्थिति के अभाव में) नहीं भी करता। (वह प्रमादी न हो तो) असातावेदनीय (आदि अशुभ) कर्म (प्रकृतियों) का बार-बार उपचय (बन्ध) नहीं करता तथा अनादि व अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले, और (नरकादि गति-रूप) चार भागों (छोरों) वाले संसार वन को शीघ्र ही पार कर जाता है।

(सू.२४) (प्रश्न-) भन्ते! 'धर्मकथा' (श्रुत रूप 'धर्म' की कथा - व्याख्यान, उपदेश आदि) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) धर्मकथा से (जीव कर्मों की) निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन (जिनेन्द्र-वचन) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य काल में कल्याण (शुभ फल) देने वाले कर्म को (ही) बांधता है।

(सू.२५) (प्रश्न-) भन्ते! 'श्रुत' की आराधना (शास्त्र/सिद्धान्त के सम्यक् चिन्तन-मनन) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'श्रुत' की आराधना से (जीव) अज्ञान का क्षय करता है और (अज्ञान-जन्य राग आदि विकारों से प्रादुर्भूत) क्लेश को (कभी) प्राप्त नहीं होता। (अपितु अतिशय प्रशम-रस में डूबते हुए अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है तथा नवीन-नवीन विशिष्ट संवेग व श्रद्धा से युक्त हो जाता है।)

मूल : **एगग्गमण-संनिवेसणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
एगग्गमण-संनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ ।।२६।।

संस्कृत : एकाग्रमनःसंनिवेशनया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
एकाग्रमनःसंनिवेशनया चित्तनिरोधं करोति ।।२६।।

मूल : **संजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ।।२७।।

संस्कृत : संयमेन भदन्त! जीवः किं जनयति?
संयमेनानहंस्कत्वं जनयति ।।२७।।

मूल : **तवेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
तवेणं वोदाणं जणयइ ।।२८।।

संस्कृत : तपसा भदन्त! जीवः किं जनयति?।
तपसा व्यवदानं जनयति ।।२८।।

मूल : **वोदाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।।२९।।

संस्कृत : व्यवदानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
व्यवदानेनाक्रियां जनयति। अक्रियो भूत्वा ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ।।२९।।

मूल : **सुहसाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणु-ब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ।।३०।।

(सू.२६) (प्रश्न-) भन्ते! मन की एकाग्र संनिवेशना (संस्थापन) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) मन की एकाग्र-संनिवेशना से (जीव उन्मार्गगामी) चित्त (की वृत्तियों) का निरोध (नियन्त्रण) करता है।

(सू.२७) (प्रश्न-) भन्ते! (सावद्य योग-विरति कराने वाले सत्रह प्रकार के) 'संयम' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) संयम से (वह कर्मों की) 'अनास्रवता' (संवर की स्थिति) को या 'अनंहस्कता' (ज्ञानावरणीय आदि कर्म रूप पापों के अभाव की स्थिति) को प्राप्त करता है।

(सू.२८) (प्रश्न-) भन्ते! 'तप' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'तप' से (जीव) 'व्यवदान' (पूर्व-संचित कर्मों के क्षय या आत्मिक विशुद्धि/निर्मलता को) प्राप्त करता है।

(सू.२९) (प्रश्न-) भन्ते! 'व्यवदान' (पूर्व संचित कर्मों के क्षय से प्राप्त आत्मिक विशुद्धि) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'व्यवदान' से (वह जीव) 'अक्रिया' (मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों से निवृत्ति) को प्राप्त करता है। अक्रिया (शुक्ल ध्यान के चतुर्थ सोपान की अवस्था कर) के अनन्तर सिद्ध (कृतकृत्य), बुद्ध (केवलज्ञानी), मुक्त व निर्वाण-प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त करता (हुआ, अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त करता) है।

(सू.३०) (प्रश्न-) भन्ते! 'सुख-शात' (सांसारिक विषय सुखों के प्रति उत्सुकता व आसक्ति के त्याग) से या 'सुखशायिता' (आध्यात्मिक सुख में तल्लीनता प्राप्त करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

संस्कृत : सुखशातेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
सुखशातेनानुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुको हि जीवोऽनुकम्पको ऽनुद्भटो विगत-शोकश्चारित्रमोहनीयं कर्म क्षपयति।।३०।।

मूल : **अप्पडिबद्धयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। अप्पडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ।।३१।।**

संस्कृत : अप्रतिबद्धतया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
अप्रतिबद्धतया निःसङ्गत्वं जनयति। निःसङ्गत्वेन जीव एक एकाग्रचित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति।।३१।।

मूल : **विवित्तसयणासणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। विवित्तसयणासणयाएणं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ।।३२।।**

संस्कृत : विविक्तशयनासनतया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
विविक्तशयनासनतया चारित्रगुप्तिं जनयति। गुप्तचारित्रो हि जीवो विविक्ताहारो, दृढचारित्र एकान्तरतो मोक्षभावप्रतिपन्नोऽष्टविधकर्मग्रन्थि निर्जरयति।।३२।।

मूल : **विणियट्टणयाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?। विणियट्टणयाएणं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ।।३३।।**

(उत्तर-) 'सुख-शात' या 'सुखशायिता' से (जीव विषयों के प्रति) अनुत्सुकता प्राप्त करता है। अनुत्सुकता के कारण जीव (क्रमशः) अनुकम्पा-युक्त, औद्धत्य से रहित (मर्यादावर्ती, प्रशान्त, बाह्य-विभूषा व अभिमान का त्यागी) व शोक (व भय) से रहित होता हुआ, 'चारित्रमोहनीय' कर्म का क्षय करता है।

(सू.३१) (प्रश्न-) भन्ते! 'अप्रतिबद्धता' (द्रव्य, क्षेत्र काल या भाव के प्रति अनासक्ति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) अप्रतिबद्धता से (जीव) निःसंगता प्राप्त करता है। निःसंगता से जीव एकाकी (आत्मनिष्ठ व रागद्वेष-रहित) एकाग्रचित्त हो जाता है, और दिन-रात (वह सर्वत्र) अनासक्त (बाह्य संसर्गों से रहित) तथा 'अप्रतिबद्ध' (ममत्वहीन, प्रतिबन्ध-रहित) होकर विचरण करता है।

(सू.३२) (प्रश्न-) भन्ते! 'विविक्तशयनासन' (जन-सम्पर्क-शून्य, स्त्री, पशु-नपुंसकादि संसर्ग से रहित एकान्त स्थान के सेवन/निवास) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'विविक्तशयनासन' (के सेवन से जीव) चारित्र की गुप्ति (रक्षा) करता है। चारित्र की रक्षा करने वाला जीव विविक्त-आहारी (शुद्ध-सात्विक, विकृति-रहित आहार का सेवन करने वाला, चारित्र की दृढ़ता से सम्पन्न, एकान्त-प्रेमी या संयम में पूर्णतः अनुरक्त) तथा मोक्ष-भाव (मोक्ष-अनुराग व मोक्ष-साधना) में संलग्न होता हुआ, आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों की निर्जरा करता है।

(सू.३३) (प्रश्न-) भन्ते! 'विनिवर्तना' (विषयों से पराङ्मुखता) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'विनिवर्तना' से (जीव नवीन) पाप-कर्मों को न करते हुए (मोक्ष हेतु, या पाप कर्मों को न करने के लिए) समुद्यत होता

संस्कृत : विनिवर्तनया भदन्त! जीवः किं जनयति?। विनिवर्तनया पापानां कर्मणामकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठति। पूर्वबद्धानाञ्च निर्जरणया पापं निवर्तयति। ततः पश्चाच्चतुरन्तं संसारकान्तारं व्यतिव्रजति ।। ३३ ।।

मूल : **संभोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ। निरालंवणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ, परलाभं अणस्सायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ।। ३४ ।।**

संस्कृत : संभोगप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। संभोगप्रत्याख्यानेन जीव आलम्बनानि क्षपयति। निरालम्बस्य चायतार्था योगा भवन्ति। स्वेन लाभेन सन्तुष्यति। परस्य लाभं नास्वादयति,नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नो ऽभिलषति। परस्य लाभमनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन्, अनभिलषन् द्वितीयां सुखशय्यामुपसम्पद्य विहरति ।। ३४ ।।

मूल : **उवहिपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखी उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सई ।। ३५ ।।**

है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के द्वारा उन (पापकर्मों) से (वह) निवृत्ति प्राप्त करता है, और तदनन्तर (नरक गति आदि) चार भागों (अन्त) वाले संसार-वन को अतिक्रमण (पार) कर (मुक्त हो) जाता है।

(सू.३४) (प्रश्न-) भन्ते! 'संभोग' (समान सामाचारी वाले साधुओं का एक साथ बैठ कर 'मंडलीबद्धभोजन, अन्य मुनिप्रदत्त आहार का ग्रहण, तथा साधु-साध्वियों के परस्पर आहार-विहार व उपकरणों के आदान-प्रदान आदि व्यवहार) के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'संभोग-प्रत्याख्यान' से जीव (परकीय) अवलम्बन का क्षय (त्याग) कर देता है (स्वावलम्बी बन जाता है)। 'निरवलम्बी' स्वावलम्बी हुए (जीव) के 'योग' (मन-वचन-शरीर के व्यापार) मोक्ष निमित्तक (ही) हुआ करते हैं। (वह) स्वतः प्राप्त (भिक्षा आदि के) लाभ से (ही) संतुष्ट रहा करता है। परकीय लाभ का न (तो वह) उपभोग करता है, न ही (उसकी मन में) कल्पना करता है, न ही स्पृहा करता है, न ही प्रार्थना (याचना) करता है और न ही (उसकी) अभिलाषा करता है। दूसरों के (द्वारा अर्जित या दूसरों की सहायता से प्राप्त) लाभ का उपभोग न करता हुआ, उसकी (मन में) कल्पना (भी) न रखता हुआ, उसकी स्पृहा न करता हुआ, उसकी प्रार्थना (याचना) न करता हुआ, तथा उसकी अभिलाषा न रखता हुआ (जीव) द्वितीय 'सुख-शय्या' (स्वलाभ में संतुष्ट रहने तथा परकीय लाभ की मन में कल्पना तक न करने की) साधक (जिनकल्प) अवस्था को अंगीकार कर, विचरण करता है।

(सू.३५) (प्रश्न-) भन्ते! 'उपधि' (रजोहरण व मुखवस्त्रिका को छोड़कर, संयम-साधना में सहयोगी अन्य उपकरणों) के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

संस्कृत : उपधिप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। उपधिप्रत्याख्यानेनापरिमन्थं जनयति। निरुपधिको हि जीवो निराकांक्षी उपधिमन्तरेण च न संक्लिश्यते ।। ३५ ।।

मूल : **आहारपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ।। ३६ ।।**

संस्कृत : आहारप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। आहारप्रत्याख्यानेन जीविताशंसाप्रयोगं व्युच्छिनत्ति। जीविताशंसाप्रयोगं व्यवच्छिद्य जीव आहारमन्तरेण न संक्लिश्यते ।। ३६ ।।

मूल : **कसायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ।। ३७ ।।**

संस्कृत : कषायप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। कषायप्रत्याख्यानेन वीतरागभावं जनयति। वीतरागभावं प्रतिपन्नश्चापि जीवः समसुखदुःखो भवति ।। ३७ ।।

मूल : **जोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।। ३८ ।।**

संस्कृत : योगप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। योगप्रत्याख्यानेनायोगित्वं जनयति। अयोगी हि जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।। ३८ ।।

(उत्तर-) 'उपधि-प्रत्याख्यान' से (जीव) 'परिमन्थ' (स्वाध्यान/ध्यान में होने वाली बाधा या क्षति) से मुक्त हो जाता है, और उपधि-रहित जीव (किसी प्रकार की) आकांक्षा-अभिलाषा से रहित होता हुआ, 'उपधि' के अभाव में क्लेश प्राप्त नहीं करता।

(सू.३६) (प्रश्न-) भन्ते! 'आहार के प्रत्याख्यान' (निर्दोष भिक्षा के अभाव में सदोष आहार के त्याग से, या विशिष्ट तपश्चर्या-हेतु निर्दोष आहार का भी त्याग करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'आहार-प्रत्याख्यान' से (जीव) जीवन की आशंसा (कामना-प्रयत्न) समाप्त कर देता है- छोड़ देता है। जीने की इच्छा को छोड़ता हुआ जीव आहार के अभाव में क्लेश प्राप्त नहीं करता।

(सू.३७) (प्रश्न-) भन्ते! 'कषाय' (कष-संसार, आय-लाभ/आगमन जिसमें हो) के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) के प्रत्याख्यान' से (जीव) वीतरागता को प्राप्त करता है। वीतरागता को प्राप्त जीव सुख-दुःख (दोनों) में सम-भाव रखने वाला हो जाता है।

(सू.३८) (प्रश्न-) भन्ते! 'योग' (मन-वचन-काय सम्बन्धित प्रवृत्ति) के 'प्रत्याख्यान' (निरोध रूप से त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'योग प्रत्याख्यान' से (जीव) 'अयोगी' भाव (आध्यात्मिक सोपान-चतुर्दश गुणस्थान में प्रादुर्भूत होने वाली योग-रहित-निश्चल 'शैलेशी' स्थिति) को प्राप्त होता है। 'अयोग' अवस्था में स्थित (आत्मा) नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करता है।

मूल : **सरीरपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ, सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवइ ।। ३९ ।।**

संस्कृत : शरीरप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्वं निर्वर्तयति। सिद्धातिशयगुणसम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रभावमुपगतः परमसुखी भवति ।। ३९ ।।

मूल : **सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, समाहिबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ ।। ४० ।।**

संस्कृत : सहायप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। सहायप्रत्याख्यानेनैकीभावं जनयति। एकीभावभूतोऽपि च जीव एकत्वं भावयन्नल्पशब्दोऽल्पझञ्झोऽल्पकलहोऽल्पकषायोऽल्पत्वंत्वः संयमबहुलः, संवरबहुलः, समाधिबहुलः, समाहितश्चापि भवति ।। ४० ।।

मूल : **भत्तपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ।। ४१ ।।**

संस्कृत : भक्तप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। भक्तप्रत्याख्यानेनानेकानि भवशतानि निरुणद्धि ।। ४१ ।।

मूल : **सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। सब्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ। अणियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।। ४२ ।।**

(सू.३९) (प्रश्न-) भन्ते! (औदारिक आदि) 'शरीरों के प्रत्याख्यान' (त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) ('अयोगी' अवस्था के उपरान्त होने वाले) 'शरीर-प्रत्याख्यान' से सिद्धों के अतिशय (परम उत्कृष्ट) गुणों से सम्पन्न होकर जीव लोकाग्र (भाग में स्थित मुक्ति-स्थान) को प्राप्त कर परमसुखी हो जाता है।

(सू.४०) (प्रश्न-) भन्ते! 'सहाय-प्रत्याख्यान' (दूसरों से सहयोग लेने का त्याग करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'सहाय-प्रत्याख्यान' से (जीव) एकीभाव को प्राप्त करता है। एकीभाव को प्राप्त करता हुआ जीव एकाग्रता (शुद्ध आत्म-स्वरूप एकत्व के आलम्बन) की भावना करता हुआ, स्वल्पभाषण करता है, विग्रहकारी वचन, कलह, कषाय-रहित (या अल्प-कषाय वाला) होता है, 'तू-तू मैं-मैं' (की झगड़े की स्थिति) से मुक्त हो (कर) संयम व संवर की प्रधानतायुक्त (स्थिति में) वह समाधिस्थ रहा करता है।

(सू.४१) (प्रश्न-) भन्ते! 'भक्त-प्रत्याख्यान' (आमरण अनशन व्रत : संथारा) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'भक्त-प्रत्याख्यान' से (जीव) अनेक सैंकड़ों भवों (जन्म-मृत्यु की परम्परा) का निरोध करता (हुआ, अल्पसंसारी हो जाता) है।

(सू.४२) (प्रश्न-) भन्ते! 'सद्भाव-प्रत्याख्यान' (चौदहवें गुणस्थान में 'शैलेशी' स्थिति के रूप में होने वाले- सर्वक्रियाओं के पूर्णतः 'पारमार्थिक' त्याग) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

संस्कृत : **सद्भावप्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति? ।**
सद्भावप्रत्याख्यानेनानिवृत्तिं जनयति। अनिवृत्तिं प्रतिपन्नश्चानगारश्चत्वारिं कर्मांशानि क्षपयति। तद्यथा-वेदनीयमु, आयुः, नाम, गोत्रमु। तत्पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ।। ४२ ।।

मूल : **पडिरूवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? ।**
पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लघुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पपडिलेहे, जिइंदिए, विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ।। ४३ ।।

संस्कृत : प्रतिरूपतया भदन्त! जीवः किं जनयति?
प्रतिरूपतया लाघविकतां जनयति। लघुभूतश्च जीवोऽप्रमत्तः प्रकटलिङ्गः, प्रशस्त-लिङ्गो, विशुद्धसम्यक्त्वः, समाप्तसत्यसमितिः सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वेषु विश्वसनीयरूपो-ऽल्पप्रतिलेखो, जितेन्द्रियो, विपुलतपःसमितिसमन्वागतश्चापि भवति ।। ४३ ।।

मूल : **वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ? ।**
वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ ।। ४४ ।।

संस्कृत : वैयावृत्येन भदन्त! जीवः किं जनयति? ।
वैयावृत्येन तीर्थङ्करनामगोत्रं कर्म निबध्नाति ।। ४४ ।।

(उत्तर-) 'सद्भाव-प्रत्याख्यान' से (जीव) 'अनिवृत्ति' (शुक्ल ध्यान की चतुर्थ अवस्था, जहां पहुंच कर पुनः लौटने की संभावना निवृत्त हो जाती है) को प्राप्त होता है। 'अनिवृत्ति' को प्राप्त हुआ अनगार (मुनि) केवली (सर्वज्ञ) अवस्था में अवशिष्ट रहे चार (अघाती व भवोपग्राही) कर्म-प्रकृतियों - जैसे, वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र - का क्षय करता है, उसके पश्चात् (वह) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त व निर्वाण - प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त करता है।

(सू.४३) (प्रश्न-) भन्ते! 'प्रतिरूपता' (सुविहित आदर्शभूत जिनकल्पी/स्थविरकल्पी मुनियों जैसे वेष व गुण को धारण करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'प्रतिरूपता' से (जीव कषायों की व उपकरणों की अल्पता होने के कारण) लघुता (भारहीनता) को प्राप्त करता है। लघुता को प्राप्त हुआ जीव प्रमाद-रहित, (स्थविरकल्पी मुनियों के जैसे) प्रकट व प्रशस्त 'लिंग' (चिन्ह) वाला, सम्यक्त्व-विशुद्धि से युक्त, सत्व (धीरता) व समितियों (के पालन) से परिपूर्ण, सभी (द्वीन्द्रिय आदि) प्राणियों, (वनस्पति आदि) भूतों, (पंचेन्द्रिय) जीवों व (पृथ्वी आदि स्थावर) सत्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, (उपकरणों की अल्पता से) अल्प प्रतिलेखना वाला, इन्द्रियजयी, विपुल (दीर्घ) तपश्चर्या व समितियों से समन्वित (होकर विचरण करने वाला) हो जाता है।

(सू.४४) (प्रश्न-) भन्ते! 'वैयावृत्य' (गुणी/पूज्य स्थविर आदि मुनियों की आहारादि द्वारा निःस्वार्थ रूप से यथोचित सेवा करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'वैयावृत्य' (रूपी आभ्यन्तर तप) से (जीव) तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्ध करता है। (तथा पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा भी करता है।)

मूल : **सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावित्तिं जणयइ। अपुणरावित्तिं पत्तए य जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।।४५।।**

संस्कृत : सर्वगुणसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। सर्वगुणसम्पन्नतयाऽपुनरावृत्तिं जनयति। अपुनरावृत्तिं प्राप्तश्च जीवः शरीर-मानसानां दुःखानां नो भागी भवति।।४५।।

मूल : **वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ। मणुन्नामणुन्नेसु सद्द-फरिस-रूव-रस-गंधेसु सचित्ताचित्त-मीसएसु चेव विरज्जइ।।४६।।**

संस्कृत : वीतरागतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। वीतरागतया स्नेहानुबन्धनानि तृष्णानुबन्धनानि च व्युच्छिनत्ति। मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु सचित्ताचित्तमिश्रेषु चैव विरज्यते।।४६।।

मूल : **खंतीए णं भते! जीवे किं जणयइ?। खवांतीए णं परीसहे जिणइ।।४७।।**

संस्कृत : क्षान्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?। क्षान्त्या परीषहान् जयति।।४७।।

मूल : **मुत्तीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ।।४८।।**

संस्कृत : मुक्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?। मुक्त्याऽऽकिञ्चनत्वं जनयति। अकिञ्चनश्च जीवोऽर्थलोलानां पुरुषाणामप्रार्थनीयो भवति।।४८।।

(सू.४५) (प्रश्न-) भन्ते! 'सर्वगुण-सम्पन्नता' (आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव के सूचक, अनन्त ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चरित्र - इन तीनों गुणों की पूर्णता के लाभ) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'सर्वगुण-सम्पन्नता' से (जीव) 'अपुनरावृत्ति' (संसार में पुनः लौटने की स्थिति से मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है। 'अपुनरावृत्ति' को प्राप्त जीव शारीरिक व मानसिक दुःखों का (पुनः) भागी (भोगने वाला) नहीं होता।

(सू.४६) (प्रश्न-) भन्ते! 'वीतरागता' (राग-द्वेष रहित स्थिति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'वीतरागता' से (जीव पुत्र आदि में होने वाले) स्नेह के अनुबन्धनों (उत्तरोत्तर बन्धन-परम्परा) को तथा (धन आदि के प्रति होने वाली) तृष्णा के अनुबन्धनों को विच्छिन्न कर देता है। (वह) मनोज्ञ शब्द-स्पर्श-रूप-रस व गन्ध से तथा सचित्त, अचित्त व सचित्त-अचित्त (मिश्रित) द्रव्यों के प्रति वैराग्य-(भावना) से युक्त (अवश्य ही) हो जाता है।

(सू.४७) (प्रश्न-) भन्ते! 'क्षान्ति' (प्रतिकार की सामर्थ्य होते हुए भी क्षमा-भाव, सहिष्णुता व क्रोध-जय) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'क्षान्ति' से (जीव) परीषहों को जीत (लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर) लेता है।

(सू.४८) (प्रश्न-) भन्ते! 'मुक्ति' (निर्लोभवृत्ति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'मुक्ति' से जीव अकिंचनता (मोह-ममत्व की त्याग-वृत्ति) प्राप्त करता है। 'अकिंचन' जीव अर्थलोभी (चोर, तस्कर आदि) व्यक्तियों का अप्रार्थनीय (उनके द्वारा उपेक्षणीय होता हुआ, फलस्वरूप उनकी ओर से संभावित कष्टों से मुक्त) होता है।

मूल : **अज्जवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायण-संपन्नयाएणं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।। ४६ ।।**

संस्कृत : आर्जवेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। आर्जवेन कायर्जुकतां, भावर्जुकतां, भाषर्जुकतां, अविसंवादनं जनयति। अविसंवादनसम्पन्नतया जीवो धर्मास्याराधको भवति ।। ४६।।

मूल : **मद्दवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दव-संपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ।। ५० ।।**

संस्कृत : मार्दवेन भदन्त! जीवः किं जनयति?। मार्दवेनानुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुकत्वेन जीवो मृदुमार्दवसम्पन्नोऽष्टौ मद-स्थानानि निष्ठापयति (क्षपयति) ।। ५० ।।

मूल : **भावसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंत-पन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्टित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ।। ५१ ।**

संस्कृत : भावसत्येन भदन्त! जीवः किं जनयति?। भावसत्येन भावविशुद्धिं जनयति। भावविशुद्धौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनाये अभ्युत्तिष्ठते। अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनाय अभ्युत्थाय परलोकधर्मस्याराधको भवति ।। ५१ ।।

(सू.४६) (प्रश्न-) भन्ते! 'आर्जव' (सरलता व निष्कपटता) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) आर्जव से काय की सरलता/अवक्रता, भाव-सम्बन्धी (मानसिक) सरलता/अवक्रता, भाषा की सरलता/अवक्रता तथा 'अविसंवादन' (अवंचक स्वरूप) को प्राप्त करता है। अविसंवाद-सम्पन्नता (व मन-वचन-काय की सरलता) के कारण, जीव 'धर्म' का आराधक होता है।

(सू.५०) (प्रश्न-) भन्ते! 'मार्दव' (कोमल स्वभाव) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) मार्दव से (जीव) अनुद्धत भाव (निरभिमानता व अनुत्सुकता) को प्राप्त करता है। अनुद्धत/अनुत्सुक भाव के कारण जीव मृदु-मार्दव से सम्पन्न होता हुआ (जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत-ज्ञान, लाभ व ऐश्वर्य - इन आठ विषयों से सम्बन्धित) आठ मदस्थानों का विनाश (निवारण) कर देता है।

(सू.५१) (प्रश्न-) भन्ते! 'भाव-सत्य' (अन्तःकरण की वैचारिक शुद्धता/अन्तरात्मा की सत्यता) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'भाव-सत्य से' (जीव) भाव-विशुद्धि (अध्यवसायों की शुद्धता) को प्राप्त करता है। भाव-विशुद्धि को प्राप्त हुआ जीव अर्हन्त (परमेष्ठी देव) द्वारा प्ररूपित 'धर्म' की आराधना हेतु अभ्युत्थित (समुद्यत/कटिबद्ध) रहता है। अरिहन्त देव द्वारा प्ररूपित धर्म की आराधना में समुद्यत होकर (जीव) पर-लोक (में भी, जन्मान्तर में भी, धर्म-साधना-अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करता हुआ) धर्म का आराधक होता है।

मूल : **करणसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ।।५२।।**

संस्कृत : करणसत्येन भदन्त! जीवः किं जनयति?। करणसत्येन करणशक्तिं जनयति। करणसत्ये वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति।।५२।।

मूल : **जोगसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?। जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।।५३।।**

संस्कृत : योगसत्येन भदन्त! जीवः किं जनयति?। योगसत्येन योगान् विशोधयति।।५३।।

मूल : **मणगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।।५४।।**

संस्कृत : मनोगुप्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?। मनोगुप्त्या जीव ऐकाग्र्यं जनयति। एकाग्रचित्तेन जीवो मनोगुप्तः संयमाराधको भवति।।५४।।

(सू.५२) (प्रश्न-) भन्ते! 'करण-सत्य' (प्रतिलेखना आदि धार्मिक क्रियाओं की, प्रमाद-आलस्य-रहित होकर, शास्त्रोक्त विधि-अनुरूप आराधना करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) करण-सत्य से (जीव) करण-शक्ति (धार्मिक क्रियाकलाप को सम्यक् प्रकार से सम्पन्न कर सकने की अपूर्व सामर्थ्य) प्राप्त करता है। 'करण-सत्य' में प्रवर्तमान जीव 'यथावादी तथाकारी' (कथनी व करनी में, उपदेश व आचरण में एकरूपता वाला) हुआ करता है।

(सू.५३) (प्रश्न-) भन्ते! 'योग सत्य' (मन-वचन-काय की सत्यता, विचार, उपदेश व आचरण - इन तीनों की एकरूपता के साथ आगमानुसार निर्दोष प्रवृत्ति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'योगसत्य' से (जीव) योग (मन-वचन व काय की प्रवृत्ति) को विशुद्ध निर्मल करता है।

(सू.५४) (प्रश्न-) भन्ते! 'मनोगुप्ति' (अशुभ मनोयोग-निरोध, अशुभ अध्यवसायों में मनोवृत्ति के निरोध - 'मनः प्रतिसंलीनता' हो जाने पर, सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, मिश्र मनोयोग व व्यवहार मनोयोग- इन चार मनोयोगों के निरोध तथा उसके फलस्वरूप समत्व-प्रतिष्ठित मन की आत्मरति वाली विकल्प रहित स्थिति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'मनोगुप्ति' से जीव एकाग्रता (धर्म में स्थिर-चित्तवृत्ति) को प्राप्त करता है। एकाग्र-चित्त हुआ जीव (शुभ-अशुभ विकल्पों से) मन की रक्षा करता हुआ, 'संयम' (धर्म) का (सम्यक्) आराधक होता है।

मूल : **वयगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ। निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ।। ५५ ।।

संस्कृत : वाग्गुप्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?।
वाग्गुप्त्या निर्विकारत्वं जनयति। निर्विकारो हि जीवो वाग्गुप्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तश्चापि भवति ।। ५५ ।।

मूल : **कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
कायगुत्तयाए संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ।। ५६ ।।

संस्कृत : कायगुप्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?।
कायगुप्त्या संवरं जनयति। संवरेण कायगुप्तः पुनः पापास्रवनिरोधं करोति ।। ५६ ।।

मूल : **मणसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ ।। ५७ ।।

संस्कृत : मनःसमाधारणया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
मनः समाधारणयैकाग्र्यं जनयति। ऐकाग्र्यं जनयित्वा ज्ञानपर्यवान् जनयति। ज्ञानपर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति ।। ५७ ।।

(सू.५५) (प्रश्न-) भन्ते! 'वचन-गुप्ति' (शुभ-अशुभ-दोनों प्रकार की वाणी का संयमन करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'वचन-गुप्ति' से (जीव) निर्विकारता (विकथा आदि विकारों से मुक्ति) या निर्विचारता (विचार-शून्यता) को प्राप्त करता है। निर्विकार/निर्विचार जीव सर्वथा वाणी-गुप्त होने के साथ-साथ अध्यात्मयोग के (साधनभूत-धर्म व शुक्ल) ध्यान से (सम्पन्न हो जाने के कारण, कषायादि विकारों से) 'गुप्त' (सुरक्षित) हो जाता है।

(सू.५६) (प्रश्न-) भन्ते! 'काय-गुप्ति' (शुभ-अशुभ समस्त कायिक व्यापारों के निरोध) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) काय-गुप्ति से (जीव) संवर (पाप-कर्मों के आस्रव का निरोध, वस्तुतः पाप-पुण्य दोनों के आस्रव का निरोध हो जाय- ऐसी स्थिति) प्राप्त करता है। 'संवर' से काय-गुप्त होता हुआ (जीव) पुनः (सम्भावित) पापास्रव का (तथा पुण्यास्रव का भी) निरोध (करने की सामर्थ्य प्राप्त) करता है।

(सू.५७) (प्रश्न-) भन्ते! 'मन की समाधारणा' (संकल्प-विकल्पों को छोड़कर आगमोक्त भावों के चिन्तन-मनन में व स्वाध्याय आदि कार्यों में मन को लगाये रखने या मन को समाधिस्थ करने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'मन की समाधारणा' से (जीव) 'एकाग्रता' (धर्मानुष्ठान के प्रति चित्त की अनन्य निष्ठा, विषय-रति छोड़कर, मात्र आत्मरति या शुद्धात्म विषयक ध्यानात्मक मनःप्रवृत्ति वाली अवस्था) को प्राप्त करता है। एकाग्रता को प्राप्त कर (वह) 'ज्ञान-पर्यवों' (सम्यग्ज्ञान के तात्विक ज्ञान-सम्बन्धी विशिष्ट प्रकारों व क्षमताओं) को प्राप्त करता है। 'ज्ञान-पर्यवों' को

मूल : **वयसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? । वयसमाहारणयाए वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ । वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ।। ५८ ।।**

संस्कृत : वाक्समाधारणया भदन्त! जीवः किं जनयति? । वाक्समाधारणया वाक्साधारण-दर्शनपर्यवान् विशोधयति । वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोध्य सुलभबोधिकत्वं निर्वर्तयति, दुर्लभबोधिकत्वं निर्जरयति ।। ५८ ।।

मूल : **कायसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? । कायसमाहारणयाए चरित्तपज्जवे विसोहेइ । चरित्त-पज्जवे विसोहित्ता अहक्खाय चरित्तं विसोहेइत्ता चत्तारि कम्मंसे खवेइ । तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।। ५९ ।।**

संस्कृत : कायसमाधारणया भदन्त! जीवः किं जनयति? कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान्विशोधयति । चारित्रपर्यवान्विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति । यथाख्यातचारित्रं विशोध्य चतुरः कर्मांशान् क्षपयति । ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ।। ५९ ।।

प्राप्त कर (वह) सम्यक्त्व को (शंका आदि दोषों से रहित करते हुए उसे) विशुद्ध-निर्मल बनाता है, तथा मिथ्यात्व की निर्जरा करता है।

(सू.५८) (प्रश्न-) भन्ते! 'वचन-समाधारणा' (वाणी को निरन्तर स्वाध्याय आदि प्रशस्त कार्यों में लगाये रखने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'वचन-समाधारणा' से (जीव) वाक्साधारण (कथन-योग्य) दर्शन-पर्यायों (जीव आदि पदार्थों से सम्बन्धित, सम्यक्त्व के निश्चय सम्यक्त्व व व्यवहार सम्यक्त्व आदि विविध भेदों) को (शंका आदि दोषों से रहित करता हुआ) विशुद्ध करता है। वाक्साधारण दर्शन-पर्यायों की विशुद्धि करके (वह) 'सुलभ बोधिता' (बिना कठिनाई के सम्यग्ज्ञान को अधिगत कर लेने की क्षमता) को प्राप्त करता है तथा 'दुर्लभ बोधिता' (सम्यक् ज्ञान को दुर्लभ बनाने वाले कर्म) का क्षय करता है।

(सू.५९) (प्रश्न-) भन्ते! 'काय-समाधारणा' (संयम व शुद्ध निर्दोष प्रवृत्तियों में शरीर को लगाये रखने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'काय-समाधारणा' से (जीव उन्मार्ग प्रवृत्ति के निरुद्ध हो जाने से) चारित्र सम्बन्धी पर्यायों (क्षयोपशम आदि भेदों) की विशुद्धि करता है। चारित्र-पर्यायों की विशुद्धि कर (वह क्रमशः चारित्र-मोह की निर्जरा करते हुए) 'यथाख्यात चारित्र' को विशुद्ध बनाता है। 'यथाख्यात चारित्र' की विशुद्धि कर केवली अवस्था में विद्यमान (आयु, वेदनीय, नाम, गोत्र-इन) चार कर्म-प्रकृतियों को क्षीण करता हैं उसके बाद, (वह) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त व निर्वाण प्राप्त होता है, तथा समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

मूल : **नाणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ। जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ। तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ।। नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमय-विसारए य असंघायणिज्जे भवइ।। ६०।।**

संस्कृत : ज्ञानसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। ज्ञानसम्पन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमं जनयति। ज्ञानसम्पन्नो हि जीवश्चतुरन्ते संसारकान्तारे न विनश्यति। यथा सूची ससूत्रा पतिताऽपि न विनश्यति। तथा जीवः ससूत्रः संसारे न विनश्यति।। ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान्, सम्प्राप्नोति, स्वसमय-परसमय-विशारदश्चासंघातनीयो भवति।। ६०।।

मूल : **दंसण-संपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ। परं न विज्झायइ। परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।। ६१।।**

संस्कृत : दर्शनसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?। दर्शनसम्पन्नतया भवमिथ्यात्वच्छेदनं करोति। परं न विध्यापयति। परमविध्यापयन्ननुत्तरेण ज्ञानदर्शनेनात्मानं संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति।। ६१।।

(सू.६०) (प्रश्न-) भन्ते! 'ज्ञान-सम्पन्नता' (श्रुत-ज्ञान से युक्त होने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'ज्ञान-सम्पन्नता' से जीव समस्त (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप) पदार्थों को अधिगत करता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव (नरक गति आदि) चार भागों (अन्तों) वाले संसार-महावन में नष्ट (उन्मार्ग-पतित) नहीं होता।

जिस प्रकार, सूत्र (धागे) के साथ (पिरोई हुई) सूई कहीं गिर जाने पर भी विनष्ट (लुप्त) नहीं होती, उसी प्रकार 'सूत्र' (श्रुत-ज्ञान) से सम्पन्न जीव संसार में विनष्ट (उन्मार्ग-पतित/भटकने वाला) नहीं होता। अपितु, ज्ञान-विनय-तप व चारित्र-सम्बन्धी योगों (उच्च-स्थिति) को प्राप्त करता है और स्वसमय व पर-समय के लिए संघातनीय (अर्थात् स्व-पर सिद्धान्तों के संशयों को मिटाने में समर्थ, स्वयं दूसरों से पराभूत न होने वाला सर्वमान्य प्रामाणिक) बन जाता है।

(सू.६१) (प्रश्न-) भन्ते! 'दर्शन-सम्पन्नता' (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से सम्पन्न होने) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) दर्शन-सम्पन्नता से (जीव) जन्म-मरण परम्परा (को प्राप्त कराने) वाले मिथ्यात्व का उच्छेद कर देता है, बाद में कभी (वह सम्यक्त्व-प्रकाश) बुझता नहीं है। अनुत्तर (श्रेष्ठ) ('केवल') ज्ञान व ('केवल') दर्शन से स्वयं (अपनी आत्मा) को संयोजित करता हुआ, तथा (उन्हीं ज्ञान-दर्शन में स्वयं को) सम्यक्तया भावित (सुवासित/तन्मय) करता हुआ 'भवस्थ केवली' के रूप में विचरण करता है।

मूल : **चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।६२।।

संस्कृत चारित्रसम्पन्नतया भदन्त! जीवः किं जनयति?।
चारित्रसम्पन्नतया शैलेशीभावं जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्चाऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति।।६२।।

मूल : **सोइंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।।६३।।

संस्कृत : श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति?।
श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययं (रागद्वेषोत्पन्नं) कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६३।।

मूल : **चक्खिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
चक्खिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।६४।।

संस्कृत : चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति?।
चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६४।।

(सू.६२) (प्रश्न-) भन्ते! 'चारित्र-सम्पन्नता' (पूर्ण चारित्र की प्राप्ति) से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'चारित्र-सम्पन्नता' से (जीव) 'शैलेशीभाव' (मेरुपर्वत की तरह सर्वथा अप्रकम्प-निश्चल-'पूर्ण योग-निरोध की स्थिति' या 'शील-चरित्र की पराकाष्ठा') को प्राप्त करता है। शैलेशी-भाव को प्राप्त हुआ अनगार केवली अवस्था में विद्यमान (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र-इन चार) कर्म-प्रकृतियों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त व निर्वाण-प्राप्त होता है और समस्त दुःखों को विनष्ट (कर, अव्याबाध मोक्ष-सुख को प्राप्त) करता है।

(सू.६३) (प्रश्न-) भन्ते! 'श्रोत्र इन्द्रिय' (की बहिर्मुखता व स्वविषय में प्रवृत्ति) के 'निग्रह' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'श्रोत्र इन्द्रिय के निग्रह' से वह मनोऽनुकूल (प्रिय) व मनःप्रतिकूल (अप्रिय) शब्दों के प्रति राग व द्वेष का निग्रह करता है। उस (श्रोत्रइन्द्रिय के तथा शब्द-सम्बन्धी राग-द्वेष) के निमित्त से होने वाले कर्म का (वह) बन्ध नहीं करता, तथा पूर्व में बंधे हुए (संचित कर्मों) की निर्जरा (क्षय) करता है।

(सू.६४) (प्रश्न-) भन्ते! 'चक्षु इन्द्रिय की बहिर्मुखता व स्वविषय में प्रवृत्ति के निग्रह' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'चक्षु इन्द्रिय के निग्रह' से (जीव) मनोऽनुकूल (सुन्दर) व मनःप्रतिकूल (असुन्दर) रूपों के प्रति राग-द्वेष का निग्रह करता है। उस (चक्षु.इन्द्रिय के तथा रूप-सम्बन्धी राग-द्वेष) के निमित्त से होने वाले कर्म का बन्ध (वह) नहीं करता और पूर्व में बंधे हुए (संचित कर्मों) की निर्जरा करता है।

मूल : **घाणिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
घाणिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गंधेसु रागदोस-निग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।६५।।

संस्कृत : घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति?।
घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति।
तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६५।।

मूल : **जिब्भिदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ।**
जिब्भिदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।६६।।

संस्कृत : जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति?।
जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेसु रागद्वेषनिग्रहं जनयति।
तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६६।।

मूल : **फासिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
फासिंदिय-निग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।६७।।

संस्कृत : स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति?।
स्पर्शनेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु रागद्वेष-निग्रहं जनयति।
तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६७।।

(सू.६५) (प्रश्न-) भन्ते! 'घ्राण-इन्द्रिय (की बहिर्मुखता व स्वविषय में प्रवृत्ति) के निग्रह' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह' से (जीव) मनोऽनुकूल (सुगन्ध) व मनःप्रतिकूल (दुर्गन्ध) गन्ध के प्रति राग-द्वेष का निग्रह (अर्थात् उनके निरुद्ध हो जाने के स्वभाव का निर्माण) करता है। उस (घ्राण इन्द्रिय के तथा घ्राण-सम्बन्धी राग-द्वेष) के निमित्त से होने वाले कर्म का बन्ध (वह) नहीं करता, और पूर्व में बंधे हुए (संचित कर्मों) की निर्जरा (भी) करता है।

(सू.६६) (प्रश्न-) भन्ते! 'जिह्वा इन्द्रिय (की बहिर्मुखता- स्वविषय में प्रवृत्ति) के निग्रह' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'जिह्वा इन्द्रिय के निग्रह' से (जीव) मनोऽनुकूल (प्रिय) व मनःप्रतिकूल (अप्रिय) रसों के प्रति राग-द्वेष का निग्रह (अर्थात् उनके निरुद्ध हो जाने के स्वभाव का निर्माण) करता है। उस (जिह्वा इन्द्रिय के तथा रस-सम्बन्धी राग-द्वेष) के निमित्त से होने वाले कर्म का बन्ध (वह) नहीं करता, और पूर्व में बंधे हुए (संचित कर्मों) की निर्जरा करता है।

(सू.६७) (प्रश्न-) भन्ते! 'स्पर्श इन्द्रिय (की बहिर्मुखता व स्व-विषय में प्रवृत्ति) के निग्रह' से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'स्पर्श इन्द्रिय के निग्रह' से (वह) मनोऽनुकूल (प्रिय) व मनःप्रतिकूल (अप्रिय) स्पर्शों के प्रति राग-द्वेष का निग्रह करता है। उस (स्पर्श इन्द्रिय के तथा स्पर्श-सम्बन्धी राग-द्वेष) के निमित्त से होने वाले कर्म का (वह) बन्ध नहीं करता, तथा पूर्व में बन्धे हुए (संचित कर्मों) की निर्जरा करता है।

मूल : **कोहविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
कोहविजएणं खंतिं जणयइ। कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्ववद्धं च निज्जरेइ।।६८।।

संस्कृत : क्रोधविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति? क्रोधविजयेन क्षान्तिं जनयति। क्रोधवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६८।।

मूल : **माणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
माणविजएणं मद्दवं जणयइ। माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।६९।।

संस्कृत : मानविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
मानविजयेन मार्दवं जनयति। मानवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।६९।।

मूल : **मायाविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
मायाविजएणं अज्जवं जणयइ। मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्व-बद्धं च निज्जरेइ।।७०।।

संस्कृत : मायाविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
मायाविजयेनार्जवं जनयति। मायावेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।७०।।

मूल : **लोभविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?।**
लोभविजएणं संतोसं जणयइ। लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्ववद्धं च निज्जरेइ।।७१।।

संस्कृत : लोभविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति?।
लोभविजयेन सन्तोषं जनयति। लोभवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।७१।।

(सू.६८) (प्रश्न-) भन्ते! क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) क्रोध पर (स्वविवेक से, उसके दुष्परिणाम आदि पर चिन्तन-मनन करते हुए) विजय प्राप्त कर लेने से (जीव) क्षमा-भाव (सहन-शक्ति) को (स्वयं में) उत्पन्न करता है। (तब वह) क्रोध-वेदनीय (क्रोध के उदय से बन्धने वाले मोहनीय) कर्म का बन्ध (भी) नहीं करता है, और पूर्व में बन्धे हुए (संचित कर्मों) की निर्जरा करता है।

(सू.६९) (प्रश्न-) भन्ते! मान (अहंकार-रूप कषाय-विशेष) पर विजय प्राप्त कर लेने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) मान पर विजय प्राप्त कर लेने से (जीव) मार्दव (मृदु-कोमल आत्मपरिणाम) को (स्वयं में) उत्पन्न करता है। (तब वह) मान-वेदनीय (मान के उदय से बंधने वाले मोहनीय) कर्म का बन्ध नहीं करता है और पूर्व में बन्धे हुए (संचित कर्म) की निर्जरा करता है।

(सू.७०) (प्रश्न-) भन्ते! 'माया' (छल-कपट पूर्ण आचरण की मनोवृत्ति) पर विजय प्राप्त कर लेने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) 'माया' पर विजय प्राप्त कर लेने से (जीव) ऋजुता (सरल-निष्कपट आचरण वाले आत्म-परिणाम) को (स्वयं में) उत्पन्न करता है। (तब वह) 'माया-वेदनीय' (माया के उदय से बंधने वाले मोहनीय) कर्म का बन्ध (भी) नहीं करता है, और पूर्व में बन्धे हुए (संचित कर्म) की निर्जरा करता है।

(सू.७१) (प्रश्न-) भन्ते! 'लोभ' पर विजय प्राप्त करने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) लोभ पर विजय प्राप्त करने से (जीव स्वयं में) सन्तोष-भाव (की वृत्ति) को उत्पन्न करता है। (तब वह) लोभ-वेदनीय (लोभ के उदय से बंधने वाले मोहनीय) कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्व में बंधे हुए (संचित कर्म) की निर्जरा करता है।

मूल : पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ? । पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाण-दंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ । अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतराइयं, एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ । पच्छा अणुत्तरं, अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावं, केवलवरनाणदंसणं, समुप्पाडेइ । जाव सजोगी भवइ, ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ, सुहफरिसं दुसमयठिइयं । तं जहा-पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं तं बद्धं, पुट्ठं, उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ ।।७२।।

संस्कृत : प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन भदन्त! जीवः किं जनयति? प्रेमद्वेष-मिथ्यादर्शनविजयेन ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधनायामभ्युत्तिष्ठते । अष्टविधस्य कर्मणः कर्मग्रन्थिविमोचनाय, तत्प्रथमतया यथानुपूर्व्या अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्मोद्घातयति । पञ्चविधं ज्ञानावरणीयम्, नवविधं दर्शनावरणीयम्, पञ्चविधमन्तरायिकम्, एतानि त्रीण्यपि कर्माणि युगपत् क्षपयति । ततः पश्चादनुत्तरम्, अनन्तम्, कृत्स्नम्, प्रतिपूर्णम्, निरावरणम्, वितिमिरम्, विशुद्धम्, लोकालोकप्रभावम्, केवलवरज्ञान-दर्शनं समुत्पादयति । यावत्सयोगी भवति, तावदेर्यापथिकं कर्म बध्नाति, सुखस्पर्शं, द्विसमय-स्थितिकम् । तद्यथा-प्रथमसमये बद्धं, द्वितीयसमये वेदितम्, तृतीयसमये निर्जीर्णं, तद्बद्धं, स्पृष्टमुदीरितं, वेदितं निर्जीर्णमेष्यत्काले चाकर्मापि भवति ।।७२।।

(सू.७२) (प्रश्न-) भन्ते! 'प्रेय' (राग), द्वेष व मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेने से जीव क्या (गुण या विशिष्ट फल) उपलब्ध करता है?

(उत्तर-) राग, द्वेष व मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेने से (जीव) ज्ञान-दर्शन व चारित्र की आराधना में समुद्यत (कटिबद्ध, सतत उपयोग वाला) हो जाता है। (तब वह) आठ प्रकार के कर्मों (में अधिक दुर्भेद्य आत्मगुणघाती चतुर्विध कर्म) की गांठ के विमोचन (खोलने और उसके बन्धन से विमुक्ति) के लिए सर्वप्रथम यथाक्रम से (क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता हुआ) अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म (की ग्रन्थि) का उद्घाटन या उद्घातन (विनाश) करता है। इसके पश्चात् पांच प्रकार के 'ज्ञानावरणीय', नौ प्रकार के 'दर्शनावरणीय' व पांच प्रकार के 'अन्तराय' - इन तीनों ही विद्यमान कर्म-प्रकृतियों का एक ही समय में / एक साथ क्षय कर देता है। इसके पश्चात् (वह) अनुत्तर (श्रेष्ठतम) अनन्त, सम्पूर्ण (समस्त द्रव्य व उसके पर्यायों का ग्राहक) प्रतिपूर्ण (स्वपर पर्याय-युक्त) आवरण-रहित, (अज्ञानरूपी) अन्धकार से (सर्वथा) रहित, विशुद्ध, लोक-अलोक के प्रकाशक उत्तम 'केवल' ज्ञान व 'केवल' दर्शन को (स्वयं में) प्रकट करता है।

जब तक वह 'सयोगी' (मन-वचन-काय के व्यापार से युक्त अवस्था में) रहता है, तब तक 'ईर्यापथिक' (कषाय-रहित व्यापार से अल्प समय के लिए बन्धने वाला) जो सुखस्पर्शी (सातावेदनीय, आत्म-प्रदेशों के लिए सुखकारी) तथा (मात्र) दो समय की स्थिति वाला ही होता है- का बन्ध करता है। (वह ईर्यापथिक कर्म) प्रथम समय में बंधता है, और दूसरे समय के वेदन में (उदय में) आता है, (किन्तु) तीसरे समय (तो) उसकी निर्जरा हो जाती है।

वह बद्ध (होने वाला कर्म क्रमशः) प्रथम समय में आत्म-प्रदेशों से स्पृष्ट होता है, (दूसरे समय में) उदय में

मूल : **अह आउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं- निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभइ, आणापाणनिरोहं करेइ। ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ।।७३।।**

संस्कृत : अथ यावदायुः पालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताद्धावशेषायुष्यकः (सन्) योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति-शुक्ल-ध्यानं ध्यायन् तत्प्रथमतया मनोयोगं निरुणद्धि, (मनोयोगं निरुध्य) वाग्योगं निरुणद्धि, आनापाननिरोधं करोति। ईषत्पंचह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्धायाञ्चानगारः समुच्छिन्नक्रियमनिवृत्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुर्नाम गोत्रञ्चैतान् चतुरः कर्मांशान् युगपत्क्षपयति ।।७३।।

मूल : **तओ ओरालिय-तेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता, उज्जु-सेढिपत्ते अफुसमाणगई, उड्ढं, एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, जाव अंतं करेइ ।।७४।।**

संस्कृत : तत औदारिकतेजःकर्माणि सर्वाभिर्विप्रहाणिभिस्त्यक्त्वा ऋजुश्रेणिं प्राप्तोऽस्पर्शद्-गतिरूर्ध्वमेकसमयेनाविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति, बुध्यते, यावदन्तं करोति ।।७४।।

आता है तथा (सुखानूभूति-रूप फल-भोग के द्वारा) वेदित किया जाता है, (फिर तीसरे समय में, स्थिति बन्ध व अनुभागबन्ध - दोनों के अभाव से वह) निर्जीर्ण (क्षीण-नष्ट) हो जाता है। (फलस्वरूप) भावी (चतुर्थ) समय में वह (कर्म या जीवात्मा) 'अकर्म' (कर्म से रहित/ कर्म रूप से मुक्त) हो जाता है।

(सू.७३) (केवली होने के) के अनन्तर (शेष) आयु (कर्म की नियत मर्यादा) का निर्वाह कर उपभोग कर, अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी) प्रमाण अवशिष्ट आयु वाला (केवली) योग-निरोध (समस्त मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृत्तियों का सर्वथा अन्त करने के लिए प्रवृत्ति) करता हुआ 'सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाती' नामक (तृतीय) शुक्ल ध्यान को ध्याता हुआ, सर्वप्रथम मनोयोग को निरुद्ध करता है, (मनोयोग को) निरुद्ध कर वचन-योग को निरुद्ध करता है, (वचन-योग को) निरुद्ध कर श्वास-उच्छ्वास को निरुद्ध करता है, (उसे) निरुद्ध कर (१४वें गुणस्थान में पहुंचा हुआ वह) अनगार पांच ह्रस्व अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के उच्चारण काल के समान काल (मात्र) तक 'समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति' (नामक चतुर्थ) शुक्ल ध्यान को ध्याता हुआ, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र- इन चार (अघाती) कर्म-प्रकृतियों को एक ही समय में/एक साथ क्षीण कर देता है।

(सू.७४) (आठों कर्मों का क्षय कर चुकने की) इस (स्थिति) के पश्चात्, औदारिक व कार्मण (व तैजस्) शरीरों को, समस्त त्याग-क्रियाओं के साथ (पूर्णतः व सदा के लिए) छोड़ कर, ऋजुश्रेणी (आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति से गति) का आश्रयण करता हुआ, (आत्मप्रदेश जितने आकाश-प्रदेशों को ही स्पर्श करता हुआ और अन्य आकाश प्रदेशों को या अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों को) स्पर्श किए बिना ही ऊर्ध्व-गमन करता हुआ, एक समय (मात्र) में अविग्रह (बिना मोड़ वाली) गति से वहाँ (लोकाग्र-स्थित सिद्ध-शिला पर)

मूल : **एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए निदंसिए उवदंसिए ।।७५।।**

त्ति बेमि।

संस्कृत : एषः खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यातः प्रज्ञापितः, प्ररूपितो दर्शितो निदर्शित उपदर्शितः ।।७५।।

इति ब्रवीमि।

पहुंच कर, साकार-उपयोग से युक्त (ज्ञान-धारा के साथ ही) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त व निर्वाण-प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त (विनाश) करता है।

(सू.७५) 'सम्यक्त्व-पराक्रम' (नामक) अध्ययन के इस (पूर्वोक्त) अर्थ (कथ्य विषय) को श्रमण भगवान् महावीर ने ही प्रतिपादित (विशेषतः) प्रज्ञापित, स्वरूपादि-कथन के साथ प्ररूपित, (दृष्टान्तादि द्वारा) निदर्शित तथा (उपसंहार के साथ) उपदर्शित किया है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

भगवान् महावीर ने कहा–संवेग से जीव धर्मश्रद्धा, निर्वेद से आरम्भ-परित्याग, धर्मश्रद्धा से अनासक्ति व अनगार-धर्म, गुरु व साधर्मिक-सेवा से विनय, आलोचना से ऋजु-भाव, निन्दना से मोहनीय कर्म-मुक्ति, गर्हणा से प्रशस्त-योग-सम्पन्नता, सामायिक से पाप-विरति, चतुर्विंशति-स्तव से दर्शन-विशुद्धि, वन्दना से उच्च गोत्र कर्म-बन्ध, प्रतिक्रमण से आस्रव-निरोध व समिति-गुप्ति-उपासना, कायोत्सर्ग से प्रशस्त-ध्यान-लीनता, प्रत्याख्यान से आस्रव द्वारों का निरोध, स्तव-स्तुति-मंगल से रत्नत्रय, काल-प्रतिलेखना से ज्ञानावरणीय कर्म-क्षय, प्रायश्चित से रत्नत्रय व मोक्ष की आराधना, क्षमापना से प्रह्लाद व मैत्री-भाव, स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म-क्षय, वाचना से तीर्थ-धर्म का अवलम्बन, प्रतिप्रच्छना से कांक्षा-मोहनीय-कर्म-उच्छेद, परावर्तना से वयंजन-लब्धि, अनुप्रेक्षा से आयुष्य के अतिरिक्त सातों कर्म-बंधनों की शिथिलता, धर्मकथा से प्रभावना व शुभ कर्मबन्ध, श्रुताराधना से अज्ञान का नाश, मन की एकाग्रता से चित्तवृत्ति-निरोध, संयम से अनास्रवत्व, तप से व्यवदान, व्यवदान से अक्रियता, सुख-शात से चारित्र-मोहनीय-कर्म-क्षय, अप्रतिबद्धता से निस्संगता, विविक्त शयनासन से चारित्र-रक्षा, विनिवर्तना से पाप-मुक्ति हेतु सचेष्टा, संभोग-प्रत्याख्यान से स्वावलम्बन व सन्तोष, उपधि-प्रत्याख्यान से स्वाध्याय-ध्यान में निर्विघ्नता, आहार-प्रत्याख्यान से जीने की लालसा से मुक्ति, कषाय-प्रत्याख्यान से वीतराग-भाव, योग-प्रत्याख्यान से अयोगत्व, शरीर-प्रत्याख्यान से सिद्धों के अतिशय गुण, सहाय-प्रत्याख्यान से एकीभाव, भक्त-प्रत्याख्यान से अनेक भवों पर रोक, सद्भाव-प्रत्याख्यान से अनिवृत्ति, प्रतिरूपता से लघुता, वैयावृत्य से तीर्थंकर-नाम-गोत्र उपार्जन, सर्वगुणसंपन्नता से मोक्ष, वीतरागता से स्नेह-तृष्णा-मुक्ति, क्षान्ति से परीषह-विजय, मुक्ति से अकिंचनता, ऋजुता से अविसंवाद, मृदुता से निरभिमानता, भाव-सत्य से भाव-विशुद्धि, करण-सत्य से कार्यशक्ति व तथाकारिता, योग-सत्य से योग-शुद्धता, मनोगुप्ति से एकाग्रता, वचन-गुप्ति से निर्विकार भाव, काय-गुप्ति से संवर, मन की समाधारणता से ज्ञान-पर्यव व सम्यक्त्व-विशुद्धि, वचन-समाधारणता से सम्यक्त्व-पर्यव-विशुद्धि, काय-की समाधारणता से चारित्र-पर्यव-विशुद्धि, ज्ञान-सम्पन्नता से संसार-भ्रमण-रक्षा, दर्शन-सम्पन्नता से मिथ्यात्व का छेदन, चारित्र-संपन्नता से शैलेशी भाव, पंचेन्द्रिय-निग्रह से इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष से मुक्ति, क्रोध-विजय से क्षान्ति, मान-विजय से मृदुता, माया-विजय से ऋजुता, लोभ विजय से संतोष और प्रेय, द्वेष व मिथ्यादर्शन पर विजय से केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त करता है। अकर्मता, योग-निरोध तथा सर्व-कर्म-क्षय करते हुए वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। ❑❑

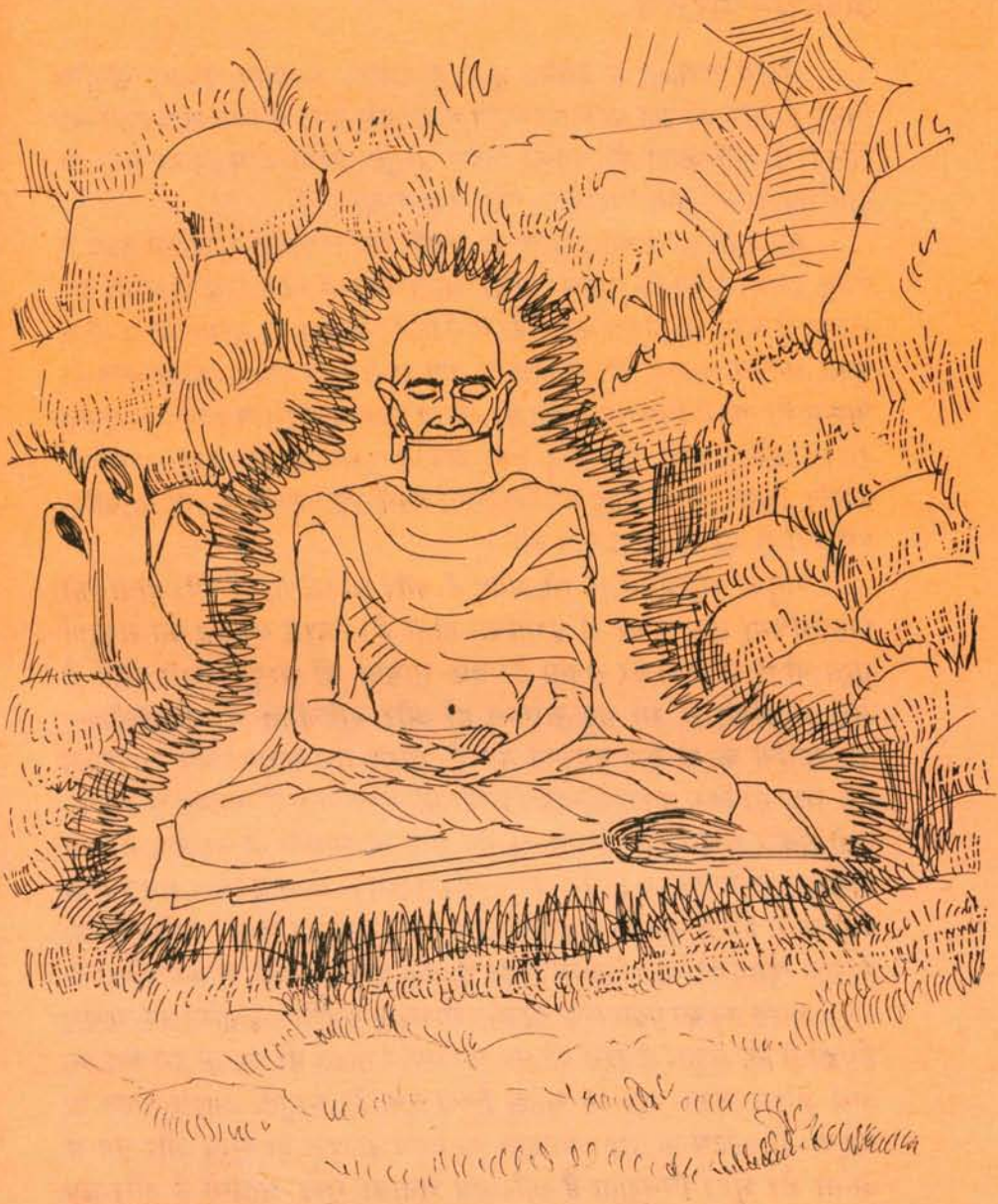

अध्ययन–30

तपो-मार्ग-गति

अध्ययन परिचय

सैंतीस गाथाओं से निर्मित हुआ है, प्रस्तुत अध्ययन। इसका केन्द्रीय विषय है–तप की राह पर पराक्रमपूर्ण यात्रा। इस यात्रा में जिन साधनाओं की शक्ति से गति आती है, उनका निर्देश प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है। इसीलिये इसका नाम 'तपोमार्ग-गति' रखा गया।

तप शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। यद्यपि इस से शरीर-शुद्धि भी होती है परन्तु इसका लक्ष्य है–आत्म-शुद्धि। अग्नि सोने से खोट निकालती है। तप आत्मा से कर्मों को अलग करता है। कर्म निर्जरा ही तप का उद्देश्य है। कर्मों से मुक्त अवस्था आत्मा का स्वभाव है। शेष सभी कुछ आत्मा का परभाव है। विकार है। तप से विकार दूर होते हैं। आत्मा स्वभाव में स्थित होने का अत्यन्त दुर्लभ अवसर पाती है। परन्तु तभी जब तप सम्यक् हो। यश, आकांक्षा, प्रदर्शन, निदान, कपट आदि की विकृतियां उसमें न हों। शारीरिक और सांसारिक प्रयोजनों से वह न किया गया हो।

मनुष्य अंतर्जगत् में भी जीता है और बहिर्जगत् में भी। दोनों की गतिविधियां एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। किसी व्यक्ति का सम्पूर्ण सत्य दोनों से मिलकर बनता है। तप-साधना भी सम्पूर्ण तभी होती है जब अंतर्जगत् में भी वह सम्पन्न हो और बहिर्जगत् में भी। इसीलिए तप-साधना के दो रूप बतलाये गये हैं–बाह्य तप साधना और आभ्यन्तर तप-साधना। जिस प्रकार अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् एक ही व्यक्ति के होते हैं, उसी प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तप एक ही साधना के दो रूप हैं। यह विभाजन या वर्गीकरण साधना को सांगोपांग रूप से स्पष्ट करने व समझने के प्रयोजन से किया गया है। बाह्य या आभ्यन्तर, दोनों तप मूलतः परस्पर संबद्ध हैं। एक-दूसरे को, दोनों, सार्थकता देते हैं। एक दूसरे से, दोनों, सार्थकता पाते हैं।

बाह्य तप का प्रथम रूप–अनशन सम्भवतः सर्वाधिक प्रचलित तप-साधना है। इतनी कि बहुत-से इसी को तप का पर्याय मानते हैं। तप के इस भेद का अर्थ आहार-त्याग-मात्र भी समझ लिया गया है। वस्तुतः आहार-त्याग के माध्यम से आहार के प्रति आसक्ति का त्याग अनशन है। **भूख और तप में अन्तर है। भूख विवशता है और तप चुनाव। भूख अतृप्ति है और तप आत्मिक तृप्ति।** तप में शरीर तपाया जाता है। मक्खन-भरा बरतन तपाया जाये तो उद्देश्य बरतन तपाना नहीं, मक्खन से छाछ को अलग करना होता है। बरतन का तपना साधन है। तप में शरीर तपना भी साधन है। साध्य है–आत्मा

को कर्मों से मुक्त करना। जीवन से कषायों को निर्मूल करना। शुद्ध होना। जीवन का सार पाना।

बाह्य तप के अन्य पांच रूप भी साधक को इस लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं। ऊनोदरी का अर्थ है—भूख से कम खाकर भूख को जीतना। भिक्षाचरी का अर्थ है—भिक्षा में जो -जैसा मिले, उसी से शरीर चलाकर सन्तोष पाना। रस परित्याग का अर्थ है—रसलोलुपता पर विजय पाना। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—तीनों योगों और पांचों इन्द्रियों को आत्म-केन्द्र की ओर मोड़ना। बाह्य तप के ये प्रकार साधक को भोग से योग, विभाव से स्वभाव, शारीरिकता से आत्मिकता तथा निरर्थकता से सार्थकता की ओर ले जाते हैं।

आभ्यन्तर तप का प्रथम रूप है—प्रायश्चित्त। पाप का छेदन करने वाली साधना प्रायश्चित्त है। **प्रायश्चित्त दण्ड नहीं है। दण्ड कोई दूसरा देता है। प्रायश्चित्त साधक स्वयं करता है। दण्ड व्यक्ति को ढीठ बना सकता है परन्तु प्रायश्चित्त सदैव परिष्कार ही करता है।** इस से साधक को ऋजुता की प्राप्ति होती है। **विनय का अर्थ है—गुण-सम्पन्न व्यक्ति के समान झुक जाना। विनम्र हो जाना। झुक कर ज्ञान के फल उठाने की योग्यता अपने में विकसित करना। सुपात्र बनना।** वैयावृत्य का अर्थ है—सेवा। इसके लिये अहंकार, प्रमाद, इच्छा, ग्लानि और संकोच को छोड़ना होता है। संवेदनशीलता, सजगता, सरलता, धैर्य, करुणा, माधुर्य, स्नेह आदि अनेक गुण अपनाने होते हैं। स्वाध्याय का अर्थ है—आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना। इस अध्ययन की वैज्ञानिक प्रक्रिया यहां बतलाई गई है। ध्यान का अर्थ है—समस्त विचारों का संकेन्द्रण। व्युत्सर्ग का अर्थ है—विशिष्ट त्याग। बाहरी दुनिया के आहार-उपकरण तो क्या, शरीर का भी त्याग। भीतरी दुनिया से राग, द्वेष, कषायों का त्याग। ममता का त्याग और समता का स्वीकार।

ध्यान के बिना व्युत्सर्ग और व्युत्सर्ग के बिना ध्यान सम्भव नहीं। स्वाध्याय के बिना दोनों अपूर्ण हैं। विनय न हो तो स्वाध्याय संभव नहीं। प्रायश्चित्त सम्भव नहीं। वैयावृत्य के लिये विनय भी चाहिये, काय-क्लेश भी, रस-परित्याग भी, भिक्षाचरी भी और ऊनोदरी भी। रस-परित्याग न हो तो ऊनोदरी असंभव है। अनशन असंभव है। भिक्षाचरी असंभव है। स्वाध्याय को समर्पित होना असंभव है। सभी तप परस्पर मूलतः संबद्ध हैं।

सभी तप-साधनाओं का विस्तृत ज्ञान देने के साथ-साथ सम्यक् तप के लिये प्रबल प्रेरणा देने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह तवमग्गं तीसइमं अज्झयणं

(अथ तपोमार्गं त्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : **जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं।**
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण।।१।।

संस्कृत : यथा तु पापकं कर्म, राग-द्वेषसमर्जितम्।
क्षपयति तपसा भिक्षुः, तदेकाग्रमनाः शृणु।।१।।

मूल : **पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।**
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो।।२।।

संस्कृत : प्राणिवध-मृषावाद, अदत्त-मैथुन-परिग्रहेभ्यो विरतः।
रात्रिभोजनविरतः, जीवो भवति अनास्रवः।।२।।

मूल : **पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।**
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो।।३।।

संस्कृत : पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः, अकषायो जितेन्द्रियः।
अगौरवश्च निःशल्यः, जीवो भवत्यनास्रवः।।३।।

मूल : **एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं।**
खवेइ उ जहा भिक्खू, तं मे एगमणो सुण।।४।।

संस्कृत : एतेषां तु विपर्यासे, रागद्वेषसमर्जितम्।
क्षपयति तु यथा भिक्षुः, तन्मे एकमनाः शृणु।।४।।

मूल : **जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।**
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे।।५।।

संस्कृत : यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे।
उत्सिञ्चनेन तपनेन, क्रमेण शोषणा भवेत्।।५।।

तीसवां अध्ययन :
तपोमार्ग-गति

१. राग-द्वेष द्वारा उपार्जित पाप-कर्म को भिक्षु 'तप' के द्वारा, जिस रीति से क्षीण करता है, उस (तप एवं कर्म-क्षय-पद्धति) के विषय में एकाग्रचित्त होकर सुनो।

२. प्राण-वध (हिंसा), मृषावाद (असत्य), अदत्त (आदान, चौर्य), मैथुन (अब्रह्मचर्य), परिग्रह (ममत्व, आसक्ति) तथा रात्रि-भोजन (-इन छः सावद्य कार्यों) से विरत होने वाला जीव अनाश्रव (कर्मों के आस्रव से रहित अर्थात् नवीन कर्म-प्रवाह की धारा से अस्पृष्ट) होता है।

३. पांच (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, परिष्ठापना) समितियों व तीन (मन-वचन-काय से सम्बन्धित) गुप्तियों से युक्त, (क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार) कषायों से रहित, (ऋद्धि, साता, रस- इन तीन) शल्यों से मुक्त हुआ (जीव कर्मों के) आस्रव से रहित होता है।

४. इन (आस्रव-हीनता के साधक गुणों) की विपरीतता में राग-द्वेष के द्वारा (जो कर्म) उपार्जित (होता है, उस) कर्म को भिक्षु (तपश्चर्या की) जिस रीति से क्षीण-विनष्ट करता है, उसके विषय में मुझ से एकाग्रचित्त होकर सुनो।

५. जैसे (किसी) बड़े तालाब (में उस) के जल-प्रवाह का मार्ग रोक देने पर और (पूर्व-विद्यमान जल को तालाब के बाहर) उलीच (कर फैंक) देने या (सूर्य आदि) के ताप द्वारा क्रमशः (धीरे-धीरे, उस तालाब के जल को) सुखा दिया जाता है।

मूल : एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।। ६ ।।

संस्कृत : एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे ।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ।। ६ ।।

मूल : सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ।। ७ ।।

संस्कृत : तत्तपो द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ।। ७ ।।

मूल : अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ।। ८ ।।

संस्कृत : अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ।। ८ ।।

मूल : इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिय सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया ।। ९ ।।

संस्कृत : इत्वरिकं मरणकालं च, अनशनं द्विविधं भवेत् ।
इत्वरिकं सावकाङ्क्षं, निरवकाङ्क्षं तु द्वितीयम् ।। ९ ।।

मूल : जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ।। १० ।।

संस्कृत : यत्तदित्वरिकं तपः, तत्समासेन षड्विधम् ।
श्रेणितपः प्रतरतपः, घनश्च तथा भवति वर्गश्च ।। १० ।।

मूल : तत्तो य वग्गवग्गो, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ।। ११ ।।

संस्कृत : ततश्च वर्गवर्गः, पञ्चमं षष्ठकं प्रकीर्णतपः ।
मनईप्सितं चित्रार्थं, ज्ञातव्यं भवतीत्वरिकम् ।। ११ ।।

६. उसी प्रकार, (नवीन) पाप-कर्मों के आस्रव (प्रवाह) का निरोध कर देने पर, संयमी व्यक्ति का करोड़ों जन्मों में संचित किया हुआ कर्म (भी) तपश्चर्या के द्वारा निर्जीर्ण (क्षीण) कर दिया जा (सक)ता है।

७. उस 'तप' के दो भेद बताए गए हैं- १. बाह्य तथा २. आभ्यन्तर। (इनमें) बाह्य तप को छः प्रकार का और इसी प्रकार आभ्यन्तर तप को भी (छः प्रकार का) बताया गया है।

८. अनशन, ऊनोदरिता, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश और (प्रति-)संलीनता-(ये सब) बाह्य तप (के अन्तर्गत) हैं।

९. १. 'इत्वरिक' अनशन तथा २. मरणकाल (या यावत्कथिक-अर्थात् आमरण अनशन, इस तरह) अनशन (तप) के दो भेद हैं। (इनमें) 'इत्वरिक' अनशन सावकांक्ष (नियतकालिक होने से अनशन समाप्ति के अनन्तर पुनः भोजन की आकांक्षा वाला) होता है और दूसरा (आमरण अनशन यावज्जीवन आहार का त्याग होने से, उक्त) आकांक्षा से रहित होता है।

१०. (इनमें) जो 'इत्वरिक' तप है, वह संक्षेप में छः प्रकार का है- १. श्रेणि तप, २. प्रतर तप, ३. घन तप, ४. वर्ग तप।

११. पांचवां वर्ग- वर्ग तप, छठा प्रकीर्ण तप। 'इत्वरिक' तप को मनोभिलषित विविध/विचित्र फल (को देने की क्षमता) वाला जानना चाहिए।

मूल : जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा, कायचिट्ठं पई भवे ।।१२।।

संस्कृत : यत्तदनशनं मरणे, द्विविधं तद्व्याख्यातम्।
सविचारमविचारं, कायचेष्टां प्रति भवेत्।।१२।।

मूल : अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा या आहिया।
नीहारिमनीहारी, आहारच्छेओ दोसु वि ।।१३।।

संस्कृत : अथवा सपरिकर्म, अपरिकर्म चाख्यातम्।
निर्हारि अनिर्हारि, आहारच्छेदो द्वयोरपि।।१३।।

मूल : ओमोयरणं पंचहा, समासेण वियाहिया।
दव्वओ खेत्त-कालेणं, भावेण पज्जवेहि य ।।१४।।

संस्कृत : अवमौदर्यं पञ्चधा, समासेन व्याख्यातम्।
द्रव्येण क्षेत्र-कालेन, भावेन पर्यवैश्च।।१४।।

मूल : जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे ।।१५।।

संस्कृत : यो यस्य त्वाहारः, ततोऽवमं तु यः कुर्यात्।
जघन्येनैकसिक्थकम्, एवं द्रव्येण तु भवेत्।।१५।।

मूल : गामे नगरे तह रायहाणि-, निगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कव्वड-दोणमुह- पट्टण-मडंब-संवाहे ।।१६।।

संस्कृत : ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां, निगमे चाकरे पल्याम्।
खेटे कर्वटे द्रोणमुखे, पत्तन-मडंब-सम्बाधे।।१६।।

१२. (इनमें) जो 'मरणकाल' अनशन है, (शारीरिक चेष्टा के आधार पर) उसके दो भेद बताए गए हैं। काय-चेष्टा के आधार पर (पहला) 'सविचार' (करवट बदलने आदि शारीरिक चेष्टाओं से सहित) तथा (दूसरा) अविचार (उक्त चेष्टाओं से रहित) होता है।

१३. अथवा (मरणकाल अनशन के दो भेद हैं-) १. सपरिकर्म (अन्य से सेवा कराने की अनुमति से युक्त) और २. अपरिकर्म (अन्य से सेवा कराने की अनुमति से रहित)। (इसी तरह प्रकारान्तर से २ भेद और भी हैं-) १. निर्हारी (पर्वत, गुफा आदि एकान्त स्थान में किया गया, तथा अन्तिम संस्कार की अपेक्षा से रहित 'आमरण अनशन') और २. अनिर्हारी (ग्राम, नगर आदि में किया गया तथा अन्तिम संस्कार की अपेक्षा वाला आमरण अनशन)। (आमरण अनशन के) दोनों प्रकारों (सपरिकर्म या अपरिकर्म, निर्हारी या अनिर्हारी) में आहार का परित्याग किया जाता है।

१४. संक्षेप में १. द्रव्य २. क्षेत्र ३. काल ४. भाव और ५. पर्यायों की अपेक्षा से 'अवमौदर्य' (या ऊनोदरी नामक बाह्य तप) को पांच प्रकार का बताया गया है।

१५. जिसका जो (जितना, पूर्ण) आहार हो, उससे कम, जघन्यतः एक सिक्थ (एक धान्यकण या एक ग्रास) कम (और उत्कृष्टतः आठ ग्रास से लेकर एक धान्य कण तक आहार) करे, तो इस प्रकार वह 'द्रव्य की दृष्टि से अवमौदर्य' (ऊनोदरी) तप होता है।

१६. ग्राम, नगर, राजधानी, निगम (व्यापारिक मण्डी), आकर (सोने आदि की खान वाले विशिष्ट स्थान), पल्ली (ढाणी साधारण लोगों की या चोरों की बस्ती), खेट (मिट्टी के परकोटे से युक्त छोटे गांव), कर्वट (कस्बा, छोटा नगर), द्रोणमुख (बन्दरगाह, अथवा जल-स्थल-दोनों प्रकार के मार्गों वाली बस्ती), पत्तन

मूल : आसमपए विहारे, संनिवेसे समाय-घोसे य।
थलि-सेणा-खंधारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे य ।।१७।।

संस्कृत : आश्रमपदे विहारे, सन्निवेशे समाजघोषे च।
स्थली सेना स्कन्धावारे, सार्थे संवर्त-कोटे च ।।१७।।

मूल : वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ।।१८।।

संस्कृत : वाटेषु वा रथ्यासु वा, गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम्।
कल्पते त्वेवमादि, एवं क्षेत्रेण तु भवेत् ।।१८।।

मूल : पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति पयंगवीहिया चेव।
संबुक्कावट्टाऽऽययगंतुं, पच्छागया छट्ठा ।।१९।।

संस्कृत : पेटा चार्धपेटा, गोमूत्रिका पतङ्गवीथिका चैव।
शम्बूकावर्ता आयतं गत्वा, पश्चादागता षष्ठी ।।१९।।

(सभी लोग जहां आते-जाते हों व व्यापार करते हों), मण्डप (ढाई कोस तक कोई ग्राम न हो ऐसी बस्ती), संबाध (पर्वत के मध्य बसा हुआ या चारों वर्णों के लोगों की प्रचुर जनों की बस्ती),

१७. आश्रमपद (आश्रम जैसा बसा स्थान), विहार (मठ या देव-मन्दिर), सन्निवेश (मुहल्ला, पड़ाव, या यात्री-विश्राम-स्थान) समाज (सभा या परिषद् के अधिकार-क्षेत्र का स्थान), घोष (ग्वालों की बस्ती), स्थली (ऊँचे रेती के टीले पर बसे स्थल) सेना का शिविर, सार्थ (व्यापारी यात्रियों के पड़ाव-स्थल), संवर्त (संकट ग्रस्त, शरणार्थी लोगों की बस्ती), कोट (किला, या प्राकार आदि),

१८. वाट (बाड़ा, मुहल्ला या चारों ओर कांटों से घिरा स्थान), रथ्या (गली) और घर- इन (क्षेत्रों) में तथा इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रों में 'इतनी व अमुक सीमा तक ही' (भिक्षा लूंगा- इस प्रकार भिक्षा हेतु क्षेत्र-मर्यादा निर्धारित करने) का 'कल्प' करता है। (भिक्षाचर्या की क्षेत्र-मर्यादा करता है) इस प्रकार यह 'क्षेत्र की अपेक्षा से 'अवमौदर्य' होगा।

१९. अथवा ('क्षेत्र से ऊनोदरी' के प्रकारान्तर से अन्य छः भेद भी हैं-) १. पेटा (चतुष्कोण सन्दूक जैसे क्षेत्र से ही भिक्षा लेना), २. अर्द्धपेटा (केवल दो श्रेणियों वाले घर-मुहल्ला आदि से ही भिक्षा लेना), ३. गोमूत्रिका (टेढ़े-मेढ़े भ्रमण करना पड़े-ऐसे घर-मुहल्ले आदि से ही भिक्षा लेना), ४. पतंगवीथिका (पतंग की तरह उड़ते हुए, कभी एक घर से भिक्षा लेकर, फिर ५-६ घर छोड़ कर भिक्षा लेना आदि), ५. शम्बूकावर्ता (शंखावर्त की तरह घूम-घूम कर, या गांव के बाहरी भाग से भिक्षा लेकर अन्दर की ओर जाना या अन्दर से भिक्षा लेकर बाहर की ओर जाना), ६. 'आयतं गत्वा प्रत्यागता' (पहले गली के एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाना, और लौटते भिक्षा लेना, या एक ही पंक्ति से आहार लेना, या जाते समय एक गली की पंक्ति से और आते समय दूसरी पंक्ति से आहार लेना)- यह छठा 'क्षेत्र की अपेक्षा से ऊनोदरी तप' है।

मूल : दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्ह पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ।।२०।।

संस्कृत : दिवसस्य पौरुषीणां, चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः।
एवं चरन् खलु, कालावमत्वं ज्ञातव्यम् ।।२०।।

मूल : अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाए घाससमेसंतो।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ।।२१।।

संस्कृत : अथवा तृतीयायां पौरुष्याम्, ऊनायां ग्रासमेषयन्।
चतुर्भागोनायां वा, एवं कालेन तु भवेत् ।।२१।।

मूल : इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वाऽणलंकिओ वावि।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेण व वत्थेणं ।।२२।।

संस्कृत : स्त्री वा पुरुषो वा, अलंकृतो वाऽनलंकृतो वाऽपि।
अन्यतरवयःस्थो वा, अन्यतरेण व वस्त्रेण ।।२२।।

मूल : अन्नेण विसेसेणं, वण्णेण भावमणुमुयंते उ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ।।२३।।

संस्कृत : अन्येन विशेषेण, वर्णेन भावमनुन्मुञ्चन् तु।
एवं चरन् खलु, भावावमत्वं ज्ञातव्यम् ।।२३।।

मूल : दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ।।२४।।

संस्कृत : द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे चाख्यातास्तु ये भावाः।
एतैरवमचरकः, पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः ।।२४।।

२०. दिन के चारों पौरुषियों (प्रहरों) में जितना काल (भिक्षाचर्या हेतु नियत हो, या अभिग्रह-पूर्वक नियत कर लिया) हो उसी तरह (नियत/अभिगृहीत काल में ही) भिक्षा-चर्या करते हुए (मुनि) का यह 'काल की अपेक्षा से अवमौदर्य तप' जानना चाहिए।

२१. अथवा (आगमानुसार भिक्षाचर्या हेतु नियत तीसरे प्रहर में भी) कुछ समय न्यून (कम) या चतुर्थ भाग (या पांचवां भाग आदि) समय न्यून तीसरी पौरुषी (प्रहर) (में ही भिक्षाचर्या हेतु जाऊँगा- ऐसा अभिग्रह संकल्प करते हुए, अभिगृहीत काल-अवधि) में ही भिक्षा की एषणा करने वाले का, इस प्रकार (यह) 'काल की अपेक्षा से अवमौदर्य तप' होता है।

२२. स्त्री या पुरुष, अलंकार-भूषित या अलंकार-रहित, अमुक (इतनी) आयु वाला, अमुक (इस-इस प्रकार के) वस्त्र (को धारण करने) वाला (हो, तभी मैं उससे भिक्षा लूंगा),

२३. या (अमुक) विशेष वर्ण वाला या अमुक विशेष भाव (क्रोध, हर्ष आदि या कोई विशेष भावना) को न छोड़ता हुआ ही (कोई दाता मिलेगा, उसी से भिक्षा लूंगा अन्यथा नहीं, इस प्रकार के 'अभिग्रह' करे तो) इस प्रकार भिक्षाचर्या करने वाले का (यह) 'भाव की अपेक्षा से अवमौदर्य तप' जानना चाहिए।

२४. द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव (की दृष्टियों से वर्णित 'अवमौदर्य' तप) में जो भाव (नियमादि) बताए गए हैं, उन सब के द्वारा (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-इन चतुर्विध 'अवमौदर्य' से सम्बन्धित समस्त भावों से 'अवमौदर्य' करने वाला भिक्षु 'पर्यवचरक' ऊनोदरी तप वाला) होता है।

मूल : अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ।।२५।।

संस्कृत : अष्टविधगोचराग्रं तु, तथा सप्तैवैषणाः।
अभिग्रहाश्च येऽन्ये, भिक्षाचर्यायामाख्याताः ।।२५।।

मूल : खीर- दहि-सप्पिमाई, पणीयं पाण-भोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ।।२६।।

संस्कृत : क्षीरदधिसर्पिरादि, प्रणीतं पान-भोजनम्।
परिवर्जनं रसानां तु, भणितं रसविवर्जनम् ।।२६।।

मूल : ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ।।२७।।

संस्कृत : स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेशस्तमाख्यातः ।।२७।।

मूल : एगंतमणावाए, इत्थी-पसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ।।२८।।

संस्कृत : एकान्तेऽनापाते, स्त्री-पशुविवर्जिते।
शयनासनसेवनया, विविक्तशयनासनम् ।।२८।।

२५. आठ तरह के 'गोचराग्र' (गोचरी)[1] सात तरह की एषणाएं (प्रतिमा या प्रतिज्ञाएं)[2] और अन्य भी जो अभिग्रह होते हैं, (उन सब को) 'भिक्षाचर्या' (नामक बाह्य तप में परिगणित) कहा गया है।

२६. दूध, दही, घी (एवं गुड़ में पके अन्न/पक्वान्न) आदि का, तथा 'प्रणीत' (स्निग्ध, घी की बहुतायत वाले पुष्टिवर्धक) व रसयुक्त पेय व खाद्य पदार्थों का त्याग 'रस-परित्याग' (नामक बाह्य) तप कहा गया है।

२७. (साधक) जीव के लिए भविष्य में सुखकारी (सिद्ध होने वाले) वीरासन आदि उत्कट 'स्थानों' (शारीरिक स्थितियों, आसनों) का जिस प्रकार धारण (सेवन/अनुष्ठान) किया जाता है, वह 'काय-क्लेश' (नामक बाह्य तप) कहा गया है।

२८. एकान्त, अनापात (व्यक्तियों के आवागमन से रहित), तथा स्त्रियों व पशुओं (आदि) से रहित, शयन (शय्या) व आसन (आदि) का सेवन- 'विविक्त शयनासन' (संलीनता/प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप के चार[3] भेदों में से एक प्रकार का तप) है।

---

१. आठ प्रकार की गोचरी इस प्रकार है- १. पेटा, २. अर्द्धपेटा ३. गोमूत्रिका, ४. पतंगवीथिका, ५. शम्बूकावर्ता, ६. आयतं गत्वा प्रत्यागता, ७. ऋजुगति व ८. वक्रगति। अथवा ऋजुगति व वक्रगति के स्थान पर शम्बूकावर्ता के दो भेद, तथा 'आयतं गत्वा प्रत्यायता' के दो भेद मान कर भी आठ भेद वर्णित किए गए हैं।

२. सात प्रकार की एषणाएं इस प्रकार हैं- १. संसृष्टा (खाद्य सामग्री से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना), २. असंसृष्टा (अलिप्त, हाथ या पात्र से भिक्षा लेना), ३. उद्धृता (रसोई घर से बाहर लाकर, गृहस्थ द्वारा अपने निमित्त से किसी पात्र में रखे गए भोजन की भिक्षा लेना), ४. अल्पलेपा (अल्प-लेपयुक्त वस्तु-चना, चिड़वा आदि भिक्षा लेना), ५. अवगृहीता (परोसने के लिए मुख्य पाक पात्र से चमचा, शकोरा आदि पात्रों द्वारा निकाले गए या खाने के लिए थाली आदि में परोसे हुए आहार की भिक्षा लेना), ६. प्रगृहीता (किसी की परोसने के लिए हाथ में या कड़छी आदि में ली हुई भोजन-सामग्री की भिक्षा लेना), ७. उज्झित धर्मा (निस्सार/नीरस व त्याज्य/परिष्ठापन-योग्य भोजन की भिक्षा लेना)।

३. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, कषायप्रतिसंलीनता, योगप्रतिसंलीनता, विविक्तशयनासन।

मूल : **एसो बाहिरगं तवो, समासेण वियाहिओ।**
अब्भिंतरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ।।२६।।

संस्कृत : एतद् बाह्यं तपः, समासेन व्याख्यातम्।
आभ्यन्तरं तप इतः, वक्ष्येऽनुपूर्वशः ।।२६।।

मूल : **पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।**
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ।।३०।।

संस्कृत : प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ।।३०।।

मूल : **आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं।**
जं भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ।।३१।।

संस्कृत : आलोचनार्हादिकं, प्रायश्चित्तं तु दशविधम्।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्, प्रायश्चित्तं तदाख्यातम् ।।३१।।

२९. बाह्य तप का यह वर्णन संक्षेप में किया गया है। यहां से (आगे में) क्रमपूर्वक 'आभ्यन्तर तप' का निरूपण करूंगा।

३०. १. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६ व्युत्सर्ग (-ये छः) तप 'आभ्यन्तर तप' हैं।

३१. जो आलोचनार्ह (प्रतिक्रमणार्ह, तदुभयार्ह, आलोचना-प्रतिक्रमणार्ह), विवेकार्ह, व्युत्सर्गार्ह, तपोऽर्ह, छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थापनार्ह व पारांचिकार्ह) आदि (रूपों में) दस प्रकार का होता है[1], जिसका भिक्षु (पाप-विशुद्धि-हेतु) भली-भांति आचरण करता है, उसे 'प्रायश्चित' (नामक आभ्यन्तर तप) कहा गया है।

---

१. प्रमाद के कारण लगे दोषों का परिमार्जन करने की दृष्टि से संवेग व निर्वेद से युक्त मुनि द्वारा किया गया अनुष्ठान जिससे साधक के स्वयं के चित्त की निर्विकारता होती है और साथ ही साधर्मी व संघस्थ व्यक्तियों का मन भी अपराधी के प्रति शुद्ध हो जाता है, 'प्रायश्चित्त' तप कहलाता है। इसके दस भेद इस प्रकार हैं- १. आलोचनार्ह (गुरु के समक्ष, शुद्ध भाव से निज दोषों को प्रकट करना), २. प्रतिक्रमणार्ह (कृत पापों से निवृत्ति के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' मेरे पाप निष्फल हों) -इस प्रकार हृदय से भाव व्यक्त करते हुए, अशुभ योग में प्रवृत्त अपनी आत्मा को शुभ योग में स्थापित करना, ३. तदुभयार्ह (आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों करना), ४. विवेकार्ह (कथंचित् अशुद्ध आहार आदि के ग्रहण हो जाने का परिज्ञान हो जाए तो उस अशुद्ध आहार आदि को अलग कर त्याग देना या अशुभ परिणाम पैदा करने वाली कोई वस्तु प्रतीत हो तो उसका त्याग करना), ५. व्युत्सर्गार्ह (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति-पूर्वक कायोत्सर्ग करना) ६. तपोऽर्ह (अपराध के दण्ड के रूप में उपवास आदि करना), ७. छेदार्ह (अपराध करने पर, दण्ड-स्वरूप दीक्षा-पर्याय का छेद करना), ८. मूलार्ह (मूल रूप से ही दीक्षा का छेद कर नई दीक्षा देना), ९. अनवस्थापनार्ह (दीक्षा छेद कर अनिवार्यतः कुछ विशेष तप का अनुष्ठान करने के बाद ही नई दीक्षा देना) १०. पारांचिकार्ह (कुछ समय तक भर्त्सना व अवहेलना के बाद ही नई दीक्षा देना, यह उत्कृष्टतम 'प्रायश्चित' तप माना गया है।)

मूल : **अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।**
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ।। ३२ ।।

संस्कृत : अभ्युत्थानमञ्जलिकरणं, तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा, विनय एष व्याख्यातः ।। ३२ ।।

मूल : **आयरियमाईए, वेयावच्चम्मि दसविहे ।**
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ।। ३३ ।।

संस्कृत : आचार्यादिके, वैयावृत्त्ये दशविधे ।
आसेवनं यथास्थामं, वैयावृत्त्यं तदाख्यातम् ।। ३३ ।।

मूल : **वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।**
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पञ्चहा भवे ।। ३४ ।।

संस्कृत : वाचना प्रच्छना चैव, तथैव परिवर्तना ।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा, स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत् ।। ३४ ।।

मूल : **अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए ।**
धम्म-सुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ।। ३५ ।।

संस्कृत : आर्त-रौद्राणि वर्जयित्वा, ध्यायेत् सुसमाहितः ।
धर्म-शुक्ले ध्याने, ध्यानं तत्तु बुधा वदेयुः ।। ३५ ।।

३२. १. अभ्युत्थान (खड़े हो जाना), २. अंजलिकरण (हाथ जोड़ना), ३. आसन देना, (व) गुरुजनों की भक्ति व भाव-सहित सेवा-शुश्रूषा करना- यह 'विनय' (नामक आभ्यन्तर तप) कहा गया है।

३३. आचार्य (एवं उपाध्याय, तपस्वी, स्थविर, ग्लान, शैक्ष-नवदीक्षित, कुल (गच्छ समुदाय), गण (कुल-समुदाय), संघ व साधर्मिक आदि के प्रति (किए जाने वाले) दस प्रकार के 'वैयावृत्त्य' की यथाशक्ति (जो) आराधना (की जाती) है, उसे 'वैयावृत्त्य' (नामक आभ्यन्तर तप) कहा गया है।

३४. 'स्वाध्याय' (नामक आभ्यन्तर) तप पांच प्रकार का है- १. वाचना (स्वयं पढ़ना, दूसरे व्यक्ति को पढ़ाना, या सूत्रादि का व्याख्यान), २. पृच्छना (शास्त्रविषयक अर्थ को बार-बार पूछना, प्रश्नोत्तर करना), ३. परिवर्तना (पठित ग्रन्थ का बार-बार पाठ या आवृत्ति करना), ४. अनुप्रेक्षा (पठित/परिचित शास्त्र का अर्थ हृदयंगम करने हेतु अर्थ पर गम्भीरता से मनन-चिन्तन-पर्यालोचन), ५. धर्मकथा (शास्त्रानुसार धर्मोपदेश व ६३ शलाकापुरुषों के चरितादि का निरूपण)।

३५. आर्त व रौद्र ध्यान का परित्याग कर, सम्यक् समाधिस्थ (मुनि) धर्म व शुक्ल (इन प्रशस्त) ध्यानों को जो ध्याता है, उसे ही ज्ञानी जन (तीर्थंकर आदि) 'ध्यान' (नामक आभ्यन्तर तप) कहते हैं।

मूल : **सयणासणट्ठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।**
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ।। ३६ ।।

संस्कृत : शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते।
कायस्स व्युत्सर्गः, षष्ठः स परिकीर्तितः ।। ३६ ।।

मूल : **एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।**
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ।। ३७ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : एवं तपस्तु द्विविधं, यत्सम्यगाचरेन्मुनिः।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ।। ३७ ।।
इति ब्रवीमि ।

३६. सोने, बैठने व खड़े होने की स्थिति में जो भिक्षु व्यापार-युक्त नहीं होता (शरीर को हिलाना-डुलाना बन्द कर देता है), यह ('व्युत्सर्ग' नामक आभ्यन्तर तप के 'द्रव्य व्युत्सर्ग' भेद से सम्बन्धित एक भेद[1]) 'कायोत्सर्ग' नामक छठा (आभ्यन्तर तप) कहा गया है।

३७. इस तरह, द्विविध (बाह्य व आभ्यन्तर) तप का, जो पण्डित मुनि सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार (-बन्धनों) से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

---

१. क्षेत्र, वस्तु, शरीर, गण, उपधि, भक्त-पान, बाह्य व्युत्सर्ग हैं तथा कषाय, संसार, कर्म, आस्रव ये भाव व्युत्सर्ग हैं।

अध्ययन–सार :

अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, पांच समितियों, तीन गुप्तियों, कषाय व इन्द्रिय-विजय से विपरीत आचरण द्वारा अर्जित पाप-कर्म क्षय करने की प्रक्रिया अपने जीवन को आस्रव-मुक्त व तप-युक्त बनाना है। तप के दो भेद हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। दोनों के छह-छह भेद हैं। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश व संलीनता बाह्य और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान व व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप के भेद हैं। अनशन के इत्वरिक व मरणकाल, ये दो प्रकार हैं। इत्वरिक तप के छह और मरणकाल अनशन के दो भेद होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की अपेक्षा से ऊनोदरी के पांच रूप हैं। प्रायश्चित्त और वैयावृत्य के दस-दस प्रकार हैं। स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है।

इन तपों का सम्यक् आचरण करने वाला मुनि शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

❑❑

अध्ययन–31

चरण-विधि

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–सम्यक् आचरण के सभी रूपों का वर्णन। इसमें इक्कीस गाथायें हैं। यह अध्ययन सम्यक् आचरण का संविधान है। इसीलिये इसका नाम 'चरण-विधि' रखा गया। सम्यक् ज्ञान के आलोक में सम्यक् दर्शन के बल से जीवन में सम्यक् चारित्र का आविर्भाव होता है। **सम्यक् चारित्र न हो तो सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन साकार नहीं हो पाते। अपने होने का पूर्ण फल प्रदान नहीं कर पाते।** ये तीनों वस्तुतः सम्यक्त्व के ही रूप हैं। तीनों से मिलकर सम्यक्त्व पूर्ण होता है।

सम्यक् चारित्र या वांछनीय आचरण के सभी लक्षण यहां वर्णित हैं। साधक क्या करे, जिस से वह मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर होता रहे? इसके लिए वह क्या न करे? क्या जाने? देखने में सीधे-सादे लगने वाले ये प्रश्न जीवन के अनेक संदर्भों में कठिनतम प्रश्न हो जाते हैं। तब साधक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में फंस सकता है। ऐसी स्थिति उसके जीवन में कभी न आये, यह प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है। साधक के सामने यदि यह पूर्णतः स्पष्ट हो कि उसे क्या करना है और क्या नहीं करना, तो अंतर्द्वंद्व और तनाव उसे कभी नहीं घेर सकते। भ्रम का शिकार वह कभी नहीं हो सकता।

यतना साधक को पाप-कर्म-बंधन से बचाने वाली शक्ति है। साधक-जीवन में यतना का आधारभूत महत्त्व है। यतना क्या है? व्यवहार में कैसे वह प्रत्यक्ष एवं सक्रिय होती है? यतना के साथ जीने का अर्थ क्या है? यतना के व्यावहारिक रूप कौन-कौन से हैं? यह जानने के लिए क्या-क्या समझना आवश्यक है? क्या-क्या करने और क्या-क्या न करने से साधक यतना-शील होता है?

सही है कि यतनाशीलता का अर्थ सद्प्रवृत्तियों को धारण करना और दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना है, परन्तु सद्प्रवृत्तियां कौन-सी हैं और दुष्प्रवृत्तियां कौन-सी.....यह भी यहां प्रतिपादित किया गया है। इस से भ्रम की आशंका न्यूनतम हो गई है। असंयम क्या है, जिस से निवृत्त होना है? संयम क्या है जिस में प्रवृत्त होना है? इन दोनों के कौन-कौन से रूप हैं, जिन से इन्हें देखते ही पहचाना जा सके? इन सभी प्रश्नों के उत्तर इस अध्ययन में उपलब्ध होते हैं।

वास्तव में यह अध्ययन सीधे-सीधे सम्यक् व्यवहार में रूपान्तरित होने वाला सिद्धान्त-कोश है। इस कोश का एक-एक अर्थ यदि स्पष्टतः समझ

लिया जाये तो सम्यक्-चारित्र-सम्पन्नता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उस का आधार जितना मजबूत होगा, साधना का भवन भी उतना ही ऊंचा और भव्य होगा। मज़बूत आधार पर निर्मित इस ऊंचे भवन के माध्यम से मुक्ति-शिखर तक पहुंचा जा सकेगा। यही आधार है—चरण-विधि।

निवृत्ति और प्रवृत्ति, एक ही साधना-रूपी-सिक्के के दो पक्ष हैं। मन, वचन और काया की जब असंयम से निवृत्ति होती है तो उनकी संयम में स्वयमेव प्रवृत्ति होती है। हिंसा के त्याग से अहिंसा अपने आप आती है। क्रोध छूट जाये तो क्षमा अपने आप साकार होने लगती है। सम्यक् निवृत्ति और सम्यक् प्रवृत्ति मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। दोनों का अलग-अलग वर्णन करने का अभिप्राय वस्तुतः सम्यक् चारित्र का दोनों दृष्टियों से वर्णन करना है। साधना का सम्पूर्णता में वर्णन करना है। साथ-साथ साधक को यह अवसर प्रदान करना है कि वह जिस दृष्टिकोण से चाहे, उसी से सम्यक् चारित्र को समझना प्रारम्भ कर सके। सम्यक् साधना का जो पक्ष उसे स्वभाव के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल लगे उसी को धारण कर वह सम्यक्त्व के मार्ग पर अग्रसर हो सके। वह चाहे तो सम्यक् निवृत्ति के मार्ग से सम्यक् प्रवृत्ति तक पहुंचे और चाहे तो सम्यक् प्रवृत्ति के माध्यम से सम्यक् निवृत्ति तक पहुंचे। मार्ग या माध्यम कोई भी हो, महत्त्वपूर्ण है पहुंचना।

सम्यक् प्रवृत्ति और सम्यक् निवृत्ति का योग जिस जीवन में संभव हो गया उसने सम्यक् चारित्र की आत्म-सम्पदा पा ली। फिर उसकी आत्मा संसार में नहीं भटकी। फिर वह मुक्ति की ओर बढ़ता ही चला गया। जिन-जिन राहों से होकर वह बढ़ा, उन सभी का सारगर्भित वर्णन इस अध्ययन में हुआ है। उन का ज्ञान बढ़ने से पूर्व भी साधक के लिए अपेक्षित है और बढ़ते हुए भी।

यह ज्ञान ही वस्तुतः चरण-विधि का ज्ञान है। इस अध्ययन में निरूपित ज्ञान की एक और विशेषता यह है कि इसे प्राप्त करने के लिए.....पूर्णतः निर्भ्रान्त रूप में प्राप्त करने के लिए अन्य आगमों की स्वाध्याय भी अपेक्षित है। कुछ गाथाओं में यह अपेक्षा प्रेरणा बन कर अंकित व उजागर हुई है। संख्यापरक रूप होने से स्वयं को कंठस्थ करने की सुविधा व आकर्षण प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह चरणविही एगतीसइमं अज्झयणं

(अथ चरणविधिनामैकत्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ।।१।।

संस्कृत : चरणविधिं प्रवक्ष्यामि, जीवस्य तु सुखावहम्।
यं चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ।।१।।

मूल : एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ।।२।।

संस्कृत : एकतो विरतिं कुर्यात्, एकतश्च प्रवर्तनम्।
असंयमान्निवृत्तिं च, संयमे च प्रवर्तनम् ।।२।।

मूल : रागे दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।३।।

संस्कृत : रागद्वेषौ च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ।
यो भिक्षुः निरुणद्धि नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।३।।

मूल : दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।४।।

संस्कृत : दण्डानां गारवाणां च, शल्यानां च त्रिकं त्रिकम्।
यो भिक्षुस्त्यजति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।४।।

मूल : दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छ-माणुसे।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।५।।

संस्कृत : दिव्यांश्च यानुपसर्गान्, तथा तैरश्च-मानुषान्।
यो भिक्षुः सहते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।५।।

इकत्तीसवां अध्ययन : चरण-विधि

१. जीव के लिए सुखकारी उस 'चरण-विधि' (चरित्र-आराधन की सम्यक् रीति) का निरूपण/कथन, करूँगा जिसे आचरित कर, बहुत से जीवों ने संसार को पार किया है।

२. (चरण-विधि का संक्षिप्त स्वरूप यह है कि साधक) एक ओर से विरति करे, और (दूसरी ओर) प्रवृत्ति करे। (अर्थात्) असंयम (हिंसा आदि सावद्य कार्यों) से निवृत्ति करे, और 'संयम' (सावद्य-विरतिरूप चरित्र) में प्रवृत्ति करे।

३. पाप-कर्मों के प्रवर्तक (उत्पादक) राग व द्वेष हैं। इन दोनों का जो भिक्षु सदैव निरोध (नियंत्रण) करता है, वह 'मण्डल' (चतुर्गति-रूप संसार) में ठहरता नहीं है (अर्थात् -'मुक्त' हो जाता है)।

४. जो भिक्षु (आत्मा को दण्डित-चारित्र से वंचित करने वाली, मानसिक-कायिक-वाचिक-इन विविध दुष्प्रवृत्ति-रूप) 'दण्डों',(ऋद्धि, रस, साता-सुख-इनमें से प्रत्येक से सम्बन्धित अभिमान-रूप) गौरवों, और (माया, मिथ्यात्व व निदान इन तीन) शल्यों-इनके तीन-तीन प्रकारों का सदा के लिए त्याग कर देता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

५. जो भिक्षु देव, मनुष्य व तिर्यंचों के (द्वारा उत्पादित उपसर्गों को (और वात-पित्त-कफ की प्रतिकूलता आदि के कारण स्वतः प्राप्त उपसर्गों को भी) (समभाव- पूर्वक) सहन करता रहता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता ।

मूल : **विगहा-कसाय-सन्नाणं, झाणाणं च दुयं तहा।**
जे भिक्खू वज्जइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।६।।

संस्कृत : विकथा-कषाय-संज्ञानां, ध्यानानां च द्विकं तथा।
यो भिक्षुर्वर्जयति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।६।।

मूल : **वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य।**
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।७।।

संस्कृत : व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु, समितिषु क्रियासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।७।।

मूल : **लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे।**
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।८।।

संस्कृत : लेश्यासु षट्सु कायेषु, षट्के आहारकारणे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।८।।

मूल : **पिंडोग्गहपडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु।**
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।९।।

संस्कृत : पिण्डावग्रहप्रतिमासु, भयस्थानेषु सप्तसु।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।९।।

मूल : **मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मंमि दसविहे।**
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१०।।

संस्कृत : मदेषु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, भिक्षुधर्मे दशविधे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१०।।

६. जो भिक्षु (स्त्रीकथा, भक्त-कथा, जनपद-देशकथा व राजकथा-इन चार) विकथाओं, (क्रोध, मान, माया, लोभ-इन चार) कषायों, (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह-इन चार) संज्ञाओं तथा (आर्त व रौद्र-इन) दो ध्यानों का नित्य त्याग किये हुए रहता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

७. जो भिक्षु (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह- इन पांच महा-) व्रतों और (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप व परिष्ठापना-इन पांच) समितियों (के पालन) में तथा पांच इन्द्रियों के (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श-इन पांच) विषयों (के त्याग) में एवं (कायिकी, अधिकरणकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी व प्राणातिपातकी-इन पांच अशुभ) क्रियाओं[१] (के परित्याग) में नित्य यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

८. जो भिक्षु (कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म व शुक्ल-इन) छः लेश्याओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति व त्रस-इन) छः कायों में तथा आहार करने (व उसके त्याग) के छः छः कारणों[२] में सतत यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

९. जो भिक्षु आहार-सम्बन्धी 'अवग्रह' रूप सात-प्रतिमाओं (संसृष्टा आदि सात पिण्डैषणाओं)[३] (अथवा अवग्रहों- संसृष्टा आदि सात पिण्डैषणाओं, तथा सात अवग्रह-प्रतिमाओं)[४] में तथा (इहलोक-भय आदि) सात भय-स्थानों[५] में सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

१०. जो भिक्षु (जाति, कुल, बल, रूप, तपश्चर्या, श्रुत-ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य - इनसे सम्बन्धित आठ) मदों (के परिहार) में, ब्रह्मचर्य की (नौ) गुप्तियों (के पालन) में,[६] तथा दस प्रकार के भिक्षु-धर्मों (के अनुष्ठान) में सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

मूल : उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।११।।

संस्कृत : उपासकानां प्रतिमासु, भिक्षूणां प्रतिमासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।११।।

मूल : किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१२।।

संस्कृत : क्रियासु भूतग्रामेषु, परमाधार्मिकेषु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१२।।

मूल : गाहासोलसएहिं, तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१३।।

संस्कृत : गाथाषोडशकेषु, तथाऽसंयमे च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१३।।

मूल : बंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१४।।

संस्कृत : ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु, स्थानेषु असमाधेः।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१४।।

मूल : एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१५।।

संस्कृत : एकविंशतिसबलेषु, द्वाविंशतिपरीषहेषु।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१५।।

११. जो भिक्षु उपासकों की (ग्यारह) प्रतिमाओं (के पालन) में,[८] तथा भिक्षुओं की (बारह) प्रतिमाओं (के पालन) में[९] सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

१२. जो भिक्षु (तेरह) क्रिया-स्थानों,[१०] (चौदह प्रकार के) भूत-ग्रामों (जीव-समुदाय),[११] तथा (पन्द्रह प्रकार के) परमाधार्मिक देवों[१२] के सम्बन्ध में सतत यत्नशील (अर्थात् अशुभ क्रियाओं से बचने तथा शुभ क्रिया का आश्रय लेने हेतु सभी जीवों की हिंसा से बचने व दयापूर्वक इनकी रक्षा में प्रवृत्ति हेतु, और परमाधार्मिक देवों में जन्म दिलाने वाले संक्लिष्ट परिणामों से बचने हेतु, या परमाधार्मिक देवों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उनके विषय में भी क्रोध-द्वेष आदि न करने हेतु, विवेक व यतना के साथ सचेष्ट) रहा करता है, वह 'मण्डल' चतुर्गति-रूप संसार में नहीं ठहरता।

१३. जो भिक्षु 'गाथाषोडशक' (सूत्रकृतांग के प्रथम स्कन्ध के १६ अध्ययनों के अभ्यास में, तथा उनमें प्रतिपाद्य अर्थों के चिन्तन-मनन व उनके अनुष्ठान) में, तथा (सत्रह प्रकार के) असंयम[१३] में सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

१४. जो भिक्षु (अठारह प्रकार के) ब्रह्मचर्य (के अनुष्ठान) में,[१४] ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के (एक से लेकर उन्नीस तक के) अध्ययनों (के अभ्यास में, तथा उनमें प्रतिपाद्य अर्थों के चिन्तन-मनन पूर्वक अनुष्ठान) में, तथा (बीस प्रकार के) असमाधि-स्थानों (के त्याग) में,[१५] सतत यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

१५. जो भिक्षु इक्कीस शबल-दोषों[१६] (के त्याग) में, तथा बाईस प्रकार के परीषहों (को सहने) में,[१७] सतत यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह 'मण्डल'/संसार में नहीं ठहरता।

मूल : तेवीसईसूयगडेसु, रूवाहिएसु सुरेसु य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१६।।

संस्कृत : त्रयोविंशतिसूत्रकृतेषु, रूपाधिकेषु सुरेषु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१६।।

मूल : पणवीसभावणासु, उद्देसेसु दसाईणं।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१७।।

संस्कृत : पञ्चविंशतिभावनासु, उद्देशेषु दशादीनाम्।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१७।।

मूल : अणगारगुणेहिं च, पगप्पंमि तहेव य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१८।।

संस्कृत : अनगारगुणेषु च, प्रकल्पे तथैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१८।।

मूल : पावसुयपसंगेसु, मोहठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।१९।।

संस्कृत : पापश्रुतप्रसंगेषु, मोहस्थानेषु चैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।१९।।

१६. जो भिक्षु 'सूत्रकृतांग' के तेईस अध्ययनों (के अभ्यास में, तथा उनमें प्रतिपाद्य अर्थों के चिन्तन-मनन पूर्वक अनुष्ठान) में तथा रूपाधिक (रूप में बढ़े-चढ़े, सुन्दर रूप वाले और चौबीस प्रकार के देवों (अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते हुए, उनकी आज्ञानुसार चलने में, और उनकी अश्रद्धा-अवज्ञा- आशातना आदि से बचने में, अथवा देव गतिनाम कर्म वाले २४ देवों के[१८] सुख भोगों की निन्दा-प्रशंसा से बचते हुए तटस्थ भाव रखने एवं उनकी यथावत् प्ररूपणा करने) में सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

१७. जो भिक्षु पच्चीस भावनाओं (के अनुपालन) में,[१९] तथा 'दशा' आदि (दशाश्रुत स्कन्ध के १० उद्देशों, बृहत्कल्प के छः उद्देशों व व्यवहार सूत्र के १० उद्देशों के अभ्यास में तथा उनमें प्रतिपाद्य अर्थों के चिन्तन-पूर्वक अनुष्ठान) में सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

१८. जो भिक्षु (सत्ताईस प्रकार के) अनगार-गुणों के[२०] अनुष्ठान में तथा (आचार) 'प्रकल्प' (के अठाईस अध्ययनों[२१] के अभ्यास में, तथा उनमें प्रतिपाद्य अर्थों के चिन्तन-मननपूर्वक अनुष्ठान) में सतत यत्नशील (विवेक व यतना-पूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नही ठहरता।

१९. जो भिक्षु (उन्तीस प्रकार के) पाप श्रुतों[२२] के 'प्रसंग' (पठन-पाठन सम्बन्धी प्रवृत्ति आसक्ति) के त्याग तथा (तीस प्रकार के) मोह-स्थानों[२३] (में प्रवृत्ति के त्याग) में सतत यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

मूल : सिद्धाइगुणजोगेसु, तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।।२०।।

संस्कृत : सिद्धादिगुणयोगेषु, त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ।।२०।।

मूल : इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयइ सया।
खिप्पं से सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिओ ।।२१।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : इत्येतेषु स्थानेषु, यो भिक्षुर्यतते सदा।
क्षिप्रं स सर्वसंसाराद्, विप्रमुच्यते पण्डितः ।।२१।।
इति ब्रवीमि ।

२०. जो भिक्षु सिद्ध (परमेष्ठी) देवों के (इकतीस) अति (उत्कृष्ट/असाधारण) गुणों[२४] (की प्राप्ति करने की दिशा) में ('आलोचना' आदि बत्तीस शुभव्यापार रूप) योगों[२५] (के अनुष्ठान) में, तथा तैंतीस प्रकार की आशातनाओं[२६] (से बचने तथा गुरुजनों के प्रति विनय, भक्ति, बहुमान आदि करने) में सतत यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह मण्डल/संसार में नहीं ठहरता।

२१. इस प्रकार, जो पण्डित (ज्ञानी) भिक्षु इन (तैंतीस) स्थानों के माध्यम से प्रतिपादित चारित्र-विधि) में सदा यत्नशील (विवेक व यतनापूर्वक सचेष्ट) रहा करता है, वह शीघ्र समस्त संसार (के बन्धनों) से 'विमुक्त' हो जाता है।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

टिप्पण क्रमतः

१. कायिकी- शरीर से होने वाली/की जाने वाली क्रिया। अधिकरणिकी-घातक शस्त्र आदि के प्रयोग से की जाने वाली क्रिया। प्राद्वेषिकी- द्वेष, ईर्ष्या आदि के कारण की जाने वाली क्रिया। पारितापनिकी- किसी को पीड़ा आदि देने से सम्बन्धित क्रिया। प्राणातिपातिकी- 'स्व' या 'पर' के प्राण-वध से सम्बन्धित क्रिया।

२ इनका निरूपण उत्तराध्ययन के २६/३३-३५ में पहले किया जा चुका है।

३ इनका निरूपण उत्तराध्ययन के ३०/२५ में पहले हो चुका है।

४ अवग्रह-प्रतिमाएं- स्थान-सम्बन्धी सात प्रतिज्ञाएं इस प्रकार हैं: (१) अमुक प्रकार के स्थान में ही रहूंगा-यह संकल्प/अभिग्रह (२) अन्य साधुओं के लिए ही स्थान की याचना करूंगा, अन्य साधुओं द्वारा याचित स्थान में ही रहूंगा। (३) अन्य साधुओं के लिए ही स्थान की याचना करूंगा, किन्तु अन्य द्वारा याचित स्थान में नहीं रहूंगा। (४) मैं अन्य के लिए स्थान की याचना नहीं करूंगा, किन्तु अन्य द्वारा याचित स्थान में रहूंगा। (५) स्वयं के लिए स्थान की याचना करूंगा, अन्य के लिए नहीं, (६) जिसके स्थान का उपयोग करूंगा, उसी के यहां उपलब्ध ही 'संस्तारक' सामग्री का उपयोग करूंगा, अन्यथा, सारी रात बैठकर बिता दूंगा। (७) जिसके स्थान का उपयोग करूंगा, उसी के यहां सहज भाव से पहले से ही रखे शिलापट्ट/काष्ठ पट्ट आदि का उपयोग करूंगा, अन्यथा सारी रात-बैठे-बैठे बिता दूंगा (इत्यादि प्रकार के संकल्प व अभिग्रह)।

५. सात भय-स्थान इस प्रकार हैं- (१) इहलोक भय (स्वजातीय प्राणियों से भय), (२) परलोकभय (अन्य जाति के प्राणियों से भय), (३) आदान-भय (चोरी आदि से धन-नाश का भय), (४) अकस्मात् भय (अकारण, स्वयं सशंक होकर भय उत्पन्न होना), (५) आजीव-भय (जीवन-निर्वाह हेतु भोजनादि सामग्री के न मिलने की आशंका से होने वाला, या पीड़ा के दुर्विकल्प-वश उत्पन्न भय), (६) मरण-भय (मृत्यु-भय), (७) अपयश की आशंका से उत्पन्न भय।

६. ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का वर्णन उत्तराध्ययन के १६/१-६ में पहले किया जा चुका है। नौ गुप्तियां हैं-(१) विविक्तवसति-सेवन, (२) स्त्री-कथात्याग, (३) निषद्या-अनुपवेशन, (४) स्त्री-अंगोपांग-अदर्शन, (५) कुड्यान्तर शब्द श्रवण-त्याग, (६) पूर्वभोग-स्मरण त्याग, (७) प्रणीत भोजन-त्याग, (८) अतिमात्र भोजन-त्याग, और (९) विभूषा-त्याग।

७ दस प्रकार के भिक्षु-धर्म हैं- (१) क्षमा, (२) मुक्ति (निर्लोभता), (३) आर्जव, (४) मार्दव, (५) लाघव, (६) सत्य, (७) संयम (८) तप, (९) त्याग, (१०) ब्रह्मचर्य- (या आकिंचन्य) ।अथवा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य- इस प्रकार से भी दस संख्या परिगणित की गई है।

८ ग्यारह उपासक-प्रतिमाएं इस प्रकार हैं- (१) **दर्शन-प्रतिमा** (सम्यक्त्व का पालन, उत्कृष्ट अवधि एक मास), (२) **व्रत प्रतिमा** (व्रतों का धारण, उत्कृष्ट अवधि दो मास), (३) **सामायिक प्रतिमा** (काल में प्रतिक्रमण आदि करना उत्कृष्ट अवधि तीन मास), (४) **प्रौषध प्रतिमा** (विशेष तिथियों में प्रौषध-उपवास करना, उत्कृष्ट अवधि चार मास), (५) **नियम प्रतिमा** (रात्रि में कायोत्सर्ग करना, स्नान-त्याग व धोती आदि की लांग न बांधना, जघन्य अवधि १-२ दिन, उत्कृष्ट-अवधि-पांच मास), (६) **ब्रह्मचर्य-प्रतिमा** (ब्रह्मचर्य धारण करना, उत्कृष्ट अवधि-छः मास), (७) **सचित्त त्याग प्रतिमा** (सचित्त आहार का त्याग करना, उत्कृष्ट अवधि-सात मास), (८) **आरम्भ-त्याग-प्रतिमा** (स्वयं आरम्भ-हिंसादि न करना, उत्कृष्ट अवधि- आठ मास), (९) **प्रेष्यत्याग प्रतिमा** (दूसरों से आरम्भ न करवाना, उत्कृष्ट अवधि-नौ मास), (१०) **उद्दिष्ट-भक्त त्याग प्रतिमा** (उद्दिष्ट आहार का त्याग करना, उत्कृष्ट अवधि दस मास) (११) **श्रमण भूत प्रतिमा** (साधु के समान वेष व बाह्य आचार का पालन करना उत्कृष्ट अवधि ग्यारह मास)।

९. बारह भिक्षु-प्रतिमाएं इस प्रकार हैं- एक मास से लेकर सात मास तक सात प्रतिमाएं (अर्थात् एक-एक मास की सात मास पर्यन्त सात प्रतिमाएं), इसके आगे सात-सात अहोरात्र की आठवीं, नौवीं व दसवीं प्रतिमाएं, इसके आगे एक अहोरात्र की ग्यारहवीं प्रतिमा, तथा एक रात्रि की बारहवीं प्रतिमा होती है।

१०. क्रिया-स्थान (क्रियाओं के कारण) तेरह प्रकार के होते हैं - (१) अर्थक्रिया, (२) अनर्थक्रिया, (३) हिंसा क्रिया (४) अकस्मात् क्रिया, (५) दृष्टिविपर्यास क्रिया, (६) मृषा क्रिया, (७) अदत्तादान क्रिया, (८) अध्यात्म-क्रिया-मानसिक शोकादि क्रिया, (९) मान-क्रिया, (१०) मित्र-क्रिया (प्रिय जनों को कठोर दण्ड देने की क्रिया), (११) माया क्रिया, (१२) लोभ क्रिया, (१३) ईर्यापथिकी क्रिया। इनमें तेरहवीं ही प्रशस्त व आश्रयणीय है, अन्य नहीं।

११. सूक्ष्म एकेंद्रिय, बादर एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद से १४ भेद जीवों के होते हैं।

१२. परमाधार्मिक देव (नारकी जीवों को मनोविनोद हेतु यातना देने वाले असुर)- इनके पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं- (१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रौद्र, (६) उपरौद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुः (११) कुम्भ, (१२) बालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर, (१५) महाघोष।

१३. सत्रह प्रकार के असंयम इस प्रकार हैं - (१) पृथ्वीकाय- असंयम (पृथ्वीकायिक जीवों की कृत कारित- अनुमोदना के साथ हिंसा में प्रवृत्ति) (२) अप्काय-असंयम, (३) वायुकाय-असंयम, (४) तेजस्कायिक-असंयम, (५) वनस्पतिकाय असंयम, (६) द्वीन्द्रिय-असंयम, (७) त्रीन्द्रिय-असंयम, (८) चतुरिन्द्रिय-असंयम, (९) पंचेन्द्रिय-असंयम, (१०) अजीव काय-असंयम (असंयमकारी वस्तुओं का ग्रहण व उपयोग), (११) प्रेक्षा-असंयम (सजीव स्थान में उठना, बैठना, सोना आदि) (१२) उपेक्षा-असंयम (गृहस्थ के पापकर्मों का अनुमोदन), (१३) अपहत्य असंयम (अ-विधि से परठना), (१४) प्रमार्जना-असंयम (वस्त्र-पात्रादि का प्रमार्जन न करना), (१५) मनः असंयम (मन में दुर्भाव रखना), (१६) वचन-असंयम (दुर्वचन बोलना), (१७) काय-असंयम (गमन-आगमन में संयत-भाव न रखना)।

१४. औदारिक शरीर (मनुष्य व तिर्यंच नर-नारी) से सम्बन्धित मैथुन-त्याग रूप 'ब्रह्मचर्य' के (मन, वचन, व शरीर से, तथा कृत-कारित व अनुमोदना-इन तीन-तीन भेदों के कारण) नौ भेद। इसी तरह, वैक्रिय शरीर (देव-देवी) से सम्बन्धित ब्रह्मचर्य के भी नौ भेद। दोनों मिल कर 'ब्रह्मचर्य' के अठारह भेद हो जाते हैं।

१५. असमाधि-स्थान (जिनसे चिन्त में अशान्ति, अप्रशस्त भावना व अस्वस्थता हो, तथा मोक्ष-साधना में व्यवधान हो- ऐसे कार्यों) के बीस भेद इस प्रकार हैं- (१) द्रुतद्रुतचारित्व (उपयोग-रहित, जल्दी जल्दी चलना), (२) अप्रमृज्यचारित्व (रात को बिना प्रमार्जन के चलना)। (३) दुष्प्रमृज्यचारित्व (अविधि से प्रमार्जन करके चलना), (४) अतिरिक्तशय्या-आसनिकत्व (अमर्यादित शय्या व आसन आदि), (५) रात्निक पराभव (दीक्षा-ज्येष्ठ पूज्यों के सम्मुख बोलना, अपमान करना आदि), (६) स्थविरोपघात (स्थविर मुनियों का उपघात, अवहेलना आदि), (७) भूतोपघात (प्राणियों का उपघात करना), (८) संज्वलन (प्रतिक्षण क्रोध करना), (९) दीर्घ कोप (लम्बे समय तक कुपित रहना), (१०) पृष्ठमांसिकत्व (परोक्ष में चुगली-निन्दा करना), (११) अभीक्ष्ण-अवभाषण (संदिग्ध होने पर भी निश्चयकारिणी भाषा का प्रयोग), (१२) नवाधिकरण-करण (नित नया नया कलह करना), (१३) उपशान्तकलह-उदीरण (शान्त क्लेश/कलह को फिर उभारना), (१४) अकाल स्वाध्याय (१५) सरजस्कपाणि-भिक्षाग्रहण (सचित रज से लिप्त हाथ आदि से भिक्षा लेना), (१६) शब्दकरण (प्रहर रात्रि बीते विकाल में जोर-जोर से बोलना), (१७) झंझाकरण (संघविघटनकारी भाषा का प्रयोग), (१८) कलहकरण (आक्रोश आदि रूप कलह करना), (१९) सूर्य प्रमाण भोजित्व

(सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाते-पीते रहना), (२०) एषणा-असमितत्व (एषणा-समिति का पालन न करते हुए भिक्षा-ग्रहण)।

१६. शबल-दोषों (चरित्र को मलिन करने वाले कार्यों) के इक्कीस भेद इस प्रकार हैं:- (१) हस्तकर्म, (२) मैथुन, (३) रात्रि-भोजन, (४) आधाकर्म आहार, (५) सागारिक पिण्ड (शय्यातर का आहार लेना), (६) औद्देशिक (साधु के निमित्त आहार का ग्रहण), (७) प्रत्याख्यान-भंग, (८) गण-परिवर्तन (छः मास के भीतर एक गण से दूसरे गण में चले जाना), (९) उदक लेप, (मास में तीन बार, जंघाप्रमाण जल में प्रवेश करते हुए नदी को पार करना), (१०) माया-स्थान (महीने में तीन बार माया-स्थानों का सेवन), (११) राजपिण्ड, (१२) जान बूझ कर हिंसा करना, (१३) जान बूझ कर असत्य बोलना, (१४) जान बूझ कर चोरी करना, (१५) सचित्त पृथ्वी-स्पर्श, (१६) सस्निग्ध-सचित्त रजवाली पृथ्वी शिला व सजीव लकड़ी आदि पर शयन-आसन आदि), (१७) जीव -प्रतिष्ठित प्राणी, बीज, हरित निगोद व सचित्त पानी वाले स्थान पर खड़े होना, बैठना आदि। (१८) जान-बूझकर कन्दमूल आदि का सेवन, (१९) वर्ष में दस बार उदक लेप (नदी पार करना आदि), (२०) वर्ष में दस बार माया-स्थानों का सेवन, (२१) जान बूझकर सचित्त जल से युक्त हाथों व कड़छी आदि पात्रों से प्रदत्त आहार का ग्रहण।

१७. बाईस परीषहों का वर्णन उत्तराध्ययन के दूसरे अध्ययन में किया जा चुका है।

१८. देव गति के प्राणियों के २४ भेद इस प्रकार हैं-दस प्रकार के भवनपति, आठ प्रकार के व्यन्तर, पांच प्रकार के ज्योतिष्क, तथा वैमानिक देव- इस प्रकार कुल २४ प्रकार होते हैं।

१९. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह- इन पांच महाव्रतों में प्रत्येक की ५-५ भावनाएं होती हैं, इस तरह भावनाओं की कुल संख्या पच्चीस हो जाती है। इनके नाम हैं- (अहिंसा महाव्रत की भावनाएं-) (१) ईर्यासमिति, (२) आलोकित पानभोजन, या एषणा समिति, (३) आदाननिक्षेप समिति, या काय-समिति, (४) मनोगुप्ति, (५) वचन-समिति, (सत्य महाव्रत की भावनाएं-) (६) अनुविचिन्त्य भाषण, (७) क्रोध-विवेक, (८) लोभविवेक, (९) भयविवेक (१०) हास्य-विवेक, (अस्तेय महाव्रत की भावनाएं-) (११) अवग्रह-अनुज्ञापना (या निर्दोष वसति-सेवन), (१२) अवग्रह सीमा-परिज्ञानता, (१३) अवग्रह-अनुग्रहणता (अवग्रह-स्थित तृण, पट्ट आदि के लिए पुनः अवग्रह-स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना), (१४) गुरुजनों तथा अन्य साधर्मिकों से भोजनानुज्ञा प्राप्त करना, या समविभाग करना, (१५) साधर्मिकों से अवग्रह-अनुज्ञा प्राप्त करना (या तपस्वी आदि की सेवा करना), (ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएं) (१६) स्त्रीविषयक चर्चा-त्याग, (१७) स्त्रियों के अंगोपांगादि के अवलोकन का त्याग, (१८) अतिमात्रा में प्रणीत पान-भोजन का त्याग, (१९) पूर्वभुक्त भोग-स्मृति का त्याग, (२०) स्त्री आदि से संसक्त शयन-आसन आदि का त्याग, (अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएं-) (२१) से (२५)- पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पर राग भाव का, तथा अमनोज्ञ शब्द आदि पर द्वेष का त्याग।

२०. सत्ताईस अनगार-गुण इस प्रकार हैं- (१-५) पांच महाव्रत, (६-१०) पांच इन्द्रिय-निग्रह, (११-१४) चार कषायों पर विजय, (१५-१७) भावसत्य, करण सत्य, योग सत्य, (१८) क्षमा, (१९) वैराग्य, (२०) मनः समाधारणता (मन की शुभ प्रवृत्ति), (२१) वचन समाधारणता, (२२) काय समाधारणता, (२३) ज्ञान-सम्पन्नता, (२४) दर्शन-सम्पन्नता, (२५) चारित्र-सम्पन्नता, (२६) वेदना सहिष्णुता, तथा (२७) मारणान्तिक कष्ट-अधिसहन।

२१. आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन, तथा आचारांग- चूला के रूप में स्वीकृत 'निशीथ' के उद्घात, अनुद्घात व विमुक्ति-ये तीन अध्ययन, इन्हें मिलाकर कुल अट्ठाईस अध्ययन 'प्रकल्प' के अन्तर्गत यहां परिगणित हैं।

२२. अध्येता के मन में पाप-कर्म में रुचि पैदा करने वाले 'पापश्रुतों, की संख्या उनतीस वर्णित की गई है:- (१) भूमि -कम्प (भूकम्प व भूगर्भ-सम्बन्धी शास्त्र), (२) उत्पात (रुधिर-वर्षा आदि अशुभ व शुभ फलों का सूचक शास्त्र), (३) स्वप्नशास्त्र, (४) अन्तरिक्ष विज्ञान, (५) अंग शास्त्र, (६) स्वर शास्त्र, (७) व्यंजन (शारीरिक चिन्हों की शुभाशुभता का निरूपक शास्त्र), (८) लक्षण शास्त्र-इन आठों के सूत्र (मूल), वृत्ति, वार्तिक-ये तीन भेद मान कर कुल २४ पापश्रुत हुए। इनमें निम्नलिखित पांच और जोड़ने पर उनतीस होती है- (२५) विकथानुयोग, (२६) विद्यानुयोग, (२७) मंत्रानुयोग, (२८) योगानुयोग (वशीकरण आदि योगों से सम्बन्धित शास्त्र), (२९) अन्यतीर्थिक अनुयोग (अन्य मतों के हिंसा-प्रधान शास्त्र)।

२३. महामोहनीय कर्म को बांधने वाले तथा दुरध्यवसाय की तीव्रता व क्रूरता से पूर्ण तीस प्रकार के मोहस्थान इस प्रकार हैं- (१) त्रस जीवों को पानी में डुबा कर मारना, (२) त्रस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना, (३) त्रस जीवों को मकान आदि में बन्द कर, धुएं से दम घोट कर मारना, (४) त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बांधकर मारना, (५) त्रस जीवों को मस्तक पर डण्डे व घातक शस्त्रों से मारना, (६) राहगीरों को धोखा देकर लूटना, (७) गुप्त रूप से अनाचार-सेवन (८) स्वकृत-महादोष का आरोप दूसरे पर लगाना, (९) सभा में यथार्थ सत्य को जान-बूझ कर छिपाना, मिश्र भाषण-सत्य-समान असत्य बोलना, (१०) अपने अधिकारी या शासक को अधिकार प्रभाव व भोग-सामग्री से वंचित करना, (११) बाल-ब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को बाल-ब्रह्मचारी कहना, (१२) आश्रयदाता के धनादि का हरण, (१३) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोंग करना, (१४) अन्य के उपकार को न मानना, कृतघ्नता, उपकारी के भोगों का विच्छेद करना, (१५) पोषक गृहपति, संघपति, सेनापति या प्रशास्ता का वध करना, (१६) राष्ट्रनेता, प्रसिद्ध/मुखिया व श्रेष्ठी की हत्या, (१७) जनता व समाज के लिए आश्रय-स्थान जैसे विशिष्ट-परोपकारी का वध (१८) संयम करने वाले मुमुक्षु को व दीक्षित-मुनि को संयम-भ्रष्ट करना, (१९) अनन्तज्ञानियों की निन्दा करके उनकी उपासना का त्याग, सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा करना, (२०) आचार्य, उपाध्याय व जिनेन्द्र आदि की अवमानना व निन्दा करना, (२१) अहिंसा आदि मोक्ष-मार्ग की निन्दा करके, जनता को मोक्षमार्ग-विमुख करना। (२२) संघ में विघटन, पुनः पुनः क्लेश पैदा करना, (२३) बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, (२४) तपस्वी न होते हुए भी, स्वयं को तपस्वी कहना, (२५) शक्ति होते हुए

भी रोगी, वृद्ध व अशक्त आदि की सेवा न करना, (२६) ज्ञान- चारित्रादि-विघातक व कामोत्पादक कथाओं का प्रयोग करना, (२७) जादू टोना, मंत्र-वशीकरण आदि का प्रयोग करना, (२८) इहलौकिक व पारलौकिक विषय-सुखों की निन्दा करके, या विषय-भोगों का त्याग करके भी छिपे-छिपे उनका सेवन करना, उनमें आसक्त रहना, (२९) देवों का साक्षात्कार न होने पर भी यह कहना कि मुझे देव-दर्शन होता है, (३०) देवों की द्युति, ऋद्धि, बल, वीर्य आदि का अवर्णवाद करना, उनका उपहास करना।

२४. सिद्धों के इकतीस गुणों का निरूपण कई प्रकार से किया गया है । आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। उन आठ कर्मों के इकतीस भेद होते हैं- ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २, आयु के ४, नाम-कर्म के २, गोत्र कर्म के २, अन्तराय कर्म के ५, कुल इकत्तीस भेद हो जाते हैं। इन इकत्तीस कर्मों के क्षय से सिद्ध इकतीस गुणों से युक्त माने जाते हैं। अथवा- ५ संस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ३ वेद, शरीर, आसक्ति, पुनर्जन्म- इन इकतीस दोषों के क्षय से इकतीस गुण प्रकट हुए माने जाते हैं।

२५. शुभ व्यापार रूप योगों को मुख्यतः बत्तीस रूपों में परिगणित किया गया है। वे योग इस प्रकार हैं- (१) आलोचना, (२) अप्रकटीकरण (किसी के दोषों की आलोचना सुनकर अन्य के सामने न कहना), (३) संकट में धर्म-दृढ़ता, (४) अनिश्रित या आसक्ति- रहित तपोपधान, (५) (सूत्रार्थ ग्रहण) शिक्षा और प्रतिलेखना आदि आचार शिक्षा का अभ्यास, (६) निष्प्रतिकर्मता (शरीर आदि की साजसज्जा न करना), (७) अज्ञातता (पूजा-प्रतिष्ठा का मोह त्याग कर गुप्त तप आदि करना), (८) निर्लोभता (९) तितिक्षा, (१०) आर्जव (११) शुचिता (सत्य व संयम की पवित्रता), (१२) सम्यक्त्व-शुद्धि, (१३) समाधि-(चित्त-प्रसन्नता), (१४) आचारोपगत (मायारहित आचार का पालन), (१५) विनय, (१६) धैर्य, (१७) संवेग (मोक्षाभिलाषा, या सांसारिक भोगों से भय), (१८) प्रणिधि (माया-शल्य से रहित), (१९) सुविधि (सदाचार का अनुष्ठान), (२०) संवर (पाप आस्रव से रहित), (२१) दोष शुद्धि, (२२) सर्वकामभोगविरक्ति, (२३) मूल गुणों का सम्यक् शुद्धपालन, (२४) उत्तरगुणों का सम्यक् शुद्ध पालन, (२५) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग), (२६) अप्रमाद, (२७) प्रतिक्षण संयम-यात्रा में सजगता, (२८) शुभध्यान, (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी धीरता, (३०) संग-परित्याग, (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना, (३२) अन्तिम समय में संलेखना धारण करके मारणान्तिक आराधना करना।

२६. आशातना (गुणी व पूज्य जनों की अवहेलना/निन्दा/तिरस्कार या यथार्थता का अपलाप) करने से सम्यक्त्व आदि की घात संभावित है। इस के तैंतीस भेद इस प्रकार बताये गए हैं:- (१) अरिहंतों की आशातना, (२) सिद्धों की, (३) आचार्यों की, (४) उपाध्यायों की, (५) साधुओं की, (६) साध्वियों की, (७) श्रावकों की, (८) श्राविकाओं की, (९) देवों की, (१०) देवियों की, (११) इहलोक की, (१२) परलोक की, (१३) सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की, (१४) देव-मनुष्य-असुर सहित-समग्र लोक की, (१५) काल की, (१६) श्रुत की, (१७) श्रुतदेवता की, (१८) सर्वप्राणि-भूत-जीव-सत्वों की, (१९) वाचनाचार्य की, (२०-३३, ज्ञान की १४ आशतनाएं-) (२०) व्याविद्ध (वर्ण-विपर्यास करना), (२१) व्यत्याम्रेडित (उच्चार्यमाण पाठ में

दूसरों का पाठ मिला देना), (२२) हीनाक्षर, (२३) अत्यक्षर, (२४) पदहीन, (२५) विनयहीन, (२६) योगहीन, (२७) घोषहीन, (२८) सुष्ठुदत्त (योग्यता से अधिक ज्ञान देना), (२९) दुष्ठुप्रतीक्षित (ज्ञान को सम्यक्तया ग्रहण न करना), (३०) अकाल में स्वाध्याय, (३१) स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना, (३२) अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय, (३३) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना)।

प्रकारान्तर से भी आशातना (अविनयपूर्ण व्यवहार) के तैंतीस प्रकार वर्णित किये गए हैं- (१) गुरु या दीक्षा-ज्येष्ठ-व्यक्ति के आगे-आगे चलना, (२) उनके बराबर (समश्रेणी में) चलना, (३) उनसे सटकर चलना, (४) गुरु या दीक्षा-ज्येष्ठ के आगे खड़े रहना, (५) उनके बराबर (समश्रेणी में) खड़े रहना, (६) उनसे सटकर खड़े रहना, (७) गुरु या दीक्षा-ज्येष्ठ के आगे बैठना, (८) उनके समश्रेणी में- बराबर बैठना, (९) उनसे सटकर बैठना, (१०) बड़े साधु से पहले (यदि एक ही जलपात्र हो तो) आचमन लेना, (११) किसी स्थान में आकर, उनसे पहले ही गमनागमन की आलोचना लेना, (१२) बड़े साधु को-जिसके साथ बात करनी हो, उससे स्वयं पहले बात करना, (१३) रात्रि में जागते हुए भी उत्तर न देना, (१४), भिक्षा लाकर पहले छोटे साधु के पास भिक्षा सम्बन्धी आलोचना करना, फिर बड़े साधु के पास आलोचना करना, (१५) लाई हुई भिक्षा को पहले छोटे साधु के पास दिखाना, फिर बड़े साधु को दिखाना, (१६) भिक्षाप्राप्त आहार में से बड़े साधु के बिना पूछे ही अपने प्रिय साधुओं को प्रचुर आहार देना। (१७) लाई हुई भिक्षा के आहार के लिए पहले बड़े साधु को आमंत्रित किये बिना ही छोटे साधु को आमंत्रित करना, (१८) बड़े साधुओं के साथ भोजन करते हुए, अधीरतापूर्वक सरस आहार को स्वयं करने की शीघ्रता (उतावलापन) करना, (१९) बड़े साधु द्वारा बुलाये जाने पर उनकी अनसुनी कर देना, (२०) बुलाये जाने पर बैठे-बैठे ही उत्तर दे देना। (२१) बड़ों को अनादरपूर्वक सम्बोधन के साथ बुलाना, (२२) उनसे अनादर के साथ बोलना, (२३) बड़े साधु द्वारा किसी काम को करने के लिए कहने पर यह कहना कि तुम ही कर लो या उनके सामने जोर जोर से बोलना, (२४) बड़े साधु द्वारा बोला गया कोई शब्द पकड़ कर, उसकी अवज्ञा करना, या उनके आसन पर उनकी आज्ञा बिना बैठ जाना, (२५) बड़े साधु व्याख्यान कर रहे हों तभी बीच में ही बोल उठना कि 'ऐसा नहीं ऐसा है' या उनके व्याख्यान की हीनता प्रदर्शित करने के लिए स्वयं उस विषय की विस्तृत व्याख्या करना, (२६) बड़े साधु के व्याख्यान में कह देना कि आप भूल रहे हैं, (२७) बड़े साधु के व्याख्यान में अन्यमनस्क या गुमसुम रहना, (२८) बड़े साधु के व्याख्यान देते रहते ही, बीच में ही परिषद् को भंग कर देना, (२९) बड़े साधु के व्याख्यान करते समय ही कथा का विच्छेद करना, (३०) बड़े साधु के व्याख्यान के बीच ही स्वयं व्याख्यान करने लगना, (३१) बड़े साधुओं के उपकरणों को पैर लगने पर विनयपूर्वक क्षमायाचना न करना, (३२) बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना, (३३) बड़े साधु की अपेक्षा ऊंचे या बराबर के आसन पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

अध्ययन–सार :

असंयम से निवृत्ति व संयम में प्रवृत्ति संसार-सागर से पार करने वाली चरण-विधि है। जो भिक्षु राग-द्वेष, तीन दण्डों, तीन गौरवों व तीन शल्यों का त्याग करता है; चार कषायों, संज्ञाओं व दो दुर्ध्यान का त्याग करता है; पांच महाव्रतों, समितियों व इन्द्रिय-विजय में यतनाशील होता है; छह काय जीवों, आहार लेने या न लेने के छह कारणों, सात पिण्डैषणाओं, अवग्रह प्रतिमाओं, भय-स्थानों, आठ मद-स्थानों, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियों, दस श्रमण-धर्मों, ग्यारह श्रमणोपासक-प्रतिमाओं, भिक्षु की बारह प्रतिमाओं, तेरह क्रियाओं, चौदह जीव-समूहों, पन्द्रह परमाधार्मिक देवों, सूत्रकृतांग के सोलह अध्ययनों, सत्रह प्रकार के असंयम, अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य, उन्नीस ज्ञातासूत्र अध्ययनों, बीस असमाधिस्थानों, इक्कीस शबल दोषों, बाईस परीषहों, सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों, चौबीस अतिरूपवान् देवों, पच्चीस (महाव्रतों की) भावनाओं, दशाश्रुत स्कन्ध आदि के छब्बीस उद्देशकों, सत्ताईस अनगार-गुणों, आचारांग के अट्ठाईस अध्ययनों, उनत्तीस पाप-श्रुत-प्रसंगों, तीस मोह-स्थानों, सिद्धों के इकत्तीस गुणों व बत्तीस योग-संग्रहों और तैंतीस प्रकार की आशातना में सदा यतनाशील रहता है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

❑❑

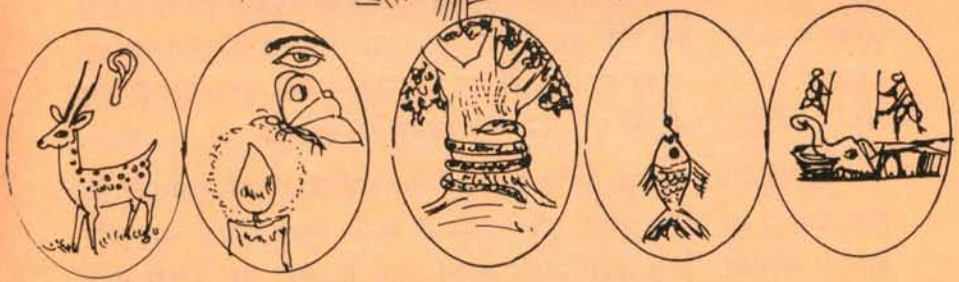

अध्ययन–32

प्रमाद-स्थान

अध्ययन परिचय

एक सौ ग्यारह गाथाओं से निर्मित प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है–मोक्ष-मार्ग की बाधाओं का अनावरण। समस्त बाधाओं के लिये जैन दर्शन में एक शब्द है–प्रमाद। प्रमाद के स्वरूप एवम् कारणों का विशद वर्णन यहां किया गया है। इसीलिये इसका नाम 'प्रमाद-स्थान' रखा गया। साधक को प्रमाद के सभी कारणों से सावधान करना और बचाना इसका उद्देश्य है।

प्रमाद का अर्थ है–आत्म-प्रसुप्ति। विवेक रूपी अन्तर्नेत्रों का बन्द हो जाना। प्रमाद वस्तुतः लगभग सभी धर्म-विरोधी प्रवृत्तियों को व्यंजित करता है। इन्द्रिय-विषयासक्ति प्रमाद है। अपने कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षा भाव-रखना या उन्हें भूल जाना भी प्रमाद है। अनावश्यक निद्रा भी प्रमाद है। अयतना से कार्य करना भी प्रमाद है। विकथायें करना भी प्रमाद है। मिथ्यात्व भी प्रमाद है। अज्ञान भी प्रमाद है। पापों में तन्मय रहना भी प्रमाद है। मन-वचन-काया का धर्म-सम्मत उपयोग न करना भी प्रमाद है। साधक को साधना व धर्म से विमुख करने वाला प्रत्येक कार्य प्रमाद है।

प्रमाद साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। इसलिये कि वही है, जो संसार में उसे भटकाता रहता है। वही है जो व्यक्ति को भवसागर के किनारे की कल्पना तक नहीं करने देता। वही है, जो दुःखों और भटकाव को उसकी नियति बना देता है। इस शत्रु को जीतने के लिये इसे पहचानना आवश्यक है। किन कारणों से यह उत्पन्न और विकसित होता है, यह जानना आवश्यक है। वे कारण जीवन में स्थान न बना पायें, इसके लिये उन से सावधान रहना आवश्यक है। प्रमाद से बचने के उपाय जानना और उन उपायों का जीना आवश्यक है। इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रस्तुत अध्ययन से होती है।

दुःख कर्म-बन्ध के परिणाम हैं। अन्तिम रूप से नष्ट वे तभी होते हैं, जब कर्मों से आत्मा को पूर्णतः मुक्ति प्राप्त हो। कर्म-बन्धन होता है–राग और द्वेष से। **व्यक्ति, वस्तु और स्थान अपने आप में शुभ या अशुभ नहीं होते। उन्हें शुभ या अशुभ बनाती है वह दृष्टि, जिसके अनुरूप व्यवहार उन से किया जाता है। यह दृष्टि यदि राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि से बनी है तो जीवन प्रमाद से परिपूर्ण हो ही जायेगा। यह दृष्टि यदि वीतरागता से बनी है तो जीवन को धर्म से परिपूर्ण होना ही है।** मुख्य साधन नहीं हैं। मुख्य है–उनके प्रति साधक का रवैया या साधक का व्यवहार।

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा, ये प्रमाद के रूप हैं। कर्म-बन्ध के मूल कारण राग, द्वेष, मोह, कषाय हैं। यहां इन सब के बारे में विस्तार से बताया गया है। स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति मिथ्या जीवन-पद्धति को त्याग कर सम्यक् जीवन-पद्धति को अपनाये तो प्रमाद से बच सकता है। मोह को जीत सकता है। राग-द्वेष को समाप्त कर सकता है। कषायों को निर्मूल कर सकता है। मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

अवांछनीय और वांछनीय जीवन-पद्धति के आधार यहां स्पष्ट रूप से बतलाये गये हैं। खाना-पीना, सोना-जागना, रहना-सहना, आना-जाना, ओढ़ना-पहनना जैसे जीवन के स्थूल संदर्भों से लेकर विषयासक्ति, दृष्टिकोण, मोह, ध्यान, भाव जैसे सूक्ष्म संदर्भों तक, सभी संदर्भों में प्रमाद और अप्रमाद उत्पन्न करने वाली जीवन-पद्धति के रूप स्पष्टतः यहां उजागर किये गये हैं। साधक के अप्रमत्त अर्थात् मोक्ष-मार्ग की बाधाओं से रहित, होने का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

सम्यक् ज्ञान का आलोक साधक कैसे प्राप्त कर सकता है? मिथ्यात्व से कैसे बच सकता है? जितेन्द्रिय कैसे हो सकता है? मन को मिथ्यात्व की ओर जाने से कैसे रोक सकता है? राग और द्वेष को निर्मूल करने से उसे क्या प्राप्त होता है? विषयासक्ति उसे कहां ले जा सकती है? उसका क्या बिगाड़ सकती है? कैसे बिगाड़ सकती है? साधनों के प्रति साधक की दृष्टि क्या होनी चाहिये? मोह और तृष्णा में क्या सम्बन्ध है? साधक के लिये रत्न त्रय महत्त्वपूर्ण है या शिष्य सम्पदा? मनोज्ञ शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श में ममत्व रखने से क्या होता है? अमनोज्ञ शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श से घृणा-भाव रखने से क्या होता है? कषायों व अन्य मानसिक विकारों से क्या होता है? अप्रमत्तता से क्या होता है? साधक संसार में कैसे रहे कि सांसारिकता उसे जकड़ न पाये? इन सभी प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत अध्ययन में प्राप्त होते हैं।

प्रमाद पूर्ण जीवन-पद्धति के त्याग और अप्रमत्त जीवन-पद्धति के अंगीकार की विवेक-शक्ति और प्रेरणा प्रदान करने के कारण भी इस अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह पमायट्ठाणं बत्तीसइमं अज्झयणं

(अथ प्रमादस्थानं द्वात्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : **अच्चंतकालस्स समूलगस्स, सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।**
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता, सुणेह एगंतहियं हियत्थं ।। १ ।।

संस्कृत : अत्यन्तकालस्य समूलकस्य, सर्वस्य दुःखस्य तु यः प्रमोक्षः ।
तं भाषमाणस्य मम प्रतिपूर्णचित्ताः, श्रृणुतैकान्तहितं हितार्थम् ।। १ ।।

मूल : **नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए ।**
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ।। २ ।।

संस्कृत : ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया ।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण, एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् ।। २ ।।

मूल : **तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।**
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य ।। ३ ।।

संस्कृत : तस्यैष मार्गो गुरुवृद्धसेवा, विवर्जना बालजनस्य दूरात् ।
स्वाध्यायैकान्तनिषेवणा च, सूत्रार्थसञ्चिन्तनया धृतिश्च ।। ३ ।।

मूल : **आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।**
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी ।। ४ ।।

संस्कृत : आहारमिच्छेन्मितमेषणीयं, साहाय्यमिच्छेन्निपुणार्थबुद्धिम् ।
निकेतमिच्छेत् विवेकयोग्यं, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ।। ४ ।।

बत्तीसवां अध्ययन : प्रमाद-स्थान

१. (मिथ्यात्व व राग-द्वेष आदि) 'मूल' (कारणों से उद्‌भूत होने) वाले तथा अत्यन्त (अनादि) काल (से प्रवर्तमान होने) वाले समस्त (मानसिक व शारीरिक) दुःखों से मोक्ष का जो उपाय है, उस एकान्त (अत्यन्त) हितकारी 'हित' (मोक्ष-साधन रूप) पदार्थ के विषय में मैं कथन कर रहा हूँ, (उसे) प्रतिपूर्ण (एकाग्र) चित्त के साथ सुनो ।

२. समस्त ज्ञान के प्रकाशन (प्रकट होने) से, अज्ञान व (दर्शन-) मोहनीय के परित्याग से, तथा राग व द्वेष के सर्वथा क्षय होने से (आत्मा) एकान्त-सुख रूप 'मोक्ष' को प्राप्त कर लेता है ।

३. गुरुजनों की तथा (ज्ञान, वय व दीक्षा-पर्याय की दृष्टि से) वृद्ध पुरुषों की सेवा करना,बाल (अज्ञानी) व्यक्तियों की संगति का दूर से ही त्याग करना, स्वाध्याय का एकान्त में या नियम-पूर्वक सेवन (अथवा स्वाध्याय करना तथा एकान्त में रहना), तथा 'सूत्र' व अर्थ का सम्यक् चिन्तन-मनन एवं धैर्य (चित्त-समाधि या अनुद्विग्नता) रखना- (ये सब) उस (मुक्ति की प्राप्ति) के उपाय हैं ।

४. (ज्ञान आदि रूप 'भाव'-) 'समाधि' (वीतरागता,एकाग्रता) की कामना रखने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय (दोषरहित) आहार की इच्छा करे,(जीव आदि) पदार्थों में निपुण मति वाले सहायक की इच्छा करे, तथा (स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से शून्य) विवेक-योग्य शून्य-एकान्त स्थान की इच्छा करे ।

मूल : **न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।**
एगो वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ।।५।।

संस्कृत : न वा लभेत निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेष्वसजन् ।।५।।

मूल : **जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।**
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ।।६।।

संस्कृत : यथा चाण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णां, मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ।।६।।

मूल : **रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।**
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति ।।७।।

संस्कृत : रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजं, कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्, दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ।।७।।

मूल : **दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।**
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ।।८।।

संस्कृत : दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः, मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः, लोभो हतो यस्य न किंचन ।।८।।

मूल : **रागं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं।**
जे-जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ।।९।।

संस्कृत : रागं च द्वेषं च तथैव मोहम्, उद्धर्तुकामेन समूलजालम्।
ये-ये उपायाः प्रतिपत्तव्याः, तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्व्या ।।९।।

मूल : **रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।**
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ।।१०।।

संस्कृत : रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः, प्रायः रसा दीप्तिकरा नराणाम्।
दीप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति, द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः ।।१०।।

५. यदि (अपने से) अधिक गुणों वाला या समान गुणों वाला (कोई) 'निपुण' (कार्य-अकार्य का ज्ञाता) सहायक (शिष्य, साथी आदि) न मिले तो पापों का त्याग करते हुए, काम-भोगों में अनासक्त रहते हुए, एकाकी ही विचरण करे।

६. जिस प्रकार बलाका (बगुली) अण्डे से उत्पन्न होती है, और जिस तरह अण्डा बलाका से पैदा होता है, (इन दोनों में विद्यमान) इसी (परस्पर-कार्यकारण भाव की) तरह 'तृष्णा' को 'मोह' का 'आयतन' (उद्भव-स्थान) और 'मोह' को भी तृष्णा का 'आयतन' (उत्पत्ति-स्थान) कहा जाता है।

७. राग और द्वेष (इन) को कर्म के (उत्पादक) 'बीज', और कर्म को 'मोह' से उत्पन्न कहा जाता है। कर्म को जन्म-मरण का मूल,तथा जन्म-मरण को 'दुःख' (का वास्तविक/मूल कारण) कहा जाता है।

८. जिसके 'मोह' नहीं होता, उसका 'दुःख' (भी) नष्ट हो जाता है। जिसके तृष्णा नहीं होती, उसका मोह नष्ट हो जाता है। जिसके लोभ नहीं होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है, और जिसके पास (परिग्रह-रूप में) कुछ भी नहीं है (अर्थात् जो 'अकिंचन' है) उसका लोभ नष्ट हो जाता है।

९. राग, द्वेष तथा मोह को समूल उन्मूलन करने के इच्छुक (साधक) को जिन-जिन उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए, उनका मैं क्रमशः कथन करूंगा।

१०. रसों का अत्यधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि (बिना उचित कारण के तथा अतिमात्रा में सेवित किये गये) रस प्रायः मनुष्यों (के लिए चित्त-विक्षेप के कारण होते हुए, उनकी इन्द्रियों के तथा मोहाग्नि व कामाग्नि) के दृप्तिकारक-उत्तेजक होते हैं। उत्तेजित व्यक्ति को 'काम' (शब्द आदि विषय) उसी प्रकार आक्रान्त करते (व सताते) हैं जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी (पीड़ित करते हैं और क्षति पहुंचाते हैं)।

मूल : **जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।**
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ।। ११ ।।

संस्कृत : यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने, समारुतो नोपशममुपैति।
एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनः, न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित् ।। ११ ।।

मूल : **विवित्तसेज्जासणजंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं।**
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ।। १२ ।।

संस्कृत : विविक्तशय्यासनयन्त्रितानाम्, अवमाशनानां दमितेन्द्रियाणाम्।
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधैः ।। १२ ।।

मूल : **जहा बिरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।**
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो ।। १३ ।।

संस्कृत : यथा बिडालावसथस्य मूले, न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये, न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ।। १३ ।।

मूल : **न रूव-लावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगियपेहियं वा।**
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ।। १४ ।।

संस्कृत : न रूपलावण्यविलासहास्यं, न जल्पितमिङ्गितं प्रेक्षितं वा।
स्त्रीणां चित्ते निवेश्य, द्रष्टुं व्यवस्येच्छ्रमणस्तपस्वी ।। १४ ।।

मूल : **अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।**
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं ।। १५ ।।

संस्कृत : अदर्शनं चैवाप्रार्थनं च, अचिन्तनं चैवाकीर्तनं च।
स्त्रीजनस्यार्यध्यानयोग्यं, हितं सदा ब्रह्मव्रते रतानाम् ।। १५ ।।

११. जिस प्रकार, प्रचुर ईन्धन वाले जंगल में (प्रचण्ड) वायु के (झोंकों के) साथ (प्रदीप्त होती हुई) दावाग्नि (शीघ्र व सरलता से) शान्त नहीं होती, उसी प्रकार अत्यधिक आहार करने वाले (साधक) की इन्द्रियों की (विषय-प्रवृत्ति रूप 'राग' की) अग्नि भी (उपशान्त नहीं होती, और इस प्रकार प्रकाम-भोजन तथा उक्त राग-अग्नि) किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं है।

१२. (स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से) शून्य-एकान्त 'वसति' (उपाश्रय) में निवास से (स्वयं को) नियंत्रित रखने वाले, अल्प आहार करने वाले, तथा जितेन्द्रिय (मुनियों) के चित्त को राग (व द्वेष रूपी) शत्रु उसी तरह पराजित नहीं कर पाता, जिस तरह औषधि (के सेवन) से पराजित (शान्त) हुई व्याधि (शरीर को पुनः आक्रान्त नहीं कर पाती)।

१३. जिस तरह, बिडाल (बिलाव) के रहने के स्थान के पास, चूहों का निवास प्रशस्त नहीं हुआ करता, उसी तरह, स्त्रियों के निवास-स्थान के मध्य (समीप) में ब्रह्मचारी का निवास (प्रशस्त व) उपयुक्त नहीं होता।

१४. तपस्वी श्रमण (मुनि) स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास (वेशविन्यास व कामुक चेष्टा), हास्य, (मधुर) आलाप, इंगित (संकेत आदि विविध चेष्टाओं) या कटाक्ष-दृष्टि को (अपने) चित्त में स्थापित कर (उनसे प्रभावित होकर उन्हें) देखने का व्यवसाय (संकल्प, इच्छा या प्रयत्न) न करे।

१५. सर्वदा (आजीवन) ब्रह्मचर्य (की साधना) में निरत रहने वाले (मुनि) के लिए स्त्रियों (के अंगोपांग आदि) को (राग-भाव से) न देखना, (उनकी प्राप्ति की) चाह न रखना, (उनके रूप-सौन्दर्य आदि का) चिन्तन न करना, (उनके नाम व गुण आदि का) कीर्तन न करना (-ये सब) 'आर्य' (श्रेष्ठ धर्म स्वरूप) 'ध्यान' (की साधना) के लिए उपयुक्त व हितकारी होते हैं।

मूल : **कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।**
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ।।१६।।

संस्कृत : कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः, न शक्तितः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः।
तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा, विविक्तवासो मुनीनां प्रशस्तः ।।१६।।

मूल : **मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।**
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ।।१७।।

संस्कृत : मोक्षाभिकांक्षिणस्तु मानवस्य, संसारभीरोः स्थितस्य धर्मे।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके, यथा स्त्रियो बालमनोहराः ।।१७।।

मूल : **एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।**
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ।।१८।।

संस्कृत : एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य, सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गंगासमाना ।।१८।।

मूल : **कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।**
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।।१९।।

संस्कृत : कामानुगृद्धि-प्रभवं खलु दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्, तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ।।१९।।

मूल : **जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।**
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ।।२०।।

संस्कृत : यथा च किम्पाकफलानि मनोरमाणि, रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि।
तानि क्षोदयन्ति जीवितं पच्यमानानि, एतदुपमाः कामगुणा विपाके ।।२०।।

१६. यह सत्य है कि तीन गुप्तियों से सुरक्षित (मुनियों) को (अलंकारादि से) विभूषित देवांगनाएं (आदि भी साधना से) विचलित/संयम भ्रष्ट नहीं कर सकतीं, तथापि (एकान्तवास को) एकान्त- हितकारी-जान कर (भगवान् द्वारा) मुनियों के लिए एकान्तवास को प्रशंसित किया (अर्थात् प्रशस्त बताया) गया है ।

१७. संसार-भीरु, (श्रुत चरित्र रूप) धर्म में स्थिर एवं मोक्ष के इच्छुक मनुष्य के लिए संसार में ऐसा (कोई अन्य) दुस्तर (वस्तु व कार्य) नहीं है, जैसी कि अज्ञानी जनों के मन को आकृष्ट करने वाली स्त्रियां (तथा उनसे विरक्ति दुस्तर-दुर्जेय होती हैं) ।

१८. इन (उपर्युक्त स्त्री - सम्बन्धी) संसर्गों को सम्यक्तया अतिक्रमण कर लेने के बाद (अन्य) अवशिष्ट (द्रव्यादि-संसर्ग जैसे कठिन कार्य) उसी प्रकार सुखपूर्वक उत्तरणीय (पार कर लेने योग्य, सुविजेय) हो जाते हैं, जिस प्रकार, महासागर को पार कर लेने (की क्षमता प्राप्त कर लेने) के अनन्तर, गंगा जैसी-नदियां (सुखपूर्वक पार करने लायक) हो जाती हैं ।

१९. समस्त संसार में, देवों तक के भी, जो कुछ भी शारीरिक व मानसिक दुःख (होते हैं, वे) काम-सम्बन्धी निरन्तर अनुरक्ति से उत्पन्न होते हैं उनके 'अन्त' (विनाश की स्थिति) को 'वीतराग' (आत्मा ही) प्राप्त करता है ।

२०. जिस प्रकार, किम्पाक-फल खाते समय, रस व रूप (एवं गन्ध आदि) की दृष्टि से मनोरम (प्रतीत) होते हैं: किन्तु परिणाम में 'क्षुद्र' (सोपक्रम) जीवन के लिए 'क्षुद्रक' (विनाशक) होते हैं, काम-भोग (भी) विपाक (परिणाम) में उन्हीं की समानता वाले (होते हुए, संयमी जीवन के विनाशक) होते हैं ।

मूल : जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न यामणुन्नेसु मणं वि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ।।२१।।

संस्कृत : य इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः, न तेषु भावं निसृजेत् कदापि।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ।।२१।।

मूल : चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।।२२।।

संस्कृत : चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति, तद् रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तद्(रूपं) द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ।।२२।।

मूल : रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।।२३।।

संस्कृत : रूपस्य चक्षुर्ग्राहकं वदन्ति, चक्षुषो रूपं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ।।२३।।

मूल : रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ।।२४।।

संस्कृत : रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः, आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ।।२४।।

मूल : जे यावि दोसं समुवेइ निच्चं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि रूवं अवरज्झई से ।।२५।।

संस्कृत : यश्चापि द्वेषं समुपैति नित्यम्, तस्मिन्क्षणे स तु समुपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य ।।२५।।

मूल : एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे, अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।।२६।।

संस्कृत : एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे, अतादृशे स करोति प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागो ।।२६।।

२१. समाधि (वीतरागता, एकाग्रता) की कामना रखने वाला तपस्वी श्रमण, जो-जो इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय हों, उनमें कभी (राग-) भाव (स्थापित) न करे, और जो अमनोज्ञ विषय हों, उनमें भी मन (को द्वेष-युक्त) न करे ।

२२. 'रूप' को 'चक्षु' (इन्द्रिय) का 'ग्राहक' आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है । वह (रूप सुन्दर होने से यदि) राग का हेतु (उत्पादक) हो तो उसे 'मनोज्ञ' कहा जाता है । (किन्तु) जो (रूप असुन्दर होने से) द्वेष का हेतु (उत्पादक) हो, उसे 'अमनोज्ञ' कहा जाता है । उन (मनोज्ञ या अमनोज्ञ-दोनों तरह के रूपों) में जो समभावी रहता है, वह (ही) 'वीतराग' (कहलाता) है ।

२३. चक्षु को 'रूप' का ग्राहक कहा जाता है और रूप को (भी) चक्षु का 'ग्राहक' (आकर्षक ग्राह्य विषय) कहा जाता है । राग के हेतु (रूप) को 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (रूप) को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है ।

२४. जो (मनोज्ञ) 'रूपों' में तीव्र आसक्ति रखता है, वह (रागातुर) असमय में ही उसी तरह विनाश को प्राप्त करता है, जिस तरह (प्रकाश-रूप के प्रति) रागासक्त पतंगा प्रकाश (दीपशिखा) के प्रति लोलुप होता हुआ मृत्यु को प्राप्त करता है ।

२५. जो (अमनोज्ञ 'रूपों' में) तीव्र द्वेष भी करता है, वह (प्राणी) तो उसी क्षण अपने ही दुर्दान्त (प्रचण्ड) द्वेष (या दोष) के कारण 'दुःख' (रूप परिणाम) को प्राप्त करता है । (दुःख पाने वाले) उस (प्राणी) का (वह अमनोज्ञ) 'रूप' कुछ भी (किंचिन्मात्र भी) अपराधी नहीं होता ।

२६. वह अज्ञानी (हित-अहित-विवेक-शून्य जीव) सुन्दर 'रूप' (के दर्शन आदि) में (तो) अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है, और जो सुन्दर न हो, उस (रूप) में द्वेष करता है, एवं (फलस्वरूप, दोनों ही स्थितियों में वह) दुःखों के समूह या (दुःखमयी पीड़ा) को प्राप्त करता है । (किन्तु) विरक्त मुनि उस (रूप से, या रागादि-जनित दुःखद परिणाम) से लिप्त नहीं हुआ करता ।

मूल : रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।। २७ ।।

संस्कृत : रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्, चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ।। २७ ।।

मूल : रूवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।। २८ ।।

संस्कृत : रूपानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तलाभः ।। २८ ।।

मूल : रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।। २९ ।।

संस्कृत : रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ।। २९ ।।

मूल : तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।। ३० ।।

संस्कृत : तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, रूपेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्द्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुखान्न विमुच्यते सः ।। ३०।।

मूल : मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।। ३१ ।।

संस्कृत : मृषावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः, रूपेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ।। ३१ ।।

२७. क्लिष्ट (राग से ग्रस्त/बाधित), एवं स्वार्थ को ही महत्व देने वाला, (वह) अज्ञानी (जीव, मनोज्ञ) 'रूप' (की प्राप्ति) की आशा में उसका अनुसरण करता हुआ (पीछे भागता हुआ) अनेकविध चर-अचर (त्रस-स्थावर) प्राणियों की हिंसा करता है, और विविध प्रकारों से उन्हें परिताप देता व पीड़ा पहुंचाता है ।

२८. (मनोज्ञ) 'रूप' के प्रति अनुराग व (ममत्व रूप) परिग्रह (की वृत्ति) के कारण (किये जाने वाले, और मनोज्ञ रूप वाले पदार्थ का) उत्पादन/उपार्जन, संरक्षण व सम्यक् उपभोग करते हुए, तथा उसके विनाश व वियोग की स्थिति में उस (प्राणी) को सुख कहां (मिल सकता है) ? (उस रूप का) उपभोग करते समय भी (उस को) तृप्ति नहीं मिल पाती ।

२९. (मनोज्ञ) 'रूप' (के उपभोग) से अतृप्त होता हुआ (अज्ञानी जीव) उस (रूप) के परिग्रह में (क्रमशः) आसक्त व अत्यासक्त होता हुआ कभी सन्तुष्टि नहीं प्राप्त कर पाता । असन्तुष्टि-दोष के कारण (वह) दुःखी एवं लोभ से व्याकुल होता हुआ परकीय अदत्त वस्तु को ग्रहण करने (अर्थात् चुराने) लगता है ।

३०. 'रूप' (के दर्शन रूप उपयोग) में अतृप्त रहने वाला तथा उसके परिग्रह करने में तृष्णा के वशीभूत (वह प्राणी पर वस्तुओं की) चोरी करता है, उसके (उक्त) लोभ-दोष के कारण माया (कपट) व असत्य (आचरण की प्रवृत्तियों) में वृद्धि होती है । (किन्तु) तब (झूठ व कपट आचरण के बाद) भी उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाती ।

३१. असत्य (आचरण) के अनन्तर, उससे पूर्व, तथा उसके आचरण के समय भी- (वह अज्ञानी) दुःखी होता है, और इसका परिणाम भी दुःखद होता है । इस तरह(मनोज्ञ) रूप से अतृप्त रहने एवं चोरी करने वाला (वह जीव) दुःखी व निराश्रित/असहाय हो जाता है ।

मूल : रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि? ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।। ३२ ।।

संस्कृत : रूपाणुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित्?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ।। ३२ ।।

मूल : एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।। ३३ ।।

संस्कृत : एवमेव रूपे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ।। ३३ ।।

मूल : रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।। ३४ ।।

संस्कृत : रूपे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।। ३४ ।।

मूल : सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।। ३५ ।।

संस्कृत : श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ।। ३५ ।।

मूल : सद्दस्स सोयं गहणं वयंति, सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।। ३६ ।।

संस्कृत : शब्दस्य श्रोत्रं ग्राहकं वदन्ति, श्रोत्रस्य शब्दं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ।। ३६ ।।

३२. इस प्रकार, (मनोज्ञ) 'रूप' के प्रति अनुरक्ति रखने वाले मनुष्य को किंचिन्मात्र भी, एवं किसी समय भी, कहां से सुख(प्राप्त) होगा? जिस (मनोज्ञ-रूपवान् वस्तु-की प्राप्ति) के लिए (वह इतना) कष्ट उठाता है, उस (वस्तु के प्राप्त होने पर, उस) के उपभोग में भी (उसे) क्लेश व दुःख (ही प्राप्त होता) है।

३३. इसी तरह, (अमनोज्ञ) 'रूप' के प्रति द्वेष रखने वाला (जीव भी, उत्तरोत्तर) दुःखों के समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेष से पूर्ण चित्त वाला वह (जीव) जिस-जिस (अशुभ) कर्म को उपार्जित करता (बांधता) है, वह (कर्म) अपने विपाक (फलोदय) के समय (इस जन्म में या परलोक में) पुनः दुःख-रूप (व दुःख का कारण) बन जाता है।

३४. (मनोज्ञ-अमनोज्ञ) 'रूप' के प्रति विरक्त (व द्वेष-रहित) मनुष्य शोक-रहित होता हुआ, संसार के मध्य रहते हुए भी, इस दुःख-समूह की (उत्तरोत्तर) परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं हुआ करता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल (में रहता हुआ भी, जल) से लिप्त नहीं होता ।

३५. 'शब्द' को 'श्रोत्र' (इन्द्रिय) का 'ग्राहक' -आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (उत्पादक) उस (शब्द) को तो 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (उत्पादक) उस (शब्द) को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है । (किन्तु) उन (मनोज्ञ व अमनोज्ञ-दोनों प्रकार के शब्दों) में जो समभावी रहता है, वह (ही) 'वीतराग' (कहलाता) है।

३६. श्रोत्र (इन्द्रिय) को शब्द का 'ग्राहक' कहा जाता है, और शब्द को (भी) श्रोत्र (इन्द्रिय) का 'ग्राहक' -आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (उत्पादक शब्द) को 'मनोज्ञ' (शब्द) कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (उत्पादक शब्द) को ' अमनोज्ञ' कहा जाता है।

मूल : **सद्दे सु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।**
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ।। ३७ ।।

संस्कृत : शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः, शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ।। ३७ ।।

मूल : **जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।**
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि सद्दं अवरज्झई से ।। ३८ ।।

संस्कृत : यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य ।। ३८ ।।

मूल : **एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे, अतालिसे से कुणई पओसं।**
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।। ३९ ।।

संस्कृत : एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः ।। ३९ ।।

मूल : **सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।**
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।। ४० ।।

संस्कृत : शब्दानुगाशानुगतश्चजीवः, चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ।। ४० ।।

मूल : **सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।**
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।। ४१ ।।

संस्कृत : शब्दानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तिलाभः ।। ४१ ।।

३७. जो (जीव प्रिय) शब्दों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह उसी प्रकार असामयिक विनाश को प्राप्त होता है, जिस प्रकार (प्रिय) शब्द (के श्रवण) से अतृप्ति का अनुभव करने वाला और (उस शब्द के प्रति) रागातुर होने वाला मुग्ध (विवेक-शून्य) हरिण (नामक) पशु मृत्यु को प्राप्त करता है।

३८. (इसी प्रकार) जो प्राणी (अप्रिय शब्दों के प्रति) तीव्र द्वेष भी करता है, वह तो उसी क्षण, अपने (ही) दुर्दान्त (प्रचण्ड) द्वेष (या दोष) के कारण, 'दुःख' (रूप फल) को प्राप्त करता है। (दुःख पाने वाले) उस (प्राणी) का वह (अप्रिय) शब्द किंचिन्मात्र भी अपराधी नहीं होता।

३९. वह अज्ञानी (हित-अहित-विवेक से शून्य जीव) मनोहर (प्रिय) शब्दों (के श्रवण) में अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है, और जो मनोहर (प्रिय) न हो उस (शब्द) में द्वेष करता है, (फलस्वरूप दोनों ही स्थितियों में वह) दुःखों के समूह (या दुःखमयी पीड़ा) को प्राप्त करता है, (किन्तु) विरक्त मुनि उस (शब्द से, या रागादि-जनित दुःखद परिणाम) से लिप्त नहीं हुआ करता।

४०. क्लिष्ट (राग से ग्रस्त/बाधित) एवं स्वार्थ को ही महत्व देने वाला (वह) अज्ञानी (जीव प्रिय) शब्दों (के श्रवण) की आशा में उसका अनुसरण करता हुआ (पीछे भागता हुआ) अनेकविध चर-अचर-(त्रस-स्थावर) प्रणियों की हिंसा करता है, तथा विविध प्रकारों से उन्हें परिताप देता व कष्ट पहुंचाता है।

४१. (प्रिय) शब्दों के प्रति अनुराग व (ममत्व-रूप) परिग्रह (की वृत्ति) के कारण (किये जाने वाले, और प्रिय शब्द वाले) पदार्थ का उत्पादन/उपार्जन, संरक्षण एवं सम्यक् उपयोग/उपभोग करते हुए, तथा उसके विनाश व वियोग की स्थिति में उस (प्राणी) को सुख कहां (मिल सकता है)? (उस शब्द का श्रवण रूप) उपभोग करते समय भी- (उस को) तृप्ति नहीं मिल पाती।

मूल : **सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।**
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।। ४२ ।।

संस्कृत : शब्देऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ।। ४२ ।।

मूल : **तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।**
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।। ४३ ।।

संस्कृत : तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ।। ४३ ।।

मूल : **मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।**
एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।। ४४ ।।

संस्कृत : मृषा (वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः, शब्देऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ।। ४४ ।।

मूल : **सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।**
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।। ४५ ।।

संस्कृत : शब्दानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं भवेत् कदापि किञ्चित्?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ।। ४५ ।।

मूल : **एमेव सद्दम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।**
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।। ४६ ।।

संस्कृत : एवमेव शब्दे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ।। ४६ ।।

४२. (प्रिय) शब्दों (के श्रवण) से अतृप्त होता हुआ (अज्ञानी जीव) उस (शब्द) के परिग्रह में (क्रमशः) आसक्त व अत्यासक्त होता हुआ कभी सन्तुष्टि नहीं प्राप्त कर पाता। असन्तुष्टि दोष के कारण (वह) दुःखी एवं लोभ से व्याकुल होता हुआ (प्रिय शब्द-श्रवण कराने वाली) परकीय अदत्त वस्तु को ग्रहण करने (अर्थात् चुराने) लगता है।

४३. शब्दों (के श्रवण रूप उपभोग) से अतृप्त रहने वाला, तथा उसके परिग्रह करने में तृष्णा के वशीभूत (वह प्राणी) (परकीय वस्तुओं की) चोरी करता है, उसके (उक्त) लोभ-दोष के कारण, माया (कपट) व असत्य (आचरण की प्रवृत्तियों) में वृद्धि होती है। (किन्तु) तब (झूठ व कपट आचरण के बाद) भी, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाती।

४४. असत्य (आचरण) के अनन्तर, उससे पूर्व, तथा उसके आचरण के समय भी वह (अज्ञानी) दुःखी होता है, और इसका परिणाम भी दुःखद होता है, इस तरह, (प्रिय) शब्दों से अतृप्त रहने एवं चोरी वाले वाला (वह प्राणी-जीव) दुःखी व निराश्रित/असहाय हो जाता है।

४५. इस प्रकार, (प्रिय) शब्दों के प्रति अनुरक्ति रखने वाले मनुष्य को किंचिन्मात्र भी, एवं किसी समय भी, कहां से सुख (प्राप्त) होगा? जिस (प्रिय शब्द-श्रवण) के लिए (वह इतना) कष्ट उठाता है, उस (मधुर स्वरयुक्त व्यक्ति/वस्तु के प्राप्त होने पर, उस) के उपभोग में भी (उसे) क्लेश व दुःख (ही प्राप्त होता) है।

४६. इसी तरह, (अप्रिय) शब्दों के प्रति द्वेष रखने वाला (जीव भी, उत्तरोत्तर) दुःखों के समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेष से पूर्ण चित्त वाला वह (जीव) जिस-जिस अशुभ कर्म को उपार्जित करता (बांधता) है, वह (कर्म) अपने विपाक (फलोदय) के समय (इस जन्म में या परलोक में) पुनः दुःख-रूप (दुःख का कारण) बन जाता है।

मूल : **सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।**
न लिप्पई भवमज्झेवि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।। ४७ ।।

संस्कृत : शब्दे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।। ४७ ।।

मूल : **घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।। ४८ ।।

संस्कृत : घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ।। ४८ ।।

मूल : **गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति।**
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।। ४९ ।।

संस्कृत : गन्धस्य घ्राणं ग्राहकं वदन्ति, घ्राणस्य गन्धं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहु, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ।। ४९ ।।

मूल : **गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।**
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ।। ५० ।।

संस्कृत : गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनांशम्।
रागातुर औषधिगन्धगृद्धः, सर्पो बिलादिव निष्क्रामन् ।। ५० ।।

मूल : **जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।**
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि गंधं अवरज्झई से ।। ५१ ।।

संस्कृत : यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिद्गन्धोऽपराध्यति तस्य ।। ५१ ।।

४७. (प्रिय या अप्रिय) शब्दों के प्रति विरक्त (व द्वेष-रहित) मनुष्य शोक रहित होता हुआ, संसार के मध्य रहते हुए भी, इस दुःख-समूह की (उत्तरोत्तर) परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं हुआ करता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल (में रहता हुआ भी जल) से लिप्त नहीं होता।

४८. गन्ध को घ्राण (इन्द्रिय) का 'ग्राहक'- आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (उत्पादक) उस गन्ध को तो 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (उत्पादक) उस (गन्ध) को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है। 'किन्तु' उन (मनोज्ञ व अमनोज्ञ-दोनों प्रकार की गन्धों) में जो समभावी रहता है, वह (ही) 'वीतराग' (कहलाता) है।

४९. घ्राण (इन्द्रिय) को गन्ध का ग्राहक कहा जाता है, और गन्ध को (भी) घ्राण (इन्द्रिय) का 'ग्राहक'- आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (उत्पादक) गन्ध को तो 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (उत्पादक) गन्ध को ' अमनोज्ञ' कहा जाता है।

५०. जो (जीव प्रिय) गन्ध में तीव्र आसक्ति रखता है, वह उसी प्रकार असामयिक विनाश को प्राप्त होता है जिस प्रकार, (नागदमनी आदि) औषधियों (जड़ी-बूटियों) की (प्रिय) गन्ध के प्रति आसक्त होकर, अपने बिल से निकलने वाला रागातुर सर्प (विनाश को प्राप्त होता है।)

५१. (इसी प्रकार,) जो प्राणी (अप्रिय गन्ध के प्रति) तीव्र द्वेष भी करता है, वह तो उसी क्षण, अपने (ही) दुर्दान्त (प्रचण्ड) द्वेष (या दोष) के कारण, 'दुःख' (रूप फल) को प्राप्त करता है। (दुःख पाने वाले) उस (प्राणी) का वह (अप्रिय) गन्ध किंचिन्मात्र भी अपराधी नहीं होता।

मूल : **एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे, अतालिसे से कुणई पओसं।**
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।।५२।।

संस्कृत : एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे, अतादृशे स करोति प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ।।५२।।

मूल : **गंधाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।**
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।।५३।।

संस्कृत : गन्धानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ।।५३।।

मूल : **गंधाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।**
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।।५४।।

संस्कृत : गन्धानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तिलाभः ।।५४।।

मूल : **गन्धे अतित्तो व परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।**
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।।५५।।

संस्कृत : गन्धे अतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपासक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ।।५५।।

मूल : **तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।**
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।।५६।।

संस्कृत : तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, गन्धेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ।।५६।।

५२. वह अज्ञानी(हित-अहित के विवेक से शून्य जीव) रुचिर (प्रिय) गन्ध (को सूंघने) में अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है, और जो प्रिय न हो उस (गन्ध) में द्वेष करता है, (फलस्वरूप, दोनों ही स्थितियों में वह) दुःखों के समूह (या दुःखमयी पीड़ा) को प्राप्त करता है। (किन्तु) विरक्त मुनि उस (गन्ध से, या रागादि-जनित दुःखद परिणाम) से लिप्त नहीं हुआ करता।

५३ क्लिष्ट (राग से बाधित/ग्रस्त) एवं स्वार्थ को ही महत्व देने वाला (वह) अज्ञानी (जीव, प्रिय) सुगन्ध की आशा में उसका अनुसरण करता हुआ (पीछे दौड़ता हुआ) अनेकविध चर-अचर (त्रस-स्थावर) प्राणियों की हिंसा करता है, तथा विविध प्रकारों से उन्हें परिताप देता व कष्ट पहुंचाता है।

५४. सुगन्ध के प्रति अनुराग व (ममत्व-रूप) परिग्रह (की वृत्ति) के कारण किये जाने वाले, और सुगन्ध या सुगन्धयुक्त पदार्थ (का) उत्पादन/उपार्जन, संरक्षण एवं सम्यक् उपयोग/उपभोग करते हुए, तथा उसके विनाश व वियोग की स्थिति में उस (प्राणी) को सुख कहां (मिल सकता है)? (उस सुगन्ध का) उपभोग करते समय भी (उस प्राणी को) तृप्ति नहीं मिल पाती।

५५. सुगन्ध से अतृप्त होता हुआ (अज्ञानी प्राणी) उस (सुगन्ध) के परिग्रह में (क्रमशः) आसक्त व अत्यासक्त होता हुआ कभी सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर पाता। असन्तुष्टि-दोष के कारण (वह) दुःखी एवं लोभ से व्याकुल होता हुआ (सुगन्धयुक्त) परकीय अदत्त वस्तु को ग्रहण करने (अर्थात् चुराने) लगता है।

५६. सुगन्ध से अतृप्त रहने वाला, तथा उसका परिग्रह करने में तृष्णा के वशीभूत (वह प्राणी परकीय सुगन्धित-वस्तुओं की) चोरी करता है, उसके (उक्त) लोभ-दोष के कारण, माया (कपट) तथा असत्य (आचरण की प्रवृत्तियों) में वृद्धि होती है। (किन्तु) तब (झूठ व कपट आचरण के बाद) भी, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाती।

मूल : **मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।**
एवं अदत्ताणि समाययंतो, गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।। ५७ ।।

संस्कृत : मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, गन्धेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ।। ५७ ।।

मूल : **गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।**
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।। ५८ ।।

संस्कृत : गन्धानुरक्तस्य नरस्येवं, कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ।। ५८ ।।

मूल : **एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।**
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।। ५९ ।।

संस्कृत : एवमेव गन्धे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
अदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ।। ५९ ।।

मूल : **गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।**
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।। ६० ।।

संस्कृत : गंन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।। ६० ।।

मूल : **जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।**
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।। ६१ ।।

संस्कृत : जिह्वाया रसं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ।। ६१ ।।

५७. असत्य (आचरण) के अनन्तर, उससे पूर्व, तथा उसके आचरण के समय भी, (वह अज्ञानी) दुःखी होता है, और इसका परिणाम भी दुःखद होता है। इस तरह, सुगन्ध से अतृप्त रहने एवं चोरी करने वाला (वह प्राणी) दुःखी व निराश्रित/असहाय हो जाता है।

५८. इस प्रकार, सुगन्ध के प्रति अनुरक्ति रखने वाले मनुष्य को किंचिन्मात्र भी, एवं किसी समय भी, कहां से सुख (प्राप्त) होगा? जिस (सुगन्धित पदार्थ की प्राप्ति) के लिए (वह इतना) कष्ट उठाता है, उस (के प्राप्त होने पर भी,उस) के उपभोग में भी (उसे) क्लेश व दुःख (ही प्राप्त होता) है।

५९. इसी तरह, (अप्रिय) दुर्गन्ध के प्रति द्वेष रखने वाला (जीव भी, उत्तरोत्तर) दुःखों के समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेष से पूर्ण चित्त वाला वह (जीव) जिस (अशुभ) कर्म को उपार्जित करता (बांधता) है, वह (कर्म) भी अपने विपाक (फलोदय) के समय (इस जन्म में या परलोक में) पुनः दुःख रूप (या दुःख का कारण) बन जाता है।

६०. गन्ध (सुगन्ध व दुर्गन्ध) के प्रति विरक्त (व द्वेष-रहित) मनुष्य शोक-रहित होता हुआ, संसार के मध्य रहते हुए भी, इस दुःख-समूह की (उत्तरोत्तर) परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं हुआ करता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल (में रहता हुआ भी, जल) से लिप्त नहीं होता।

६१. 'रस' को 'जिह्वा' (इन्द्रिय) का ग्राहक-आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (उत्पादक) उस (रस) को तो 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (उत्पादक) उस (रस) को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है (किन्तु) उन (मनोज्ञ व अमनोज्ञ-दोनों प्रकार के रसों) में जो समभावी रहता है, वह (ही) 'वीतराग' (कहलाता) है।

मूल : रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।।६२।।

संस्कृत : रसस्य जिह्वां ग्राहिकां वदन्ति, जिह्वाया रसं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ।।६२।।

मूल : रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ।।६३।।

संस्कृत : रसेषु यो गुद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः, मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ।।६३।।

मूल : जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि रसं अवरज्झई से ।।६४।।

संस्कृत : यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिद्रसोऽपराध्यति तस्य ।।६४।।

मूल : एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि, अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।।६५।।

संस्कृत : एकान्तरक्तो रुचिरे रसे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ।।६५।।

मूल : रसाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।।६६।।

संस्कृत : रसानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ।।६६।।

६२. जिंह्वा (इन्द्रिय) को 'रस' का 'ग्राहक' कहा जाता है, और 'रस' को (भी) जिह्वा (इन्द्रिय) का 'ग्राहक'- आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (उत्पादक रस) को 'मनोज्ञ' (या रुचिकर रस) कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (उत्पादक रस) को 'अमनोज्ञ' (या अरुचिकर रस) कहा जाता है।

६३. जो (जीव रुचिकर) रसों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह उसी प्रकार असामयिक विनाश को प्राप्त होता है, जिस प्रकार मांस खाने में आसक्ति रखने वाला रागातुर मत्स्य लोहे के कांटे से बिद्ध (क्षत-विक्षत) शरीर वाला होकर (मृत्यु को प्राप्त होता है)।

६४. (इसी प्रकार) जो प्राणी (अरुचिकर रसों के प्रति) तीव्र द्वेष भी करता है, वह तो उसी क्षण, अपने (ही) दुर्दान्त (प्रचण्ड) द्वेष (या दोष) के कारण, 'दुःख' (रूप फल) को प्राप्त करता है। (दुःख पाने वाले) उस (प्राणी) का वह (अरुचिकर) 'रस' किंचिन्मात्र भी अपराधी नहीं होता।

६५. वह अज्ञानी (हित-अहित के विवेक से शून्य जीव) (रुचिकर) रस (के स्वाद) में अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है, और जो रुचिकर न हो उस (रस) में द्वेष करता है। (फलस्वरूप, दोनों ही स्थितियों में वह) दुःखों के समूह (या दुःखमयी पीड़ा) को प्राप्त करता है, (किन्तु) विरक्त मुनि उस (रस से, या रागादि-जनित दुःखद परिणाम) से लिप्त नहीं हुआ करता।

६६. क्लिष्ट (राग से ग्रस्त/बाधित) एवं स्वार्थ को ही महत्व देने वाला (वह) अज्ञानी (जीव, रुचिकर) रस (के स्वाद) की आशा में उसका अनुसरण करता हुआ (पीछे भाग-दौड़ करता हुआ) अनेक-विध चर-अचर (त्रस-स्थावर) प्राणियों की हिंसा करता है, तथा विविध प्रकारों से उन्हें परिताप देता व कष्ट पहुंचाता है।

मूल : **रसाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।**
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।। ६७ ।।

संस्कृत : रसानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तिलाभः ।। ६७ ।।

मूल : **रसे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।**
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।। ६८ ।।

संस्कृत : रसेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविले आदत्तेऽदत्तम् ।। ६८ ।।

मूल : **तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।**
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।। ६९ ।।

संस्कृत : तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, रसेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया मृषा वर्धते लोभदोषातु, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ।। ६९ ।।

मूल : **मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।**
एवं अदत्ताणि समाययंतो,रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।। ७० ।।

संस्कृत : मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः, रसेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ।। ७० ।।

मूल : **रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।**
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।। ७१ ।।

संस्कृत : रसानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं स्यात् कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ।। ७१ ।।

६७. (रुचिकर) रस के प्रति अनुराग व (ममत्व रूप) परिग्रह (की वृत्ति) के कारण (किये जाने वाले, और रुचिकर रस-युक्त पदार्थ का) उत्पादन/उपार्जन, संरक्षण एवं सम्यक् उपयोग/उपभोग करते हुए, तथा उसके विनाश व वियोग की स्थिति में उस (प्राणी) को सुख कहां (मिल सकता है)? (उस रस के स्वाद रूप) उपभोग के समय भी, (उस प्राणी को) तृप्ति नहीं मिल पाती।

६८. (रुचिकर) रस (के स्वाद) से अतृप्त होता हुआ (अज्ञानी प्राणी) उस (रस) के परिग्रह में (क्रमशः) आसक्त व अत्यासक्त होता हुआ कभी सन्तुष्टि नहीं प्राप्त करता। असन्तुष्टि दोष के कारण, (वह) दुःखी एवं लोभ से व्याकुल होता हुआ (रुचिकर रस युक्त) परकीय अदत्त वस्तु को ग्रहण करने (अर्थात् चुराने) लगता है।

६९. रस (के स्वाद रूप उपभोग) से अतृप्त रहने वाला, तथा उसके परिग्रह की प्रवृत्ति में तृष्णा के वशीभूत (वह प्राणी परकीय वस्तुओं की) चोरी करता है। उसके (उक्त) लोभ-दोष के कारण, माया (कपट) व असत्य (आचरण की प्रवृत्तियों) में वृद्धि होती है। (किन्तु) तब (झूठ व कपट आचरण के बाद) भी, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाती।

७०. असत्य (आचरण) के अनन्तर, उससे पूर्व, तथा उसके आचरण के समय भी (वह अज्ञानी) दुःखी होता है, और इसका परिणाम भी दुःखद होता है। इस तरह (रुचिकर) स्वाद से अतृप्त रहने एवं चोरी करने वाला (वह प्राणी) दुःखी व निराश्रित/असहाय हो जाता है।

७१. इस प्रकार, (रुचिकर) रस के प्रति अनुरक्ति रखने वाले मनुष्य को किंचिन्मात्र भी, एवं किसी समय भी, सुख कहां से (प्राप्त) होगा? जिस (रुचिकर रस-युक्त पदार्थ की प्राप्ति) के लिए (वह इतना) कष्ट उठाता है, उस (पदार्थ के प्राप्त होने पर, उस) के उपभोग में भी (उसे) क्लेश व दुःख (ही प्राप्त होता) है।

मूल : **एमेव रसंमि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।**
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।।७२।।

संस्कृत : एवमेव रसे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ।।७२।।

मूल : **रसे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।**
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी पलासं ।।७३।।

संस्कृत : रसे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।।७३।।

मूल : **कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।।७४।।

संस्कृत : कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ।।७४।।

मूल : **फासस्स कायं गहणं वयंति, कायस्स फासं गहणं वयंति।**
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।।७५।।

संस्कृत : स्पर्शस्य कायं ग्राहकं वदन्ति, कायस्य स्पर्शं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ।।७५।।

मूल : **फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।**
रागाउरे सीयजलावसन्ने,. गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ।।७६।।

संस्कृत : स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः शीतजलावसन्नः, ग्राहगृहीतो महिष इवारण्ये ।।७६।।

७२. इसी प्रकार, (अरुचिकर) रस के प्रति द्वेष रखने वाला (जीव भी, उत्तरोत्तर) दुःखों के समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेष से पूर्ण चित्त वाला वह (जीव) जिस-जिस (अशुभ) कर्म को उपार्जित करता (बांधता) है, वह (कर्म) भी अपने विपाक(फलोदय)के समय (इस जन्म में या परलोक में) पुनः दुःखरूप (व दुःख का कारण) बन जाता है।

७३. (रुचिकर-अरुचिकर) रस के प्रति विरक्त(व द्वेष-रहित)मनुष्य शोक-रहित होता हुआ, संसार के मध्य रहते हुए भी, इस दुःख-समूह की (उत्तरोत्तर) परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं हुआ करता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल (में रहता हुआ भी, जल)से लिप्त नहीं होता।

७४. स्पर्श को 'काय' (स्पर्शन-इन्द्रिय) का 'ग्राहक'-आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। वह (स्पर्श सुखकर होने से यदि) राग का हेतु (उत्पादक) हो तो उसे 'मनोज्ञ' कहा जाता है। (किन्तु) जो (स्पर्श दुःखद होने से) द्वेष का हेतु (उत्पादक) हो तो उसे, 'अमनोज्ञ' कहा जाता है। (उन सुखकर या असुखकर-दोनों तरह के स्पर्शों) में जो समभावी रहता है, वह (ही) 'वीतराग' (कहलाता) है।

७५. 'काय' (स्पर्शन-इन्द्रिय) को स्पर्श का 'ग्राहक' कहा जाता है, और स्पर्श को (भी) 'काय' का 'ग्राहक' - आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (स्पर्श) को 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु (स्पर्श) को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है।

७६. जो (मनोज्ञ, सुखकर) स्पर्शों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह (रागातुर) असमय में उसी तरह विनाश को प्राप्त करता है, जिस तरह वन में (जलाशय के) शीतल जल (के स्पर्श) में आसक्ति रखने वाला रागासक्त भैंसा मगरमच्छ द्वारा निगृहीत होकर (मृत्यु को प्राप्त होता है)।

मूल : जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जन्तू, न किंचि फासं अवरज्झई से ।। ७७ ।।

संस्कृत : यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चित्स्पर्शोऽपराध्यति तस्य ।। ७७ ।।

मूल : एगंतरत्ते रुइरंसि फासे, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।। ७८ ।।

संस्कृत : एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ।। ७८ ।।

मूल : फासाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।। ७९ ।।

संस्कृत : स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ।। ७९ ।।

मूल : फासाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।। ८० ।।

संस्कृत : स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ।। ८० ।।

मूल : फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।। ८१ ।।

संस्कृत : स्पर्शेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ।। ८१ ।।

७७. जो (अरुचिकर स्पर्श में) तीव्र द्वेष भी करता है, वह (प्राणी) तो उसी क्षण अपने (ही) दुर्दान्त (प्रचण्ड) द्वेष (या दोष) के कारण, 'दुःख' (रूप परिणाम) को प्राप्त करता है। (दुःख पाने वाले) उस (प्राणी) का (वह अरुचिकर) स्पर्श कुछ भी (किंचिन्मात्र भी) अपराधी नहीं होता।

७८. वह अज्ञानी (हित-अहित के विवेक से शून्य जीव) रुचिकर स्पर्श में अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है, और जो रुचिकर न हो उस (स्पर्श) में द्वेष करता है, एवं (फल-स्वरूप, दोनों ही स्थितियों में वह) दुःखों के समूह (या दुःखमयी पीड़ा) को प्राप्त करता है। (किन्तु) विरक्त मुनि उस (स्पर्श से, या रागादि-जनित दुःखद परिणाम) से लिप्त नहीं हुआ करता।

७९. क्लिष्ट (राग से ग्रस्त/बाधित) एवं स्वार्थ को ही महत्व देने वाला (वह) अज्ञानी (जीव रुचिकर) स्पर्श (की प्राप्ति) की आशा में उसका अनुसरण करता हुआ (पीछे भागता हुआ), अनेकविध चर-अचर (त्रस-स्थावर) प्राणियों की हिंसा करता है, और विविध प्रकारों से उन्हें परिताप देता व पीड़ा पहुंचाता है।

८०. (रुचिकर) स्पर्श के प्रति अनुराग व (ममत्व रूप) परिग्रह (की वृत्ति) के कारण (किये जाने वाले, और रुचिकर स्पर्श वाले पदार्थ का) उत्पादन/उपार्जन, संरक्षण व सम्यक् उपयोग/उपभोग करते हुए, तथा उसके विनाश व वियोग की स्थिति में उस (प्राणी) को सुख कहां (मिल सकता है)? (उस स्पर्श) का उपयोग करते समय भी (उस प्राणी को) तृप्ति नहीं मिल पाती।

८१. (रुचिकर) स्पर्श (के उपयोग) से अतृप्त होता हुआ (अज्ञानी प्राणी) उस (स्पर्श) के परिग्रह में (क्रमशः) आसक्त व अत्यासक्त होता हुआ, कभी संतुष्टि नहीं प्राप्त कर पाता। असन्तुष्टि-दोष के कारण (वह) दुःखी एवं लोभ से व्याकुल होता हुआ, परकीय अदत्त (रुचिर-स्पर्शयुक्त) वस्तु को ग्रहण करने (अर्थात् चुराने) लगता है।

मूल : **तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।**
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।। ८२ ।।

संस्कृत : तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः, स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ।। ८२ ।।

मूल : **मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।**
एवं अदत्ताणि समाययंतो, फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।। ८३ ।।

संस्कृत : मृषा (वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः, स्पर्शेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ।। ८३ ।।

मूल : **फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?**
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।। ८४ ।।

संस्कृत : स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं भूयात्कदापि किञ्चित्?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ।। ८४ ।।

मूल : **एमेव फासम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।**
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।। ८५ ।

संस्कृत : एवमेव स्पर्शे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ।। ८५ ।।

मूल : **फासे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।**
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।। ८६ ।।

संस्कृत : स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।। ८६ ।।

८२. स्पर्श (के उपभोग) में अतृप्त रहने वाला, तथा उसके परिग्रह करने में तृष्णा के वशीभूत-(वह प्राणी परकीय वस्तुओं की) चोरी करता है, उसके (उक्त) लोभ-दोष के कारण, माया (कपट) व असत्य (आचरण की प्रवृत्तियों) में वृद्धि होती है। (किन्तु) तब (झूठ व कपट आचरण के बाद) भी, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाती।

८३. असत्य (आचरण) के अनन्तर, उससे पूर्व, तथा उसके आचरण के समय भी (वह अज्ञानी) दुःखी होता है, और इसका परिणाम भी दुःखद होता है। इस तरह, (रुचिकर) स्पर्श से अतृप्त रहने एवं चोरी करने वाला (वह प्राणी) दुःखी व निराश्रित/असहाय हो जाता है।

८४. इस प्रकार, (रुचिकर) स्पर्श के प्रति अनुरक्ति रखने वाले मनुष्य को किंचिन्मात्र भी, एवं किसी समय भी, कहां से सुख (प्राप्त) होगा? जिस (रुचिकर स्पर्श वाली वस्तु की प्राप्ति) के लिए(वह इतना) कष्ट उठाता है, उस (वस्तु के प्राप्त होने पर, उस) के उपभोग में भी (उसे) क्लेश व दुःख (ही प्राप्त होता) है।

८५. इसी तरह, (अरुचिकर) स्पर्श के प्रति द्वेष रखने वाला (जीव भी, उत्तरोत्तर) दुःखों के समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेष से पूर्ण चित्त वाला वह (जीव) जिस-जिस (अशुभ) कर्म को उपार्जित करता (बांधता) है, वह (कर्म) भी अपने 'विपाक' (फलोदय) के समय (इस जन्म में या परलोक में) पुनः दुःखरूप (व दुःख का कारण) बन जाता है।

८६. (रुचिकर व अरुचिकर) स्पर्श के प्रति विरक्त (व द्वेष-रहित) मनुष्य शोक-रहित होता हुआ, संसार के मध्य रहते हुए भी, इस दुःख-समूह की (उत्तरोत्तर) परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं हुआ करता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल (में रहता हुआ भी, जल) से लिप्त नहीं होता।

मूल : **मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।। ८७ ।।

संस्कृत : मनसो भावं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ।। ८७ ।।

मूल : **भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति।**
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।। ८८ ।।

संस्कृत : भावस्य मनो ग्राहकं वदन्ति, मनसो भावं ग्राह्यं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ।। ८८ ।।

मूल : **भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।**
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ।। ८९ ।।

संस्कृत : भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः कामगुणेषु गृद्धः, करेणुमार्गापहृत इव नागः ।। ८९ ।।

मूल : **जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।**
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि भावं अवरज्झई से ।। ९० ।।

संस्कृत : यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिद्भावोऽपराध्यति तस्य ।। ९० ।।

८७. 'भाव' (विचार, चिन्तन, स्मरण, आदि) को मन (अनिन्द्रिय) का 'ग्राहक'- आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। (मनोज्ञ 'रूप' 'रस' आदि विषयों से सम्बन्धित होने के कारण) राग के हेतु (उत्पादक) उस (भाव) को तो 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और (अप्रिय रूप, रस आदि विषयों से सम्बन्धित होने के कारण) द्वेष के हेतु (उत्पादक) उस (भाव) को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है। (किन्तु) उन (मनोज्ञ व अमनोज्ञ-दोनों प्रकार के भावों) में जो समभावी रहता है, वह (ही) 'वीतराग' (कहलाता) है।

८८. मन को 'भाव' (विचार, चिन्तन, स्मरण आदि) का 'ग्राहक' कहा जाता है, और 'भाव' (विचार, चिन्तन, स्मरण आदि) को (भी) मन का 'ग्राहक'- आकर्षक (ग्राह्य विषय) कहा जाता है। राग के हेतु (भाव) को 'मनोज्ञ' कहा जाता है, और द्वेष के हेतु ('भाव') को 'अमनोज्ञ' कहा जाता है।

८९. जो (मनोज्ञ 'रूप' आदि विषयों से सम्बन्धित) 'भावों' (विचारों, स्मृतियों, संकल्प-विकल्पों आदि) में तीव्र आसक्ति रखता है, वह (रागातुर प्राणी) असमय में ही उसी तरह विनाश को प्राप्त होता है, जिस तरह, (राग-वश) हथिनी के (पीछे-पीछे उसके) मार्ग पर (चलता हुआ, शिकारियों द्वारा बलात्) अपहृत होकर, (अथवा हथिनी के राग में अपने मार्ग से भ्रष्ट होकर) काम-भोग-आसक्त व रागातुर हाथी (मृत्यु को प्राप्त होता है)।

९० (अमनोज्ञ-'रूप' आदि से सम्बन्धित) 'भाव' के प्रति जो तीव्र द्वेष भी करता है, वह (प्राणी) तो उसी क्षण अपने (ही) दुर्दान्त (प्रचण्ड) द्वेष (या दोष) के कारण, दुःख (रूप परिणाम) को प्राप्त करता है। (दुःख पाने वाले) उस (प्राणी) का वह (अमनोज्ञ) भाव कुछ भी (किंचिन्मात्र भी) अपराधी नहीं होता।

मूल : **एगंतरत्ते रुइरंसि भावे, अतालिसे से कुणई पओसं।**
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।।६१।।

संस्कृत : एकान्तरक्तो रुचिरे भावे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ।।६१।।

मूल : **भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।**
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ।।६२।।

संस्कृत : भावानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान्।
चित्तैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ।।६२।।

मूल : **भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।**
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ।।६३।।

संस्कृत : भावानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चाऽतृप्तिलाभे ।।६३।।

मूल : **भावे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।**
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ।। ।६४।।

संस्कृत : भावेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ।।६४।।

६१. वह अज्ञानी (हित-अहित के विवेक से शून्य जीव) रुचिकर (मनोज्ञ) 'भाव' में अत्यन्त अनुरक्त हो जाता है, और जो रुचिकर न हो उस (भाव) मे द्वेष करता है, एवं (फल-स्वरूप, दोनों ही स्थितियों में वह) दुःखों के समूह (या दुःखमयी पीड़ा) को प्राप्त करता है। (किन्तु) विरक्त मुनि उस 'भाव' (से, या उसके दुःखद परिणाम) से लिप्त नहीं होता।

६२. 'क्लिष्ट' (राग से ग्रस्त/बाधित), एवं स्वार्थ को ही महत्व देने वाला (वह) अज्ञानी (जीव,मनोज्ञ) 'भाव'-सम्बन्धी (अर्थात् मनोरथ-पूर्ति सम्बन्धी) आशा का अनुगामी होता हुआ, अनेकविध चर-अचर (त्रस-स्थावर) प्राणियों की हिंसा करता है, और विविध प्रकारों से उन्हें परिताप देता व कष्ट पहुंचाता है।

६३. (मनोज्ञ) भावों के प्रति 'अनुराग' (अर्थात् विषयों/भोग्य पदार्थों के सेवन के सम्बन्ध में बार-बार चिन्तन, स्मरण आदि की इच्छा) के कारण, तथा परिग्रह (अर्थात् मनोज्ञ भावों के अनुकूल भोग्य पदार्थों के अधिक संग्रह करने की लालसा) के कारण, (मनोज्ञ भावों के अनुकूल पदार्थों का) उत्पादन, रक्षण व सम्यक् उपयोग/उपभोग करते हुए, तथा उनके विनाश व वियोग की स्थिति में उस (प्राणी) को सुख कहां (मिल सकता है)? (उस मनोज्ञ भावों के) उपभोग-काल में (अर्थात् विचारों की उधेड़बुन के समय, पूर्व-भुक्त पदार्थों के स्मरण करते समय) भी (उस प्राणी को) तृप्ति नहीं मिल पाती।

६४. (मनोज्ञ) 'भावों' से अतृप्त होता हुआ (अज्ञानी प्राणी) उस (भाव के अनुकूल पदार्थों) के परिग्रह में (क्रमशः) आसक्त व अत्यासक्त होता हुआ, कभी संतुष्टि नहीं प्राप्त कर पाता। (इस) असन्तुष्टि-दोष के कारण (वह) दुःखी एवं लोभ से व्याकुल होता हुआ, परकीय अदत्त (भावानुकूल) वस्तु को ग्रहण करने (अर्थात् चुराने) लगता है।

मूल : **तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।**
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।। ६५ ।।

संस्कृत : तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः, भावेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ।। ६५ ।।

मूल : **मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।**
एवं अदत्ताणि समाययंतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।। ६६ ।।

संस्कृत : मृषा-(वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः, भावेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ।। ६६ ।।

मूल : **भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।**
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।। ६७ ।।

संस्कृत : भावानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं स्यात्कदापि किञ्चित्।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ।। ६७ ।।

मूल : **एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।**
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।। ६८ ।।

संस्कृत : एवमेव भावे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ।। ६८ ।।

मूल : **भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।**
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।। ६९ ।।

संस्कृत : भावे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ।। ६९ ।।

९५. (मनोज्ञ) 'भावों' से अतृप्त रहने वाला, तथा उसके परिग्रह (अर्थात् विषय-सेवन के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प-स्मरण व दुर्भाव आदि करने में, या अपने मनोरथ के अनुकूल पदार्थों के संग्रह) करने में तृष्णा के वशीभूत (वह प्राणी परकीय वस्तुओं की) चोरी करता है, उसके (उक्त) लोभ-दोष के कारण, माया (कपट) व असत्य (आचरण की प्रवृत्तियों) में वृद्धि होती है। (किन्तु) तब (झूठ व कपट आचरण के बाद) भी, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल पाती।

९६. असत्य (आचरण) के अनन्तर, उससे पूर्व, तथा उसके आचरण के समय भी (वह अज्ञानी) दुःखी होता है, और इसका परिणाम भी दुःखद होता है। इस तरह, (मनोज्ञ) 'भाव' से अतृप्त रहने एवं चोरी करने वाला (वह प्राणी) दुःखी व निराश्रित/ असहाय हो जाता है।

९७. इस प्रकार (मनोज्ञ) 'भाव'-सम्बन्धी अनुराग रखने वाले मनुष्य को किंचिन्मात्र भी, एवं किसी समय भी, कहां से सुख (प्राप्त) होगा? जिस (मनोज्ञ भाव के अनुकूल वस्तु की प्राप्ति) के लिए (वह इतना) कष्ट उठाता है, उस (वस्तु को प्राप्त होने पर, उस) के उपभोग में भी (उसे) क्लेश व दुःख (ही प्राप्त होता) है।

९८. इसी तरह, (अमनोज्ञ) 'भाव' के प्रति द्वेष रखने वाला (जीव भी, उत्तरोत्तर) दुःखों के समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेष से पूर्ण चित्त वाला वह (जीव) जिस-जिस (अशुभ) कर्म को उपार्जित करता (बांधता) है, वह (कर्म) भी अपने 'विपाक' (फलोदय) के समय (इस जन्म में या परलोक में) पुनः दुःख रूप (व दुःख का कारण) बन जाता है।

९९. (मनोज्ञ व अमनोज्ञ) 'भाव' के प्रति विरक्त (व द्वेष-रहित) मनुष्य शोक-रहित होता हुआ, संसार के मध्य रहते हुए भी, इस दुःख समूह की (उत्तरोत्तर) परम्परा से, उसी तरह लिप्त नहीं हुआ करता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल (में रहता हुआ भी, जल) से लिप्त नहीं होता।

मूल : **एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।**
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि ।। १०० ।।

संस्कृत : एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः, दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः ।
ते चेव स्तोकमपि कदापि दुःखं, न वीतरागस्य कुर्वन्ति किञ्चित् ।। १०० ।।

मूल : **न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति ।**
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ।। १०१ ।।

संस्कृत : न काम-भोगाः समतामुपयान्ति, न चापि भोगा विकृतिमुपयान्ति ।
यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च, स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ।। १०१ ।।

मूल : **कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुंछं अरइं रइं च ।**
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं, नपुंसवेयं विविहे य भावे ।। १०२ ।।

संस्कृत : क्रोधं च मानं च तथैव मायां, लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च ।
हास्यं भयं शोकं पुंस्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं विविधांश्च भावान् ।। १०२ ।।

मूल : **आवज्जई एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ।**
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ।। १०३ ।।

संस्कृत : आपद्यते एवमनेकरूपान्, एवंविधान् कामगुणेषु सक्तः ।
अन्यांश्चैतत्प्रभवान् विशेषान्, कारुण्यदीनो ह्रीमान् द्वेष्यः ।। १०३ ।।

मूल : **कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू, पच्छाणुतावे ण तवप्पभावं ।**
एवं वियारे अमियप्पयारे, आवज्जई इंदियचोरवस्से ।। १०४ ।।

संस्कृत : कल्पं नेच्छेत्साहाय्यलिप्सुः, पश्चादनुतापो न तपः प्रभावम् ।
एवं विकारानमितप्रकारान्, आपद्यते इन्द्रियचौरवश्यः ।। १०४ ।।

१००. इस(उपर्युक्त) प्रकार से, इन्द्रियों के (रूप, रस आदि) जो विषय, और मन के जो (प्रशस्त-अप्रशस्त विचार, संकल्प, विकल्प, स्मृति आदि) विषय राग-युक्त (व द्वेष युक्त) मनुष्य के लिए दुःख के कारण हुआ करते हैं, वे ही 'वीतराग' (समभावी) के लिए कदापि एवं कुछ भी, व अल्प मात्रा में भी, दुःख (उत्पन्न) नहीं करते।

१०१. (वस्तुतः) काम-भोग न (तो व्यक्ति में) समता (राग-द्वेष के उपशम की स्थिति) को प्राप्त कराते हैं, और न (ही) काम-भोग (मनुष्य में कामादि) विकार (की स्थिति) को प्राप्त कराते हैं, (अपितु) जो उनके प्रति द्वेष रखने वाला व परिग्रह (ममत्व) रखने वाला होता है, वह (स्वयं ही) उनमें 'मोह' के कारण विकार को प्राप्त होता है।

१०२. क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा (घृणा), अरति (धर्मानुष्ठान में अरुचि), रति (विषय-आसक्ति), हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा अनेक प्रकार के (हर्ष, दुःख आदि) भावों को-

१०३. इसी प्रकार, ऐसे (क्रोध आदि) अनेक प्रकार के विकारों को, तथा इन से प्रादुर्भूत होने वाले अन्य विशेष (नरकादि-सन्ताप रूप) परिणामों को वह (अज्ञानी) प्राप्त करता है, जो काम-भोगों में आसक्ति रखता है, तथा (फलस्वरूप वह) करुणा का पात्र, दीन (हीन), लज्जित एवं (सबके) द्वेष/अप्रीति का पात्र हो जाता है।

१०४. (विरक्त मुनि अपने लिए किसी) सहायक की इच्छा रख कर (किसी) 'कल्प' (विनीत व स्वाध्यायादि क्रियाओं में समर्थ/सक्षम योग्य शिष्य) की भी इच्छा न रखे। (दीक्षा लेने व संयम-धारण के पश्चात्) पश्चाताप के भाव से अनुताप करते हुए 'तप' के (सिद्धि, लौकिक-जन-सत्कार आदि) फलों की (भी) इच्छा न करे, (क्योंकि पश्चाताप व तप-फल की इच्छा आदि के कारण, अज्ञानी जीव) इस प्रकार इन्द्रिय रूप चोरों के पराधीन होकर, अपरिमित-प्रकार के विकारों को प्राप्त करता है।

मूल : **तओ से जायंति पओयणाइं, निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।**
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा, तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ।। १०५ ।।

संस्कृत : ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि, निमज्जयितुं मोहमहार्णवे ।
सुखैषिणो दुःखविनोदनार्थं, तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी ।। १०५ ।।

मूल : **विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा ।**
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वत्तयंती अमणुन्नयं वा ।। १०६ ।।

संस्कृत : विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्थाः, शब्दाद्यास्तावत्प्रकाराः ।
न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा, निर्वर्तयन्ति अमनोज्ञतां वा ।। १०६ ।।

मूल : **एवं स-संकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स ।**
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।। १०७ ।।

संस्कृत : एवं स्वसङ्कल्पविकल्पनासु, संजायते समतोपस्थितस्य ।
अर्थाश्च सङ्कल्पयतस्ततस्तस्य, प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णा ।। १०७ ।।

मूल : **स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं ।**
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ।। १०८ ।।

संस्कृत : स वीतरागः कृतसर्वकृत्यः, क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन ।
तथैव यत् दर्शनमावृणोति, यदन्तरायं प्रकरोति कर्म ।। १०८ ।।

मूल : **सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए ।**
अणासवे झाण-समाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ।। १०९ ।।

संस्कृत : सर्वं ततो जानाति पश्यति च, अमोहनो भवति निरन्तरायः ।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः, आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ।। १०९ ।।

१०५. (विकार-युक्त होने के) फलस्वरूप (अस्थिर व तुच्छ लौकिक) सुखों के इच्छुक उस व्यक्ति को मोह-रूपी महासागर में डुबा देने के लिए, (रागादि-जनित हिंसा, विषय-सेवन आदि अनेक) प्रयोजन (निमित्त) उत्पन्न हो जाते हैं (क्योंकि वह विषय-अतृप्ति आदि) दुःखों को (दूर करने के लिए) राग (व द्वेष) से युक्त होकर, उन (विषय-सेवनादि) के निमित्त से उद्यमशील हो जाता है।

१०६. शब्द (रूप,रस) आदि जितने भी प्रकार के इन्द्रिय-विषय हैं, वे सभी विरक्ति-युक्त (व्यक्ति) में मनोज्ञता (प्रियता) या अमनोज्ञता (अप्रियता) की उत्पत्ति नहीं करते।

१०७. उक्त प्रकार (के चिन्तन) से, अपने संकल्प-विकल्पों (में दोष-बुद्धि रखकर, उन) के विनाश की भावना के साथ उद्यम-शील होने वाले व्यक्ति में समता-भाव उत्पन्न (जागृत) हो जाता है। तदनन्तर, (ये प्रियता-अप्रियता के कारण नहीं हैं- ऐसे शुभ ध्यान के साथ) पदार्थों के (शुद्ध स्वरूप के) विषय में संकल्प करने वाले उस (व्यक्ति) की काम-भोगों में तृष्णा क्षीण हो जाती है।

१०८. (तृष्णा-क्षय के अनन्तर, कषायों के क्षय आदि समस्त-मोक्षोपयोगी कृत्यों को कर चुकने के कारण) 'कृतकृत्य' होने वाली वह वीतराग (आत्मा) (क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में पहुंच कर) क्षण-मात्र में 'ज्ञानावरण' (कर्म) को क्षीण-अर्थात् समूल नष्ट कर देता है, साथ ही (उसी क्षण में) उस कर्म को जो 'दर्शन' (गुण) को आवृत करता है, और उस कर्म को भी जो 'अन्तराय' पैदा करता है, क्षीण कर देता है।

१०९. (मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय-इन चार घाती कर्मों के क्षय हो जाने के) फलस्वरूप वह समस्त (पदार्थों व उनके त्रैकालिक पर्यायों) को जानता है, और देखता है। (तब) वह मोह-रहित, अन्तराय-रहित, आस्रव-रहित व शुद्ध होता हुआ, (शुक्ल) ध्यान व समाधि-से युक्त हो जाता है, और आयु (कर्म) के क्षय होने पर, मोक्ष को प्राप्त करता है।

मूल : **सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं ।**
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ।। ११० ।।

संस्कृत : स तस्मात् सर्वस्माद् दुःखाद् मुक्तः, यद् बाधते सततं जन्तुमेनम् ।
दीर्घामयविप्रमुक्तः प्रशस्तः, ततो भवत्यत्यन्तसुखी कृतार्थः ।। ११० ।।

मूल : **अणाइकालप्पभवस्स एसो, सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।**
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता, कमेण अच्चंतसुही भवंति ।। १११ ।।
त्ति बेमि ।

संस्कृत : अनादिकालप्रभवस्यैषः, सर्व-दुःखस्य प्रमोक्षमार्गः ।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः, क्रमेणाऽत्यन्तसुखिनो भवन्ति ।। १११ ।।
इति ब्रवीमि ।

११०. जो इस (विषयासक्त) प्राणी को निरन्तर पीड़ित करता रहता है, उस समस्त (शारीरिक व मानसिक) दुःखों से वह मुक्त हो चुका होता है। तदनन्तर, (वह) दीर्घकालीन (जन्म-मरण आदि) रोगों से (सर्वथा) विमुक्त एवं प्रशंसा का पात्र होता हुआ, 'कृतकृत्य' एवं अत्यन्त (निराबाध, अलौकिक, अनन्त व पूर्ण) सुख से युक्त हो जाता है।

१११. अनादि काल से चले आ रहे समस्त दुःखों से (सर्वथा) मुक्त हो जाने का यह मार्ग निरूपित किया गया है, जिसे सम्यक् प्रकार से अंगीकार कर, जीव क्रमशः अत्यन्त (अनन्त) सुख से युक्त हो जाते हैं।

- ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

ज्ञान-प्राप्ति व अज्ञान, मोह, राग, द्वेष-परिहार से सर्व-दु:ख-मुक्ति होती है। मुक्ति-कामी साधक सेवा, स्वाध्याय व सूत्रार्थ-मनन करे व अज्ञानी-संग से दूर रहे। परिमित व एषणीय आहार, बुद्धिमान योग्य सहायक व विविक्त-शयनासन की ही इच्छा करे। मोह से तृष्णा व तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है। मोह से व राग-द्वेष से कर्म तथा कर्म से दु:ख उत्पन्न होता है। दु:ख नष्ट करने का उपाय मोह, तृष्णा व लोभ को नष्ट करना है। रस-सेवन-आधिक्य से विषय-भोग-पीड़ा होती है। विविक्त शयनासन, अल्पाहार व इन्द्रिय-दमन इस पीड़ा का उपचार है। कामाकर्षण को जीतना दुस्तर है। इसे जीत लेने पर सभी कमजोरियां जीतना सरल है। मनोज्ञ विषयों में राग व अमनोज्ञ विषयों से द्वेष साधक न करे। दोनों स्थितियों में सम-भावी वीतरागी होता है। रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श में राग व द्वेष रखने वाला अज्ञानी, हिंसक, चोर, लोभी, कपटी, झूठा, अतृप्त, आश्रय-विहीन, दु:ख-परम्पराओं का व्यवस्थापक और कर्म-मल-लिप्त हो जाता है। विरक्त साधक संसार में रहते हुए भी राग-द्वेष-युक्त संसार में लिप्त नहीं होता। उसे कभी शोक नहीं होता। मनोज्ञ भावों में राग और अमनोज्ञ भावों में द्वेष रखने वाला आत्म-विनाशक होता है। इसमें भावों को कोई दोष नहीं। इन्द्रियों व मन के विषय रागी के लिये दु:ख के कारण होते हैं, वीतरागी के लिये नहीं। काम-भोगासक्ति कषायों, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, स्त्री-पुरुष व नपुंसक वेद तथा अन्य विकारों को बढ़ाती है। साधु न तो शिष्य की इच्छा करे और न ही अपने तप के प्रभाव की। इस से विकार-ग्रस्तता उत्पन्न होती है। सम्यक् चिन्तन तथा सम्यक् संकल्प से काम-तृष्णा क्षीण होती है। साधक सर्व-कर्म-क्षय कर मुक्त हो जाता है। सर्वकालिक समस्त दु:खों से मुक्ति के इस मार्ग को अपना कर साधक अनन्त सुख-सम्पन्न होता है।

❑❑

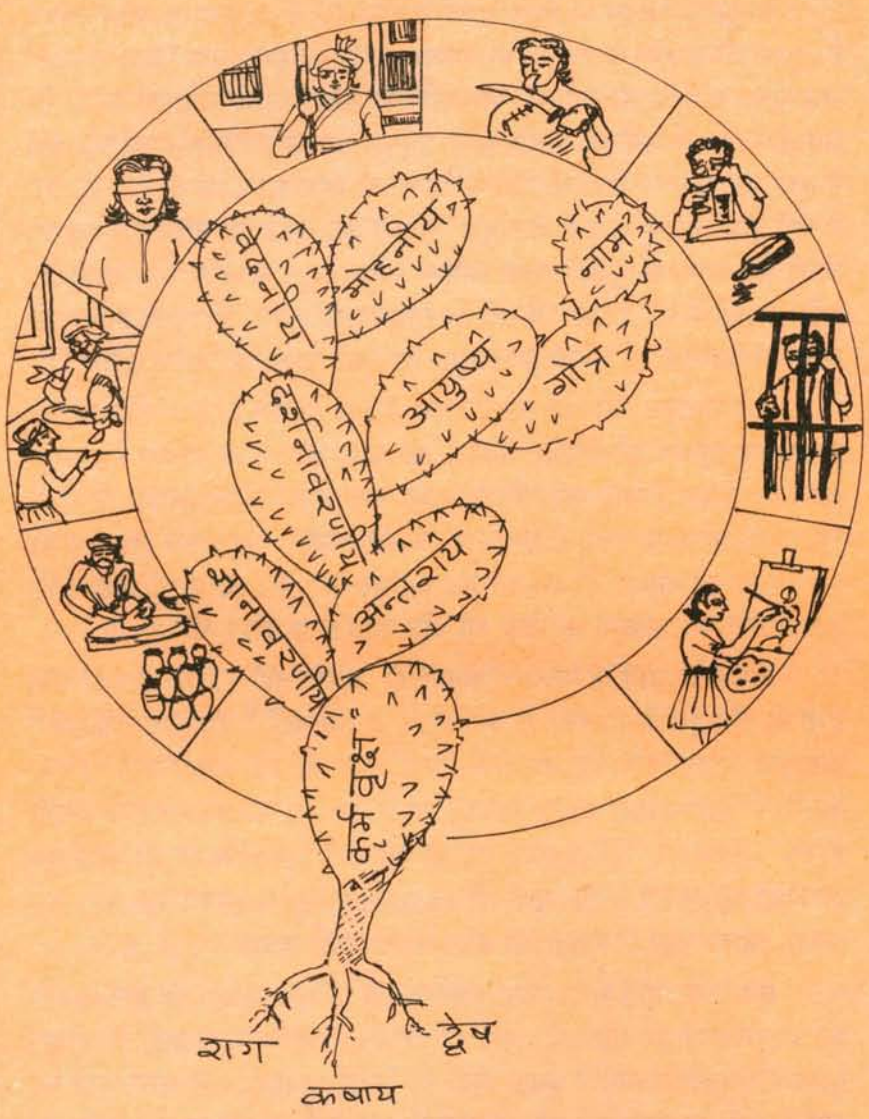

अध्ययन–33

कर्म-प्रकृति

अध्ययन परिचय

प्रस्तुत अध्ययन में कुल पच्चीस गाथायें हैं। इसका केन्द्रीय विषय है—कर्मों के स्वरूप व प्रकारों का वर्णन। इसीलिये इसका नाम 'कर्म-प्रकृति' रखा गया। कर्म आत्मा को पर-भाव की ओर गतिशील करने वाली शक्ति है। राग-द्वेष और कषायों के कारण कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं तथा मन, वचन, काया के योग से आत्मा के साथ इन का बन्ध होता है। तब ये ऐसे एकमेक हो जाते हैं जैसे दूध से पानी और लोहे से अग्नि एकमेक हो जाती है। कर्मों से युक्त होकर आत्मा अपना मूल स्वरूप खो बैठती है। भांति-भांति के शरीर धारण करती है। सुख-दुःख भोगती है। भटकती है। इस से बचने का एक ही उपाय है—आत्मा का कर्म-मुक्त या निर्मल होना।

कर्म-विज्ञान जैन धर्म का मौलिक विज्ञान है। इस विज्ञान को जान कर ही साधक आत्मा की निर्मल अवस्था की ओर अग्रसर हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में इस विज्ञान का संक्षिप्त एवम् सारगर्भित वर्णन हुआ है। कर्मों के भेद-प्रभेद तथा कर्म-बन्ध के चार रूप (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश-बन्ध) इस विज्ञान के आधार हैं। इन आधारों की प्ररूपणा का आधारभूत महत्त्व है। ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया के लिये भी और साधना के लिये भी।

कर्म और जीव के सम्बन्ध अनादि हैं। अनन्त नहीं हैं। मिट्टी और सोने तथा घी और दूध के सम्बन्ध भी अनादि हैं। अनन्त नहीं हैं। विशिष्ट प्रक्रियाओं द्वारा इन्हें अलग किया जा सकता है, किया जाता है। इसी प्रकार कर्मों को भी आत्मा से साधना द्वारा अलग किया जाता है। साधना यह व्यवस्था भी करती है कि भविष्य में कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित न हों और यह व्यवस्था भी करती है कि पूर्व-संचित कर्म आत्मा से अलग होते रहें। इस प्रकार आत्मा परम निर्मलता की ओर बढ़ती चली जाये।

कर्मों के आठों भेद समस्त सुख-दुःखों के मूल कारण हैं। ज्ञान-क्षमता का आवृत्त रहना ही अज्ञान है। अज्ञान से जीवन में अनेक दुःख आते हैं। अंततः दुःख देने वाली मान्यतायें प्रबल होती हैं। मिथ्या सुखाभास में परम सुख का भ्रम होता है। सत्य समझने की शक्ति कुंठित होती है। आत्मा अंधकार की ओर बढ़ती चली जाती है। ज्ञानावरणीय कर्म-बंध इसका कारण है और ज्ञानावरणीय कर्म-क्षय इसका उपाय।

दर्शनावरणीय कर्म देखने की शक्ति पर परदा डालता है। आत्मा की

सुप्तावस्था को जीवन का सत्य बनाता है। यह भ्रम पैदा करता है कि आत्मा की जागृत अवस्था होती ही नहीं। श्रद्धा के आधार को खण्डित करता है। अंधकार का प्रसार करता है। अंतर्नेत्रों को निद्राधीन कर देता है। वेदनीय कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार सुखों या दु:खों की सृष्टि करता है। उन्हें अनुभूति के विषय बनाता है। मोहनीय कर्म सम्यक् दर्शन व सम्यक् चारित्र से आत्मा को वंचित कर देता है। मिथ्या दृष्टि व चरित्रहीनता की विपत्तियां सौंपता है। आयुष्य कर्म एक शरीर में आत्मा के रहने की समय-सीमा निर्धारित करता है। नाम कर्म शरीर-रचना को कमजोर या मजबूत बनाता है। पूर्ण या अपूर्ण बनाता है। गोत्र कर्म उच्च या निम्न कुल निर्धारित करता है। सम्मान या अपमान की स्थितियां बनाता है। अन्तराय कर्म अभीष्ट की प्राप्ति में बाधायें उपस्थित करता है। चलते-चलते भी जीव को लक्ष्य तक पहुंचने नहीं देता। बनते-बनते काम बिगाड़ देता है।

ये आठों कर्म-प्रकृतियां आत्मा की विकृतियां हैं। इनके रूप में, यदि भिन्न दृष्टि से देखा जाये तो, आत्मा का अभीष्ट भी स्पष्ट होता है। आत्मा के स्वरूप का संकेत भी मिलता है। ज्ञात होता है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। दर्शन आत्मा का स्वभाव है। सुख-दु:ख आत्मा के स्वभाव नहीं है। समभाव आत्मा का स्वभाव है। सम्यक् दर्शन व सम्यक् चारित्र आत्मा का स्वभाव है। शरीर आत्मा का स्वभाव नहीं है। शरीर की कमजोरी या मजबूती आत्मा का स्वभाव नहीं है। उच्च-निम्न कुल या सम्मान-अपमान आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। शरीर को अभीष्ट की प्राप्ति या अप्राप्ति भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो कुछ भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह आत्मा का अभीष्ट भी नहीं है। उसके लिये जीना भी आत्मा के लिये जीना नहीं है।

कर्म-निषेध का दृष्टिकोण आत्मा का दृष्टिकोण है। संवर और निर्जरा आत्मा का दृष्टिकोण है। कर्म-मुक्त निर्मल अवस्था तक पहुंचने की दृष्टि से सब कुछ देखना और जीना आत्मा का दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण से कर्म-विज्ञान का ज्ञान प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त होता है।

कर्म-विज्ञान को सम्पूर्णत: जानने-समझने तथा आत्मा के हित में सक्रिय होने की प्रबल प्रेरणा देने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह कम्मप्पयडी तेत्तीसइमं अज्झयणं

(अथ कर्मप्रकृति त्रयस्त्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहाकमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टई ।।१।।

संस्कृत : अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।
यैर्बद्धोऽयं जीवः, संसारे परिवर्तते ।।१।।

मूल : नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ।।२।।

संस्कृत : ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा।
वेदनीयं तथा मोहं, आयुःकर्म तथैव च ।।२।।

मूल : नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ।।३।।

संस्कृत : नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ।।३।।

मूल : नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ।।४।।

संस्कृत : ज्ञानावरणं पञ्चविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम्।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ।।४।।

मूल : निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ।।५।।

संस्कृत : निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला च।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमी भवति ज्ञातव्या ।।५।।

तेंतीसवां अध्ययन : कर्म-प्रकृति

१. (हे आयुष्मन्) मैं (पूर्व) आनुपूर्वी के क्रमानुरूप, उन आठ कर्मों का निरूपण करूंगा, जिनसे बंधा हुआ यह जीव (चतुर्गति-रूप) संसार में परावर्तन (आवागमन) करता है।

२. ज्ञानावरणीय (कर्म)[१], दर्शनावरणीय (कर्म)[२], वेदनीय (कर्म)[३], मोहनीय (कर्म)[४], तथा आयु (कर्म)[५],

३. नाम (कर्म)[६], गोत्र (कर्म)[७] और अन्तराय (कर्म)[८] -इस प्रकार (संक्षेप से) ये आठ कर्म होते हैं।

४. (इन आठ कर्मों में) ज्ञानावरणीय (कर्म) के पांच प्रकार/भेद हैं- (१) श्रुत (ज्ञानावरणीय), (२) अभिनिबोधिक (मतिज्ञान-आवरणीय), (३) अवधिज्ञान (-आवरणीय), (५) मनः (मनः पर्यय) ज्ञान (-आवरणीय), (५) केवल (ज्ञानावरणीय)।

५. (दर्शनावरणीय के नौ भेदों में 'निद्रा' के भेद) (१) निद्रा[९], (२) प्रचला[१०], (३) निद्रानिद्रा[११], (४) प्रचला-प्रचला[१२], इसके बाद पांचवीं (५) स्त्यानगृद्धि[१३] (- ये पांच प्रकार की निद्राएं) जाननी चाहिएं।

मूल : चक्खुमचक्खूओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ।।६।।

संस्कृत : चक्षुरचक्षुरवधेः, दर्शने केवले चावरणे।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्यं दर्शनावरणम् ।।६।।

मूल : वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ।।७।।

संस्कृत : वेदनीयमपि च द्विविधं, सातमसातं चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाऽसातस्यापि ।।७।।

मूल : मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ।।८।।

संस्कृत : मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा।
दर्शने त्रिविधमुक्तं, चरणे द्विविधं भवेत् ।।८।।

मूल : सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ।।९।।

संस्कृत : सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
एतास्तिस्रः प्रकृतयः, मोहनीयस्य दर्शने ।।९।।

मूल : चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं च, नोकसायं तहेव य ।।१०।।

संस्कृत : चारित्रमोहनं कर्म, द्विविधं तु व्याख्यातम्।
कषायमोहनीयं च, नोकषायं तथैव च ।।१०।।

मूल : सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ।।११।।

संस्कृत : षोडशविधं भेदेन, कर्म तु कषायजम्।
सप्तविधं नवविधं वा, कर्म नोकषायजम् ।।११।।

६. 'चक्षुर्दर्शनावरणीय'[१४] 'अचक्षुर्दर्शनावरणीय'[१५] 'अवधिदर्शनावरणीय'[१६], व 'केवल दर्शनावरणीय'[१७] (इन्हें तथा उपर्युक्त पांच निद्राओं को मिलाने पर) इस तरह 'दर्शनावरणीय' (कर्म) के नौ भेद जानने चाहिएं।

७. 'वेदनीय' (कर्म) दो प्रकार का कहा गया है- (१) साता (वेदनीय कर्म), और (२) असाता (वेदनीय कर्म)। साता (वेदनीय कर्म) के तो अनेक भेद होते हैं, इसी तरह असाता (वेदनीय कर्म) के भी (अनेक भेद होते हैं)।

८. मोहनीय (कर्म) भी दो तरह का है- (१) दर्शन (मोहनीय),[१८] और (२) चारित्र (मोहनीय)[१९]। (इनमें) दर्शन (मोहनीय) के तीन, और चारित्र (मोहनीय) के दो प्रकार होते हैं।

९. (१) सम्यक्त्व (मोहनीय),[२०] (२) मिथ्यात्व (मोहनीय),[२१] (३) सम्यग्मिथ्यात्व (मोहनीय)[२२] - ये 'दर्शन मोहनीय' की तीन (उत्तर) प्रकृतियां (कही गई) हैं।

१०. 'चारित्र मोहनीय' कर्म के दो भेद बताए गए हैं- (१) कषाय मोहनीय,[२३] और (२) नोकषाय (मोहनीय)[२४]।

११. कषायज (मोहनीय) कर्म के तो सोलह भेद होते हैं,[२५] और नोकषाय (मोहनीय) कर्म के सात या नौ भेद होते हैं[२६]।

मूल : नेरइय-तिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ।।१२।।

संस्कृत : नैरयिक-तिर्यगायुः, मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु, आयुःकर्म चतुर्विधम् ।।१२।।

मूल : नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ।।१३।।

संस्कृत : नामकर्म तु द्विविधं, शुभमशुभं चाख्यातम्।
शुभस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाशुभस्यापि ।।१३।।

मूल : गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं ।।१४।।

संस्कृत : गोत्रं कर्म द्विविधम्, उच्चं नीचं चाख्यातम्।
उच्चमष्टविधं भवति, एवं नीचमप्याख्यातम् ।।१४।।

मूल : दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ।।१५।।

संस्कृत : दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा।
पञ्चविधमन्तरायं, समासेन व्याख्यातम् ।।१५।।

मूल : एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ य आहिया।
पएसग्गं खेत्तकाले य, भावं च उत्तरं सुण ।।१६।।

संस्कृत : एता मूलप्रकृतयः, उत्तराश्चाख्याताः।
प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ च, भावं चोत्तरं शृणु ।।१६।।

मूल : सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं।
गंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाणं आहियं ।।१७।।

संस्कृत : सर्वेषां चैव कर्मणां, प्रदेशाग्रमनन्तकम्।
ग्रन्थिकसत्त्वातीतं, अन्तः सिद्धानामाख्यातम् ।।१७।।

१२. आयु कर्म चार प्रकार का है- (१) नैरयिक/नारकी (आयुकर्म), (२) तिर्यग् आयु, (३) मनुष्यायु, तथा चौथा (भेद) (४) देवायु (कर्म)।

१३. नाम कर्म के दो भेद कहे गए हैं- (१) शुभ (नाम कर्म) तथा (२) अशुभ (नाम कर्म)। (इनमें) शुभ (नाम कर्म) के अनेक भेद होते हैं, और इसी तरह अशुभ (नाम कर्म) के भी (अनेक भेद होते हैं)।

१४. गोत्र कर्म को दो प्रकार का कहा गया है:- (१) उच्च (गोत्र कर्म), और (२) नीच (गोत्र कर्म)। (इनमें) उच्च (गोत्र कर्म) के आठ भेद होते हैं, और इसी तरह, नीच (गोत्र कर्म) के भी (आठ भेद) बताए गए हैं।

१५. (१) दान (अन्तराय), (२) लाभ (अन्तराय), (३) भोग (अन्तराय), (४) उपभोग (अन्तराय), (५) वीर्य (अन्तराय)- (ये) संक्षेप से अन्तराय (कर्म) के पांच भेद बताए गए हैं।[२७]

१६. (पूर्वोक्त आठ कर्मों की) ये मूल प्रकृतियां तथा उत्तर-प्रकृतियां कही गई हैं। इससे आगे (इनके) 'प्रदेशाग्र' (कर्म-परमाणु रूप द्रव्य-संख्या), 'क्षेत्र', 'काल' व 'भाव' ('अनुभाव', इनकी दृष्टि से कर्मों के स्वरूप आदि) को[२८] सुनो।

१७. सभी कर्मों का 'प्रदेशाग्र' (एक समय में आत्मा के साथ बंधने वाले पुद्गलात्मक कर्म-परमाणुओं का परिमाण) अनन्त होता है, जिसे 'ग्रन्थिग' (मिथ्यात्व व राग-द्वेष की ग्रन्थि का भेद न कर सकने वाले, सम्यक्त्व न प्राप्त कर सकने वाले, अभव्य) प्राणियों से (अनन्तगुणा) अधिक, तथा सिद्धों (की संख्या) से अन्तर्वर्ती (उनसे न्यून, उनके अनन्तवें भाग जितना) कहा गया है।

मूल : सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ।।१८।।

संस्कृत : सर्वजीवानां कर्म तु, संग्रहे षड्दिशागतम्।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु, सर्वं सर्वेण बद्धकम् ।।१८।।

मूल : उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।।१९।।

संस्कृत : उदधिसदृङ्नाम्नां, त्रिंशत्कोटिकोटयः।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ।।१९।।

मूल : आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ।।२०।।

संस्कृत : आवरणयोर्द्वयोरपि, वेदनीये तथैव च।
अन्तराये च कर्मणि, स्थितिरेषा व्याख्याता ।।२०।।

मूल : उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।।२१।।

संस्कृत : उदधिसदृङ् नाम्नां, सप्ततिः कोटिकोटयः।
मोहनीयस्योत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ।।२१।।

मूल : तेत्तीससागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।।२२।।

संस्कृत : त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा, उत्कर्षेण व्याख्याता।
स्थितिस्त्वायुःकर्मणः, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ।।२२।।

मूल : उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्तं जहन्निया ।।२३।।

संस्कृत : उदधिसदृङ्नाम्नां, विंशतिः कोटिकोटयः।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा, अष्टमुहूर्ता जघन्यका ।।२३।।

१८. सभी जीवों के लिए संग्रहण-योग्य कर्म (-परमाणु, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊपर-नीचे-इन) छहों दिशाओं में स्थित हैं,[२८] जो सभी (प्रत्येक जीव के साथ बन्ध होने की स्थिति में, उस कषाय युक्त जीव के) सभी प्रदेशों के साथ, सभी (ज्ञानावरणादि) रूपों से, बद्ध (एकक्षेत्रावगाढ़) हो जाते हैं।

१९. ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति-काल तीस कोटाकोटि[३०] सागरोपम[३१] तथा जघन्य स्थिति-काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

२०. दोनों आवरण-कर्मों (अर्थात् ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय), तथा वेदनीय,[३२] व अन्तराय कर्म के विषय में भी यह 'स्थिति' (अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण) बताई गई है।

२१. मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-काल सत्तर-कोटाकोटि सागरोपम (प्रमाण), तथा जघन्य स्थिति-काल-'अन्तर्मुहूर्त' (कहा गया) है।

२२. आयु-कर्म का उत्कृष्ट स्थिति-काल तैंतीस सागरोपम, तथा जघन्य स्थिति-काल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है।

२३. नाम (कर्म) व गोत्र (कर्म) का उत्कृष्ट स्थिति-काल बीस कोटाकोटि सागरोपम, तथा जघन्य स्थिति-काल 'आठ-मुहूर्त' (किन्तु अशुभ नाम व अशुभ गोत्र का जघन्य स्थिति-काल अन्तर्मुहूर्त) कहा गया है।

मूल : **सिद्धाणंतभागो य, अणुभागा भवन्ति उ।।**
सव्वेसु वि पएसग्गं, सव्वजीवेसु इच्छियं।।२४।।

संस्कृत : सिद्धानामनन्तभागश्च, अनुभागा भवन्ति तु।
सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं, सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम्।।२४।।

मूल : **तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।**
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो।।२५।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : तस्मादेतेषां कर्मणाम्, अनुभागान् विज्ञाय।
एतेषां संवरे चैव, क्षपणे च यतेत् बुधः।।२५।।
इति ब्रवीमि।

२४. (उक्त कर्मों के) अनुभाग (रस-विशेष,) सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने परिमाण (एवं अनन्त रूप) वाले होते हैं। सभी अनुभागों का प्रदेश-परिमाण समस्त- (भव्य व अभव्य) जीवों (की संख्या) से (अनन्तगुणा) अधिक होता है।

२५. इसलिए, इन कर्मों के अनुभागों (अनुभाग-बन्ध व उसके शुभाशुभ परिणामों) को (साथ ही, प्रकृतिबन्ध, स्थिति-बन्ध व प्रदेश- बन्धों को भी) जान कर, पण्डित (तत्वज्ञ साधक) इनके 'संवर' (बन्ध-निरोध) तथा (बद्ध कर्मों के) क्षय (निर्जरा) के लिए (अवश्य) प्रयत्न करे।

- ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

टिप्पण क्रमतः

१. ज्ञानावरणीय-आत्मा के ज्ञान-गुण रूप स्वभाव को आवृत्त कर देने वाली कर्म-वर्गणाएँ या कर्म-अणु। सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करने वाले मेघ-पटल की तरह यह कर्म आत्मा के 'ज्ञान' गुण को आवृत्त करता है।

२. दर्शनावरणीय- आत्मा के 'दर्शन' (पदार्थ-सम्बन्धी सामान्य सत्तात्मक बोध) गुण रूप स्वभाव को आवृत्त कर देने वाली कर्म-वर्गणाएं या कर्म-अणु। राजा के दर्शन में व्यवधान पैदा करने वाले द्वारपाल से इसकी उपमा दी जाती है।

३. वेदनीय- संसारी आत्मा को सुख-दुःख देने वाली बाह्य-कारण-सामग्री उपस्थापित कर देने वाला कर्म। इसके द्वारा उपस्थापित सामग्री का बाह्य निमित्त पाकर, 'मोहनीय कर्म' के उदय से सुख या दुख की अनुभूति आत्मा को होती है। मधु से लिप्त असि-धारा (जिसको चाटने से सुख-दुःख-मिश्रित या दुःख-बहुल सुख की अनुभूति होती है) से इसकी समानता की जाती है।

४. मोहनीय-आत्मा को सदासद्विवेक/ कर्तव्य-अकर्तव्यविचार से भ्रमित कराने वाली मूढ़ता उत्पन्न कर, उसके सम्यक्त्व व चारित्र गुण को विकृत करने वाला कर्म। इसकी तुलना मदिरा से की गई है।

५. आयु कर्म- आत्मा के (नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव-इन चार गतियों में) प्राण-धारण की स्थिति - काल को निष्पन्न/नियमित करने वाला कर्म। इसकी तुलना कारागार से तथा पांव की बेड़ी से की गई है।

६. नाम कर्म- प्रत्येक जीव के पृथक् पृथक् शरीर, मन आदि की रचना द्वारा, उसकी शारीरिक विशेषता में कारणभूत कर्म। इसकी तुलना चित्रकार से की गई है।

७. गोत्र कर्म- उच्च/नीच संस्कारों से युक्त, तथा सामाजिक प्रतिष्ठा/अप्रतिष्ठा के मानदण्ड समझे जाने वाले या पूज्यता/ अपूज्यता के कारण उत्तम/अधम, प्रशस्त/निकृष्ट, अधिक/हीन ऐश्वर्य, लाभ, बल, तप, जाति आदि से युक्त वातावरण में उत्पत्ति कराने वाला कर्म। इसकी तुलना कुम्हार से की गई है।

८. अन्तराय कर्म- बाह्य सामग्री के उपस्थित होने पर भी, आत्मिक शक्ति के विकास में, तथा अभीष्ट प्राप्ति में विघ्न उपस्थित कर दान, लाभ, भोग, उपभोग व सामर्थ्य में बाधक बनने वाला कर्म। इसकी तुलना राजा के कोषाध्यक्ष से की गई है।

९. निद्रा- ऐसी सामान्य नींद-जिसमें थोड़ी-सी आवाज/आहट होने से मनुष्य जाग जाता है।

१०. प्रचला- खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी व्यक्ति सो जाए-ऐसी निद्रा 'प्रचला' कहलाती है।

११. निद्रा-निद्रा-निद्रित व्यक्ति कठिनता से जागे-ऐसी प्रगाढ़ निद्रा।

१२. प्रचला-प्रचला-चलते-फिरते भी व्यक्ति को निद्रा आती रहे।

१३. स्त्यान गृद्धि- दिन में या रात में सोचे विचारे हुए सम्भव/अतिकठिन कार्य को निद्रा की अवस्था में कर देने वाली निद्रा 'स्त्यान गृद्धि' है। इसमें व्यक्ति को वासुदेव का आधा बल हो जाता है। यह निद्रा अत्यन्त निकृष्ट मानी गई है, क्योंकि राग-द्वेष की अत्यन्त बहुलता वाले जीव में ही इस निद्रा का आवेश होता है, और इस निद्रा वाला जीव अवश्य नरकगामी होता है।

१४. चक्षुर्दर्शनावरणीय-वस्तु के सामान्यसत्तात्मक स्वरूप का आंख द्वारा ग्रहण 'चक्षुर्दर्शन' कहलाता है, उसे रोकने वाला चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म होता है।

१५. अचक्षुर्दर्शनावरणीय- आंख से अतिरिक्त इन्द्रियों व मन द्वारा वस्तु के सामान्यसत्तात्मक स्वरूप का ग्रहण 'अचक्षुर्दर्शन' कहलाता है, उसे रोकने वाला अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म होता है।

१६. अवधि-दर्शनावरणीय- इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना-'रूपी' पदार्थों के सामान्य सत्तात्मक स्वरूप का बोध 'अवधिदर्शन' कहलाता है, उसे रोकने वाले कर्म को अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

१७. केवलदर्शनावरणीय- इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना, रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों के त्रैकालिक सामान्यात्मक स्वरूप का बोध 'केवल दर्शन' है, उसे रोकने वाला केवल दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है।

१८. दर्शनमोहनीय- तत्वार्थश्रद्धान या तत्वाभिरुचि रूप आत्म-गुण 'दर्शन' का घात (विनाश) करने वाला कर्म दर्शन मोहनीय कर्म होता है।

१९. चारित्रमोहनीय- आत्मा के शुद्ध स्वरूप 'चारित्र' का घात करने वाला यह चारित्र मोहनीय कर्म है।

२०. सम्यक्त्वमोहनीय- मोहनीय कर्म के पुद्गलों का शुद्ध अंश-शुद्ध दलिक-जिसके उदय से सम्यक्त्व का आच्छादन होते हुए भी, सम्यक्त्व में बाधा नहीं होती, अपितु सम्यक्त्व में कुछ सहायता ही मिलती है। किन्तु 'मोहनीयता' के कारण सम्यक्त्व में कुछ मलिनता एवं संशयादि दोषों की सम्भावना रहती है।

२१. मिथ्यात्व-मोहनीय- मोहनीय कर्म के पुद्गलों का अशुद्ध अंश-अशुद्ध दलिक, जिसके उदय से अतत्व में तत्व बुद्धि आदि रूप मिथ्यात्व होता है

२२. सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय-मोहनीय कर्म के पुद्गलों का शुद्ध-अशुद्ध मिश्रित रूप-शुद्धाशुद्ध दलिक, जिसके उदय से जीव को मिश्रित श्रद्धान होता है।

२३. कषाय मोहनीय- क्रोध आदि कषायों के रूप में वेदन (अनुभव) किये जाने वाला मोहनीय कर्म।

२४. नोकषायमोहनीय- कषायों को उत्तेजित करने वाले या कषायों के सहवर्ती-हास्य, शोक आदि 'नो-कषायों' (ईषत्कषायों) के रूप में वेदन (अनुभव) किया जाने वाला मोहनीय कर्म।

२५. कषायमोहनीय- क्रोध, मान, माया व लोभ-ये चार मूल कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन- ये चार-चार भेद हो जाते हैं। अतः कुल मिला कर इनके सोलह भेद होते हैं, इनसे सम्बन्धित 'कषाय मोहनीय' के भी १६ भेद हो जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय वह है जो जीवात्मा को अनन्त काल तक इस संसार में परिभ्रमण कराता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय वह है जो जीवात्मा को देशविरति रूप अल्पप्रत्याख्यान की प्राप्ति नहीं होने देता। प्रत्याख्यानावरण कषाय के कारण जीवात्मा 'सर्वविरति' रूप प्रत्याख्यान (मुनि-धर्म) को प्राप्त नहीं कर पाता। संज्वलन कषाय अल्पतम प्रभावी सूक्ष्म कषाय है जिससे यद्यपि सर्वविरति रूप मुनि-धर्म के पालन में तो कोई बाधा नहीं पहुंचती, किन्तु उच्च साधना-सोपान में 'यथाख्यात चारित्र' व 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति में इससे बाधा पहुंचती है।

२६. नोकषायमोहनीय- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद- ये सात भेद नोकषायों के हैं। यदि 'वेद', स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसक वेद-ये तीन भेद मान कर गिने जाएं तो नोकषायों के नौ भेद हो जाते हैं। इनसे सम्बन्धित मोहनीय कर्म भी सात या नौ प्रकार का हो जाता है।

२७. योग्य पात्र व देय सामग्री के होते हुए भी, दान के अतिशयित फल की जानकारी होने पर भी, दान देने की इच्छा या प्रवृत्ति का न होना, इसमें 'दानान्तराय' कर्म हेतु है। उदारचित्त दाता के तथा याचना-दक्ष याचक के होते हुए भी, याचक को लाभ न होना-इसमें 'लाभान्तराय' कर्म हेतु है। आहारादि भोग्य वस्तु तथा वस्त्रादि उपभोग्य वस्तु के होते हुए भी, भोग न सकने की परिस्थिति में 'भोगान्तराय' व 'उपभोगान्तराय' (क्रमशः) हेतु हैं। शरीर की नीरोगता व यौवनादि-सामर्थ्य के होते हुए भी, एक सरलतम कार्य तक न कर सकने में 'वीर्यान्तराय' कर्म हेतु है।

२८. कर्म-बन्ध के चार प्रकार हैं- (१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थिति-बन्ध, और (४) अनुभाग बन्ध। यहाँ चार से अठारह गाथाओं में 'प्रकृतिबन्ध' का वर्णन किया जा चुका है। प्रदेशाग्र (द्रव्य) व क्षेत्र की दृष्टि से बन्ध का निरूपण (१७-१८ गाथाओं में) किया गया है, जो 'प्रदेश-बन्ध' के अन्तर्गत समझना चाहिए। 'काल' की दृष्टि से बन्ध का वर्णन 'स्थितिबन्ध' का ही प्रकारान्तर से निरूपण (गाथा-१६-२३ में) किया गया है । 'भाव' की दृष्टि से बन्ध का जो निरूपण है, वह 'अनुभाग' (या अनुभाव) बन्ध से सम्बन्धित है, जिसका निरूपण भी (गाथा-२४ में) किया गया है। (१) प्रकृतिबन्ध- जीव द्वारा गृहीत/बद्ध कर्म-पुद्गलों में पृथक्-पृथक् स्वभाव व शक्ति का निर्धारित होना 'प्रकृति-बन्ध' है। कषाय व योग से आकृष्ट कर्म-पुद्गल आत्मा के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाढ़ होकर, 'ज्ञानावरणीय' आदि रूपों में परिणत हो जाते हैं। इन स्वभावों के निर्धारण में बध्यमान जीव के 'योग' (मन-वचन-शरीर सम्बन्धी प्रवृत्ति) का प्रमुख योगदान होता है।(२) प्रदेशबन्ध- कर्म-दलों में परमाणुओं की संख्या का न्यून व अधिक नियत होना 'प्रदेशबन्ध' है। इस संख्या की न्यूनाधिकता के निर्धारण में भी 'योग' का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

(३) स्थितिबन्ध- जीव-गृहीत कर्म-पुद्गलों में, अपने स्वभावों का त्याग न करते हुए, जीव के साथ रहने की काल-मर्यादा का निर्धारण 'स्थिति बन्ध' है। स्थिति काल की पूर्णता पर वह कर्म स्वतः नष्ट हो जाता है। कुछ-एक निमित्तों से, कदाचित् स्थिति-काल न्यून व अधिक भी हो जाता है। उक्त स्थिति-काल का

निर्धारण जीव के कषाय-सम्बन्धी परिणामों पर निर्भर होता है। (४) अनुभाग-बन्ध- जीव-गृहीत कर्म-पुद्गलों में, फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का निर्धारित होना 'अनुभाग-बन्ध' है। उक्त तीव्र-मन्द शक्ति के निर्धारण में भी कषायों का योगदान प्रमुख होता है। कषाय-जनित अध्यवसाय के तीव्र परिणाम से बंधे कर्मों का विपाक-तीव्र, तथा मन्द परिणामों से बंधे कर्मों का रस/विपाक मन्द होता है। विशेष प्रयत्न से कदाचित् तीव्र रस को मन्द, तथा मन्द को तीव्र बनाया जा सकता है। (विपाक, रस, फल, अनुभाव, अनुभाग-ये सभी शब्द एकार्थक हैं।)

२९. यह कथन द्वीन्द्रिय आदि जीवों को प्रमुखतः उद्दिष्ट कर किया गया है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीव कदाचित् तीन दिशाओं से भी कर्मों का संग्रह करता है।

३०. कोटाकोटि- एक करोड़ की संख्या को एक करोड़ से गुणा कर देने से जो राशि फलित होती है, वह 'कोटाकोटि' है।

३१. सागरोपम- एक योजन लम्बे-चौड़े कूप को बारीक से बारीक व कोमल केशों से ठूंस ठूंस कर भरा जाय। उन केशों में से प्रत्येक केश के अनुभाग के असंख्यात-सूक्ष्म खण्ड कर दिए जाएं। उन खंडों में से एक-एक खण्ड को सौ-सौ वर्षों बाद निकाला जाए। उस कूप को खाली होने में जितना समय लगेगा, वह 'पल्य' कहा जाता है। उन पल्यों की १० कोटाकोटि संख्या का एक 'सागरोपम' काल माना जाता है।

३२. वस्तुतः 'सातावेदनीय' की तो जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की, तथा 'असाता वेदनीय' की जघन्य स्थिति ३/७ सागरोपम प्रमाण मानी गई है।

अध्ययन–सार :

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय, ये आठ कर्म जीव को संसार में भटकाने वाले हैं। श्रुत, मति, अवधि, मनः पर्यव और केवल ज्ञानावरणीय, ये ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद हैं। निद्रा, प्रचला, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, चक्षुर्दर्शनावरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय, अवधि तथा केवल दर्शनावरणीय, ये नौ भेद दर्शनावरणीय के हैं। साता व असाता, वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं। मोहनीय के दर्शन व चारित्र मोहनीय, दो रूप हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व व सम्यक्-मिथ्यात्व, तीन प्रकृतियां दर्शन मोहनीय की हैं। कषाय व नोकषाय, चारित्र मोहनीय के भेद हैं। कषाय मोहनीय के सोलह व नोकषाय मोहनीय के सात या नौ प्रकार हैं। देव, नरक, तिर्यंच व मनुष्य, आयु कर्म चार प्रकार का है। शुभ व अशुभ, नाम कर्म दो प्रकार का है। गोत्र कर्म उच्च व निम्न, दो तरह का है। दोनों के आठ-आठ भेद हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य अंतराय कर्म के रूप हैं। आत्मा से बद्ध होने वाले कर्म छहों दिशाओं से जीव संग्रह करता है। एक समय में बंध ने वाले कर्मों के पुद्गल-दलिक अनन्त होते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय व अंतराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम व जघन्य अंतर्मुहूर्त्त की होती है। मोहनीय की उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटि सागरोपम व जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त की है। आयु कर्म उत्कृष्टतः तैंतीस सागरोपम व जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त तक होता है। नाम व गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम व जघन्य आठ मुहूर्त्त की होती है। कर्मों के अनुभाग सिद्धों के अनन्तवें भाग जितने और प्रदेश-परिमाण सभी जीवों से अधिक होते हैं। इन सभी अनुभागों को जानकर तत्व ज्ञाता साधक कर्म-क्षय हेतु साधना करे।

❑❑

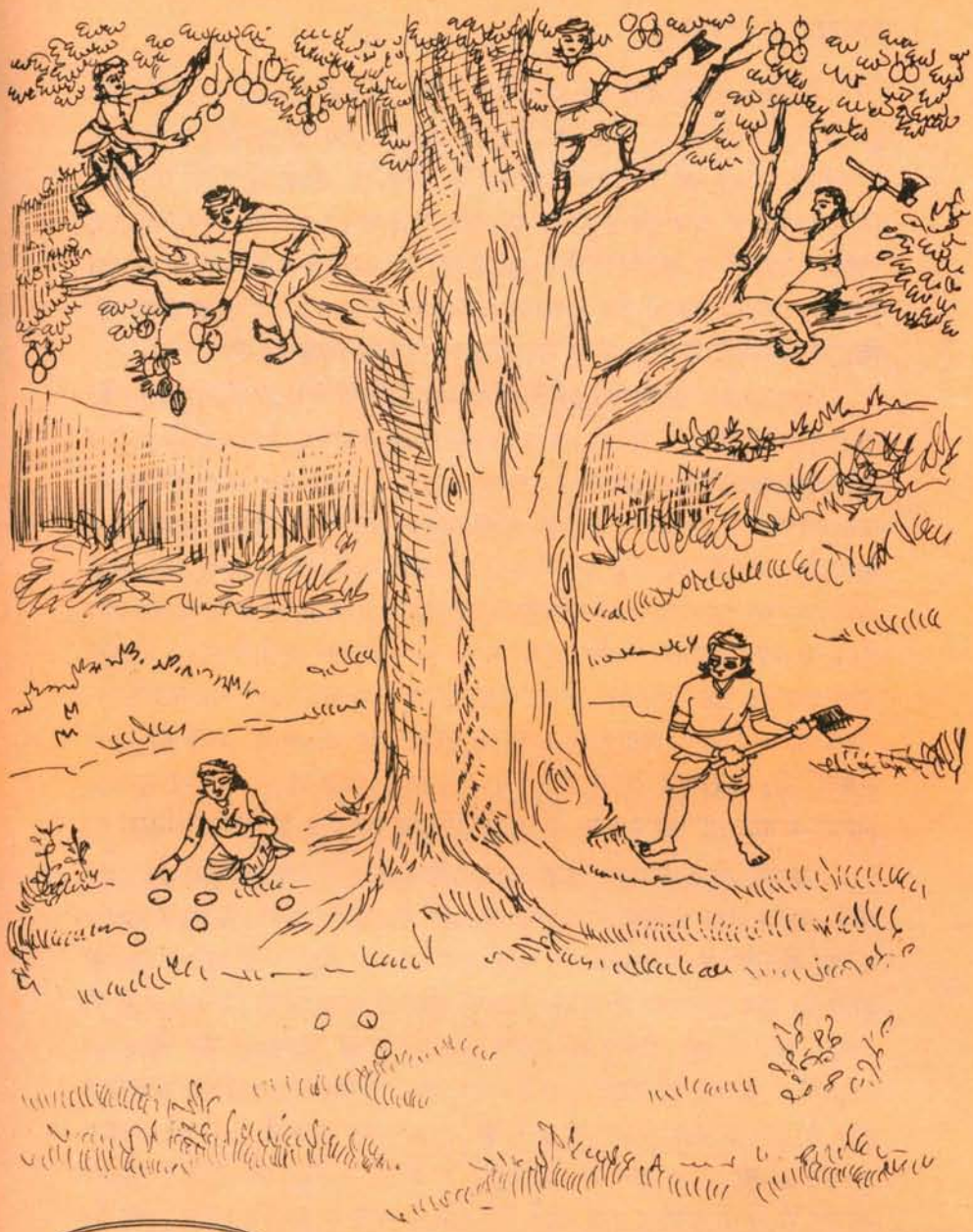

अध्ययन–34

लेश्याध्ययन

अध्ययन परिचय

इकसठ गाथाओं से यह अध्ययन निर्मित हुआ है। इसका केन्द्रीय विषय है–लेश्याएँ। लेश्या का अर्थ है–भाव या अध्यवसाय या प्रवृत्ति। व्यक्ति के अंतर्बाह्य जगत् की विभिन्न स्थितियों से भाव या अध्यवसाय या प्रवृत्तियाँ निर्मित होती हैं और इन प्रवृत्तियों से अंतर्बाह्य जगत् की विभिन्न स्थितियाँ निर्मित होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ जैन धर्म में लेश्याएँ कहलाती हैं। इन का विज्ञान प्रस्तुत करने के कारण इस अध्ययन का नाम 'लेश्याध्ययन' रखा गया। यह विज्ञान जैन धर्म द्वारा प्ररूपित मनोविज्ञान (आत्म-विज्ञान) है।

मन-वचन-काया की प्रवृत्तियाँ अर्थात् लेश्याएँ कषायों से अनुरंजित भी होती हैं। ये विविध कर्मों को आत्मा के साथ जोड़ने का कार्य करती हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित करतीं हैं। उसके अतीत के परिणाम और भविष्य के कारण होती हैं। इन के दो रूप हैं–भाव लेश्या और द्रव्य-लेश्या। भाव लेश्या कषायों द्वारा योगों के अनुरंजन से बनती हैं और द्रव्य लेश्या पुद्गलों से। भाव और द्रव्य वस्तुतः लेश्याओं के अंतर्जगत् व बाह्य जगत् में प्रतिबिम्बित रूप हैं। द्रव्य लेश्या मूलतः अतीत (पूर्व-भव) का परिणाम होती है और शरीर का स्वरूप प्रदान करती है। यह जीवन में प्रायः नहीं बदलती। भाव लेश्या जीवन-स्थितियों तथा ज्ञान-अज्ञान से निर्मित होती है। यह जीवन में कभी भी बदल सकती है। बदलती रहती है। इस परिवर्तन-प्रक्रिया से मनुष्य पूर्णतः लेश्या-रूपान्तरण कर सकता है। अपने भविष्य को बना या बिगाड़ सकता है।

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल, ये छह लेश्याएँ हैं। प्रथम तीन अशुभ तथा अंतिम तीन शुभ लेश्याएँ हैं। ऐर्यापथिकी क्रिया में शुक्ल लेश्या के निर्माण में कषायों की कोई भूमिका नहीं होती। वह केवल योग से होती है। शेष क्रियाओं में सभी लेश्याएँ योगों व कषायों से निर्मित होती हैं। अन्तर कषायों की तीव्रता व मन्दता का है। सभी लेश्याओं को जीव की आणविक-आभा भी कहा गया है। जो जिस लेश्या से प्रभावित-संचालित होता है, उसका आभा-मण्डल उसी के अनुरूप बन जाता है। उसी के अनुरूप उसका प्रभाव आस-पास के वातावरण पर होता है। उसी के अनुरूप उसकी आत्मा से कर्म संयुक्त होते रहते हैं। उसका भविष्य निर्मित होता रहता है। विज्ञान की नवीन प्रगति से मनुष्य के मन में उपस्थित होने वाली शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के तथा उनके भिन्न-भिन्न रंगों के चित्र लेना भी संभव हुआ है। यह लेश्याओं के विज्ञान- समर्थित होने का भी द्योतक है।

प्रत्येक लेश्या का अपना रूप होता है। नाम होता है। रंग होता है। रस होता है। गन्ध होती है। स्पर्श होता है। परिणाम होता है। लक्षण होता है। स्थान होते हैं। समय-सीमा होती है। देव, मनुष्य, नरक व तिर्यंच गतियों में भिन्न-भिन्न स्थिति होती है। प्रत्येक लेश्या से जीव की दुर्गति या सुगति के द्वार खुलते हैं।

शुभ और अशुभ श्रेणियों में वर्गीकृत लेश्याएँ जीवन में विवेक के प्रयोग की स्पष्ट सम्भावनायें हैं। विवेक के प्रयोग से कोई भी अपने लिये शुभ लेश्या का निर्धारण कर सकता है। मन-वचन-काया से क्रोध-मान-माया-लोभ को निरन्तर मन्द करते चले जाना ही वस्तुतः अशुभ से शुभ, शुभ से शुभतर और शुभतर से शुभतम लेश्या के निर्माण की ओर अग्रसर होना है।

मनुष्य इस प्रक्रिया को साकार कर सकता है। वह हिंसा, दुःसाहस, क्रूरता, छल-कपट, चोरी, झूठ, असंयम, प्रमाद व मिथ्यात्व आदि दुष्प्रवृत्तियों का आचरण कर अपने लिये अशुभ लेश्या का व्यवस्थापक भी हो सकता है और अहिंसा, पाप-भीरुता, कोमलता, सरलता, ईमानदारी, सत्य, जितेन्द्रियता, अप्रमत्तता व सम्यक्त्व आदि सद्प्रवृत्तियों का आचरण कर शुभ लेश्या का जनक भी हो सकता है। भाव लेश्या में परिवर्तन के द्वारा वह द्रव्य लेश्या में परिवर्तन भी कर सकता है। अपने कर्म-बन्ध को नियंत्रित भी कर सकता है। आस-पास के वातावरण को प्रभावित भी कर सकता है।

सम्यक् चारित्र और तप के द्वारा साधक को जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे शुभ भाव लेश्या के शुभ द्रव्य-लेश्यात्मक रूप हैं। तपस्वी की देह को छू कर बहने वाली हवा भी रोगहारिणी हो जाया करती है। गौतम स्वामी का शरीर भी लब्धियों का भण्डार था। इतिहास में ऐसे अनेक तपस्वियों का वर्णन मिलता है, जिनकी लब्धियों के प्रभाव से अनेक उपद्रव शांत हुए। चमत्कार प्रतीत होने वाली उन सभी घटनाओं की पृष्ठभूमि में वस्तुतः लेश्या-विज्ञान सक्रिय रहा। महापुरुषों की भाव-लेश्याएँ इतनी निर्मल हो गईं कि वे द्रव्य-लेश्याओं के रूप में भी उजागर हुईं।

उन लेश्याओं के साथ-साथ अशुभ लेश्याओं का भी सांगोपांग ज्ञान यह अध्ययन प्रदान करता है। शुभ लेश्याओं की दिशा में यह प्रेरित भी करता है और अशुभ लेश्याओं से सावधान भी। अपनी तथा अन्य सभी की वास्तविक पहचान का आधार प्रदान करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह लेसज्झयणं णाम
चोत्तीसइमं अज्झयणं
(अथ लेश्याध्ययनं नाम चतुस्त्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं।
छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे ।।१।।

संस्कृत : लेश्याध्ययनं प्रवक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।
षण्णामपि कर्मलेश्यानाम्, अनुभावान् शृणुत मम ।।१।।

मूल : नामाइं वण्ण-रस-गंध-फास-परिणाम-लक्खणं।
ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे ।।२।।

संस्कृत : नामानि वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-परिणाम-लक्षणानि।
स्थानं स्थितिं गतिं चायुः, लेश्यानां तु शृणुत मे ।।२।।

मूल : किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ।।३।।

संस्कृत : कृष्णा नीला च कपोती च, तेजः पद्मा तथैव च।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ।।३।।

मूल : जीमूयनिद्धसंकासा, गवल-रिट्ठगसंनिभा।
खंजणंजण-नयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ।।४।।

संस्कृत : जीमूतस्निग्धसंकाशा, गवलारिष्टकसंनिभा।
खञ्जनाञ्जननयननिभा, कृष्णलेश्या तु वर्णतः ।।४।।

मूल : नीलासोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा।
वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ।।५।।

संस्कृत : नीलाशोकसंकाशा, चाषपिच्छसमप्रभा।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशा, नीललेश्या तु वर्णतः ।।५।।

चौंतीसवां अध्ययन : लेश्या-अध्ययन

१. मैं (पूर्व-) आनुपूर्वी के क्रमानुरूप, लेश्या (के बोधक) अध्ययन को कहूंगा। तुम कर्मों की (स्थिति का निर्माण करने वाली) छहों लेश्याओं के अनुभावों (तीव्र-मन्द आदि रस-विशेषों) के विषय में मुझसे सुनो।

२. लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु (इन ग्यारह द्वारों से उन लेश्याओं) के विषय में मुझसे सुनो।

३. (लेश्याओं के) (१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजस्, (५) पद्म, तथा (छठी) शुक्ल लेश्या, ये क्रमानुसार नाम हैं।

४. कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध (सजल काले) मेघ के समान, भैंसे के सींग व रिष्टक (कौए, या 'रीठा' 'फल-विशेष की गुठली) के समान, 'खंजन' (गाड़ी के पहिये के घर्षण से उत्पन्न काजल/कीचड़) अंजन (काजल) व आंख (के तारे या पुतली) के समान कृष्ण होता है।

५. नील लेश्या का वर्ण नीले अशोक (वृक्ष) के समान, 'चास' पक्षी के पंख के जैसी कान्ति लिए हुए, तथा स्निग्ध (प्रदीप्त) वैडूर्य (नीलम मणि) के समान नीला होता है।

मूल : अयसीपुप्फसंकासा, कोइलच्छदसंनिभा।
पारेवयगीवनिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ।।६।।

संस्कृत : अतसीपुष्पसंकाशा, कोकिलच्छदसंनिभा।
पारावतग्रीवानिभा, कापोतलेश्या तु वर्णतः ।।६।।

मूल : हिंगुलधाउसंकासा, तरुणाइच्चसंनिभा।
सुयतुंड-पईवनिभा, तेऊलेसा उ वण्णओ ।।७।।

संस्कृत : हिंगुलधातुसंकाशा, तरुणादित्यसंनिभा।
शुकतुण्डप्रदीपनिभा, तेजोलेश्या तु वर्णतः ।।७।।

मूल : हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा।
सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ।।८।।

संस्कृत : हरितालभेदसंकाशा, हरिद्राभेदसमप्रभा।
शणासनकुसुमनिभा, पद्मलेश्या तु वर्णतः ।।८।।

मूल : संखंक-कुंदसंकासा, खीरपूरसमप्पभा।
रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ।।९।।

संस्कृत : शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा, क्षीरपूरसमप्रभा।
रजतहारसदृशा, शुक्ललेश्या तु वर्णतः ।।९।।

मूल : जह कडुयतुंबगरसो, निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो य किण्हाए नायव्वो ।।१०।।

संस्कृत : यथा कटुकतुम्बकरसः, निम्बरसः कटुकरोहिणीरसो वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसश्च कृष्णाया ज्ञातव्यः ।।१०।।

मूल : जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ।।११।।

संस्कृत : यथा त्रिकटुकस्य च रसः, तीक्ष्णो यथा हस्तिपिप्पल्या वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसस्तु नीलाया ज्ञातव्यः ।।११।।

६. कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के फूल के समान, कोयल के पंख (अथवा 'तैलकण्टम' नामक वनस्पति जैसा, तथा कबूतर की ग्रीवा (गर्दन) के समान (कुछ काला तथा कुछ लाल) होता है।

७. तेजोलेश्या का वर्ण हिंगुल धातु (व गेरू आदि) के समान, तरुण (उदीयमान सूर्य) के समान तथा तोते की नासिका व (प्रज्वलित) दीप (की लौ) के समान लाल होता है।

८. पद्म लेश्या का वर्ण हरिताल तथा हल्दी के खण्ड जैसा तथा सण (पटसन के पुष्प) व असन (बीजक वृक्ष) के पुष्प के समान पीत होता है।

९. शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंक (रत्न) व कुन्द (मुचकुन्द के फूल) के समान, दुग्ध की धारा जैसी कान्ति लिए हुए, एवं चांदी के हार (अथवा चांदी व मुक्ता-हार) के समान (श्वेत व उज्ज्वल) होता है।

१०. जिस प्रकार कडुवी तुम्बी का रस, नीम का रस, तथा कड़वी 'रोहिणी' (नीमगिलोय-औषधि विशेष) का रस (जितना कडुवा होता है, कृष्ण लेश्या के रस को उससे भी अनन्तगुना (अधिक) कडुवा जानना चाहिए।

११. जिस प्रकार, त्रिकटुक (सोंठ, पीपल व काली मिर्च) का रस, अथवा गजपीपल का रस तीक्ष्ण (तीखा) होता है, नील लेश्या के 'रस' को उससे भी अनन्तगुना (अधिक) तीक्ष्ण जानना चाहिए।

मूल : जह तरुणअंबगरसो, तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ।।१२।।

संस्कृत : यथा तरुणाम्रकरसः, तुवरकपित्थस्य वापि यादृशः।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसस्तु कापोताया ज्ञातव्यः ।।१२।।

मूल : जह परिणयंबगरसो, पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊए नायव्वो ।।१३।।

संस्कृत : यथा परिणताम्रकरसः, पक्वकपित्थस्य वापि यादृशः।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसस्तु तेजोलेश्याया ज्ञातव्यः ।।१३।।

मूल : वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ।
महुमेरयस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएणं ।।१४।।

संस्कृत : वरवारुण्या इव रसः, विविधानामिवासवानां यादृशः।
मधुमैरेयकस्येव रसः, इतः पद्मायाः परकेण (भवति) ।।१४।।

मूल : खज्जूर-मुद्दियरसो, खीररसो खंड-सक्कररसो वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ।।१५।।

संस्कृत : खर्जूरमृद्वीकारसः, क्षीररसः खण्डशर्करारसो वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसस्तु शुक्ललेश्याया ज्ञातव्यः ।।१५।।

मूल : जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ।।१६।।

संस्कृत : यथा गोमृतकस्य गन्धः, शुनो मृतकस्य वा यथाऽहिमृतकस्य।
इतोऽप्यनन्तगुणो, लेश्यानामप्रशस्तानाम् ।।१६।।

मूल : जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ।।१७।।

संस्कृत : यथासुरभिकुसुमगन्धः, गन्धवासानां पिष्यमाणानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः, प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ।।१७।।

१२. जिस प्रकार, कच्चे आम का रस तथा (कच्चे) तुवर (फल विशेष) व (कच्चे) कपित्थ (कैथ फल) का रस (कसैला) होता है, कापोत लेश्या के 'रस' को उससे भी अनन्तगुना (अधिक) कसैला जानना चाहिए।

१३. जिस प्रकार, पके आम का रस, अथवा पके कपित्थ (कैथ फल) का रस (कुछ खट्टा कुछ मीठा) होता है, तेजो लेश्या के 'रस' को उससे भी अनन्तगुना (अधिक खट्टा-मीठा) जानना चाहिए।

१४. श्रेष्ठ (कही जाने वाली) मदिरा का रस, या विविध प्रकार के आसवों का रस, अथवा मधु (मद्य-विशेष) व मैरेयक (मद्य-विशेष-सिरके) के रस जैसा (खट्टा-कसैला व मीठा) होता है, पद्मलेश्या का 'रस' उससे भी (अनन्तगुना खट्टा-कसैला व मीठा) अधिक होता है।

१५. खजूर व दाक्षा (दाख, किशमिश) का रस, क्षीर-रस (दुग्ध) या खांड व शक्कर का रस (जैसा मधुर) होता है, शुक्ल लेश्या के रस को उससे भी अनन्तगुना (अधिक मधुर) जानना चाहिए।

१६. गाय, कुत्ते व सर्प के मृत शरीर (शव) की जैसी (दूषित) गन्ध होती है, (कृष्ण, नील व कापोत-इन तीन) अप्रशस्त लेश्याओं की गन्ध उनसे भी अनन्तगुना (अधिक दूषित) होती है।

१७. जिस प्रकार, सुगन्धित फूलों की, और पीसे जा रहे (चन्दन, केसर आदि) सुगन्धित द्रव्यों की (मनोहारिणी) सुगन्ध होती है, (तेजो, पद्म व शुक्ल-इन) तीनों प्रशस्त लेश्याओं की (गन्ध) उनसे भी अनन्तगुना (अधिक सुगन्धित व मनोहारिणी) होती है।

मूल : जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए य सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ।।१८।।

संस्कृत : यथा क्रकचस्य स्पर्शः, गोजिह्वायाश्च शाकपत्राणाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणो, लेश्यानामप्रशस्तानाम् ।।१८।।

मूल : जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ।।१९।।

संस्कृत : यथा बूरस्य वा स्पर्शः, नवनीतस्य वा शिरीषकुसुमानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः, प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ।।१९।।

मूल : तिविहो व नवविहो वा, सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा, लेसाणं होइ परिणामो ।।२०।।

संस्कृत : त्रिविधो वा नवविधो वा, सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा।
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा, लेश्यानां भवति परिणामः ।।२०।।

मूल : पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ।।२१।।

संस्कृत : पञ्चास्रवप्रवृत्तः, तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च।
तीव्रारम्भपरिणतः, क्षुद्रः साहसिको नरः ।।२१।।

मूल : निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ।।२२।।

संस्कृत : निर्ध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, कृष्णलेश्यां तु परिणमेत् ।।२२।।

१८. करवत आरी (के अग्रभाग), गाय की जीभ, तथा 'शाक' (वनस्पति/बिच्छू बूटी आदि) के पत्तों का जिस प्रकार का (कर्कश) स्पर्श होता है, (तीनों) अप्रशस्त लेश्याओं का उससे भी अनन्त गुना (अधिक कर्कश स्पर्श) होता है।

१९. 'बूर' (नामक वनस्पति) का, तथा मक्खन का या शिरीष के फूलों का जैसा (मृदु, कोमल व प्रिय) स्पर्श होता है, तीनों प्रशस्त लेश्याओं का उससे भी अनन्तगुना (अधिक मृदु, कोमल व प्रिय स्पर्श) होता है।

२०. (सभी) लेश्याओं (में प्रत्येक) के परिणाम (जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट इन तीन भेदों के कारण) तीन प्रकार के, या नौ प्रकार के, सत्ताईस, इक्यासी और दो सौ तैंतालीस (प्रकार के) होते हैं।[1]

२१.(जो) मनुष्य (हिंसा, असत्य आदि) आस्रवों में प्रवृत्त रहने वाला, तीन गुप्तियों से (रहित होता हुआ) अगुप्त, षट्कायिक जीवों के प्रति (हिंसादि प्रवृत्तियों से) अविरत (असंयत), तीव्र आरम्भों (उग्र भावों के साथ किये जाने वाले हिंसा आदि सावद्य कार्यों) से (एकात्मता/तल्लीनता में) परिणत होने वाला, क्षुद्र (दुष्ट/अहितचिन्तक) एवं दुस्साहसी (विवेकरहित हो काम करने वाला)-

२२. निःशंक/निष्ठुर/निर्दय - परिणामी, नृशंस (क्रूर), अजितेन्द्रिय (भोगों में स्वच्छन्द इन्द्रिय प्रवृत्ति वाला), तथा इन (हिंसादि आस्रवों में प्रवृत्ति वाले-मानसिक, वाचिक व कायिक) योगों (व्यापारों से युक्त (व्यक्ति है, वह) कृष्ण लेश्या में (स्वयं को) परिणत करता है (या स्वयं परिणत हो जाता है)।

---

१. जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार की लेश्याओं के परिणामों को पुनः जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद करने पर नौ भेद हुए, उन नौ भेदों के भी जघन्य आदि तीन-तीन भेद करने पर सत्ताईस, सत्ताईस के भी जघन्य आदि तीन-तीन भेद करने पर इक्यासी भेद, और इक्यासी के भी जघन्य आदि तीन-तीन भेद करने पर दो सौ तैंतालीस भेद हो जाते हैं।

मूल : इस्सा-अमरिस-अतवो, अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए-सायगवेसए य ।।२३।।

संस्कृत : ईर्ष्याऽमर्षातप अविद्या-अमायाऽह्रीकता।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च (यस्य) शठः, प्रमत्तो रसलोलुपः सातागवेषकश्च ।।२३।।

मूल : आरंभाओ अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ।।२४।।

संस्कृत : आरम्भादविरतः, क्षुद्रः साहसिको नरः।
एतद्योगसमायुक्तः, नीललेश्यां तु परिणमेत् ।।२४।।

मूल : वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग-ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ।।२५।।

संस्कृत : वक्रो वक्रसमाचारः, निष्कृतिमाननृजुकः।
परिकुञ्चक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ।।२५।।

मूल : उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ।।२६।।

संस्कृत : उत्प्रासकदुष्टवादी च, स्तेनश्चापि च मत्सरी।
एतद्योगसमायुक्तः, कापोतलेश्यां तु परिणमेत् ।।२६।।

मूल : नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ।।२७।।

संस्कृत : नीचैर्वृत्तिरचपलः, अमाय्यकुतूहलः।
विनीतविनयो दान्तः, योगवानुपधानवान् ।।२७।।

मूल : पियधम्मे दढधम्मे, ऽवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ।।२८।।

संस्कृत : प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिकः।
एतद्योगसमायुक्तः, तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ।।२८।।

२३. ईर्ष्यालु, असहिष्णु/कदाग्रही, तपोहीन, अज्ञानी, मायावी, लज्जाहीन, (विषयों में) आसक्त, द्वेषी, शठ (धूर्त, ठग व असत्य भाषी), प्रमत्त, रसलोलुप व (विषय-सम्बन्धी) सुख का (सतत) अन्वेषक-

२४. (हिंसा आदि) आरम्भों से अविरत, क्षुद्रबुद्धि, दुस्साहसी एवं इन (ईर्ष्या आदि से सम्बन्धित, मानसिक, वाचिक व कायिक) व्यापारों से युक्त व्यक्ति नील लेश्या में (स्वयं को) परिणत करता है (या परिणत हो जाता है)।

२५. (वाणी से) वक्र-कुटिल, (कर्म से भी) कुटिल-आचारयुक्त, (मन से भी) छली- कपटी, कुटिल-हृदय, अपने दोषों को ढँकने वाला, मायाचारी (या परिग्रही), मिथ्यादृष्टि, अनार्य-

२६. पीड़ाकारी (मर्मभेदी, तथा जो मुंह में आए ऐसे) व द्वेषादियुक्त वचन को बोलने वाला, चोर, मात्सर्ययुक्त दूसरों की उन्नति व सम्पत्ति को न सहने वाला, डाह करने वाला तथा इन पूर्वोक्त अप्रशस्त योगों (व्यापारों) से युक्त, (व्यक्ति) कापोत लेश्या में (स्वयं को) परिणत करता है (या स्वयं परिणत हो जाता है)।

२७. विनम्र (अहंकार-रहित) व्यवहार वाला, चपलता से रहित, माया से रहित, कौतूहल (हंसी-मजाक, कौतुक, खेल-तमाशे आदि को देखने की उत्कण्ठा व प्रदर्शन की भावना) से रहित, विनय-निपुण, दान्त (इन्द्रिय-जयी), (स्वाध्याय आदि प्रशस्त) योगों (व्यापारों) से सम्पन्न, उपधान (श्रुत-आराधना के समय की जाने वाली तपश्चर्या) से युक्त-

२८. धर्म-प्रेमी, (अंगीकृत व्रत आदि) धर्मों में दृढ़, पाप से डरने वाला, 'हित' (मुक्ति) का (या सब के हित का) इच्छुक, तथा इन (पूर्वोक्त प्रशस्त) योगों (व्यापारों) से युक्त (व्यक्ति) तेजो लेश्या में (स्वयं को) परिणत करता है (या परिणत हो जाता है)।

मूल : पयणुकोह-माणे य, मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ।।२९।।

संस्कृत : प्रतनुक्रोधमानश्च, माया लोभश्च प्रतनुकः।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ।।२९।।

मूल : तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ।।३०।।

संस्कृत : तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ।।३०।।

मूल : अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म-सुक्काणि साहए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ।।३१।।

संस्कृत : आर्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले साधयेत्।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ।।३१।।

मूल : सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ।।३२।।

संस्कृत : सरागो वीतरागो वा, उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, शुक्ललेश्यां तु परिणमेत् ।।३२।।

मूल : असंखिज्जाणोसप्पिणीण,उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईआ लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं ।।३३।।

संस्कृत : असंख्येयानामवसर्पिणीनामु, उत्सर्पिणीनां ये समयाः।
संख्यातीता लोकाः, लेश्यानां भवन्ति स्थानानि ।।३३।।

मूल : मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसा सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किण्हलेसाए ।।३४।।

संस्कृत : मुहुर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः ।।३४।।

२९. क्रोध, मान, माया व लोभ की अत्यन्त अल्पता वाला, प्रशान्त-चित्त (उपशम-परिणाम-युक्त), इन्द्रियजयी, (प्रशस्त) योगों से सम्पन्न, (श्रुताराधना के समय की जाने वाली-तपश्चर्या) से युक्त,

३०. अत्यल्प (परिमित) भाषण करने वाला, उपशान्त, जितेन्द्रिय, तथा इन (पूर्वोक्त प्रशस्त) व्यापारों से युक्त (व्यक्ति) पद्मलेश्या में (स्वयं को) परिणत करता है (या परिणत हो जाता है)।

३१. (जो) आर्त व रौद्र (इन अप्रशस्त ध्यानों) को छोड़कर धर्म व शुक्ल (इन दो प्रशस्त ध्यानों) में ध्यानलीन रहता है, तथा प्रकृष्ट उपशम-युक्त चित्त वाला, दान्त, (पांच) समितियों का आराधक, एवं (तीन) गुप्तियों से गुप्त है-

३२. सराग (अवस्था में अल्पकषायी) या वीतराग (अवस्था में कषाय-निर्मुक्त) हो, (किन्तु) उपशान्त व इन्द्रियजयी है, तथा इन (पूर्वोक्त प्रशस्त) व्यापारों से युक्त है, वह (आत्मा) शुक्ल लेश्या में (स्वयं को) परिणत करता है (या परिणत हो जाता है)।

३३. असंख्येय अवसर्पिणी और (असंख्येय) उत्सर्पिणी (काल) के जो (जितने) समय हैं, अथवा असंख्यात लोक (के जितने आकाशीय प्रदेश) हैं, (उतने ही) लेश्याओं के स्थान (शुभ लेश्याओं की विशुद्धि-सम्बन्धी तरतमताओं तथा अशुभ लेश्याओं की संक्लेश सम्बन्धी तरतमताओं से पूर्ण भूमिकाओं के -काल व क्षेत्र की दृष्टियों से- परिमाण) होते हैं।

३४. कृष्ण लेश्या की जघन्य (कम से कम) स्थिति मुहूर्तार्ध[1] की होती है, और उत्कृष्ट (स्थिति) एक मुहूर्त (अन्तर्मुहूर्त) अधिक तैंतीस सागरोपम की होती है- यह ज्ञातव्य है।

---

१. मुहूर्तार्ध का अर्थ यहाँ सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिए।

मूल : **मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दसउदही-पलियमसंखभागमब्भहिया।**
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेसाए।। ३५।।

संस्कृत : मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, दशोदधि-पल्योपमासंख्यभागाधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या नीललेश्यायाः।। ३५।।

मूल : **मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तिण्णुदही-पलियमसंखभागमब्भहिया।**
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काउलेसाए।। ३६।।

संस्कृत : मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्र्युदधिपल्योपमासंख्यभागाधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या कापोतलेश्यायाः।। ३६।।

मूल : **मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दोण्णुदही-पलियमसंखभागमब्भहिया।**
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेउलेसाए।। ३७।।

संस्कृत : मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, द्वयुदधि-पल्योपमासंख्यभागाधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या तेजोलेश्यायाः।। ३७।।

मूल : **मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दस उदही होंति मुहुत्तमब्भहिया।**
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पम्हलेसाए।। ३८।।

संस्कृत : मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, दशोदधयो भवन्ति मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या पद्मलेश्यायाः।। ३८।।

मूल : **मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया।**
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए।। ३९।।

संस्कृत : मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम-मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः।। ३९।।

मूल : **एसा खलु लेसाणं, ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।**
चउसु वि गईसु एत्तो, लेसाण ठिइं तु वोच्छामि।। ४०।।

संस्कृत : एषा खलु लेश्यानाम्, ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
चतसृष्वपि गतिष्वितो, लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि।। ४०।।

३५. नील लेश्या की जघन्य स्थिति मुहूर्तार्ध की होती है, और उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम के असंख्यातवें भाग (अर्थात् दो अन्तर्मुहूर्त) से युक्त दस सागरोपम की (धूमप्रभा पृथ्वी के ऊपर के प्रस्तर की अपेक्षा से) होती है, यह ज्ञातव्य है।

३६. कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति मुहूर्तार्ध की होती है, और (द्रव्य कापोत लेश्या की) उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम के असंख्यातवें भाग (अर्थात् दो अन्तर्मुहूर्त) से युक्त तीन सागरोपम की (नरक की अपेक्षा से) होती है, यह ज्ञातव्य है।

३७. तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति मुहूर्तार्ध की होती है, और उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम के असंख्यातवें भाग (अर्थात् दो अन्तर्मुहूर्त) से युक्त दो सागरोपम (ऐशान देवलोक की अपेक्षा से) होती है यह ज्ञातव्य है।

३८. पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति मुहूर्तार्ध की होती है, और उत्कृष्ट (स्थिति) एक मुहूर्त (अर्थात् दो अन्तर्मुहूर्त) अधिक दस सागरोपम की होती है-यह ज्ञातव्य है।

३९. शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति मुहूर्तार्ध की होती है, और उत्कृष्ट (स्थिति) एक मुहूर्त (अर्थात् अन्तर्मुहूर्त) सहित तैंतीस सागरोपम की होती है-यह ज्ञातव्य है।

४०. लेश्याओं की स्थिति का यह वर्णन 'ओघ' (सामान्यग्राही दृष्टि) से किया गया है। यहां से चारों गतियों (की दृष्टि से उन) में होने वाली लेश्याओं की (जघन्य व उत्कृष्ट) स्थिति का कथन करूंगा।

मूल : दसवाससहस्साइं, काऊए ठिई जहन्निया होइ।
तिण्णुदहीपलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ।।४१।।

संस्कृत : दशवर्षसहस्राणि, कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
त्र्युदधिपल्योपमा, असंख्येयभागाधिका चोत्कृष्टा ।।४१।।

मूल : तिण्णुदहीपलिओवम, असंखभागो जहन्नेण नीलठिई।
दसउदहीपलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ।।४२।।

संस्कृत : त्र्युदधिपल्योपमा, असंख्यभागाधिका जघन्येन नीलस्थितिः।
दशोदधिपल्योपमा, असंख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ।।४२।।

मूल : दसउदहीपलिओवम, असंखभागं जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं, उक्कोसा होइ किण्हाए ।।४३।।

संस्कृत : दशोदधिपल्योपमा, असंख्यभागाधिका जघन्यका भवति।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा, उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ।।४३।।

मूल : एसा नेरइयाणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि, तिरियमणुस्साण देवाणं ।।४४।।

संस्कृत : एषा नैरयिकाणां, लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः परं वक्ष्यामि, तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाम् ।।४४।।

मूल : अंतोमुहुत्तमद्धं, लेसाण ठिई जहिं-जहिं जा उ।
तिरियाण नराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं ।।४५।।

संस्कृत : अन्तर्मुहूर्त्ताद्धा, लेश्यानां स्थितिर्यस्मिन् यस्मिन् या तु।
तिरश्चां नराणां वा, वर्जयित्वा केवलां लेश्याम् ।।४५।।

४१. कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति (नरक गति की अपेक्षा से, प्रथम रत्नप्रभा नामक नरक में) दस हजार वर्षों की होती है, और (तृतीय बालुकाप्रभा नामक नरक के उपरितन प्रस्तर में) उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम की होती है।

४२. नील (लेश्या) की (बालुकाप्रभा नामक तृतीय नरक में) जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम की होती है, और-(धूमप्रभा नामक पांचवें नरक के ऊपर के प्रस्तर में) उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित दस सागरोपम की होती है।

४३. (द्रव्य) कृष्ण लेश्या की (धूमप्रभा नामक पांचवें नरक के कतिपय नारकियों की अपेक्षा से) जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित दस सागरोपम की होती है और (तमस्तमा नामक सातवें नरक में) उत्कृष्ट (स्थिति) तैंतीस सागरोपम की होती है।

४४. नारकियों की (द्रव्य) लेश्याओं की यह स्थिति वर्णित की गई है। इसके आगे मैं मनुष्य व देवों की (लेश्याओं की स्थिति का) कथन करूंगा।

४५. तिर्यञ्चों या मनुष्यों में, जहां जहां, लेश्याओं की जो जो स्थिति (वर्णित) है, उनमें (अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय व वनस्पतिकायों में प्रथम चार लेश्याओं में, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च व संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यों में छहों लेश्याओं में, शेष में प्रथम तीन लेश्याओं में 'केवल' (यानी शुद्ध अर्थात् सयोगी केवली की शुक्ल) लेश्या को छोड़ कर (सभी भाव-लेश्याओं की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति) अन्तर्मुहूर्त काल है।

मूल : **मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।**
नवहि वरिसेहि ऊणा, नायव्वा सुक्कलेसाए ।।४६।।

संस्कृत : अन्तर्मुहूर्त्तं तु जघन्या, उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु।
नवभिर्वर्षैरूना, ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः ।।४६।।

मूल : **एसा तिरियनराणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।**
तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं ।।४७।।

संस्कृत : एषा तिर्यङ्नराणां, लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः परं वक्ष्यामि, लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम् ।।४७।।

मूल : **दसवाससहस्साइं, किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।**
पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसो होइ किण्हाए ।।४८।।

संस्कृत : दशवर्षसहस्राणि, कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
पल्योपमासंख्येयतमभागा, उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ।।४८।।

मूल : **जा किण्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।**
जहन्नेणं नीलाए, पलियमसंखं च उक्कोसा ।।४९।।

संस्कृत : या कृष्णायाः स्थितिः खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन नीलायाः, पल्योपमासंख्येयभागा चोत्कृष्टा ।।४९।।

मूल : **जा नीलाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।**
जहन्नेणं काऊए, पलियमसंखं च उक्कोसा ।।५०।।

संस्कृत : या नीलायाः स्थिति खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन कापोतायाः, पल्योपमासंख्येयभागा चोत्कृष्टा ।।५०।।

मूल : **तेण परं वोच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाणं।**
भवणवइ-वाणमंतर, जोइस-वेमाणियाणं च ।।५१।।

संस्कृत : ततः परं वक्ष्यामि, तेजोलेश्या यथा सुरगणानाम्।
भवनपति-वाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानां च ।।५१।।

४६. शुक्ल लेश्या की जघन्य (स्थिति) मुहूर्तार्ध (अर्थात् अन्तर्मुहूर्त) की होती है, और (सयोगी केवली की दृष्टि से) उत्कृष्ट (स्थिति) नौ वर्ष कम एक करोड़ 'पूर्व' की होती है।

४७. तिर्यञ्च व मनुष्यों की लेश्याओं की यह (जघन्य व उत्कृष्ट) स्थिति तो वर्णित कर दी गई है। इससे आगे, मैं देवों की लेश्याओं की स्थिति का कथन करूंगा।

४८. कृष्ण (लेश्या) की (भवनपति, एवं व्यन्तर देवों में) जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है। कृष्ण (लेश्या) की उत्कृष्ट स्थिति (मध्यम आयु वाले भवनपति व व्यन्तर देवों में) पल्योपम का असंख्यातवां भाग (प्रमाण) होती है।

४९. कृष्ण (लेश्या) की जो उत्कृष्ट स्थिति (कही गई) है, उससे एक समय अधिक (काल मान ही) नील (लेश्या) की जघन्य स्थिति है, और (नील लेश्या की) उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम का असंख्यातवां भाग (प्रमाण, किन्तु कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से अधिक) होती है।

५०. नील (लेश्या) की जो उत्कृष्ट स्थिति (कही गई) है, उससे एक समय अधिक (काल मान ही) कापोत (लेश्या) की जघन्य स्थिति है, और (कापोत लेश्या की) उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम का असंख्यातवां भाग (प्रमाण, किन्तु नील लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से अधिक) होती है।

५१. इसके अनन्तर, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी व वैमानिक देव-गणों की जैसी तेजोलेश्या (की स्थिति) है, उसका कथन करूंगा।

मूल : **पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुन्नहिया।**
पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए ।।५२।।

संस्कृत : पल्योपमं जघन्या, उत्कृष्टा सागरोपमे तु द्वयधिके।
पल्योपमासंख्येयेन, भवति भागेन तैजस्याः ।।५२।।

मूल : **दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ।**
दुन्नुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ।।५३।।

संस्कृत : दशवर्षसहस्राणि, तेजोलेश्यायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
द्वयुदधिपल्योपम, असंख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ।।५३।।

मूल : **जा तेऊए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।**
जहन्नेणं पम्हाए, दस उ मुहुत्ताहियाइ उक्कोसा ।।५४।।

संस्कृत : या तेजोलेश्यायाः स्थिति खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन पद्मायाः, दशसागरोपमा तु मुहूर्त्ताधिकोत्कृष्टा ।।५४।।

मूल : **जा पम्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।**
जहन्नेणं सुक्काए, तेत्तीस मुहुत्तमब्भहिया ।।५५।।

संस्कृत : या पद्मायाः स्थितिः खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन शुक्लायाः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताभ्यधिका ।।५५।।

मूल : **किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।**
एयाहि तिहिवि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ।।५६।।

संस्कृत : कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते ।।५६।।

मूल : **तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।**
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ।।५७।।

संस्कृत : तैजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते ।।५७।।

५२. (भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म व ईशान स्वर्ग के वैमानिक देवों में) तेजो (लेश्या) की जघन्य (स्थिति) एक पल्योपम की होती है और उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम के असंख्यातवां भाग अधिक दो सागरोपम की होती है। (अन्य देवों के विषय में शास्त्रों से जानना चाहिए)।

५३. (भवनपति व व्यन्तर देवों में) तेजो (लेश्या) की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है, और उत्कृष्ट (स्थिति) पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक दो सागरोपम की होती है।

५४. (सनत्कुमार नामक तीसरे वैमानिक देवों में) तेजो (लेश्या) की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय अधिक (काल-मान ही) पद्म (लेश्या) की जघन्य (स्थिति) है, और (पांचवें वैमानिक निकाय-ब्रह्मलोक के देवों में) उत्कृष्ट (स्थिति) तो एक मुहूर्त (अन्तर्मुहूर्त) अधिक दस सागरोपम की होती है।

५५. पद्म (लेश्या) की जो उत्कृष्ट स्थिति है, एक समय अधिक होकर वही (अर्थात् एक समय अधिक दस सागरोपम की स्थिति, लान्तक देवलोक में) शुक्ल (लेश्या) की जघन्य स्थिति होती है, और (शुक्ल लेश्या की) उत्कृष्ट (स्थिति) एक मुहूर्त (अन्तर्मुहूर्त) अधिक तैंतीस सागरोपम की होती है।

५६. कृष्ण लेश्या, नील लेश्या व कापोत लेश्या-ये तीन अधर्म (की हेतु अप्रशस्त) लेश्याएं हैं, इन तीनों (लेश्याओं) से जीव अनेकों बार (नरक आदि) दुर्गति को प्राप्त करता है (इनमें उत्पन्न होता है)।

५७. (उक्त छः लेश्याओं में) तेजोलेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या-ये तीनों ही धर्म (की हेतु प्रशस्त) लेश्याएं हैं। इन्हीं तीनों (में से किसी भी एक लेश्या) से जीव (देव आदि) सुगतियों को अनेक बार प्राप्त करता है (इनमें उत्पन्न होता है)।

मूल : **लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।**
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ।। ५८ ।।

संस्कृत : लेश्याभिः सर्वाभिः, प्रथमे समये परिणताभिस्तु।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ।। ५८ ।।

मूल : **लेसाहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु।**
न हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स ।। ५९ ।।

संस्कृत : लेश्याभिः सर्वाभिः, चरमे समये परिणताभिस्तु।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ।। ५९ ।।

मूल : **अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।**
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ।। ६० ।।

संस्कृत : अन्तर्मुहूर्ते गते, अन्तर्मुहूर्ते शेषे चैव।
लेश्याभिः परिणताभिः, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ।। ६० ।।

मूल : **तम्हा एयासि लेसाणं, आणुभावे वियाणिया।**
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ।। ६१ ।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : तस्मादेतासां लेश्यानाम्, अनुभावान्विज्ञाय।
अप्रशस्ता वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठेन् मुनिः ।। ६१ ।।
इति ब्रवीमि।

५८. प्रथम समय में परिणत हो रही (अर्थात् अपनी उत्पत्ति के प्रथम-तात्कालिक समय में विद्यमान) सभी-लेश्याओं (में से किसी भी एक लेश्या) से किसी भी जीव की (मृत्यु व) अन्य भव में उत्पत्ति (कदापि) नहीं हुआ करती।

५९. चरम समय में परिणत हो रही (अर्थात् अपनी समाप्ति के अन्तिम समय में विद्यमान) सभी लेश्याओं (में से किसी भी एक लेश्या) से किसी भी जीव की (मृत्यु व) पर-भव में उत्पत्ति (कदापि) नहीं हुआ करती।

६०. जिसे परिणत (उत्पन्न) हुए (कम से कम) अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो चुका हो, और जिसे (समाप्त होने में भी कम से कम) अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट हो, उसी लेश्या के साथ जीव (मरण, व) परलोक में गमन करता है।

६१. इसलिए, इन लेश्याओं के अनुभागों (शुभ-अशुभ विपाक-फल) को जान कर, (साधक) अप्रशस्त लेश्याओं (के अशुभ भावों) को छोड़कर, प्रशस्त लेश्याओं (के शुभभावों) को अंगीकार करे-उनमें अधिष्ठित/स्थिर हो।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

कर्म की स्थिति विधायक कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल, ये छह लेश्याएँ होती हैं। इनका रंग क्रमशः काला, नीला, कुछ नीला व कुछ लाल, लाल, पीला और सफेद होता है। इनका रस क्रमशः कड़वा, तीखा, कसैला, खट-मीठा, कुछ खट्टा-कुछ कसैला और मीठा होता है। प्रथम तीन लेश्याएँ दुर्गंध व अंतिम तीन सुगंध-युक्त होती हैं। इनके स्पर्श क्रमशः कर्कश व कोमल होते हैं। इन का परिणाम दो सौ तेंतालीस प्रकार का होता है। असंयमी, हिंसक, क्षुद्र, दुःसाहसी व क्रूर मनुष्य कृष्ण लेश्या वाला; ईर्ष्यालु, मिथ्यात्वी, कदाग्रही, मायावी, प्रमादी, लोलुप, धूर्त व स्वार्थी हिंसक नील; कपटी, मिथ्यात्वी, चोर व मत्सर कापोत; विनम्र, अचपल, सरल, दान्त व योग-उपधानवान् तेजो; मन्द-कषायी, प्रशांत-चित्त, योग-उपधानवान् व जितेन्द्रिय पद्म तथा धर्म-शुक्ल-ध्यान-संपन्न, प्रशान्त, समिति-गुप्ति-युक्त व जितेन्द्रिय वीतरागी शुक्ल लेश्या में परिणत होता है। सभी लेश्याओं की जघन्य स्थिति मुहूर्तार्ध व उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागर, पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर, पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर, पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर, एक मुहूर्त अधिक दस सागर तथा एक मुहूर्त अधिक तेंतीस सागर की होती है। नारकियों, मनुष्यों-तिर्यंचों तथा देवों में लेश्याओं की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। प्रथम तीन अशुभ लेश्याओं से जीव दुर्गति में तथा अंतिम तीन शुभ लेश्याओं से सुगति में भी उत्पन्न होता है। प्रथम व अंतिम समय में परिणत हुई सभी लेश्याओं से कोई पर-भव में नहीं जाता। लेश्या-परिणति के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तथा अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव पर-भव में जाता है। भव्य जीव यह सब जान कर अप्रशस्त लेश्याओं का त्याग कर प्रशस्त लेश्याओं में स्थिर हो।

❑❑

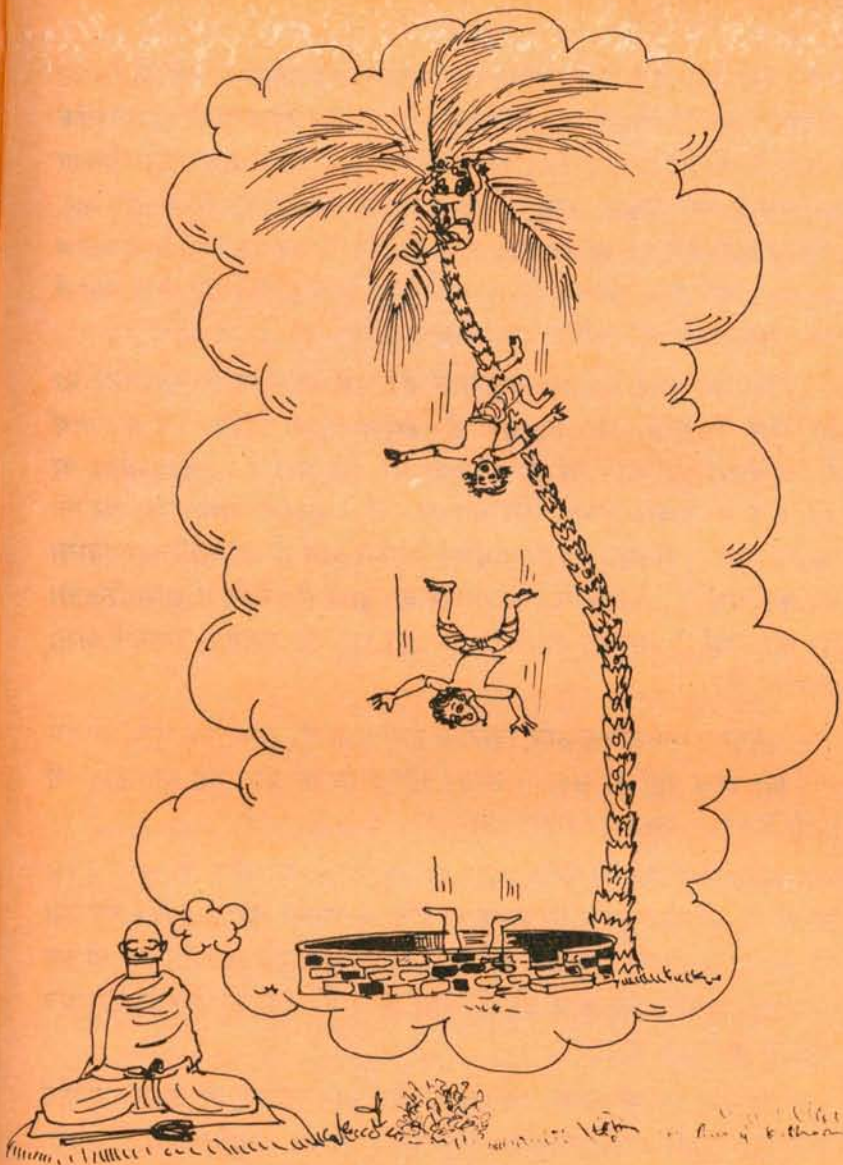

अध्ययन—35

अनगार-मार्ग-गति

अध्ययन परिचय

'अनगार-मार्ग-गति' नामक इस अध्याय में इक्कीस गाथायें हैं। इस का केन्द्रीय विषय है–घर-संसार त्यागने वाले सन्त का मोक्ष-मार्ग पर वेगपूर्वक अग्रसर होना। इसीलिए इसका नाम 'अनगार-मार्ग-गति' रखा गया। अनगार का अर्थ है–गृह-रहित। अनगार वह है जो घर-संसार की निरर्थकता जाने, अनुभव करे, उस पर आस्था रखे, उस का और केवल उसी का प्रतिपादन व अनुमोदन करे तथा उसी के अनुरूप आचरण करे। तीन करण, तीन योग से घर-संसार त्याग कर अनगार होना संभव है।

घर का अर्थ मकान-मात्र नहीं है। घर का अर्थ है–परिग्रह। घर का अर्थ है–मोह। घर का अर्थ है–स्थूल-सूक्ष्म हिंसा। घर का अर्थ है–सम्बन्ध। घर का अर्थ है–ममत्व। घर का अर्थ है–सुख-भोग। घर का अर्थ है–इच्छा-तृष्णा। घर का अर्थ है–आरम्भ-समारम्भ। घर का अर्थ है–मान-प्रतिष्ठा का आकर्षण। घर का अर्थ है–सांसारिक दायित्व। घर का अर्थ है–अधिकार-भाव। घर का अर्थ है–सम्पूर्ण सांसारिकता। घर का अर्थ है–समस्त शारीरिकता। इस घर को समग्रतः त्यागने वाला अनगार है।

अनगार का अपना और विशिष्ट मार्ग होता है। सांसारिक दृष्टि से उस मार्ग को जाना नहीं जा सकता। संसार और शरीर के लिए वह मार्ग होता भी नहीं। वह मार्ग होता है–आत्मा के लिए।

अस्थायी ही सही परन्तु शरीर भी आत्मा का घर होता है। अनगार इस घर से भी ममत्व त्यागता है। शरीर के प्रति अनासक्त भाव रख कर वह उसे भी आत्मा के हित का साधन बना देता है। इस प्रकार नश्वर देह का भी वह अनश्वर कल्याण के लिए उपयोग कर लेता है। देह का सर्वश्रेष्ठ सम्भव उपयोग कर लेता है।

प्रत्येक अर्थ में घर का त्याग करने वाले अनगार की गति आत्मा के मार्ग पर तीव्र होती है। आत्मा के मार्ग पर अग्रसर तो सागार या गृहस्थ भी हो सकता है परन्तु उसकी यात्रा अपेक्षाकृत मंथर गति से होती है। अनगार की यात्रा वेगपूर्वक होती है।

इस वेग का कारण है–अनगार द्वारा की जाने वाली सम्पूर्ण साधना। साधना को वह सांगोपांग रूप में जीवन्त या साकार करता है। रत्न-त्रय का

आराधक होते हुए भी श्रावक ऐसा नहीं कर पाता। घर-संसार वह पूरी तरह नहीं छोड़ सकता। यह छोड़ना ही मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ना है। सागार जितना छोड़ता है, उतना ही आगे बढ़ता है। अनगार पूर्णतः छोड़ता है। अतः वह पूरी तरह आगे बढ़ता है। यह पूरी तरह आगे बढ़ना ही उसकी यात्रा का वेग है। गति है।

प्रस्तुत अध्ययन वस्तुतः जीवन के सभी सन्दर्भों में अनगार-धर्म का निरूपण है। अनगार की पहचान बनाने वाले लक्षणों की विवेचना है। अनगार की साधना का मार्ग है। यात्रा का आधार है। गन्तव्य का पता है। यात्रा में वेग का निर्धारक है। कठिनाइयों में पराक्रम का प्रस्तावक है। जीवन-यात्रा के लिए दिशा-सूचक-यंत्र है। पथ का प्रकाश है।

समस्त पंचाश्रवों का सम्पूर्णतः त्याग, महाव्रतों से सम्पन्न व्यवहार, विविक्त शयनासन, गृहासक्ति का तीन करण, तीन योग से त्याग, आहार तैयार करने-कराने का त्याग, परिग्रह का प्रत्येक रूप में त्याग, रसासक्ति का त्याग, सम्मान-प्रतिष्ठा व ऋद्धि-सिद्धि की इच्छा का त्याग और शरीर के प्रति ममत्व का त्याग अनगार का धर्म या मार्ग है।

इस मार्ग पर गति सतत जागरूकता से आती है। विवेक को दृढ़तापूर्वक व्यवहार का रूप देने से आती है। निरन्तर यह देखने से आती है कि घर-संसार कहीं बाहर से भीतर तो स्थानान्तरित नहीं हो गया? घर ने कहीं मन में तो घर नहीं बसा लिया? शरीर किसी भी कदम पर साधन से साध्य तो नहीं हो गया? लाभ-अलाभ में समभाव यात्रा में कहीं पीछे तो नहीं छूट गया? अनगार-धर्म का आनन्द कहीं बिछुड़ तो नहीं गया? इन प्रश्नों के उत्तर स्वयं को देते रहना आवश्यक है। सम्यक् उत्तर ही अनगार-मार्ग पर गति के सूचक हैं।

अनगार जीवन के साथ-साथ मृत्यु को भी अपने मार्ग पर गति प्रदान करने वाली शक्ति बना देता है। मृत्यु का सुअवसर के समान स्वागत व उपयोग करता है। इस अवसर पर देहासक्ति-शून्यता की अंतिम परीक्षा भी अभयपूर्वक देकर उत्तीर्ण होता है। धर्म एवं शुक्ल ध्यान में ही स्थित व लीन रह कर अनगार-मार्ग पर आगामी यात्रा हेतु दृढ़ता से अगला कदम उठाता है।

परम कल्याण के सभी उपाय उजागर करने के साथ-साथ उन पर दृढ़ आस्था उत्पन्न करने के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है।

❑❑

अह अणगारज्झयणं णाम पंचतीसइमं अज्झयणं

(अथ अनगाराध्ययनं नाम पञ्चत्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : **सुणेह मे एगग्गमणा, मग्गं बुद्धेहि देसियं।**
जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरे भवे ।।१।।

संस्कृत : श्रृणुत मे एकाग्रमनसा, मार्गं बुद्धैर्देशितम्।
यमाचरन्भिक्षुः, दुःखानामन्तकरो भवेत् ।।१।।

मूल : **गिहवासं परिच्चज्ज, पव्वज्जामस्सिए मुणी।**
इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ।।२।।

संस्कृत : गृहवासं परित्यज्य, प्रव्रज्यामाश्रितो मुनिः।
इमान् संगान् विजानीयात्, यैः सज्यन्ते मानवाः ।।२।।

मूल : **तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अब्बंभसेवणं।**
इच्छाकामं च लोहं च, संजओ परिवज्जए ।।३।।

संस्कृत : तथैव हिंसामलीकं, चौर्यमब्रह्मसेवनम्।
इच्छाकामञ्च लोभञ्च, संयतः परिवर्जयेत् ।।३।।

मूल : **मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।**
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसावि न पत्थए ।।४।।

संस्कृत : मनोहरं चित्रगृहं, माल्यधूपेन वासितम्।
सकपाटं पण्डुरोल्लोचं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।।४।।

मूल : **इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।**
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ।।५।।

संस्कृत : इन्द्रियाणि तु भिक्षोः, तादृशे उपाश्रये।
दुष्कराणि निवारयितुं, कामरागविवर्द्धने ।।५।।

पैंतीसवां अध्ययन : अनगार-मार्ग-गति

१. बुद्धों (सर्वज्ञों/जिनेन्द्रों) द्वारा उपदिष्ट उस मार्ग (से सम्बन्धित निरूपण) को मुझ से एकाग्रचित्त होकर सुनो, जिसका आचरण करते हुए भिक्षु (समस्त) दुःखों का अन्त करने वाला हो जाता है।

२. गृहवास को त्याग कर, प्रव्रज्या का आश्रयण (अंगीकार) कर लेने वाला मुनि इन (माता-पिता पुत्र, कलत्र आदि) 'संगों' को (विशेषतः संसार-हेतु के रूप में) जाने, जिनके कारण मनुष्य आसक्त/लिप्त (तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से बद्ध) होते हैं।

३. इसी तरह, संयमी (मुनि) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा) व लोभ (प्राप्त वस्तु में आसक्ति व ममत्व) का सर्वथा परित्याग करे।

४. (संयमी मुनि) मन को लुभाने वाले, चित्रों से सुशोभित, पुष्प मालाओं व धूप (अगर, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों) से सुवासित, किवाड़ों वाले, सफेद वस्त्र (आदि) के चंदोवे से सुसज्जित (घर/स्थान) की मन से भी प्रार्थना (इच्छा) न करे।

५. (क्योंकि) काम-राग (विषय-अनुराग) को बढ़ाने वाले वैसे उपाश्रय में भिक्षु के लिए इन्द्रियों का निग्रह (संयम) रखना दुष्कर (कार्य) हो जाता है।

मूल : **सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।**
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए।।६।।

संस्कृत : श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वैककः।
प्रतिरिक्ते परकृते वा, वासं तत्राभिरोचयेत्।।६।।

मूल : **फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।**
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए।।७।।

संस्कृत : प्रासुके अनाबाधे, स्त्रीभिरनभिद्रुते।
तत्र सङ्कल्पयेद्वासं, भिक्षुः परमसंयतः।।७।।

मूल : **न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, णेव अन्नेहि कारए।**
गिहकम्मसमारंभे, भूयाण दिस्सए वहो।।८।।

संस्कृत : न स्वयं गृहाणि कुर्यात्,नैवान्यैः कारयेत्।
गृहकर्मसमारम्भे, भूतानां दृश्यते वधः।।८।।

मूल : **तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बादराण य।**
तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए।।९।।

संस्कृत : त्रसानां स्थावराणां च, सूक्ष्माणां बादराणां च।
तस्माद् गृहसमारम्भं, संयतः परिवर्जयेत्।।९।।

मूल : **तहेव भत्त-पाणेसु, पयणे पयावणेसु य।**
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए।।१०।।

संस्कृत : तथैव भक्तपानेषु, पचने पाचनेषु च।
प्राणभूतदयार्थं, न पचेत् न पाचयेत्।।१०।।

मूल : **जल - धन्ननिस्सिया जीवा, पुढवी - कट्ठनिस्सिया।**
हम्मंति भत्त-पाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए।।११।।

संस्कृत : जल-धान्यनिश्रिता जीवाः, पृथिवी-काष्ठनिश्रिताः।
हन्यन्ते भक्त-पानेषु, तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत्।।११।।

६. (इसलिए मुनि) श्मशान में, शून्य घर में, वृक्ष के नीचे, अन्य (गृहस्थ) द्वारा निर्मित-या एकान्त (राग के अवर्द्धक) स्थानों में एकाकी (रागद्वेषरहित) होकर रहने की अभिरुचि रखे।

७. (पूर्वोक्त श्मशान आदि स्थानों में भी) परमसंयमी भिक्षु प्रासुक (जीवजन्तु-रहित), जीव आदि की विराधना/बाधा से रहित, तथा स्त्रियों (व पशुओं आदि) के (आवागमन आदि) उपद्रवों से रहित (जो स्थान हो) उस स्थान में रहने का संकल्प करे।

८. (भिक्षु) न स्वयं घर (का निर्माण) करे, और न ही दूसरों से (निर्माण) कराए, (क्योंकि) घर के (निर्माण) कार्य के समारम्भ में (षट्कायिक) जीवों का वध दृष्टिगोचर होता है।

९. (उस कार्य में द्वीन्द्रिय आदि) त्रस, (एकेन्द्रिय) स्थावर, सूक्ष्म व बादर जीवों का (वध देखा जाता है), इसलिए संयमी (मुनि) गृह-समारम्भ का (सर्वथा) परित्याग कर दे।

१०. इसी प्रकार, (संयमी मुनि) आहार-पानी के पकाने व पकवाने में (भी जीव-वध होता है, इसलिए) प्राणियों (त्रसों) व भूतों (स्थावरों) पर दया (रक्षा) हेतु (अन्न आदि को) न पकावे, और न ही (अन्य से) पकवावे (या अनुमोदना करे)।

११. आहार-पानी (के पकाने व पकवाने) में जल व धान्य में रहने वाले तथा पृथ्वी व काष्ठ (ईन्धन) में रहने वाले जीवों का हनन होता है, इसलिए भिक्षु न (पकाए, और न) पकवाए।

मूल : **विसप्पे सव्वओ-धारे, बहुपाणिविणासणे।**
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए।।१२।।

संस्कृत : विसर्पतू सर्वतोधारं, बहुप्राणिविनाशनमू।
नास्ति ज्योतिःसमं शस्त्रं, तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेतू।।१२।।

मूल : **हिरण्णं जायरूवं च, मणसावि न पत्थए।**
समलेट्ठु-कंचणे भिक्खू, विरए कय-विक्कए।।१३।।

संस्कृत : हिरण्यं जातरूपं च, मनसाऽपि न प्रार्थयेतू।
समलोष्टकाञ्चनो भिक्षुः, विरतः क्रय-विक्रयातू।।१३।।

मूल : **किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो य वाणिओ।**
कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू न भवइ तारिसो।।१४।।

संस्कृत : क्रीणनू क्रायको भवति, विक्रीणानश्च वणिक्।
क्रयविक्रये वर्तमानः, भिक्षुर्न भवति तादृशः।।१४।।

मूल : **भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।**
कय-विक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा।।१५।।

संस्कृत : भिक्षितव्यं न क्रेतव्यं, भिक्षुणा भैक्ष्यवृत्तिना।
क्रयविक्रययोर्महानू दोषः, भिक्षावृत्तिः सुखावहा।।१५।।

मूल : **समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं।**
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी।।१६।।

संस्कृत : समुदानमुञ्छमेषयेतू, यथासूत्रमनिन्दितमू।
लाभालाभयोः सन्तुष्टः, पिण्डपातं चरेनू मुनिः।।१६।।

मूल : **अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।**
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी।।१७।।

संस्कृत : अलोलो न रसे गृद्धः, दान्तजिह्वोऽमूर्च्छितः।
न रसार्थं भुञ्जीत, यापनार्थं महामुनिः।।१७।।

१२. (अग्नि) फैलने वाली, सभी ओर (जलाने में समर्थ) धाराओं (ज्वालाओं) वाली, तथा अनेक प्राणियों का नाश कर देने वाली (होती है, और) अग्नि के समान (कोई दूसरा) शस्त्र नहीं है, इसलिए (मुनि) अग्नि को प्रज्वलित न करे।

१३. भिक्षु के लिए (तो) सुवर्ण व मिट्टी का ढेला- एक जैसा होता है, इसलिए वह (वस्तुओं के) क्रय-विक्रय से भी विरत रहे और सोने व चांदी (एवं धन-धान्य आदि) को (तथा उनके क्रय-विक्रय को) मन से भी न चाहे, और

१४. (परकीय वस्तु की) खरीद करने वाला 'खरीददार' होता है और (अपनी वस्तु को) बेचने वाला 'वणिक' (व्यापारी) होता है, इसलिए खरीदने-बेचने में प्रवृत्त (व्यक्ति) वैसा (अर्थात् आगमोक्त लक्षणों वाला सच्चा) साधु नहीं होता।

१५. भिक्षु को भिक्षा-वृत्ति वाला होकर भिक्षा ही लेनी चाहिए, (मूल्य देकर कोई वस्तु) खरीदनी नहीं चाहिए। (वास्तव में) खरीदने व बेचने (दोनों) में महादोष है, भिक्षा-वृत्ति (ही) सुख देने वाली है।

१६. (इसलिए) 'सूत्र' (आगम में निर्दिष्ट नियमों) के अनुरूप (ही) मुनि अनिन्दित व सामुदानिक 'उञ्छ' (अनेक घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा) की गवेषणा करे, और (भिक्षा के) लाभ व अलाभ में सन्तोष-भाव रखते हुए 'पिण्डपात' (भिक्षा-हेतु पर्यटन) करे।

१७. महामुनि लोलुप न हो, और रस में आसक्त न हो, जिह्वा (इन्द्रिय) पर निग्रह करने वाला हो, एवं अनासक्त रहे, वह रस (स्वाद) के लिए नहीं, (अपितु संयमी जीवन के) निर्वाह हेतु आहार करे।

मूल : **अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा।**
इड्ढी-सक्कार-सम्माणं, मणसावि न पत्थए।। १८।।

संस्कृत : अर्चनं रचनं चैव, वन्दनं पूजनं तथा।
ऋद्धि-सत्कार-सन्मानं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।। १८।।

मूल : **सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे।**
वोसट्ठकाए विहरेज्ज, जाव कालस्स पज्जओ।। १९।।

संस्कृत : शुक्लध्यानं ध्यायेत्, अनिदानोऽकिञ्चनः।
व्युत्सृष्टकायो विहरेत्, यावत्कालस्य पर्यायः।। १९।।

मूल : **निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए।**
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चइ।। २०।।

संस्कृत : निर्हाय (परित्यज्य) आहारं, कालधर्मे उपस्थिते।
त्यक्त्वा मानुषीं तनुं, प्रभुः दुःखाद् विमुच्यते।। २०।।

मूल : **निम्ममे निरहंकारे, वीयरागो अणासवो।**
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए।। २१।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : निर्ममो निरहङ्कारः, वीतरागोऽनास्रवः।
सम्प्राप्तः केवलं ज्ञानं, शाश्वतं परिनिर्वृतः।। २१।।
इति ब्रवीमि।

१८. (मुनि अपनी) अर्चना (पुष्प आदि से पूजा), (अपने सम्मान में अन्य द्वारा 'स्वस्तिक' आदि की) रचना, (नमस्कार-पूर्वक अभिनन्दनात्मक) वन्दना, (विशिष्ट वस्त्रादि के समर्पण के साथ) पूजा, ऋद्धि, सत्कार (अर्थ-दान), एवं सम्मान (अभ्युत्थान आदि) को मन से भी न चाहे।

१९. (मुनि) शुक्ल (विशुद्ध आध्यात्मिक) ध्यान में एकाग्रचित्त रहे। वह निदान-रहित, अकिंचन (अपरिग्रही) रहते हुए, जब तक (आयु कर्म का) काल-पर्याय है, (तब तक) शरीर-का व्युत्सर्ग करके (शारीरिक ममत्व का त्यागी होकर, अप्रतिबद्ध रूप से) विचरण करे।

२०. (वह मुनि) काल-धर्म (मृत्यु) के उपस्थित होने पर, सामर्थ्य-युक्त हो आहार का त्याग कर, (संलेखना-पूर्वक) मनुष्य-देह को छोड़ कर, दुःखों से विमुक्त हो जाता है।

२१. ममत्व-हीन, अहंकार-रहित, वीतराग व (पूर्णतः) आस्रव-रहित होता हुआ, (वह मुनि) 'केवल' ज्ञान को प्राप्त कर, शाश्वत रूप से (सदा के लिए) परिनिर्वाण को प्राप्त होता है (-सिद्ध-बुद्ध व मुक्त हो जाता है)।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

दु:खों का अन्त करने वाला गृहवास का परित्यागी संयमी हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, इच्छा व लोभ का त्याग करे। सुसज्जित व काम- राग-उद्दीपक निवास-स्थान की आकांक्षा तक न करे। विविक्त शयनासन का उपयोग करे। गृह-निर्माण न करे, न कराये। भक्तपान न पकाये, न पकवाये। अग्नि जैसे अद्वितीय विनाशक शस्त्र से दूर रहे। हिंसा को जीवन में कोई स्थान न दे। सोने व मिट्टी को समान समझे। क्रय-विक्रय से विरक्त रहे। भिक्षावृत्ति ही सुखद है, यह माने और इसके अनुरूप आचरण करे। रस-परित्याग कर शरीर-निर्वाह हेतु खाये-पीये। अपनी मान-प्रतिष्ठा, वन्दना-पूजा की इच्छा भी न करे। शुक्ल ध्यान में रमण करे। देह का ममत्व त्याग दे। मृत्यु-समय आहार-परित्याग करे।

ऐसा श्रमण केवल ज्ञान-सम्पन्न हो सिद्ध गति प्राप्त करता है।

❑❑

अध्ययन–36

जीवाजीव विभक्ति

अध्ययन परिचय

दो सौ अड़सठ गाथाओं वाले प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय विषय है—सम्पूर्ण लोक-अलोक की समस्त वस्तु-स्थितियों का सम्यक् ज्ञान। अलोक का अर्थ है—जीव-अजीव-शून्य केवल आकाश की उपस्थिति। अलोक में लोक स्थित है और लोक में सभी जीव और अजीव। लोक मूलत: दो ही तत्वों से परिपूर्ण है—जीव और अजीव। इन दोनों के माध्यम से लोक की सांगोपांग विवेचना होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'जीवाजीव विभक्ति' रखा गया।

सभी संसारी जीव, आत्मा और पुद्गलों के संयोग से अस्तित्व में हैं। सिद्धावस्था में आत्मा कर्म पुद्गलों से रहित निर्मलतम रूप में या शुद्ध स्वरूप में रहती है। आत्मा जीव है तो पुद्गल अजीव। जीव की अजीव-मुक्ति (या कर्म-पुद्गलों से मुक्ति) सिद्धावस्था है। उसे पाने के लिए जीव और अजीव का अलग होना अनिवार्य है और दोनों को अलग करने के लिए दोनों को जानना। दोनों का भेद समझना। यह ज्ञान इस अध्ययन में है। 'जीवाजीव विभक्ति' नामकरण का एक आधार यह भी है।

लोक की सभी वस्तुयें जीव-अजीव के संयोग या वियोग से बनी हैं। राग-द्वेष के कारण अजीव या पुद्गल जीवात्मा की ओर आकर्षित होते हैं। उस से संबद्ध या आबद्ध या एकमेक होते हैं। परिणामत: आत्मा भांति-भांति के शरीर धारण करती है। सुख-दु:ख भोगती है। राग-द्वेष कर्मों के मूल कारण हैं। सम्यक् साधना द्वारा उनका नष्ट होना संभव है। कारण की समाप्ति का अर्थ कार्य का निर्मूल होना है। राग-द्वेष समाप्त होने का अर्थ आत्मा का कर्म-पुद्गल-मुक्ति की ओर बढ़ना है। संसार-मुक्ति या परम लक्ष्य की ओर बढ़ना है।

राग-द्वेष सम्यक्त्व के अभाव में निर्मूल नहीं होते। सम्यक्त्व ही आत्मा द्वारा शुद्धतम स्वरूप तक पहुंचने का रास्ता है। जीव को अजीव से भिन्न समझना और अनुभव करना सम्यक्त्व-प्राप्ति का आधार है। सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्न जीव सम्पूर्ण अजीव-समुदाय को पर-भाव मानता है। यह मान्यता आत्म-साक्षात्कार की क्षमता भी प्रदान करती है और अजीव के प्रति सम्यक् व्यवहार भी निर्धारित करती है। यह सम्यक् व्यवहार ही संयम है और संयम ही मोक्ष-मार्ग।

जीव अपने को अजीव से अलग तभी कर सकता है जब वह अजीव को पूर्णत: जान ले। अजीव के सभी सम्भव रूपों को समझ लें। उन रूपों के नाम,

भेद-प्रभेद, स्थान, समय आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान की दृष्टि से उन में होने वाले परिवर्तनों को हृदयंगम कर ले। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, सभी पक्षों से उनके होने का अर्थ अनुभव कर ले। संसार का सत्य देख ले। जीव और अजीव के संयोग की निरर्थकता पहचान ले। इस पहचान के आधार पर जीव की अजीव से मुक्ति का दर्शन, आचरण की या संयम की भाषा में व्यंजित करे।

जीव और अजीव, दोनों को सभी दृष्टियों से उनके भेद-प्रभेदों सहित जानना वस्तुतः अहिंसा के विज्ञान को जानना है। अहिंसा एक प्रक्रिया है। जीवन-शैली है। इसका आधार है—जीव-अजीव का भेद-विज्ञान। दोनों के सम्यक् रूपों को जो जानता ही नहीं, वह उन्हें बचायेगा क्या? हिंसा ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्ष-परोक्ष रूपों में उसके जीवन में रहेगी ही। भगवान् महावीर ने इसीलिये अहिंसा को ज्ञान का सार कहा। इस अंतिम अध्ययन में अहिंसा और ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्टतः उद्घाटित किया।

आत्मा का शुद्धतम स्वरूप क्या है? कितने प्रकार का है? कब और कैसे प्राप्त हो सकता है? यह जानना साधक द्वारा अपने साध्य को पूर्णतः जानना है। उसे सदैव ध्यान में रखते हुए वह अपने जीवन में जीवाजीव-विभक्ति को साकार कर सकता है। साधना को पूर्णतः जी सकता है। 'अहिंसा' शब्द को सार्थक कर सकता है। **सिद्ध जीवों के साथ-साथ त्रस और स्थावर रूप सभी संसारी जीवों के चारों गतियों में होने वाले रूपों को जानना सत्य को जानना है। यह लोक का सत्य भी है और जीव का सत्य भी। इसी से साधक अपना सत्य पाता है। आत्मा को अजीव से मुक्त करने की दृष्टि से ही जीना धर्म है।**

जीव-अजीव के सभी रूपों के वर्णन के माध्यम से वास्तव में इस मार्ग की ही विवेचना यहां हुई है। साथ ही अशुभ भावनाओं का परिचय देते हुए साधक को उन से सचेत किया गया है। मृत्यु को संल्लेखना-समाधि या पंडित-मरण के माध्यम से सार्थक जीवन स्रोत बना देने की कला भी परिभाषित की गई है। इस अध्ययन को जैन धर्म और जैन विज्ञान का सार भी कहा जा सकता है।

परित्त-संसारी होने या मुक्ति-मार्ग पर बढ़ने के लिये अनिवार्य सभी साधनों का ज्ञान सुलभ कराने के साथ-साथ ज्ञान को प्रबल प्रेरक शक्ति के समान प्रदान करने के कारण भी भगवान् महावीर की अंतिम देशना के इस अंतिम अध्ययन की स्वाध्याय मंगलमय है। ❑❑

अह जीवाजीवविभत्ती णाम छत्तीसइमं अज्झयणं

(अथ जीवाजीवविभक्तिनाम षट्त्रिंशत्तममध्ययनम्)

मूल : **जीवाजीवविभत्तिं मे, सुणेह एगमणा इओ।**
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयई संजमे ।।१।।

संस्कृत : जीवाजीवविभक्तिं मे, श्रृणुत! एकमनस इतः।
यां ज्ञात्वा भिक्षुः, सम्यग् यतते संयमे ।।१।।

मूल : **जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।**
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ।।२।।

संस्कृत : जीवाश्चैवाजीवाश्च, एष लोको व्याख्यातः।
अजीवदेश आकाशः, अलोकः स व्याख्यातः ।।२।।

मूल : **दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।**
परूवणा तेसिं भवे, जीवाणमजीवाण य ।।३।।

संस्कृत : द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा।
प्ररूपणा तेषां भवेत्, जीवानामजीवानां च ।।३।।

मूल : **रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा भवे।**
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा ।।४।।

संस्कृत : रूपिणश्चैवारूपिणश्च, अजीवा द्विविधा भवेयुः।
अरूपिणो दशधोक्ताः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ।।४।।

मूल : **धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए।**
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।।५।।

संस्कृत : धर्मास्तिकायस्तद्देशः, तत्प्रदेशश्चाख्यातः।
अधर्मस्तस्य देशश्च, तत्प्रदेशश्चाख्यातः ।।५।।

छत्तीसवां अध्ययन : जीव-अजीव-विभक्ति

१. अब, मुझसे एकाग्रचित्त होकर, जीव व अजीव के विभाग (भेदों) को सुनो, जिसका ज्ञान प्राप्त कर (साधक) संयम (धर्म की आराधना) में सम्यक्तया प्रयत्नशील होता है।

२. जीव और अजीव (-इन्हीं दो तत्वों में समाविष्ट) 'लोक' (आकाश) कहा गया है। अजीव (पदार्थ-आकाश द्रव्य) का (ही) एकदेश (मात्र शुद्ध आकाश रूप जो भाग) है, उसे अलोक (-आकाश) कहा जाता है।

३. द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भाव (-इन चार प्रकार की दृष्टियों/अपेक्षाओं) से उन जीव व अजीव (पदार्थों) की प्ररूपणा होती है।

४. अजीव दो प्रकार के होते हैं- (१) रूपी, और (२) अरूपी। (इनमें) अरूपी (अजीव) दस प्रकार के, तथा रूपी (अजीव) चार प्रकार के कहे गए हैं।

५. (दस प्रकार के अरूपी अजीवों में) धर्मास्तिकाय (स्कन्ध), धर्मास्तिकाय का 'देश' (कल्पित विभाग), धर्मास्तिकाय का (अविभागी सूक्ष्म-भाग रूप) 'प्रदेश' कहे गए हैं। (उसी तरह) अधर्मास्तिकाय (स्कन्ध), अधर्मास्तिकाय का देश तथा अधर्मास्तिकाय का 'प्रदेश' भी (अरूपी अजीव) कहे हैं।

मूल : **आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए।**
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ।।६।।

संस्कृत : आकाशस्तस्य देशश्च, तत्प्रदेशश्चाख्यातः।
अद्धासमयश्चैव, अरूपिणो दशधा भवेयुः ।।६।।

मूल : **धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया।**
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ।।७।।

संस्कृत : धर्माऽधर्मौ च द्वौ चैव, लोकमात्रौ व्याख्यातौ।
लोकेऽलोके चाकाशः, समयः समयक्षेत्रिकः ।।७।।

मूल : **धम्माधम्मागासा, तिन्नि वि एए अणाइया।**
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ।।८।।

संस्कृत : धर्माऽधर्माऽऽकाशानि, त्रीण्यप्येतान्यनादीनि।
अपर्यवसितानि चैव, सर्वाद्धं तु व्याख्यातानि ।।८।।

मूल : **समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए।**
आएसं पप्प साइए, सपज्जवसिए वि य ।।९।।

संस्कृत : समयोऽपि संततिं प्राप्य, एवमेव व्याख्यातः।
आदेशं प्राप्य सादिकः, सपर्यवसितोऽपि च ।।९।।

मूल : **खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।**
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो य चउव्विहा।१०।।

संस्कृत : स्कन्धाश्च स्कन्धदेशाश्च, तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्याः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ।।१०।।

मूल : **एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य।**
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ।।११।।

संस्कृत : एकत्वेन पृथक्त्वेन, स्कन्धाश्च परमाणवश्च।
लोकैकदेशे लोके च, भजनीयास्ते तु क्षेत्रतः।
इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम् ।।११।।

६. (इसी तरह, अरूपी अजीवों में) आकाशास्तिकाय, आकाशास्तिकाय का 'देश', तथा आकाशास्तिकाय का 'प्रदेश' भी कहे गए हैं। (उपर्युक्त नौ अजीव, और) एक 'अद्धा- समय' (काल)- ये दश भेद अरूपी (अजीव) के होते हैं।

७. धर्म (अस्तिकाय) और अधर्म, (अस्तिकाय) - ये (दोनों ही) लोक-मात्र कहे गए - हैं। आकाश (अस्तिकाय) लोक-प्रमाण, तथा अलोक (-प्रमाण भी) है। 'समय' (काल) 'समयक्षेत्रिक' (अर्थात् मात्र मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण, ढाई द्वीप में ही व्यवहृत) होता है।

८. (इन अजीवों में) धर्म, अधर्म, आकाश-ये तीन (काल की दृष्टि से) अनादि, अपर्यवसित (अनन्त) तथा सर्वकालस्थायी (शाश्वत) कहे गये हैं।

९. इसी प्रकार, 'सन्तति' (परम्परा/प्रवाह) की दृष्टि से 'समय' (काल) को भी (अनादि, अनन्त) कहा गया है। (किन्तु) 'आदेश' (विशेष- व्यक्ति विशेष व कार्य-विशेष) की दृष्टि से सादि व सान्त भी (उसे) कहा गया है।

१०. स्कन्ध, स्कन्ध-देश व स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु (इस तरह) रूपी (द्रव्य) के चार भेद समझने चाहिएं।

११. ('द्रव्य' की अपेक्षा से, स्कन्धों के) 'एकत्व' (परस्पर-मिलन) से स्कन्ध (का निर्माण), तथा 'पृथक्त्व' (पूर्णतः वियुक्त होने से) परमाणु (की अवस्था को प्राप्त 'रूपी' द्रव्य) होता है। 'क्षेत्र' की दृष्टि से, 'लोक' के एक 'देश' से लेकर (सम्पूर्ण) 'लोक' (आकाश) में भजनीय (असंख्य विकल्पों से युक्त स्वरूपों में सम्भावनीय) होता है।

इसके आगे, मैं उन (स्कन्ध व परमाणुओं) के, 'काल' की दृष्टि से, चार भेदों को कहूंगा। (इस गाथा को षट्पाद गाथा कहते हैं। इसके छः पाद होते हैं)

मूल : **संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य।।१२।।

संस्कृत : संततिं प्राप्य तेऽनादयः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१२।।

मूल : **असंखकालमुक्कोसं, इक्क समयं जहन्नयं।**
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया।।१३।।

संस्कृत : असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा,एकं समयं जघन्यका।
अजीवानाञ्च रूपिणां, स्थितिरेषा व्याख्याता।।१३।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं।**
अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं वियाहियं।।१४।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, एकं समयं जघन्यकम्।
अजीवानाञ्च रूपिणाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम्।।१४।।

मूल : **वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा।**
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसिं पंचहा।।१५।।

संस्कृत : वर्णतो गन्धतश्चैव, रसतः स्पर्शतस्तथा।
संस्थानतश्च विज्ञेयः, परिणामस्तेषां पञ्चधा।।१५।।

मूल : **वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।**
किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा।।१६।।

संस्कृत : वर्णतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
कृष्णा नीलाश्च लोहिताः, हारिद्राः शुक्लास्तथा।।१६।।

मूल : **गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया।**
सुब्भिगंधपरिणामा, दुब्भिगंधा तहेव य।।१७।।

संस्कृत : गन्धतः परिणता ये तु, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सुरभिगन्धपरिणामाः, दुर्गन्धास्तथैव च।।१७।।

मूल : **रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।**
तित्तकडुयकसाया, अंबिला महुरा तहा।।१८।।

संस्कृत : रसतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
तिक्तकटुक-कषायाः, अम्ला मधुरास्तथा।१८।।

१२. वे (स्कन्ध आदि) प्रवाह की दृष्टि से अनादि व अनन्त होते हैं, तथा (एक क्षेत्र में) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि व सान्त भी होते हैं।

१३. रूपी अजीव (द्रव्यों) की स्थिति जघन्यतः एक समय (प्रमाण), और उत्कृष्टतया असंख्यात काल (प्रमाण) की कही गई है।

१४. रूपी अजीव (द्रव्यों) का 'अन्तर' (स्व-आकाश-क्षेत्र से स्खलित-होकर, पुनः उसी आकाश-क्षेत्र में आने का काल) जघन्यतः एक समय, तथा उत्कृष्टतः अनन्त काल का कहा गया है।

१५. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श व संस्थान की दृष्टियों से उन (रूपी अजीव द्रव्य के स्कन्ध आदि) का परिणाम (परिणति, स्वभाव, स्वरूप) पांच प्रकार का जानना चाहिए।

१६. (स्कन्ध आदि रूपी अजीव पुद्गल द्रव्यों में) जो वर्ण से परिणत होते हैं, वे पांच प्रकार के कहे गए हैं- (१) कृष्ण (काला), (२) नील (नीला), (३) लोहित (रक्त), (४) हारिद्र (पीला), तथा (५) शुक्ल (श्वेत)।

१७. (स्कन्ध आदि रूपी अजीव पुद्गल द्रव्यों में) जो गन्ध से परिणत होते हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) सुरभि गन्ध-परिणत, और (२) दुरभिगन्ध-परिणत।

१८. (स्कन्ध आदि रूपी अजीव पुदगल द्रव्यों में) जो रस से परिणत होते हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं- (१) तिक्त (तीखा, चरपरा), (२) कटु (कड़ुआ), (३) कसैला, (४) अम्ल (खट्टा), और (५) मधुर।

मूल : **फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया।**
कक्खडा मउआ चेव, गुरुआ लहुआ तहा।।१६।।

संस्कृत : स्पर्शतः परिणता ये तु, अष्टधा ते प्रकीर्तिताः।
कर्कशा मृदुकाश्चैव, गुरुका लघुकास्तथा।।१६।।

मूल : **सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया।**
इय फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया।।२०।।

संस्कृत : शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च, तथा रूक्षाश्चाख्याताः।
इति स्पर्शपरिणता एते, पुद्गलाः समुदाहृताः।।२०।।

मूल : **संठाणओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया।**
परिमंडला य वट्टा य, तसा चउरंसमाययया।।२१।।

संस्कृत : संस्थानतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
परिमण्डलाश्च वृत्ताश्च, त्र्यस्त्रश्चतुरस्त्रा आयताः।।२१।।

मूल : **वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।।२२।।

संस्कृत : वर्णतो यो भवेत्कृष्णः, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।२२।।

मूल : **वण्णओ जे भवे नीले, भइए से उ गंधओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।।२३।।

संस्कृत : वर्णतो यो भवेन्नीलः, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।२३।।

मूल : **वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।।२४।।

संस्कृत : वर्णतो लोहितो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।२४।।

मूल : **वण्णओ पीयए जे उ, भइए से उ गंधओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।।२५।।

संस्कृत : वर्णतो पीतो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।२५।।

१६. (स्कन्ध आदि रूपी अजीव पुद्गल द्रव्यों में) जो स्पर्श से परिणत होते हैं, ये आठ प्रकार के कहे गये हैं - (१) कर्कश (कठोर), (२) मृदु (३) गुरु (भारी), (४) लघु (हल्का),

२०. (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध (चिकना) और (८) रुक्ष-इस प्रकार स्पर्श-परिणत पुद्गलों का कथन किया गया है।

२१. जो (पुद्गल) संस्थान से परिणत होते हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं- (१) परिमण्डल (चूड़ी के समान गोल), (२) वृत्त (गेंद की तरह गोल), (३) त्र्यस्र (त्रिकोणाकार), (४) चतुरस्र (चतुष्कोण), और (५) आयत (लम्बे)।

२२. जो (पुद्गल) वर्ण से कृष्ण होता है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से 'भजनीय' (अपेक्षित स्थितियों से सम्बन्धित अनेक विकल्पों के आधार पर अनेक स्वरूप वाला) होता है।

२३. जो (पुद्गल) वर्ण से नीला होता है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

२४. जो (पुद्गल) वर्ण से लोहित (रक्त) होता है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

२५. जो (पुद्गल) वर्ण से पीत (पीला) होता है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

मूल : **वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। २६ ।।

संस्कृत : वर्णतो शुक्लो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। २६ ।।

मूल : **गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। २७ ।।

संस्कृत : गन्धतो यो भवेत् सुरभिः, भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। २७ ।।

मूल : **गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ।**
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। २८ ।।

संस्कृत : गन्धतो यो भवेत् दुर्गन्धः, भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। २८ ।।

मूल : **रसओ तित्तए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। २९ ।।

संस्कृत : रसतस्तिक्तो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। २९ ।।

मूल : **रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३० ।।

संस्कृत : रसतः कटुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३० ।।

मूल : **रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३१ ।।

संस्कृत : रसतः कषायो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३१ ।।

मूल : **रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३२ ।।

संस्कृत : रसतः अम्लो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३२ ।।

२६. जो (पुद्गल) वर्ण से शुक्ल होता है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

२७. जो (पुद्गल) गन्ध से सुगन्धित होता है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

२८. जो (पुद्गल) गन्ध से दुर्गन्धित होता है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

२९. जो (पुद्गल) रस से तिक्त होता है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

३०. जो (पुद्गल) रस से कडुवा होता है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

३१. जो (पुद्गल) रस से कसैला होता है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

३२. जो (पुद्गल) रस से अम्ल (खट्टा) होता है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

मूल : **रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३३।।

संस्कृत : रसतः मधुरो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३३।।

मूल : **फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३४।।

संस्कृत : स्पर्शतः कर्कशो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३४।।

मूल : **फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३५।।

संस्कृत : स्पर्शतः मृदुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३५।।

मूल : **फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३६।।

संस्कृत : स्पर्शतः गुरुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३६।।

मूल : **फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३७।।

संस्कृत : स्पर्शतः लघुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३७।।

मूल : **फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३८।।

संस्कृत : स्पर्शतः शीतो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३८।।

मूल : **फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।। ३९।।

संस्कृत : स्पर्शतः उष्णो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।। ३९।।

३३. जो (पुद्गल) रस से मीठा होता है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

३४. जो (पुद्गल) स्पर्श से कर्कश-कठोर होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

३५. जो (पुद्गल) स्पर्श से मृदु-कोमल होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

३६. जो (पुद्गल) स्पर्श से गुरु-भारी होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

३७. जो (पुद्गल) स्पर्श से लघु-हलका होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

३८. जो (पुद्गल) स्पर्श से शीत-ठंडा होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

३९. जो (पुद्गल) स्पर्श से उष्ण-गर्म होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

मूल : **फरसओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।।४०।।

संस्कृत : स्पर्शतः स्निग्धो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।४०।।

मूल : **फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य।।४१।।

संस्कृत : स्पर्शतः रूक्षो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः।
गंधतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।४१।।

मूल : **परिमंडल संठाणे, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य।।४२।।

संस्कृत : परिमण्डलसंस्थानः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।४२।।

मूल : **संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य।।४३।।

संस्कृत : संस्थानतो भवेद् वृतः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।४३।।

मूल : **संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य।।४४।।

संस्कृत : संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।४४।।

मूल : **संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य।।४५।।

संस्कृत : संस्थानतो यश्चतुरस्रः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।४५।।

मूल : **जे आययसंठाणे, भइए से उ वण्णओ।**
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य।।४६।।

संस्कृत : य आयतसंस्थानः, भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।४६।।

४०. जो (पुद्गल) स्पर्श से स्निग्ध होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय है।

४१. जो (पुद्गल) स्पर्श से रुक्ष-रूखा होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व संस्थान (की दृष्टियों) से भजनीय होता है।

४२. जो (पुद्गल) संस्थान से परिमण्डल (चूड़ी की तरह गोल) होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श (की दृष्टियों) से भजनीय है।

४३. जो (पुद्गल) संस्थान से वृत्त (गेंद की तरह गोल) होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श (की दृष्टियों) से भजनीय है।

४४. जो (पुद्गल) संस्थान से त्रिकोण होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श (की दृष्टियों) से भजनीय है।

४५. जो (पुद्गल) संस्थान से चतुष्कोण होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श (की दृष्टियों) से भजनीय है।

४६. जो (पुद्गल) संस्थान से आयत (दीर्घ) होता है, वह वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श (की दृष्टियों) से भजनीय है।

मूल : **एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया।**
इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ।। ४७ ।।

संस्कृत : एषाऽजीवविभक्तिः, समासेन व्याख्याता।
इतो जीवविभक्तिं, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ।। ४७ ।।

मूल : **संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।**
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ।। ४८ ।।

संस्कृत : संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, द्विविधा जीवा व्याख्याताः।
सिद्धा अनेकविधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः शृणु ।। ४८ ।।

मूल : **इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।**
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ।। ४९ ।।

संस्कृत : स्त्री पुरुषसिद्धाश्च, तथैव च नपुंसकाः।
स्वलिङ्गा अन्यलिङ्गाश्च, गृहिलिङ्गास्तथैव च ।। ४९ ।।

मूल : **उक्कोसोगाहणाए य, जहन्नमज्झिमाइ य।**
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ।। ५० ।।

संस्कृत : उत्कृष्टावगाहनायाञ्च, जघन्यमध्यमयोश्च।
ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च, समुद्रे जले च ।। ५० ।।

मूल : **दस य नपुंसएसुं, बीसं इत्थियासु य।**
पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ।। ५१ ।।

संस्कृत : दश च नपुंसकेषु, विंशतिः स्त्रीषु च।
पुरुषेषु चाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ।। ५१ ।।

४७. यह संक्षेप रूप में अजीव (द्रव्य) के विभाग (भेदों) का कथन किया गया है। इसके अनन्तर, (अब) जीव (द्रव्य) सम्बन्धी विभाग (भेदों) का क्रमशः कथन करूंगा।

४८. जीव के दो भेद कहे गए हैं - (१) संसारी, और (२) सिद्ध। (इनमें) सिद्धों के अनेक भेद कहे गये हैं, जिन्हें मैं कह रहा हूँ, सुनो।

४९. (सिद्धों के ६ भेद इस प्रकार हैं-) (१) स्त्रीलिंग-सिद्ध, (२) पुरुषलिंग सिद्ध, (३) नपुंसक-लिंग सिद्ध, (४) स्वलिंग-सिद्ध[1], (५) अन्यलिंग-सिद्ध, और (६) गृहीलिंगसिद्ध।

५०. (सिद्ध जीव) उत्कृष्ट (अर्थात् ५०० धनुष प्रमाण) अवगाहना, जघन्य (अर्थात् दो हाथ प्रमाण) अवगाहना व मध्यम अवगाहना में (अर्थात् किसी भी अवगाहना में सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, और वे) ऊर्ध्वलोक (मेरु पर्वत की चूलिका), से मोक्ष जाने वाले चारण मुनि, अधोलोक एक सहस्र गहरी भूमि में स्थित सलिलावती विजय से व तिर्यग् लोक (ढाई द्वीप) में, तथा समुद्र (लवणोदधि व कालोदधि) व (नदी आदि अन्य) जलाशयों में (तथा पर्वत आदि स्थानों में भी, अर्थात् किसी भी क्षेत्र से) सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर (सक)ते हैं।

५१. एक समय में (अधिक से अधिक एक साथ) नपुंसकों में से दश, स्त्रियों में से बीस, तथा पुरुषों में से एक सौ आठ (जीव) सिद्ध अवस्था (मुक्ति) को प्राप्त कर (सक)ते हैं।

---

१. स्वलिंग- रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपकरण।

मूल : **चत्तारि य गिहलिंगे, अन्नलिंगे दसेव य।**
सलिंगेण अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई।।५२।।

संस्कृत : चत्वारश्च गृहलिङ्गे, अन्यलिङ्गे दशैव च।
स्वलिङ्गेनाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति।।५२।।

मूल : **उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे।**
चत्तारि जहन्नाए, जवमज्झट्ठुत्तरं सयं।।५३।।

संस्कृत : उत्कृष्टावगाहनायाश्च, सिध्यतो युगपद् द्वौ।
चत्वारो जघन्यायाम्, मध्यमायामष्टोत्तरं शतम्।।५३।।

मूल : **चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे, तओ जले वीसमहे तहेव य।**
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए, समएणेगेण सिज्झई धुवं।।५४।।

संस्कृत : चत्वार ऊर्ध्वलोके च द्वौ समुद्रे, त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव च।
शतञ्चाष्टोत्तरं तिर्यग्लोके, समयेनैकेन सिध्यति ध्रुवम्।।५४।।

मूल : **कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया।**
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झई?।।५५।।

संस्कृत : क्व प्रतिहताः सिद्धाः, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः।
क्व शरीरं त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति।।५५।।

मूल : **अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।**
इहं बोंदिं चइत्ताण, तत्थ गंतूण सिज्झई।।५६।।

संस्कृत : अलोके प्रतिहताः सिद्धा, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति।।५६।।

मूल : **बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।**
ईसिपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया।।५७।।

संस्कृत : द्वादशभिर्योजनैः, सर्वार्थस्योपरि भवेत्।
ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु, पृथिवी छत्रसंस्थिता।।५७।।

५२. (जीव) एक समय में (एक साथ अधिक से अधिक) गृहि-लिंग से चार, अन्य लिंगों में से दस, तथा स्वलिंग में से एक सौ आठ (जीव) सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर (सक)ते हैं।

५३. (जीव एक समय में, अधिक से अधिक एक साथ) उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य (अवगाहना) में चार, तथा मध्यम (अवगाहना) में एक सौ आठ-सिद्ध अवस्था (मुक्ति) को प्राप्त कर (सक)ते हैं।

५४. एक समय में (अधिक से अधिक एक साथ) ऊर्ध्वलोक (मेरुपर्वत की चूलिका) में चार, (लवणोदधि-व कालोदधि) समुद्र में दो, तथा (नदी-आदि) जलाशयों-में तीन, अधोलोक में बीस, तथा तिर्यक् लोक में एक सौ आठ जीव सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त कर (सक)ते हैं।

५५. (ऊर्ध्वगति करते हुए) सिद्ध (जीव) कहां (जाकर) रुक जाते हैं? कहां (पहुंच कर) सिद्ध प्रतिष्ठित-अवस्थित होते हैं?

५६. अलोक (लोकान्त) में सिद्ध (जीव) रुक जाते हैं, लोक के अग्र-भाग में प्रतिष्ठित होते हैं, और यहीं (मनुष्य-लोक में) (औदारिक) शरीर को छोड़ कर (अर्थात् छोड़ते ही) वहां (लोकाग्रभाग में) पहुंच कर 'सिद्ध' (मुक्त आत्मा के रूप में अवस्थित) हो जाते हैं।

५७. 'सर्वार्थसिद्ध' (नामक विमान) के बारह योजन ऊपर, छत्र के आकार वाली 'ईषत्प्राग्भारा' नाम की पृथ्वी अवस्थित है।

मूल : **पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया।**
तावइयं चेव वित्थिण्णा, तिगुणो तस्सेव परिरओ ।। ५८ ।।

संस्कृत : पञ्चचत्वारिंशत्शतसहस्राणि, योजनानां त्वायता।
तावती चैव विस्तीर्णा, त्रिगुणस्तस्या एव परिरयः ।। ५८ ।।

मूल : **अट्ठजोयणबाहुल्ला, सा मज्झम्मि वियाहिया।**
परिहायंती चरिमंते, मच्छिपत्ताउ तणुयरी ।। ५९ ।।

संस्कृत : अष्टयोजनबाहुल्या, सा मध्ये व्याख्याता।
परिहीयमाणा चरमान्ते, मक्षिकापत्रात्तु तनुतरा ।। ५९ ।।

मूल : **अज्जुणसुवण्णगमई, सा पुढवी निम्मला सहावेणं।**
उत्ताणगच्छत्तगसंठिया य, भणिया जिणवरेहिं ।। ६० ।।

संस्कृत : अर्जुनसुवर्णकमयी, सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन।
उत्तानकच्छत्रकसंस्थिता च, भणिता जिनवरैः ।। ६० ।।

मूल : **संखंककुंदसंकासा, पंडुरा निम्मला सुहा।**
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ।। ६१ ।।

संस्कृत : शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा, पाण्डुरा निर्मला शुभा।
सीताया योजने ततः, लोकान्तस्तु व्याख्यातः ।। ६१ ।।

मूल : **जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे।**
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ।। ६२ ।।

संस्कृत : योजनस्य तु यस्तत्र, क्रोश उपरिवर्त्ती भवेत्।
तस्य क्रोशस्य षड्भागे, सिद्धानामवगाहना भवेत् ।। ६२ ।।

मूल : **त्थ सिद्धा महाभागा, लोगग्गम्मि पइट्ठिया।**
भवप्पवंच उम्मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ।। ६३ ।।

संस्कृत : तत्र सिद्धा महाभागाः, लोकाग्रे प्रतिष्ठिताः।
भवप्रपञ्चोन्मुक्ताः, सिद्धिं वरगतिं गताः ।। ६३ ।।

५८. (वह ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी) पैंतालीस लाख योजन लम्बाई वाली, और इतने ही विस्तार (चौड़ाई) वाली है, और उसकी परिधि भी (उस लम्बाई-चौड़ाई से) तिगुनी (से कुछ अधिक, अर्थात् एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन) है।

५९. वह मध्य भाग में आठ योजन मोटाई वाली कही गई है। वह (चारों ओर से क्रमशः पतली-) हीन होती हुई, अन्त (सिरे) में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. जिनवरों-तीर्थंकरों ने उस पृथ्वी (ईषत्प्राग्भार/सिद्ध शिला) को अर्जुन (श्वेत) स्वर्णमयी, तथा स्वभावतः निर्मल, एवं उलटे छत्र के आकार वाली बताया है।

६१. वह (पृथ्वी) शंख, अंक-रत्न व कुन्द पुष्प के जैसी (अत्यधिक) श्वेत, निर्मल व शुभ (कल्याण रूप वाली) है। 'लोक' का अन्त तो (इस) 'सीता' (नामक ईषत्प्राग्भारा-सिद्धशिला) से एक योजन ऊपर बताया गया है।

६२. उस (पूर्वोक्त) एक योजन भाग का जो ऊपर वाला कोस २००० धनुष प्रमाण भाग होता है, उस कोस के छठे भाग (अर्थात् ३३३ धनुष व ३२ अंगुल प्रमाण स्थान) में (ही) सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) होती है।

६३. वहीं (पूर्वोक्त कोस के छठे भाग में) सांसारिक प्रपञ्चों से (सर्वथा) विमुक्त, महान भाग्यशाली, एवं 'सिद्धि' नामक श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुई सिद्ध आत्माएं प्रतिष्ठित रहती हैं।

मूल : **उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।**
तिभागहीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे।।६४।।

संस्कृत : उत्सेधो यस्य यो भवति, भवे चरमे तु।
तृतीयभागहीना ततश्च, सिद्धानामवगाहना भवेत्।।६४।।

मूल : **एगत्तेण साइया, अपज्जवसियावि य।**
पुहत्तेण अणाइया, अपज्जवसियावि य।।६५।।

संस्कृत : एकत्वेन सादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
पृथक्त्वेनानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।।६५।।

मूल : **अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।**
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ।।६६।।

संस्कृत : अरूपिणो जीवघनाः, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।
अतुलं सुखं सम्प्राप्ताः, उपमा यस्य नास्ति तु।।६६।।

मूल : **लोगेगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसंनिया।**
संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया।।६७।।

संस्कृत : लोकैकदेशे ते सर्वे, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।
संसारपारनिस्तीर्णाः, सिद्धिं वरगतिं गताः।।६७।।

मूल : **संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।**
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं।।६८।।

संस्कृत : संसारस्थास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
त्रसाश्च स्थावराश्चैव, स्थावरास्त्रिविधास्तत्र।।६८।।

मूल : **पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई।**
इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे।।६९।।

संस्कृत : पृथिव्यब्जीवाश्च, तथैव च वनस्पतिः।
इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् शृणुत मे।।६९।।

मूल : **दुविहा पुढवीजीवा य, सुहुमा बायरा तहा।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो।।७०।।

संस्कृत : द्विविधाः पृथिवीजीवाश्च, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेव द्विधा पुनः।।७०।।

६४. (सिद्ध होने वाले) जिस (जीव) की अन्तिम 'भव' में जितनी ऊंचाई होती है, उससे तीसरा भाग (१/३ भाग) कम (अर्थात् २/३ भाग) अवगाहना सिद्धों की होती है।

६५. एक (सिद्ध जीव) की अपेक्षा से (सिद्ध) सादि व अनन्त है, और पृथक्त्व (सामूहिक या बहुतों) की अपेक्षा से (वे) अनादि व अनन्त भी हैं।

६६. (वे सिद्ध जीव) अरूपी, सघन (छिद्र-रहित सघन प्रदेशों वाले, विज्ञानघन) एवं ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न हैं, वे (उस) अतुल सुख को प्राप्त करते हैं जिसकी उपमा (ही) नहीं है।

६७. (इसी प्रकार) ज्ञान-दर्शन (उपयोग) से (सतत) उपयुक्त रहने वाली, संसार से (सर्वदा के लिए) पार पाई हुई एवं 'सिद्धि' (नामक) श्रेष्ठ गति को प्राप्त कर चुकी वे सब (सिद्ध आत्माएं) (पूर्वोक्त) लोकाग्र-भाग में (ही अवस्थित रहती) हैं।

६८. जो संसारी जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) त्रस, और (२) स्थावर। उनमें से स्थावर जीव तीन प्रकार के होते हैं।

६९. पृथ्वीकाय, अप्काय जीव, तथा वनस्पति- ये तीन प्रकार के स्थावर (जीव) होते हैं, इनके भेदों को मुझसे सुनें।

७०. पृथ्वीकाय जीव दो प्रकार के होते हैं- (१) सूक्ष्म,और (२) बादर। फिर, इन (में भी प्रत्येक) के दो-दो भेद होते हैं - (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त।

मूल : **बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।**
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ।।७१।।

संस्कृत : बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्याः, श्लक्ष्णाः सप्तविधास्तत्र ।।७१।।

मूल : **किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा।**
पंडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसईविहा ।।७२।।

संस्कृत : कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च, हारिद्राः शुक्लास्तथा।
पाण्डुपनकमृत्तिकाः, खराः षट्त्रिंशद्विधाः ।।७२।।

मूल : **पुढवी य सक्करा बालुया य, उवले सिला य लोणूसे।**
अय-तंब-तउय-सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ।।७३।।

संस्कृत : पृथिवी च शर्करा बालुका च, उपलः शिला च लवणोषौ।
अयस्ताम्रत्रपुकसीसक-रूप्यसुवर्णवज्राणि च ।।७३।।

मूल : **हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला सासगंजण-पवाले।**
अब्भपडलब्भवालुय, बायरकाए मणिविहाणा ।।७४।।

संस्कृत : हरितालो हिङ्गुलकः, मनःशिला सासकांऽजनप्रवालानि।
अभ्रपटलभ्रबालुका, बादरकाये मणिविधानानि ।।७४।।

मूल : **गोमेज्जए य रुयगे, अंके फलिहे य लोहियक्खे य।**
मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदनीले य ।।७५।।

संस्कृत : गोमेदकश्च रुचकः, अङ्कः स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च।
मरकतमसारगल्लः, भुजमोचक इन्द्रनीलश्च ।। ।७५।।

मूल : **चंदण-गेरुय-हंसगब्भे, पुलए सोगंधिए य बोधव्वे।**
चंदप्पहवेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ।।७६।।

संस्कृत : चन्दनगैरिकहंसगर्भः, पुलकः सौगन्धिकश्च बोद्धव्यः।
चन्द्रप्रभो वैडूर्यः, जलकान्तः सूर्यकान्तश्च ।।७६।।

७१. बादर पर्याप्त (पृथ्वीकाय जीव) के दो भेद कहे गये हैं- (१) इन श्लक्ष्ण-मृदु, और (२) खर-कठोर। उनमें श्लक्ष्ण के सात भेद जानने चाहिएं।

७२. (वे सात भेद इस प्रकार हैं-) (१) कृष्ण, (२) नील, (३) रक्त, (४) पीत, (५) श्वेत, (६) पाण्डु (भूरी) मिट्टी, और (७) पनक (अतिसूक्ष्म रज)। 'खर' पृथ्वी छत्तीस प्रकार की होती है।

७३. (खर पृथ्वी के छत्तीस भेद-) (१) (शुद्ध) पृथ्वी, (२) शर्करा-कंकरीली, (३) बालू, (४) उपल (पत्थर), (५) शिला (चट्टान), (६) लवण, (७) ऊष (खारी मिट्टी), (८) लोहा, (९) ताम्बा, (१०) त्रपु (रांगा), (११) शीशा, (१२) चांदी, (१३) सोना तथा (१४) वज्र (हीरा)

७४. (इसके अतिरिक्त, बादर पृथ्वीकायों में) (१५) हरिताल, (१६) हिंगुल, (१७) मैनसिल, (१८) सासक (धातु-विशेष), (१९) अंजन, (२०) प्रवाल (मूंगा), (२१) अभ्रक, (२२) अभ्र बालुक (अभ्रक की परतों से मिला बालू)। (निम्नलिखित) मणियों के प्रकार (भी) बादर (पृथ्वी)काय हैं-

७५. (उदाहरणार्थ–) (२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंक, (२६) स्फटिक व लोहिताक्ष, (२७) मरकत व मसारगल्ल, (२८) भुजमोचक, और (२९) इन्द्रनील।

७६. (तथा) (३०) चन्दन, गेरुक व हंसगर्भ, (३१) पुलक, (३२) सौगन्धिक, (३३) चन्द्रप्रभ, (३४) वैडूर्य, (३५) जलकान्त, और (३६) सूर्यकान्त।

मूल : **एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया।**
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।।७७।।

संस्कृत : एते खरपृथिव्याः, भेदाः षट्त्रिंशदाख्याताः।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।।७७।।

मूल : **सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।**
इत्तो कालविभागं तु, वुच्छं तेसिं चउव्विहं।।७८।।

संस्कृत : सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः।
इतः कालविभागं तु, वक्ष्ये तेषां चतुर्विधम्।।७८।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।७९।।

संस्कृत : संततिं प्रायप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।७९।।

मूल : **बावीससहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।**
आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।८०।।

संस्कृत : द्वाविंशतिसहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुः स्थितिः पृथिवीनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।८०।।

मूल : **असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।**
कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ।।८१।।

संस्कृत : असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिः पृथिवीनां, तं कायं त्वमुञ्चताम्।।८१।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढंमि सए काए, पुढवीजीवाण अंतरं।।८२।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, पृथिवीजीवानामन्तरम्।।८२।।

७७. ये छत्तीस भेद खर (कठोर) पृथ्वीकाय के कहे गये हैं। उन (पृथ्वीकायों) में सूक्ष्म (पृथ्वीकाय तो) एक प्रकार के (ही) हैं (इसलिए) नानात्व (बहुविधत्व) से रहित हैं।

७८. सूक्ष्म (पृथ्वीकाय) समस्त लोक में, और बादर (पृथ्वीकाय) लोक के एकदेश (भाग, रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में व्याप्त) हैं। इस (क्षेत्र-सम्बन्धी विभाग) के बाद मैं उनके चतुर्विध 'काल-विभाग' (काल की दृष्टि से भेदों) का कथन करूंगा-

७९. (ये पृथ्वीकायिक जीव) सन्तति/परम्परा/ प्रवाह की दृष्टि से अनादि और अनन्त भी हैं। (किन्तु) (एकत्व-वैयक्तिक) स्थिति की दृष्टि से वे सादि और सान्त भी हैं।

८०. पृथ्वीकायिक जीवों की (एकभवीय) आयु-स्थिति उत्कृष्टतः बाईस हजार वर्षों की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

८१. (अपने) उस (पृथ्वीकाय) को नहीं छोड़ें (और उसी काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो (उन) पृथ्वीकाय जीवों की काय-स्थिति (काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः असंख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

८२. पृथ्वीकायिक जीवों का, अपने (पृथ्वीकाय) को छोड़ देने पर (और अन्य कायों में उत्पन्न होने के बाद पुनः उसी पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके इस निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) अन्तर-काल उत्कृष्टतः अनन्त काल, और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त होता है।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।८३।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।८३।।

मूल : **दुविहा आउजीवा उं, सुहुमा बायरा तहा।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो।।८४।।

संस्कृत : द्विविधा अब्जीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेव द्विधा पुनः।।८४।।

मूल : **बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।**
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे।।८५।।

संस्कृत : बादरा ये तु पर्याप्ताः, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
शुद्धोदकञ्चावश्यायः, हरतनुर्महिका-हिमम्।।८५।।

मूल : **एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।**
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।।८६।।

संस्कृत : एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः।।८६।।

मूल : **सतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।८७।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।८७।।

मूल : **सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।**
आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।८८।।

संस्कृत : सप्तैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुः स्थितिरपाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।८८।।

८३. इन (पृथ्वीकायिक जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श व संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

८४. अप्काय जीव दो प्रकार के होते हैं- (१) सूक्ष्म, और (२) बादर। इसी प्रकार उन दोनों के पुनः दो-दो भेद हैं- (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त।

८५. (अप्काय जीवों में) जो बादर पर्याप्त होते हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं- (१) शुद्ध (मेघ का) जल, (२) ओस, (३) हरतनु (प्रातःकाल तृण-घास के अग्रभाग पर बिन्दु रूप में दिखाई देने वाला जल), (४) धुंध-कुहासा सर्दी के महीनों में होने वाली सूक्ष्म वर्षा, और (५) हिम (बर्फ)।

८६. उनमें सूक्ष्म (अप्काय जीव) एक ही प्रकार के होते हैं, और नानात्व (बहुविधपने) से रहित होते हैं। सूक्ष्म (अप्काय) समस्त लोक में, तथा बादर (जीव) लोक के एक भाग में (व्याप्त-अवस्थित) होते हैं।

८७. (वे अप्काय जीव) 'सन्तति' (प्रवाह/परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं, (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की अपेक्षा से सादि और सान्त भी होते हैं।

८८. अप्काय जीवों की (एकभव में), आयु-स्थिति उत्कृष्टः सात हजार वर्षों की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

मूल : **असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ।। ८९।।

संस्कृत : असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिरपाम्, तं कायं त्वमुंचताम्।। ८९।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं।। ९०।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, अब्जीवानामन्तरम्।। ९०।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस फासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।। ९१।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।। ९१।।

मूल : **दुविहा वणस्सई-जीवा, सुहुमा बायरा तहा।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो।। ९२।।

संस्कृत : द्विविधा वनस्पतिजीवाः, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः।। ९२।।

मूल : **बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।**
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य।। ९३।।

संस्कृत : बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
साधारणशरीराश्च, प्रत्येकाश्च तथैव च।। ९३।।

मूल : **पत्तेगसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।**
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा।। ९४।।

संस्कृत : प्रत्येक-शरीरास्तु, अनेकधा ते प्रकीर्तिताः।
वृक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च, लता वल्ली तृणानि तथा।। ९४।।

८९. (अपने) उस (अप्काय) को नहीं छोड़ें (और उसी काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो (उन) अप्काय जीवों की 'काय-स्थिति' (काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः असंख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

९०. अप्काय जीवों का, अपने काय (अप्काय) को (एक बार) छोड़ देने पर (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर, पुनः अप्काय में उत्पन्न होने की स्थिति में उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) अन्तर-काल उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

९१. इन (अप्काय जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

९२. वनस्पति जीवों के दो प्रकार हैं- (१) सूक्ष्म, तथा (२) बादर। इसी प्रकार, (उन दोनों के) पुनः दो-दो भेद हैं- (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त।

९३. (वनस्पति जीवों में) जो बादर पर्याप्त होते हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) साधारण शरीर, और (२) प्रत्येक शरीर।

९४. (एक शरीर में एक-एक जीव अधिष्ठित रहता हो- ऐसे अनेक जीवों की पिण्ड-भूत रूप जो वनस्पतियां होती हैं) उन 'प्रत्येक शरीर' (नामक) वनस्पति जीवों के अनेक प्रकार बताये गये हैं, (जैसे) (१) वृक्ष (आम आदि), (२) गुच्छ (पत्तियों या मात्र पतली टहनियों वाली वनस्पतियां, जैसे बैंगन के पौधे आदि), (३) गुल्म (एक जड़ से कई तनों के रूप में निकलने वाले पौधे, जैसे कैर आदि), (४) लता (वृक्ष पर चढ़ने वाली चम्पक आदि लताएं), (५) बल्ली (जमीन पर फैलने वाली, करैला, ककड़ी आदि की बेलें), और (६) तृण (घास-दूब आदि)।

मूल : **वलया पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसही तिणा।**
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ।। ९५ ।।

संस्कृत : वलयाः पर्वजाः कुहणाः, जलरुहा औषधितृणानि।
हरितकायास्तु बोद्धव्याः, प्रत्येका इति व्याख्याताः ।। ९५ ।।

मूल : **साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।**
आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ।। ९६ ।।

संस्कृत : साधारणशरीरास्तु, अनेकधा ते प्रकीर्तिताः।
आलुको मूलकश्चैव, शृङ्गबेरस्तथैव च ।। ९६ ।।

मूल : **हरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावइके य कंदली।**
पलंडुलसणकंदे य, कंदली य कुहुव्वए ।। ९७ ।।

संस्कृत : हरिली सिरिली सिस्सिरिली, यावतिकश्च कन्दली।
पलांडुलशुनकन्दश्च, कन्दली च कुहुव्रतः ।। ९७ ।।

मूल : **लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य।**
कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा ।। ९८ ।।

संस्कृत : लोहनी हुताक्षी हुतकन्दः, कुहकश्च तथैव च।
कृष्णश्च वज्रकन्दश्च, कन्दः सूरणकस्तथा ।। ९८ ।।

मूल : **अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य।**
मुसुंढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ।। ९९ ।।

संस्कृत : अश्वकर्णी च बोद्धव्या, सिंहकर्णी तथैव च।
मुसुण्ढी च हरिद्रा च, अनेकधा एवमादिका ।। ९९ ।।

मूल : **एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।**
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।। १०० ।।

संस्कृत : एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ।। १०० ।।

९५. (इसके अतिरिक्त प्रत्येक शरीर वनस्पतियों में) (७) लता-वलय (नारियल, केला आदि जिनकी शाखान्तर न होकर, त्वचा ही वलयाकार हो जाती है), (८) पर्वज (ईख, बांस आदि), (९) कुहण (जमीन को फोड़ कर उगने वाली वनस्पति, जैसे कुकुरमुत्ता), (१०) जलरुह (कमल, सिंघाड़ा आदि), (११) औषधि (धान्य), (१२) तृण व हरितकाय (चौलाई व पालक आदि हरी सब्जियां),- इन्हें प्रत्येक शरीर (वनस्पति) समझना चाहिए, ऐसा (सर्वज्ञ द्वारा) कहा गया है।

९६. (एक ही शरीर में अनन्त जीवों का अधिष्ठान हो, ऐसी) वे 'साधारण शरीर' (नामक वनस्पतियां) अनेक प्रकार की कही गई हैं- आलू, मूली, श्रृंगबेर (अदरक) आदि।

९७. हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिली कन्द, जावई कन्द, केद-कन्दलीकन्द, पलाण्डु कन्द (प्याज), लहसुन कन्द, कन्दली और कुस्तुम्बक,

९८. लोही (लोहनी कन्द), स्निहू- हुताक्षी कन्द, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द (विदारी कन्द), और सूरणकन्द (जिमीकन्द),

९९. (इसी प्रकार) अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंडी, और हरिद्रा (हल्दी)- इत्यादि अनेक प्रकार की (साधारण शरीर वनस्पतियां) होती हैं।

१००. उन (वनस्पति कायों) में सूक्ष्म वनस्पति काय एक ही प्रकार के, और नानात्व (भेदों) से रहित कहे गये हैं। सूक्ष्म सारे लोक में तथा बादर लोक के देश में हैं।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१०१।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१०१।।

मूल : **दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।**
वणस्सईणं आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।।१०२।।

संस्कृत : दश चैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
वनस्पतीनामायुस्तु, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।१०२।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।**
कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ।।१०३।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिः पनकानां, तं कायन्त्वमुञ्चताम्।।१०३।।

मूल : **असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, पणगजीवाण अंतरं।।१०४।।

संस्कृत : असङ्ख्यकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, पनकजीवानामन्तरम्।।१०४।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१०५।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।१०५।।

मूल : **इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया।**
इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो।।१०६।।

संस्कृत : इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, समासेन व्याख्याताः।
इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या।।१०६।।

१०१. (वे) सन्तति (प्रवाह/परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त, (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त हैं।

१०२. (प्रत्येकशरीरी) वनस्पतिकाय (जीवों) की (एकभवीय) आयु-स्थिति उत्कृष्टतः दस हजार वर्षों की, और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१०३. (अपने) उस (वनस्पति) काय को नहीं छोड़ें (और उसी में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो (उन) 'पनक' (अर्थात् सामान्य वनस्पतिकाय) जीवों की काय-स्थिति (काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः अनन्तकाल की (बादरनिगोद व प्रत्येक शरीर वनस्पतियों की सत्तर कोटाकोटि सागरोपम, सूक्ष्म निगोद जीवों की असंख्यात काल की), तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१०४. वनस्पतिकाय जीवों का, अपने (वनस्पति) काय को छोड़ देने पर (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः वनस्पति-काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके इस निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) अन्तर-काल उत्कृष्टतः असंख्यात काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

१०५. इन (वनस्पतिकाय जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१०६. इस प्रकार, तीन प्रकार के स्थावर (पृथ्वीकाय, अप्काय व वनस्पति काय) जीवों का संक्षेप से कथन किया गया है। इसके अनन्तर, मैं तीन प्रकार के त्रस जीवों का क्रमशः कथन करूंगा।

मूल : **तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा।**
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे।।१०७।।

संस्कृत : तेजांसि वायवश्च बोद्धव्याः, उदाराश्च त्रसास्तथा।
इत्येते त्रसास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् श्रृणुत मे।।१०७।।

मूल : **दुविहा तेऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो।।१०८।।

संस्कृत : द्विविधास्तेजोजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः।।१०८।।

मूल : **बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया।**
इंगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य।।१०९।।

संस्कृत : बादरा ये तु पर्याप्ताः, अनेकधा ते व्याख्याताः।
अङ्गारो मुर्मुरोऽग्निः, अर्चिर्ज्वाला तथैव च।।१०९।।

मूल : **उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ।**
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया।।११०।।

संस्कृत : उल्का विद्युच्च बोद्धव्याः, अनेकधा एवमादिकाः।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः।।११०।।

मूल : **सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं।।१११।।

संस्कृत : सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः।
इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।।१११।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।११२।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिका, सपर्यवसिता अपि च।।११२।।

मूल : **तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।**
आउठिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।११३।।

संस्कृत : त्रीण्येवाहोरात्राणि, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः स्थितिस्तेजसाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।११३।।

१०७. तेजस्काय, वायुकाय और 'उदार' (अपेक्षाकृत स्थूल जीव-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय) त्रस- इस तरह ये तीन प्रकार के त्रस (जीव) होते हैं। इनके भेदों को मुझसे सुनो।

१०८. तेजस्काय (अग्नि) जीव दो प्रकार के होते हैं- (१) सूक्ष्म, और (२) बादर। पुनः (उनके भी) पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार दो-दो भेद होते हैं।

१०९. (तेजस्काय जीवों में) जो बादर पर्याप्त हैं, वे अनेक प्रकार के कहे गये हैं, (जैसे-) अंगार (निर्धूम अग्नि-खण्ड), मुर्मुर (भस्म-युक्त अग्निकण-चिनगारियां), अग्नि (सामान्य अग्नि, लोहे आदि में प्रविष्ट अग्नि), अर्चि (बद्धमूल अग्नि-दीपशिखा), तथा ज्वाला (मूल-रहित अग्नि शिखा- आग की लपटें),

११०. (इसी तरह) उल्का (तारों की तरह गिरने वाली आकाशीय अग्नि), विद्युत् (बिजली) इत्यादि। (उनमें) सूक्ष्म (तेजस्काय जीव) एक ही प्रकार के और नानात्व (बहु-भेदों) से रहित कहे गये हैं।

१११. सूक्ष्म (तेजस्काय-जीव) समस्त लोक में, तथा बादर (तेजस्काय-जीव) लोक के एक भाग में अवस्थित/व्याप्त हैं। इसके आगे, (अब) मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग (काल की दृष्टि से भेदों) का कथन करूंगा।

११२. (वे तेजस्काय जीव) सन्तति (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि व सान्त भी हैं।

११३. तेजस्काय जीवों की आयु-स्थिति (एकभव में जीवन-काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः तीन अहोरात्र (दिन-रात) की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

मूल : **असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।**
कायटिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ।।११४।।

संस्कृत : असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिस्तेजसाम्, तं कायन्त्वमुञ्चताम्।।११४।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, तेऊजीवाण अंतरं।।११५।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, तेजोजीवानामन्तरम्।।११५।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।११६।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः।।११६।।

मूल : **दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो।।११७।।

संस्कृत : द्विविधा वायुजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः।।११७।।

मूल : **बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।**
उक्कलिया मंडलिया, घणगुंजा सुद्धवाया य।।११८।।

संस्कृत : बादरा ये तु पर्याप्ताः, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः।
उत्कलिका मण्डलिका, घनगुञ्जाः शुद्धवाताश्च।।११८।।

११४. (अपने) उस (तेजस्) काय को नहीं छोड़ें (और उसी काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो (उन) तेजस्काय जीवों की काय-स्थिति उत्कृष्टतः असंख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

११५. तेजस्काय जीवों का, अपने काय (तेजस्काय) को (एक बार) छोड़ देने पर, (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः उसी तेजस्काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल, और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त होता है।

११६. इन (तेजस्काय जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

११७. वायुकाय जीव दो प्रकार के होते हैं- (१) सूक्ष्म, और (२) बादर। फिर (उनके भी) पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार दो-दो भेद होते हैं।

११८. (वायुकाय जीवों में) जो बादर पर्याप्त हैं, वे पांच प्रकार के कहे गये हैं। (जैसे-) (१) उत्कलिका (रुक-रुक कर चलने वाली, या घूमती हुई ऊंची जाने वाली वायु-हवा), (२) मण्डलिका (धूल आदि के साथ चक्कर खाती हुई, या धरती से लगी चक्राकार घूमती हुई हवा), (३) घनवात (रत्नप्रभा आदि नरक-पृथ्वियों के नीचे बहने वाली, या विमानों के नीचे की घन रूप वायु), (४) गुंजावात (गूंजती-ध्वनि के साथ बहने वाली वायु), तथा (५) शुद्ध वात (उक्त भेदों से रहित, मन्द-मन्द चलने वाली सामान्य वायु)।

मूल : **संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ।**
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।।११९।।

संस्कृत : संवर्तकवायवश्च, अनेकधा एवमादयः।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।।११९।।

मूल : **सुहुमा सव्वलोगम्मि, एगदेसे य बायरा।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं।।१२०।।

संस्कृत : सूक्ष्माः सर्वलोके, एकदेशे च बादराः।
इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।।१२०।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१२१।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१२१।।

मूल : **तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।**
आउठिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।१२२।।

संस्कृत : त्रीण्येव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत्।
आयुः स्थितिर्वायूनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।१२२।।

मूल : **असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।**
कायठिई वाऊणं, तं कायं तु अमुंचओ।।१२३।।

संस्कृत : असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिर्वायूनाम्, तं कायन्त्वमुञ्चताम्।।१२३।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, वाऊजीवाण अंतरं।।१२४।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, वायुजीवानामन्तरम्।।१२४।।

११९. (इसके अतिरिक्त) (६) संवर्तक वात (घास-फूस आदि को उड़ा कर अन्यत्र ले जा सकने में समर्थ तेज वायु) इत्यादि (अन्य भी, बादर वायुकाय के) अनेक भेद होते हैं। (उनमें) वे सूक्ष्म (वायुकाय) एक (ही) प्रकार के, तथा नानात्व (बहुभेदों) से रहित कहे गये हैं।

१२०. (उनमें) सूक्ष्म (वायुकाय-जीव) समस्त लोक में, तथा बादर (वायुकाय-जीव) लोक के एक देश (भाग में व्याप्त - अवस्थित) हैं। इसके आगे, (अब) मैं उनके चार प्रकार के काल-विभाग (काल की अपेक्षा से भेदों) का कथन करूंगा।

१२१. (वे वायुकाय जीव) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त भी हैं।

१२२. वायुकाय जीवों की आयु-स्थिति (एक भव में जीवन काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः तीन हजार वर्षों की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१२३. (अपने) उस (वायु) काय को नहीं छोड़ें (और उसी काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो वायुकाय जीवों की काय-स्थिति उत्कृष्टतः असंख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१२४. वायुकाय जीवों का- अपने काय (वायु-काय) को (एक बार) छोड़ देने पर, (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः उसी वायुकाय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) अन्तर-काल उत्कृष्टतः अनन्त काल, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त होता है।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ।। १२५ ।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ।। १२५ ।।

मूल : **उराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।**
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ।। १२६ ।।

संस्कृत : उदाराः त्रसा ये तु, चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चैव ।। १२६ ।।

मूल : **बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ।। १२७ ।।

संस्कृत : द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ।। १२७ ।।

मूल : **किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया।**
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ।। १२८ ।।

संस्कृत : कृमयः सुमङ्गलाश्चैव, अलसा मातृवाहकाः।
वासीमुखाश्च शुक्तयः, शङ्खाः शङ्खनकास्तथा ।। १२८ ।।

मूल : **पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा।**
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ।। १२९ ।।

संस्कृत : पल्लका अनुपल्लकाश्चैव, तथैव च वराटकाः।
जलौका जालकाश्चैव, चन्दनाश्च तथैव च ।। १२९ ।।

मूल : **इइ बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ।**
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।। १३० ।।

संस्कृत : इति द्वीन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।। १३० ।।

१२५. इन (वायुकाय जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१२६. (त्रसकाय जीवों में) जो 'उदार' (अपेक्षाकृत स्थूलशरीरी) त्रस होते हैं, वे चार प्रकार के कहे गये हैं- (१) द्वीन्द्रिय (स्पर्श व रसना इन्द्रियों वाले), (२) त्रीन्द्रिय (स्पर्श, रसना व घ्राण- इन तीन इन्द्रियों वाले), (३) चतुरिन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण व चक्षु-इन चार इन्द्रियों वाले) और (४) पंचेन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र- इन पांच इन्द्रियों वाले)।

१२७. (उदार त्रस जीवों में) जो द्वीन्द्रिय जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त। (अब) इनके (उत्तर-) भेदों को (भी) मुझसे सुनो।

१२८. कृमि (अपवित्र पदार्थों में पैदा होने वाले), सुमंगल (द्वीन्द्रिय जीव- विशेष), अलस (अलसिया, केंचुआ, गेंडोआ), मातृवाहक (घुन काष्ठ भक्षण करने वाले),

१२९. (इसी प्रकार) पल्लोय (पल्लक, काष्ठभक्षी जन्तुविशेष), अणुल्लक (छोटे पल्लोय), वराटक (कोड़ियां), जौंक, जालक (जातक, जीव विशेष), और चन्दनक (अक्ष, चन्दनिया),

१३०. इत्यादि (उपर्युक्त) ये (सभी) नाना प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे सभी (जीव) सर्वत्र (समस्त लोक में) नहीं, (अपितु) लोक के एक भाग में (ही) व्याप्त (अवस्थित) कहे गये हैं।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१३१।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१३१।।

मूल : **वासाइं बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया।**
बेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।१३२।।

संस्कृत : वर्षाणि द्वादश चैव, उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वीन्द्रियायु- स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।१३२।।

मूल : **संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।**
बेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ।।१३३।।

संस्कृत : सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
द्वीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम्।।१३३।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
बेइंदियजीवाणं, अंतरं च वियाहियं।।१३४।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
द्वीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरञ्च व्याख्यातम्।।१३४।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१३५।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः।।१३५।।

मूल : **तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे।।१३६।।

संस्कृत : त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे।।१३६।।

१३१. (उपर्युक्त सभी द्वीन्द्रिय त्रस जीव) 'सन्तति' (प्रवाह/परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं; (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त हैं।

१३२. द्वीन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति (एकभव में जीवन-काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः बारह वर्षों की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१३३. (अपने) उस (द्वीन्द्रिय) काय को नहीं छोड़ें (और उसी काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो (उन) द्वीन्द्रिय (त्रस) जीवों की काय-स्थिति उत्कृष्टतः संख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१३४. द्वीन्द्रिय (त्रस) जीवों का (अपने) द्वीन्द्रिय काय को छोड़ कर, पुनः अन्य कायों में उत्पन्न होने के बाद, पुनः उसी द्वीन्द्रिय काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का कहा गया है।

१३५. इन (द्वीन्द्रिय त्रस जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१३६. (त्रस जीवो में) जो त्रीन्द्रिय जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त। उनके (उत्तर) भेदों के विषय में मुझसे सुनो।

मूल : **कुंथुपिवीलिउड्डंसा, उक्कलुद्देहिया तहा।**
तणहारा कट्ठहारा य, मालूगा मत्तहारगा।।१३७।।

संस्कृत : कुन्थुपिपील्युद्दंशाः, उत्कांलकोपदेहिकास्तथा।
तृणहाराः काष्ठहाराश्च, मालूकाः पत्रहारकाः।।१३७।।

मूल : **कप्पासट्ठिम्मि जाया, तिंदुगा तउसमिंजगा।**
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया।।१३८।।

संस्कृत : कर्पासास्थिजाताः, तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः।
शतावरी च गुल्मी च, बोद्धव्या इन्द्रकायिकाः।।१३८।।

मूल : **इंदगोवगमाईया, णेगविहा एवमायओ।**
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।।१३९।।

संस्कृत : इन्द्रगोपकादिकाः, अनेकविधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः।।१३९।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१४०।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१४०।।

मूल : **एगूणपण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।**
तेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।१४१।।

संस्कृत : एकोनपञ्चांशदहोरात्राणाम्, उत्कर्षेण व्याख्याता।
त्रीन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तुर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।१४१।।

मूल : **संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।**
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ।।१४२।।

संस्कृत : सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
त्रीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम्।।१४२।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
तेइंदियजीवाणं, अंतरं तु वियाहियं।।१४३।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरं तु व्याख्यातम्।।१४३।।

१३७. कुन्थु (सूक्ष्म जीव-विशेष), चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन आदि), मालुक, मालुगा, और पत्राहारक,

१३८. कपास व उनकी अस्थियों में पैदा होने वाले जीव, तिन्दुक, त्रपुष-मिंजक, शतावरी, गुल्मी (कानखजूरा), और इन्द्रकायिक (षट्पदी-जूं) - इन्हें (भी-त्रीन्द्रिय) जानना चाहिए।

१३९. (इसके अतिरिक्त, त्रीन्द्रियों में) इन्द्रगोप (बीरबधूटी) इत्यादि अनेक प्रकार के (जीव) होते हैं। वे सब समस्त लोक में नहीं, (अपितु) लोक के एकदेश (भाग) में (ही व्याप्त - अवस्थित) कहे गये हैं।

१४०. (वे त्रीन्द्रिय जीव) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त होते हैं, (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

१४१. त्रीन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति (एकभव में जीवन की काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः उनचास दिनों की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की कही गई है।

१४२. (अपने) उस (त्रीन्द्रिय) काय को नहीं छोड़ें (और उसी काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो त्रीन्द्रिय जीवों की काय-स्थिति उत्कृष्टतः संख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१४३. त्रीन्द्रिय जीवों का (अपने त्रीन्द्रिय काय को छोड़ देने पर, और अन्य कायों में उत्पन्न होने के बाद, पुनः उसी त्रीन्द्रिय काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१४४।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।१४४।।

मूल : **चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।**
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे।।१४५।।

संस्कृत : चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे।।१४५।।

मूल : **अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा।**
भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा।।१४६।।

संस्कृत : अन्धिकाः पौत्तिकाश्चैव, मक्षिका मशकास्तथा।
भ्रमराः कीटपतङ्गाश्च, ढिङ्कुणाः कुङ्कणास्तथा।।१४६।।

मूल : **कुक्कुडे सिंगरीडी य, नंदावत्ते य विच्छिए।**
डोले भिंगिरीडी य, विरली अच्छिवेहए।।१४७।।

संस्कृत : कुक्कुटः शृङ्गरीटी च, नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः।
डोला भृङ्गरीटकाश्च, विरल्यो ऽक्षिवेधकाः।।१४७।।

मूल : **अच्छिले माहए अच्छि-,(रोडए) विचित्ते चित्तपत्तए।**
उहिंजलिया जलकारी य, नीयया तंबगाइया।।१४८।।

संस्कृत : अक्षिला मागधा अक्षि-, (रोडका) विचित्राश्चित्रपत्रका।
उपधिजलका जलकार्यश्च, नीचकास्ताम्रकादिकाः।।१४८।।

मूल : **इय चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ।**
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिआ।।१४९।।

संस्कृत : इति चतुरिन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः।
लोकस्यैकदेशे ते, सर्वे परिकीर्तिताः।।१४९।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१५०।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिका, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१५०।।

१४४. इन (त्रीन्द्रिय जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१४५. (त्रस जीवों में) जो चतुरिन्द्रिय जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त। उनके भेद मुझसे सुनो।

१४६. अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका (मक्खी), मशक (मच्छर), भ्रमर, कीड (टिड्डी आदि), पतंग, ढिंकुण (पिस्सू), और कुंकुण (ये चतुरिन्द्रिय जीव) हैं।

१४७. कुक्कुड, श्रृंगिरीटी, नन्दावर्त, बिच्छू, ढोल, भृंगरीटक (झींगुर या भ्रमरी), विरली, और अक्षिवेधक (ये भी चतुरिन्द्रिय जीव) हैं।

१४८. अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र-पत्रक, चित्तपत्रक, ओहिंजलिया (उपधिजलक), जलकारी, नीचक और तन्तवकर (ताम्रक, तम्बकायिक) (ये भी चतुरिन्द्रिय जीव) हैं।

१४९. (अन्धिका) इत्यादि (उपर्युक्त) अनेक प्रकार के (जीव) होते हैं। वे सब (चतुरिन्द्रिय जीव समस्त लोक में नहीं, अपितु) लोक के एकदेश (भाग) में (ही अवस्थित) हैं।

१५०. (उपर्युक्त चतुरिन्द्रिय जीव), सन्तति (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

मूल : **छच्चेव य मासाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
चउरिंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।१५१।।

संस्कृत : षट् चैव च मासायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुरिन्द्रियायुः स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।१५१।।

मूल : **संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ।।१५२।।

संस्कृत : सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
चतुरिन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम्।।१५२।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं।।१५३।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, अन्तरञ्च व्याख्यातम्।।१५३।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१५४।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।१५४।।

मूल : **पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया।**
नेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया।।१५५।।

संस्कृत : पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवाः, चतुर्विधास्ते व्याख्याताः।
नैरयिकास्तिर्यञ्चाश्च, मनुजा देवाश्चाख्याताः।।१५५।।

मूल : **नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसु भवे।**
रयणाभसक्कराभा, बालुयाभा य आहिया।।१५६।।

संस्कृत : नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।
रत्नाभा शर्कराभा, वालुकाभा चाख्याताः।।१५६।।

१५१. चतुरिन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति (एकभवीय जीवन की काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः छः महीनों की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१५२. (अपने) उस (चतुरिन्द्रिय) काय को नहीं छोड़ें (और उसी चतुरिन्द्रिय काय में ही निरन्तर उत्पन्न होते रहें) तो चतुरिन्द्रिय जीवों की काय-स्थिति उत्कृष्टतः संख्यात काल की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१५३. (चतुरिन्द्रिय जीवों का) अपने (चतुरिन्द्रिय) काय को छोड़ देने पर, (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः उसी चतुरिन्द्रिय काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

१५४. इन (चतुरिन्द्रिय जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१५५. (त्रस जीवों में) जो पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, वे चार प्रकार के कहे गये हैं- (१) नैरयिक (नारकी),(२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य, और (४) देव।

१५६. (उन पञ्चेन्द्रियों में) नारकी (जीव) सात (प्रकार की) पृथ्वियों में (उत्पन्न) होते हैं। (इसलिए) सात प्रकार के कहे गये हैं:- (१) रत्नप्रभा (के निवासी नारकी), (२) शर्कराप्रभा (के निवासी), (३) बालुकाप्रभा (के निवासी),

मूल : **पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।**
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया।।१५७।।

संस्कृत : पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्तिताः।।१५७।।

मूल : **लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं।।१५८।।

संस्कृत : लोकस्यैकदेशे, ते सर्वे तु व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।।१५८।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१५९।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१५९।।

मूल : **सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया।**
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया।।१६०।।

संस्कृत : सागरोपममेकन्तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
प्रथमायां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका।।१६०।।

मूल : **तिण्णेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं।।१६१।।

संस्कृत : त्रीण्येव सागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वितीयायां जघन्येन, एकन्तु सागरोपमम्।।१६१।।

मूल : **सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
तइयाए जहन्नेणं, तिण्णेव सागरोवमा।।१६२।।

संस्कृत : सप्तैव सागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
तृतीयायां जघन्येन, त्रीण्येव सागरोपमाणि।।१६२।।

मूल : **दससागरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा।।१६३।।

संस्कृत : दशसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुर्थ्यां जघन्येन, सप्तैव सागरोपमाणि।।१६३।।

१५७. तथा (४) पंकप्रभा (के निवासी), (५) धूमप्रभा (के निवासी), (६) तमःप्रभा (के निवासी), और (७) महातमःप्रभा- तमस्तमप्रभा (के निवासी) - इस प्रकार सात प्रकार के नारकी कहे गये हैं।

१५८. वे सब (नारकी) लोक के एक देश (भाग) में (ही अवस्थित) कहे गये हैं। इसके बाद (अब) मैं उनके चार प्रकार के काल-विभाग (काल की अपेक्षा से भेदों) का कथन करूंगा।

१५९. (वे सब नारकी) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

१६०. प्रथम (रत्नप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) आयु-स्थिति (एकभवीय जीवन काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः एक सागरोपम की, तथा जघन्यतः दस हजार वर्षों की कही गई है।

१६१. दूसरी (शर्कराप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) 'आयुस्थिति' (एकभवीय जीवन की काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः तीन सागरोपम की, तथा जघन्यतः एक सागरोपम की होती है।

१६२. तृतीय (बालुकाप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) आयुस्थिति (एक भवीय जीवन की काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः सात सागरोपम की, तथा जघन्यतः तीन सागरोपम की होती है।

१६३. चौथी (पंकप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) 'आयुस्थिति' उत्कृष्टतः दस सागरोपम की, तथा जघन्यतः सात सागरोपम की होती है।

मूल : **सत्तरससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव सागरोवमा।।१६४।।

संस्कृत : सप्तदशसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
पञ्चमायां जघन्येन, दश चैव सागरोपमाणि।।१६४।।

मूल : **बावीससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
छट्ठीए जहन्नेणं, सत्तरससागरोवमा।।१६५।।

संस्कृत : द्वाविंशतिसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
षष्ठ्यां जघन्येन, सप्तदशसागरोपमाणि।।१६५।।

मूल : **तेत्तीससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।**
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा।।१६६।।

संस्कृत : त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता।
सप्तम्यां जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि।।१६६।।

मूल : **जा चेव उ आउठिई, नेरइयाणं वियाहिया।**
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे।।१६७।।

संस्कृत : या चैव तु आयुःस्थितिः, नैरयिकाणां व्याख्याता।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्यकोत्कृष्टा भवेत्।।१६७।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, नेरइयाणं तु अंतरं।।१६८।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, नैरयिकाणान्तु अन्तरम्।।१६८।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१६९।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो, रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।१६९।।

मूल : **पंचिंदियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया।**
संमुच्छिमतिरिक्खाओ, गब्भवक्कंतिया तहा।।१७०।।

संस्कृत : पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सम्मूर्च्छिमतिर्यञ्चाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा।।१७०।।

१६४. पांचवीं (धूमप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) 'आयु-स्थिति' उत्कृष्टतः सत्रह सागरोपम की, तथा जघन्यतः दस सागरोपम की होती है।

१६५. छठी- (तमःप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) 'आयु-स्थिति' उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की, तथा जघन्यतः सत्रह सागरोपम की होती है।

१६६. सातवीं (तमस्तमप्रभा पृथ्वी) में (रहने वाले नारकियों की) 'आयु-स्थिति' उत्कृष्टतः तैंतीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः बाईस सागरोपम की होती है।

१६७. नारकी (जीवों) की जो (एकभवीय) आयु-स्थिति कही गई है, वही उनकी जघन्य व उत्कृष्ट (दोनों प्रकार की) 'काय-स्थिति' होती है।

१६८. नैरयिक जीवों का अपने काय (नारकी शरीर) को छोड़ देने पर, (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः उसी नारकी काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त होता है।

१६९. इन (नारकी जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१७०. (त्रस जीवों में) वे पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के कहे गये-हैं- (१) सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च, और (२) गर्भज तिर्यञ्च।

मूल : **दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा।**
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे।। १७१।।

संस्कृत : द्विविधास्ते भवेयुस्त्रिविधाः, जलचराः स्थलचरास्तथा।
नभश्चराश्च बोद्धव्याः, तेषां भेदान् श्रृणुत मे।। १७१।।

मूल : **मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा।**
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया।। १७२।।

संस्कृत : मत्स्याश्च कच्छपाश्च, ग्राहाश्च मकरास्तथा।
सुंसुमाराश्च बोद्धव्याः, पञ्चधा जलचरा आख्याताः।। १७२।।

मूल : **लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं।। १७३।।

संस्कृत : लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।। १७३।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।। १७४।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।। १७४।।

मूल : **एगा य पुव्वकोडी, उक्कोसेण वियाहिया।**
आउठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।। १७५।।

संस्कृत : एका च पूर्वकोटी, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः स्थितिर्जलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।। १७५।।

मूल : **पुव्वकोडिपुहुत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया।**
कायठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।। १७६।।

संस्कृत : पूर्वकोटिपृथक्त्वन्तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
कायस्थितिर्जलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।। १७६।।

१७१. उन दोनों को भी तीन-तीन प्रकार का जानना चाहिए:- (१) जलचर, (२) स्थलचर, और (३) खेचर। (अब) उनके भेदों को मुझसे सुनो।

१७२. जलचर पांच प्रकार के हैं- (१) मत्स्य (मछलियां), (२) कच्छप (कछुए), (३) ग्राह (घड़ियाल), (४) मकर (मगरमच्छ), और (५) सुंसुमार।

१७३. वे सब (जलचर आदि) (लोक में) सर्वत्र नहीं, (अपितु) लोक के एकदेश (भाग) में (ही अवस्थित) कहे गये हैं। इसके बाद, मैं उनके चार प्रकार के काल-विभाग (काल की अपेक्षा से भेदों) का कथन करूंगा।

१७४. वे (जलचर जीव) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं, (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

१७५. जलचरों की (एकभवीय) आयु- स्थिति उत्कृष्टतः एक करोड़ 'पूर्व' की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१७६. जलचरों की काय-स्थिति उत्कृष्टतः 'पृथक्त्व' करोड़ पूर्व की होती है (अर्थात् अपने प्रथम जलचर-भव के बाद, अधिक से अधिक करोड़-करोड़ पूर्व के आठ भव और ग्रहण किये जा सकते हैं), तथा जघन्यतः (कायस्थिति) अन्तर्मुहूर्त की होती है।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए कए, जलयराणं अंतरं।। १७७।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, जलचराणामन्तरम्।। १७७।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।। १७८।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।। १७८।।

मूल : **चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे।**
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयओ सुण।। १७९।।

संस्कृत : चतुष्पदाश्च परिसर्पाः, द्विविधाः स्थलचरा भवेयुः।
चतुष्पदाश्चतुर्विधाः, तान् मे कीर्तयतः शृणु।। १७९।।

मूल : **एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपय सणप्पया।**
हयमाई गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो।। १८०।।

संस्कृत : एकखुरा द्विखुराश्चैव, गण्डीपदाः सनखपदाः।
हयादयो गोणादयः, गजादयः सिंहादयः।। १८०।।

मूल : **भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे।**
गोहाई अहिमाई य, एक्केक्का णेगहा भवे।। १८१।।

संस्कृत : भुजपरिसर्पा उरःपरिसर्पाश्च, परिसर्पा द्विविधा भवेयुः।
गोधादयोऽह्यादयश्च, एकैकका अनेकधा भवेयुः।। १८१।।

मूल : **लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं।। १८२।।

संस्कृत : लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।। १८२।।

१७७. जलचर जीवों का, अपने (जलचर) शरीर को छोड़ने पर (और अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः उसी जलचर-काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

१७८. इन (जलचर जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श व संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१७९. स्थलचर (जीवों) के दो भेद हैं- (१) चतुष्पद, और (२) परिसर्प। (उनमें) चतुष्पद चार प्रकार के होते हैं। उनके विषय में मुझसे सुनो।

१८०. (चतुष्पद स्थलचर जीवों में) (१) एक 'खुर' (चरण के नीचे स्थूल अस्थि-विशेष) वाले- घोड़ा आदि, (२) दो खुरों वाले- बैल आदि, (३) गण्डीपद (गोल पैर वाले)- हाथी आदि, और (४) सनखपद (नखयुक्त पैरों वाले)- सिंह आदि।

१८१. (उनमें) परिसर्प दो प्रकार के होते हैं:- (१) भुजग-परिसर्प (हाथों-भुजाओं के बल चलने वाले)- गोह आदि, और (२) उरग-परिसर्प (पेट व छाती के बल चलने वाले)- सांप आदि। इनमें प्रत्येक के (भी) अनेक भेद होते हैं।

१८२. वे सब (स्थलचर) सर्वत्र (लोक में) नहीं, अपितु लोक के एकदेश (भाग) में (ही अवस्थित) कहे गये हैं। इसके बाद, (अब) मैं उनके चार प्रकार के 'काल-विभाग' (काल की दृष्टि से भेदों) का कथन करूंगा।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१८३।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च।।१८३।।

मूल : **पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया।**
आउठिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।१८४।।

संस्कृत : पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः स्थितिः स्थलचराणामू, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।१८४।।

मूल : **पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया।**
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे।।१८५।।

संस्कृत : पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।
कायस्थितिः स्थलचराणां, अन्तरं तेषामिदं भवेत्।।१८५।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं।।१८६।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टमू, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकमू।
वित्यक्ते स्वके काये, स्थलचराणां त्वन्तरमू।।१८६।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१८७।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रस स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।१८७।।

१८३. (वे स्थलचर जीव) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं, (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

१८४. स्थलचर (जीवों) की (एकभवीय) आयु-स्थिति उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१८५. स्थलचर जीवों की 'काय-स्थिति' (एक ही काय में निरन्तर उत्पन्न होते रहने की काल-मर्यादा) उत्कृष्टतः तीन पल्योपम सहित 'पृथक्त्व' करोड़ 'पूर्व' की होती है (अर्थात् एक बार स्थलचर बन कर पुनः उसी काय में करोड़-करोड़ 'पूर्व' की आयु वाले अधिकाधिक अन्य सात भव ग्रहण कर, आठवें भव में युगलियों में तीन पल्य की आयु वाला स्थलचर बन सकता है, उसके बाद स्थलचर नहीं बनता), तथा जघन्यतः (काय-स्थिति) अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१८६. स्थलचर जीवों की काय-स्थिति (का उपर्युक्त कथन) है, उनका (अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः स्थलचर काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

१८७. इन (स्थलचरों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

मूल : **चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया।**
वियपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ।। १८८ ।।

संस्कृत : चर्मपक्षिणस्तु रोमपक्षिणश्च, तृतीयभेदः समुद्रपक्षिणः।
विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः, पक्षिणश्च चतुर्विधाः ।। १८८ ।।

मूल : **लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ।। १८९ ।।

संस्कृत : लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ।। १८९ ।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ।। १९० ।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ।। १९० ।।

मूल : **पलिओवमस्स भागो, असंखेज्जइमो भवे।**
आउठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।। १९१ ।।

संस्कृत : पल्योपमस्य भागः, असङ्ख्येयतमो भवेत्।
आयुःस्थितिः खेचराणां, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।। १९१ ।।

मूल : **असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिया।**
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।। १९२ ।।

संस्कृत : असङ्ख्यभागः पल्योपमस्य, उत्कर्षेण तु साधिका।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।। १९२ ।।

१८८. (खेचर) पक्षियों के चार भेद जानने चाहिएं- (१) चर्म-पक्षी (चमड़ी की पांख वाले- चमगादड़ आदि), (२) रोम-पक्षी (रोंएं के पंखों वाले, हंस आदि), (३) समुद्ग-पक्षी (बन्द डिब्बे के आकार वाले व अविकसित पंखों वाले- जो मनुष्य-क्षेत्र के बाहर द्वीप-समुद्रों में प्राप्त होते हैं), तथा (४) वितत-पक्षी (सदैव खुले हुए विस्तृत पंखों वाले, जो मनुष्य-क्षेत्र के बाहर, द्वीप-समुद्रों में पाए जाते हैं)।

१८९. वे सब (खेचर) (लोक में) सर्वत्र नहीं, अपितु लोक के एक देश (भाग) में (ही अवस्थित) हैं। इसके आगे (अब) मैं उन (खेचरों) के चतुर्विध 'काल-विभाग' (काल की दृष्टि से भेदों) का कथन करूंगा।

१९०. (खेचर) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

१९१. खेचर (जीवों) की (एकभवीय) आयु-स्थिति उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

१९२. (खेचर जीवों की काय-स्थिति) उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित 'पृथक्त्व' करोड़ 'पूर्व' की होती है (अर्थात् खेचर के रूप में जन्म लेकर, अधिक से अधिक एक करोड़ २ पूर्व प्रमाण वाले अन्य सात भव धारण कर, आठवें भव में पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण वाली आयु के युगलियों में खेचर रूप में ही उत्पन्न हो सकता है, उसके बाद वह खेचर न होकर देवगति प्राप्त करेगा), तथा जघन्यतः (काय-स्थिति तो) अन्तर्मुहूर्त की होती है।

मूल : **कायठिई खहयराणं, अंतरं तेसिमं भवे।**
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।।१९३।।

संस्कृत : कायस्थितिः खेचराणाम्, अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।१९३।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।१९४।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।१९४।।

मूल : **मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।**
संमुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा।।१९५।।

संस्कृत : मनुजा द्विविधभेदास्तु, तान् मे कीर्तयतः शृणु।
संमूर्च्छिमाश्च मनुजाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा।।१९५।।

मूल : **गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया।**
कम्म-अकम्मभूमा य, अंतरद्दीवया तहा।।१९६।।

संस्कृत : गर्भव्युत्क्रान्तिका ये तु, त्रिविधास्ते व्याख्याताः।
कर्माकर्मभूमाश्च, अन्तरद्वीपकास्तथा।।१९६।।

मूल : **पन्नरसतीसविहा, भेया अट्ठवीसई।**
संखा उ कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया।।१९७।।

संस्कृत : पञ्चदशत्रिंशद्विधाः, भेदा अष्टविंशतिः।
सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषाम्, इत्येषा व्याख्याताः।।१९७।।

मूल : **संमुच्छिमाण एसेव, भेओ होइ वियाहिओ।**
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया।।१९८।।

संस्कृत : सम्मूर्च्छिमाणामेष एव, भेदो भवति व्याख्यातः।
लोकस्यैकदेशे, ते सर्वेऽपि व्याख्याताः।।१९८।।

१६३. खेचरों की 'काय-स्थिति' (का उपर्युक्त कथन) है। उनका (अन्य कायों में उत्पन्न होकर, पुनः खेचर-काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

१६४. इन (खेचरों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

१६५. मनुष्य दो प्रकार के हैं। उन (भेदों) को मैं कह रहा हूँ, सुनो। (वे दो भेद इस प्रकार हैं-) (१) सम्मूर्च्छिम, और (२) गर्भावक्रान्तिक (गर्भ-उत्पन्न)।

१६६. (उनमें) जो गर्भज (मनुष्य) हैं, वे तीन प्रकार के कहे गये हैं- (१) अकर्मभूमिक, (२) कर्मभूमिक, और (३) अन्तर्द्वीपक।

१६७. (उन तीनों में, कर्मभूमिक- कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के) पन्द्रह, (अकर्मभूमिक मनुष्यों के) तीस, तथा (अन्तर्द्वीपक-अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के) अट्ठाईस-२ भेद होते हैं। यह संख्या उनकी क्रमशः कही गई है।

१६८. सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के भी इसी प्रकार (१५, ३०, ५६ कुल १०१) भेद कहे गये हैं। वे सब भी लोक के एक देश (भाग) में ही (अवस्थित) कहे गये हैं।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य।।१९९।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिका, सपर्यवसिता अपि च।।१९९।।

मूल : **पलिओवमाइं तिन्नि य, उक्कोसेण वियाहिया।**
आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।२००।।

संस्कृत : पल्योपमानि त्रीणि च, उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः स्थितिर्मनुजानाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।२००।।

मूल : **पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया।**
पुव्वकोडिपुहुत्तेण, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।२०१।।

संस्कृत : पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।२०१।।

मूल : **कायठिई मणुयाणं, अंतरं तेसिमं भवे।**
अणंतकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।।२०२।।

संस्कृत : कायस्थितिर्मनुजानाम्, अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।२०२।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।।२०३।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।।२०३।।

मूल : **देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।**
भोमिज्ज-वाणमंतरा, जोइस वेमाणिया तहा।।२०४।।

संस्कृत : देवाश्चतुर्विधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः शृणु।
भौमेया व्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा।।२०४।।

१९९. (उक्त मनुष्य) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

२००. मनुष्यों की (एकभवीय) आयु-स्थिति उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२०१. (उनकी काय-स्थिति) उत्कृष्टतः तीन पल्योपम सहित 'पृथक्त्व, पूर्व कोटि' की होती है (अर्थात् मनुष्यभव में जन्म लेकर, उसी मनुष्य-भव में निरन्तर जन्म लेता रहे तो अधिक से अधिक सात भव करोड़-करोड़ 'पूर्व' की आयु वाले प्राप्त कर, आठवें भव में तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु वाला युगलिया बन सकता है, बाद के भव में वह मनुष्य-जन्म नहीं पाता, अपितु देव बनता है)। (उनकी काय-स्थिति) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२०२. मनुष्यों की काय-स्थिति (का उपर्युक्त कथन) है। उनका (अन्य कायों में उत्पन्न होकर पुनः मनुष्य-काय में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर-काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

२०३. इन (मनुष्यों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

२०४. देवों के चार भेद होते हैं, उन्हें मैं कह रहा हूँ सुनो। (वे भेद इस प्रकार हैं-) (१) भवनवासी (भवनपति), (२) व्यन्तर (वानव्यन्तर), (३) ज्योतिष्क (ज्योतिषी), और (४) वैमानिक।

मूल : **दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो।**
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ।। २०५ ।।

संस्कृत : दशधा तु भवनवासिनः, अष्टधा वनचारिणः।
पञ्चविधा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथा ।। २०५ ।।

मूल : **असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया।**
दीवोदहिदिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ।। २०६ ।।

संस्कृत : असुरा नागसुपर्णाः, विद्युदग्निश्च आख्याताः।
द्वीपोदधिदिशो वायवः, स्तनिता भवनवासिनः ।। २०६ ।।

मूल : **पिसायभूया जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।**
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ।। २०७ ।।

संस्कृत : पिशाचभूता यक्षाश्च, राक्षसाः किन्नराः किंपुरुषाः।
महोरगाश्च गन्धर्वाः, अष्टविधा व्यन्तराः ।। २०७ ।।

मूल : **चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा।**
ठियावि चारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ।। २०८ ।।

संस्कृत : चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा।
स्थिता ऽपि चारिणश्चैव, पञ्चधा ज्योतिषालयाः ।। २०८ ।।

मूल : **वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।**
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ।। २०९ ।।

संस्कृत : वैमानिकास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः, कल्पातीतास्तथैव च ।। २०९ ।।

मूल : **कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।**
सणंकुमारमाहिंदा, बम्भलोगा य लंतगा ।। २१० ।।

संस्कृत : कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मेशानगास्तथा।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः ।। २१० ।।

मूल : **महासुक्का सहस्सारा,आणया पाणया तहा।**
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ।। २११ ।।

संस्कृत : महाशुक्राः सहस्राराः, आनताः प्राणतास्तथा।
आरणाअच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुराः ।। २११ ।।

२०५. (इनमें) भवनवासी (देव) दस प्रकार के, वनचारी (व्यन्तर देव) आठ प्रकार के, ज्योतिषी (देव) पांच प्रकार के, तथा वैमानिक (देव) दो प्रकार के होते हैं।

२०६. (दस प्रकार के) भवनवासी (देव इस प्रकार) हैं- (१) असुरकुमार (२) नागकुमार, (३) सुपर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिक्कुमार, (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार।

२०७. आठ प्रकार के वानव्यन्तर इस प्रकार हैं- (१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किम्पुरुष, (७) महोरग, और (८) गन्धर्व।

२०८. पांच प्रकार के ज्योतिषी नामक (देव इस प्रकार) हैं- (१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) नक्षत्र, (४) ग्रह, और (५) तारा। ये दिशाविचारी (अर्थात् मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमणशील) हैं।

२०९. (उनमें) जो वैमानिक देव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं, (जिन्हें) (१) कल्पोपग (कल्पोपपन्न, कल्पवासी), और (२) कल्पातीत- (इन नामों से) जानना चाहिये।

२१०. कल्पोपग (वैमानिक देव) बारह प्रकार के होते हैं- (१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, तथा (६) लान्तक,

२११. (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण, और (१२) अच्युत - ये (१२ प्रकार के) कल्पोपपन्न देव हैं।

मूल : **कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।**
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ।। २१२ ।।

संस्कृत : कल्पातीतास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र ।। २१२ ।।

मूल : **हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा।**
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ।। २१३ ।।

संस्कृत : अधस्तनाऽधस्तनाश्चैव, अधस्तनामध्यमास्तथा।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ।। २१३ ।।

मूल : **मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा।**
उवरिमाहेट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ।। २१४ ।।

संस्कृत : मध्यमामध्यमाश्चैव मध्यमोपरितनास्तथा।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनामध्यमास्तथा । २१४ ।।

मूल : **उवरिमाउवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।**
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ।। २१५ ।।

संस्कृत : उपरितनोपरितनाश्चैष, इति ग्रैवेयकाः सुराः।
विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ।। २१५ ।।

मूल : **सव्वत्थसिद्धिगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा।**
इय वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ।। २१६ ।।

संस्कृत : सर्वार्थसिद्धिकाश्चैव, पञ्चधाऽनुत्तराः सुराः।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमादयः ।। २१६ ।।

मूल : **लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वेवि वियाहिया।**
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ।। २१७ ।।

संस्कृत : लोकस्यैकदेशे, ते सर्वेऽपि व्याख्याताः।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ।। २१७ ।।

मूल : **संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य।**
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ।। २१८ ।।

संस्कृत : सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ।। २१८ ।।

२१२. जो कल्पातीत (वैमानिक) देव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं- (१) ग्रैवेयक (वासी), और (२) अनुत्तर (विमानवासी)। उनमें ग्रैवेयक (देव) नौ प्रकार के होते हैं।

२१३. (ग्रैवेयकों के भेद-) (१) अधस्तन-अधस्तन, (७) अधस्तन-मध्यम, (३) अधस्तन-उपरितन और (४) मध्यम-अधस्तन,

२१४. (५) मध्यम-मध्यम, (६) मध्यम-उपरितन, (७) उपरितन-अधस्तन (८) उपरितन-मध्यम,

२१५. और (९) उपरितन-उपरितन- ये (नौ प्रकार के) ग्रैवेयक देव हैं। (अनुत्तर देवों के पांच प्रकार-) (१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित,

२१६. और (५) सर्वार्थसिद्ध (ये) पांच प्रकार के अनुत्तर (विमानवासी) देव हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक प्रकार होते हैं।

२१७. वे सभी (चतुर्विध देव) लोक के एक देश (भाग) में (ही अवस्थित) कहे गये हैं। इसके बाद, (अब) मैं उनके चतुर्विध 'काल-विभाग' का कथन करूंगा।

२१८. (वे देव) 'सन्तति' (प्रवाह-परम्परा) की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं, (किन्तु एकत्व-वैयक्तिक) 'स्थिति' की दृष्टि से सादि और सान्त (भी) हैं।

मूल : **साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
भोमेज्जाणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया।।२१६।।

संस्कृत : साधिकं सागरमेकम्, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
भौमेयानां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका।।२१६।।

मूल : **पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
वंतराणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया।।२२०।।

संस्कृत : पल्योपममेकन्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
व्यन्तराणां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका।।२२०।।

मूल : **पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं।**
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया।।२२१।।

संस्कृत : पल्योपममेकन्तु, वर्षलक्षेण साधिकम्।
पल्योपमाष्टमभागः, ज्योतिष्केषु जघन्यका।।२२१।।

मूल : **दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया।**
सोहम्मम्मि जहन्नेण, एगं च पलिओवमं।।२२२।।

संस्कृत : द्वे चैव सागरोपमे, उत्कर्षेण व्याख्याता।
सौधर्मे जघन्येन, एकञ्च पल्योपमम्।।२२२।।

मूल : **सागरा साहिया दुन्नि, उक्कोसेण वियाहिया।**
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं।।२२३।।

संस्कृत : सागरे साधिके द्वे, उत्कर्षेण व्याख्याता।
ईशाने जघन्येन, साधिके पल्योपमम्।।२२३।।

मूल : **सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे।**
सणकुमारे जहन्नेणं, दुन्नि ऊ सागरोवमा।।२२४।।

संस्कृत : सागराणि च सप्तैव, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सनत्कुमारे जघन्येन, द्वे तु सागरोपमे।।२२४।।

मूल : **साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे।**
माहिंदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा।।२२५।।

संस्कृत : साधिकानि सागराणि सप्त, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
माहेन्द्रे जघन्येन, साधिके द्वे सागरे।।२२५।।

२१९. भवनवासी (देवों) की (एकभवीय आयु) 'स्थिति' उत्कृष्टतः साधिक (कुछ अधिक) एक सागरोपम की, तथा जघन्यतः दस हजार वर्षों की है।

२२०. व्यन्तर देवों की (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः एक पल्योपम की, तथा जघन्यतः दस हजार वर्षों की होती है।

२२१. ज्योतिष्क (देवों) में (एकभवीय) (आयु-'स्थिति') उत्कृष्टतः एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की, तथा जघन्यतः पल्योपम का आठवां भाग (जितने प्रमाण वाली) होती है। (यह कथन तारों की अपेक्षा से समझना चाहिए)।

२२२. सौधर्म (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-'स्थिति') उत्कृष्टतः दो सागरोपम, तथा जघन्यतः एक पल्योपम कही गई है।

२२३. ईशान (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-'स्थिति') उत्कृष्टतः साधिक (कुछ अधिक दो सागरोपम की) तथा जघन्यतः 'साधिक' (कुछ अधिक) एक पल्योपम की होती है।

२२४. सनत्कुमार (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-)'स्थिति' उत्कृष्टतः सात सागरोपम की, तथा जघन्यतः दो सागरोपम की होती है।

२२५. महेन्द्र (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-)'स्थिति' उत्कृष्टतः 'साधिक' (कुछ अधिक) सात सागरोपम की, तथा जघन्यतः 'साधिक' (कुछ अधिक) दो सागरोपम की होती है।

मूल : **दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
बंभलोए जहन्नेणं, सत्त उ सागरोवमा।। २२६ ।।

संस्कृत : दश चैव सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
ब्रह्मलोके जघन्येन, सप्त तु सागरोपमाणि।। २२६ ।।

मूल : **चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
लंतगम्मि जहन्नेणं, दस उ सागरोवमा।। २२७ ।।

संस्कृत : चतुर्दश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
लान्तके जघन्येन, दश तु सागरोपमाणि।। २२७ ।।

मूल : **सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा।। २२८ ।।

संस्कृत : सप्तदश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
महाशुक्रे जघन्येन, चतुर्दश सागरोपमाणि।। २२८ ।।

मूल : **अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
सहस्सारम्मि जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा।। २२९ ।।

संस्कृत : अष्टादश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सहस्रारे जघन्येन, सप्तदश सागरोपमाणि।। २२९ ।।

मूल : **सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
आणयम्मि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा।। २३० ।।

संस्कृत : सागराणि एकोनविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
आनते जघन्येन, अष्टादश सागरोपमाणि।। २३० ।।

मूल : **वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई।। २३१ ।।

संस्कृत : विंशतिस्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
प्राणते जघन्येन, सागराणि एकोनविंशतिः।। २३१ ।।

मूल : **सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा।। २३२ ।।

संस्कृत : सागराणि एकविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
आरणे जघन्येन, विंशतिः सागरोपमाणि।। २३२ ।।

२२६. ब्रह्मलोक (नामक देव-लोक) में (एकभवीय आयु-)'स्थिति' उत्कृष्टतः दस सागरोपम की, और जघन्यतः सात सागरोपम की होती है।

२२७. लान्तक (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-)'स्थिति' उत्कृष्टतः चौदह सागरोपम की, तथा जघन्यतः दस सागरोपम की होती है।

२२८. महाशुक्र (देव-लोक) में (एक भवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः सत्रह सागरोपम की, तथा जघन्यतः चौदह सागरोपम की होती है।

२२९. सहस्रार (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः अठारह सागरोपम की, तथा जघन्यतः सत्रह सागरोपम की होती है।

२३०. आनत (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः उन्नीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः अठारह सागरोपम की होती है।

२३१. प्राणत (देव-लोक) में (एक भवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः बीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः उन्नीस सागरोपम की होती है।

२३२. आरण (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः इक्कीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः बीस सागरोपम की होती है।

मूल : **बावीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
अच्चुयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ।। २३३ ।।

संस्कृत : द्वाविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
अच्युते जघन्येन, सागराणि एकविंशतिः ।। २३३ ।।

मूल : **तेवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
पढमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ।। २३४ ।।

संस्कृत : त्रयोविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
प्रथमे जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ।। २३४ ।।

मूल : **चउवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ।। २३५ ।।

संस्कृत : चतुर्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
द्वितीये जघन्येन, त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि ।। २३५ ।।

मूल : **पणवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीसं सागरोवमा ।। २३६ ।।

संस्कृत : पञ्चविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
तृतीये जघन्येन, चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि ।। २३६ ।।

मूल : **छव्वीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणुवीसई ।। २३७ ।।

संस्कृत : षड्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
चतुर्थे जघन्येन, सागराणि पञ्चविंशतिः ।। २३७ ।।

मूल : **सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
पंचमम्मि जहन्नेणं, सागरा उ छवीसई ।। २३८ ।।

संस्कृत : सागराणि सप्तविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
पञ्चमे जघन्येन, सागराणि तु षड्विंशतिः ।। २३८ ।।

मूल : **सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ।। २३९ ।।

संस्कृत : सागराण्यष्टाविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
षष्ठे जघन्येन, सागराणि सप्तविंशतिः ।। २३९ ।।

२३३. अच्युत (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की, तथा जघन्यतः इक्कीस सागरोपम की होती है।

२३४. (ग्रैवेयकों-के प्रथम त्रिक के) प्रथम (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः तेईस सागरोपम की, तथा जघन्यतः बाईस सागरोपम की होती है।

२३५. (ग्रैवेयकों के प्रथम त्रिक के) द्वितीय (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः चौबीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः तेईस सागरोपम की होती है।

२३६. (ग्रैवयकों के प्रथम त्रिक के) तीसरे (देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः पच्चीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः चौबीस सागरोपम की होती है।

२३७. चतुर्थ (ग्रैवेयक लोक- अर्थात् द्वितीय त्रिक के प्रथम देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः छब्बीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः पच्चीस सागरोपम की होती है।

२३८. पंचम (ग्रैवेयक लोक- अर्थात् द्वितीय त्रिक के दूसरे देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः सत्ताईस सागरोपम की, तथा जघन्यतः छब्बीस सागरोपम की होती है।

२३९. छठे (ग्रैवेयक-लोक- अर्थात् द्वितीय त्रिक के तीसरे देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः अट्ठाईस सागरोपम की, तथा जघन्यतः सत्ताईस सागरोपम की होती है।

मूल : **सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई।। २४०।।

संस्कृत : सागराण्येकोनत्रिंशत्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सप्तमे जघन्येन, सागराण्यष्टाविंशतिः।। २४०।।

मूल : **तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई।। २४१।।

संस्कृत : त्रिंशत्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
अष्टमे जघन्येन, सागराणि एकोनत्रिंशत्।। २४१।।

मूल : **सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।**
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा।। २४२।।

संस्कृत : सागराणि एकत्रिंशत्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
नवमे जघन्येन, त्रिंशत्सागरोपमाणि।। २४२।।

मूल : **तेत्तीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।**
चउसुंपि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई।। २४३।।

संस्कृत : त्रयस्त्रिंशत् सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
चतुर्ष्वपि विजयादिषु, जघन्येनैकत्रिंशत्।। २४३।।

मूल : **अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा।**
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया।। २४४।।

संस्कृत : अजघन्याऽनुत्कृष्टा, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि।
महाविमाने सर्वार्थे, स्थितिरेषा व्याख्याता।। २४४।।

मूल : **जो चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया।**
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे।। २४५।।

संस्कृत : या चैव तु आयुःस्थितिः, देवानान्तु व्याख्याता।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्योत्कृष्टा भवेत्।। २४५।।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।**
विजढम्मि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं।। २४६।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये, देवानां भवेदन्तरम्।। २४६।।

२४०. सातवें (ग्रैवेयक लोक-अर्थात् उन्नीसवें देवलोक, या तीसरे त्रिक के प्रथम देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः उन्तीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः अट्ठाईस सागरोपम की होती है।

२४१. आठवें (ग्रैवेयक लोक- अर्थात् तीसरे त्रिक के द्वितीय देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः तीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः उन्तीस सागरोपम की होती है।

२४२. नवम् (ग्रैवेयक लोक-अर्थात् तीसरे त्रिक के तीसरे देव-लोक) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः इकतीस सागरोपम की, तथा, जघन्यतः तीस सागरोपम की होंती है।

२४३. चारों ही 'विजय' आदि (अनुत्तरविमानवासी देवों- विजय, वैजयन्त, जयन्त, और अपराजित) में (एकभवीय आयु-) 'स्थिति' उत्कृष्टतः तैंतीस सागरोपम की, तथा जघन्यतः इकतीस सागरोपम की होती है।

२४४. महाविमान 'सर्वार्थसिद्ध' (छब्बीसवें देव-लोक) में (आयु-'स्थिति' अजघन्य-अनुत्कृष्ट होती है) उनमें जघन्य-उत्कृष्ट भेद नहीं रहता, सब की एक-सी समान आयु होती है और तैंतीस सागरोपम- (प्रमाण यह 'स्थिति') होती है।

२४५. (समस्त) देवों की जो-जो आयु- स्थिति कही गई है, वही उनकी जघन्य या उत्कृष्ट 'काय-स्थिति' होती है।

२४६. देवों का- अपने देव-पर्याय से च्युत होकर (और कायों में उत्पन्न होकर, पुनः देव में उत्पन्न होने की स्थिति में, उनके उक्त निष्क्रमण व आगमन के मध्य का) 'अन्तर काल' उत्कृष्टतः अनन्त काल का, तथा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त का होता है।

मूल : **अणंतकालमुक्कोसं, वासपुहुत्तं जहन्नयं।**
आणयाईण देवाणं, गेविज्जाणं तु अंतरं।। २४७।।

संस्कृत : अनन्तकालमुत्कृष्टं, वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम्।
आनतादीनां देवानां, ग्रैवेयकानान्तु अन्तरम्।। २४७।।

मूल : **संखेज्जसागरुक्कोसं, वासपुहुत्तं जहन्नयं।**
अणुत्तराणं देवाणं, अंतरेयं वियाहियं।। २४८।।

संस्कृत : सङ्ख्येयसागरोत्कृष्टं, वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम्।
अनुत्तराणां देवानाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम्।। २४८।।

मूल : **एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ।**
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो।। २४९।।

संस्कृत : एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः।। २४९।।

मूल : **संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया।**
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहावि य।। २५०।।

संस्कृत : संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, इति जीवा व्याख्याताः।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च, अजीवा द्विविधा अपि च।। २५०।।

मूल : **इय जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य।**
सव्वनयाणमणुमए, रमेज्ज संजमे मुणी।। २५१।।

संस्कृत : इति जीवानजीवांश्च, श्रुत्वा श्रद्धाय च।
सर्वनयानामनुमते, रमेत संयमे मुनिः।। २५१।।

मूल : **तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिया।**
इमेण कमजोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी।। २५२।।

संस्कृत : ततो बहूनि वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य।
अनेन क्रमयोगेन, आत्मानं संलिखेन्मुनिः।। २५२।।

२४७-२४८. (यह कथन 'आनत' देवलोक से नीचे के देवलोक से सम्बन्धित समझना चाहिए) 'आनत' आदि, नव ग्रैवयक देवों व अनुत्तरविमानवासी देवों का जघन्यतः अन्तर-काल 'पृथक्' वर्ष-प्रमाण (२ से ९ तक की संख्या में) होता है, और उत्कृष्टतः अन्तर-काल 'आनत' आदि, नव 'ग्रैवयकों में अनन्त काल का, तथा अनुत्तर-विमानवासी देवों में संख्येय सागरों का होता है।

२४९. इन (देवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टियों से (तो) हजारों (अवान्तर) भेद हो जाते हैं।

२५०. इस प्रकार, संसारी और सिद्ध जीवों का निरूपण कर दिया गया है। रूपी और अरूपी-इन दो प्रकार के 'अजीवों' का (भी) कथन कर दिया गया है।

२५१. इस प्रकार, जीव व अजीव (के स्वरूपादि से सम्बन्धित उपर्युक्त समग्र कथन) का श्रवण कर तथा हृदय में (उसका श्रद्धान करके, (ज्ञान-नय, क्रिया-नय आदि के) अन्तर्गत-नैगमादि सभी नयों-दृष्टियों-से अनुमत मान्य एवं उत्सर्ग-अपवाद, विधि-निषेध के विचार-पूर्वक) संयम (चारित्र) में मुनि रमण करे- श्रद्धा व ज्ञान को चारित्र में परिणत करे।

२५२. इसके अनन्तर, अनेक वर्षों तक, श्रमण-धर्म (श्रमण-चर्या) का पालन कर, मुनि इस (वक्ष्यमाण) क्रम-योग से आत्मा को कृश करे- (संलेखना द्वारा) कषायों को कृश करे।

मूल : **बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे।**
संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ।। २५३ ।।

संस्कृत : द्वादशैव तु वर्षाणि, संलेखोत्कृष्टा भवेत्।
संवत्सरं मध्यमिका, षण्मासा च जघन्यका ।। २५३ ।।

मूल : **पढमे वासचउक्कम्मि, विगई-निज्जूहणं करे।**
बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ।। २५४ ।।

संस्कृत : प्रथमे वर्षचतुष्के, विकृतिनिर्यूहणं कुर्यात्।
द्वितीये वर्षचतुष्के, विचित्रं तु तपश्चरेत् ।। २५४ ।।

मूल : **एगंतरमायामं, कट्टु संवच्छरे दुवे।**
तओ संवच्छरद्धं तु, नाइविगिट्ठं तवं चरे ।। २५५ ।।

संस्कृत : एकान्तरमायामं, कृत्वा संवत्सरौ द्वौ।
ततः संवत्सरार्द्धन्तु, नातिविकृष्टं तपश्चरेत् ।। २५५ ।।

मूल : **तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे।**
परिमियं चेव आयामं, तम्मि संवच्छरे करे ।। २५६ ।।

संस्कृत : ततः संवत्सरार्द्धन्तु, विकृष्टन्तु तपश्चरेत्।
परिमितञ्चैवायामं, तस्मिन् संवत्सरे कुर्यात् ।। २५६ ।।

मूल : **कोडीसहियमायामं, कट्टु संवच्छरे मुणी।**
मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरे ।। २५७ ।।

संस्कृत : कोटीसहितमायामं, कृत्वा संवत्सरे मुनिः।
मासिकेनार्द्धमासिकेन तु, आहारेण तपश्चरेत् ।। २५७ ।।

मूल : **कंदप्पमाभिओगं च, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च।**
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ।। २५८ ।।

संस्कृत : कन्दर्पआभियोग्यञ्च किल्विषिकं मोह आसुरत्वञ्च।
एतास्तु दुर्गतयः, मरणे विराधिका भवन्ति ।। २५८ ।।

२५३. बारह वर्षों की संलेखना उत्कृष्ट (कोटि की) होती है। एक वर्ष की (संलेखना) मध्यम, तथा छः मास की (संलेखना) जघन्य (कोटि की) होती है।

२५४. (बारह वर्षों की उत्कृष्ट संलेखना के क्रम में मुनि को चाहिए कि वह) पहले चार वर्षों में (दूध आदि) विकृतियों का परित्याग करे, दूसरे चार वर्षों में (बेला, तेला आदि) विविध (या विचित्र) तपश्चर्याएं करे।

२५५. उसके बाद, दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास, फिर एक दिन आचाम्ल) करके, फिर छः महीनों तक कोई अतिविकृष्ट (विकट-चोला, तेला आदि) तपस्याएं न करे।

२५६. इस (प्रकार, साढ़े दस वर्षों के बीत जाने) के बाद, (मुनि) छः महीनों तक (तेला, चोला आदि) विकृष्ट तपस्याएं करे। उस (पूरे) वर्ष में (ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः महीनों में साधारण तपस्या करते हुए, तथा अन्तिम छः महीनों में विकट तपस्याएं करते हुए) 'परिमित' आचाम्ल (तप की पारणा पर सीमित आचाम्ल) करे। (उक्त कथन से यह भी ध्वनित होता है कि ग्यारहवें वर्ष में परिमित - थोड़े ही आचाम्ल करे, बारहवें वर्ष में तो निरन्तर आचाम्ल करे।)

२५७. (बारहवें) वर्ष में कोटि-युक्त (अर्थात् निरन्तर) आचाम्ल करे, (बारहवें वर्ष की समाप्ति से एक मास या पन्द्रह दिन पूर्व ही) पक्ष या एक मास के आहार (के त्याग) से (अनशन) तप करे (अर्थात् पाक्षिक या मासिक भक्त-प्रत्याख्यान-चतुर्विध आहार-त्याग, संथारा ग्रहण करे, और अंतिम आराधना में तत्पर हो)।

२५८. कान्दर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी - ये (पांच दुर्भावनाएं) दुर्गति (की कारण होने से दुर्गतिरूप) हैं, और मृत्यु (के समय) पर (संयम-चरित्र की) विराधिका होती हैं।

मूल : **मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।**
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ।। २५९ ।।

संस्कृत : मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदानाः खलु हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ।। २५९ ।।

मूल : **सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।**
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ।। २६० ।।

संस्कृत : सम्यग्दर्शनरक्ताः, अनिदानाः शुक्ललेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां सुलभा भवेद् बोधिः ।। २६० ।।

मूल : **मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।**
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ।। २६१ ।।

संस्कृत : मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदानाः कृष्णलेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ।। २६१ ।।

मूल : **जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।**
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ।। २६२ ।।

संस्कृत : जिनवचने ऽनुरक्ताः, जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।
अमला असंक्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ।। २६२ ।।

मूल : **बालमरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव य बहुयाणि।**
मरिहंति ते वराया, जिणवयणं जे न जाणंति ।। २६३ ।।

संस्कृत : बालमरणानि बहुशः, अकाममरणनि चैव च बहुकानि।
मरिष्यन्ति ते वराकाः, जिनवचनं ये न जानन्ति ।। २६३ ।।

मूल : **बहुआगमविन्नाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही।**
एएणं कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ।। २६४ ।।

संस्कृत : बहागमविज्ञानाः, समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः।
एतेन कारणेन, अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ।। २६४ ।।

२५९.(जीवन की अन्तिम बेला में) मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान-सहित या हिंसक (भावों से युक्त)- इस रूप में जो जीव मरण को प्राप्त होते हैं, उन्हें पुनः (पर-भव में) बोधि दुर्लभ होती है।

२६०.(किन्तु) सम्यग्दर्शन से अनुरक्त, निदान-रहित या शुक्ल लेश्या में अवगाढ़ (प्रविष्ट) -इस रूप में जो जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उन्हें आगे बोधि सुलभ होती है।

२६१.मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान-सहित, कृष्ण लेश्या में प्रविष्ट - इस रूप में जो जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उन्हें पुनः बोधि दुर्लभ होती है।

२६२.(किन्तु) जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं, तथा जिन-वचन को 'भाव' से (आचरित) करते हैं, वे निर्मल (मिथ्यात्व आदि भाव-मल से रहित) व (रागादि रूप) संक्लेश से रहित होकर 'परीत-संसारी' (अल्प या परिमित संसार-स्थिति वाले) होते हैं।

२६३.जो जिन-वचनों को नहीं जान पाए हैं - अनभिज्ञ रहे हैं, वे बेचारे (तो) अनेकों बाल-मरण और अनेकों (ही) अकाम-मरण रूप मृत्यु को प्राप्त कर रहे हैं (और प्राप्त करते रहेंगे)।

२६४.(चारित्र-शुद्धि हेतु पापों की आलोचना करनी हो तो) जो (व्यक्ति) अनेक आगमों के ज्ञाता हों, समाधि (चित्त की स्वस्थता) के उत्पादक हों तथा गुण-ग्राही हों, (वे ही) इन कारणों (योग्यता) से आलोचना सुनने के योग्य होते हैं (अर्थात् उक्त गुणों वाले व्यक्ति/गुरु के समक्ष ही आलोचना कर आत्म-शुद्धि करनी चाहिए)।

मूल : **कंदप्पकुक्कुयाइ तह, सीलसहावहासविगहाहिं।**
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ।।२६५।।

संस्कृत : कन्दर्पकौत्कुच्ये तथा, शीलस्वभावहास्यविकथाभिः।
विस्मापयन् च परं, कन्दर्पीं भावनां कुरुते।।२६५।।

मूल : **मंताजोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजंति।**
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ।।२६६।।

संस्कृत : मन्त्रयोगं कृत्वा, भूतिकर्म च यः प्रयुङ्क्ते।
सातरसर्द्धिहेतुः, आभियोगीं भावनां कुरुते।।२६६।।

मूल : **नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।**
माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ।।२६७।।

संस्कृत : ज्ञानस्य केवलिनां, धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम्।
मायी अवर्णवादी, किल्विषिकीं भावनां कुरुते।।२६७।।

मूल : **अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी।**
एएहिं कारणेहिं, आसुरियं भावणं कुणइ।।२६८।।

संस्कृत : अनुबद्धरोषप्रसरः, तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी।
एताभ्यां कारणाभ्याम्, आसुरीं भावनां कुरुते।।२६८।।

मूल : **सत्थगहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य।**
अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति।।२६९।।

संस्कृत : शस्त्र-ग्रहणं विष-भक्षणञ्च, ज्वलनञ्च जलप्रवेशश्च।
अनाचारभाण्डसेवी, जन्ममरणानि बध्नन्ति।।२६९।।

मूल : **इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।**
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए।।२७०।।
त्ति बेमि।

संस्कृत : इति प्रादुष्कृत्य बुद्धः, ज्ञातजः परिनिर्वृतः।
षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्, भव्यसिद्धिकसम्मतान्।।२७०।।
इति ब्रवीमि।

।। इति उत्तरज्झयणं सुत्तं समत्तं ।।
।। इत्युत्तराध्ययनं सूत्रं समाप्तम् ।।

२६५. कन्दर्प (काम-प्रधान चर्चा व कौत्कुच्य (हास्य-जनक कुचेष्टाएं) करता हुआ, तथा (अपने) 'शील' (निष्फल प्रवृत्ति), स्वभाव, हास्य व विकथाओं से अन्य (लोगों) को विस्मित करता हुआ (साधक) 'कान्दर्पी' भावना (का आचरण) करता है (कर रहा होता है)।

२६६. जो (साधक) सुख, (घृतादि) रस व ऐश्वर्य (की प्राप्ति) के उद्देश्य से मन्त्र-प्रयोग (या मन्त्र व तन्त्र का प्रयोग) और भूति-कर्म (भस्म आदि अभिमंत्रित कर प्रदान करने की क्रिया) को करता है, वह 'आभियोगी' भावना (का सेवन) करता है (या कर रहा होता है)।

२६७. (जो व्यक्ति) ज्ञान, केवली (सर्वज्ञ), धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं का अवर्णवाद (निन्दा आदि) करने वाला (होता है, वह) मायाचारी 'किल्विषिकी' भावना (का सेवन) करता है (या कर रहा होता है)।

२६८. (जो व्यक्ति) क्रोध की परम्परा को निरन्तर बनाये रखते हुए, तथा निमित्त (ज्योतिष आदि) विद्याओं का सेवन (अनुष्ठान आदि) करते हुए (वर्तता है, वह) इन (ही अनुचित) कारणों से 'आसुरी' भावना (का सेवन) करता है (या कर रहा होता है)।

२६९. शस्त्र-ग्रहण (शस्त्र-प्रयोग आदि से मरना), विष-भक्षण (कर मरना), अग्नि-पात कर मरना, जल में प्रवेश (कर-डूब कर मरना), तथा (साधु) आचार विरुद्ध भाण्ड-उपकरण रखना (-ये सब दुष्कर्म) जन्म-मृत्यु (की परम्परा-संसार) का बन्ध कराने वाले होते हैं।

२७०. इस प्रकार, भवसिद्धिक (अर्थात् भव्य जनों) के सम्मत (मान्य) (इन) छत्तीस उत्तराध्ययनों (श्रेष्ठ प्रकरणों) को प्रकट करके, बुद्ध, ज्ञातृवंशीय (भगवान् महावीर) निर्वाण को प्राप्त हुए।

-ऐसा मैं कहता हूँ।

❑❑

अध्ययन–सार :

आकाश दो प्रकार का है–लोक और अलोक। जहां कुछ भी नहीं है, न जीव है, न अजीव है, वह अलोक है। जीव-अजीव जहां रहते हैं, वह लोक है। सम्यक् प्रकार से यतना-सम्पन्न होने के लिये अनिवार्य है–जीव-अजीव-विभाग का ज्ञान। जीव-अजीव की प्ररूपणा द्रव्य-क्षेत्र- काल-भाव से होती है। अजीव, रूपी व अरूपी, दो प्रकार का है। रूपी के चार व अरूपी के दस भेद हैं। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श व संस्थान की दृष्टि से इनके अनेक रूप हैं। जीव दो प्रकार के हैं– संसारी और सिद्ध। क्षेत्र, काल, लिंग, तीर्थ, गति आदि की दृष्टि से सिद्धों के अनेक प्रकार हैं। वे लोकाग्र में ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी पर स्थित हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं:–त्रस और स्थावर। पृथ्वी, अप् व वनस्पतिकाय, ये स्थावर के तथा तेजस्, वायु काय और उदार, ये त्रस जीवों के भेद हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-संस्थान की दृष्टि से इनके अनेक भेद हैं। उदार त्रस जीवों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं। सभी के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं–नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। मुख्यत: नारकी सात, तिर्यंच व मनुष्य दो तथा देव चार प्रकार के होते हैं। आगे इन के और भी भेद-प्रभेद हैं।

इन सभी को जान कर मुनि संयम में रमण करे। संल्लेखना करे। सुलभ-बोधि बने। परिमित संसारी बने। पांच अशुभ व दुर्गतिकारक भावनायें होती हैं। इनसे सचेत रहे। अपना कल्याण करे। ये छत्तीस श्रेष्ठ अध्ययन उजागर कर सर्वज्ञ भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

❑❑

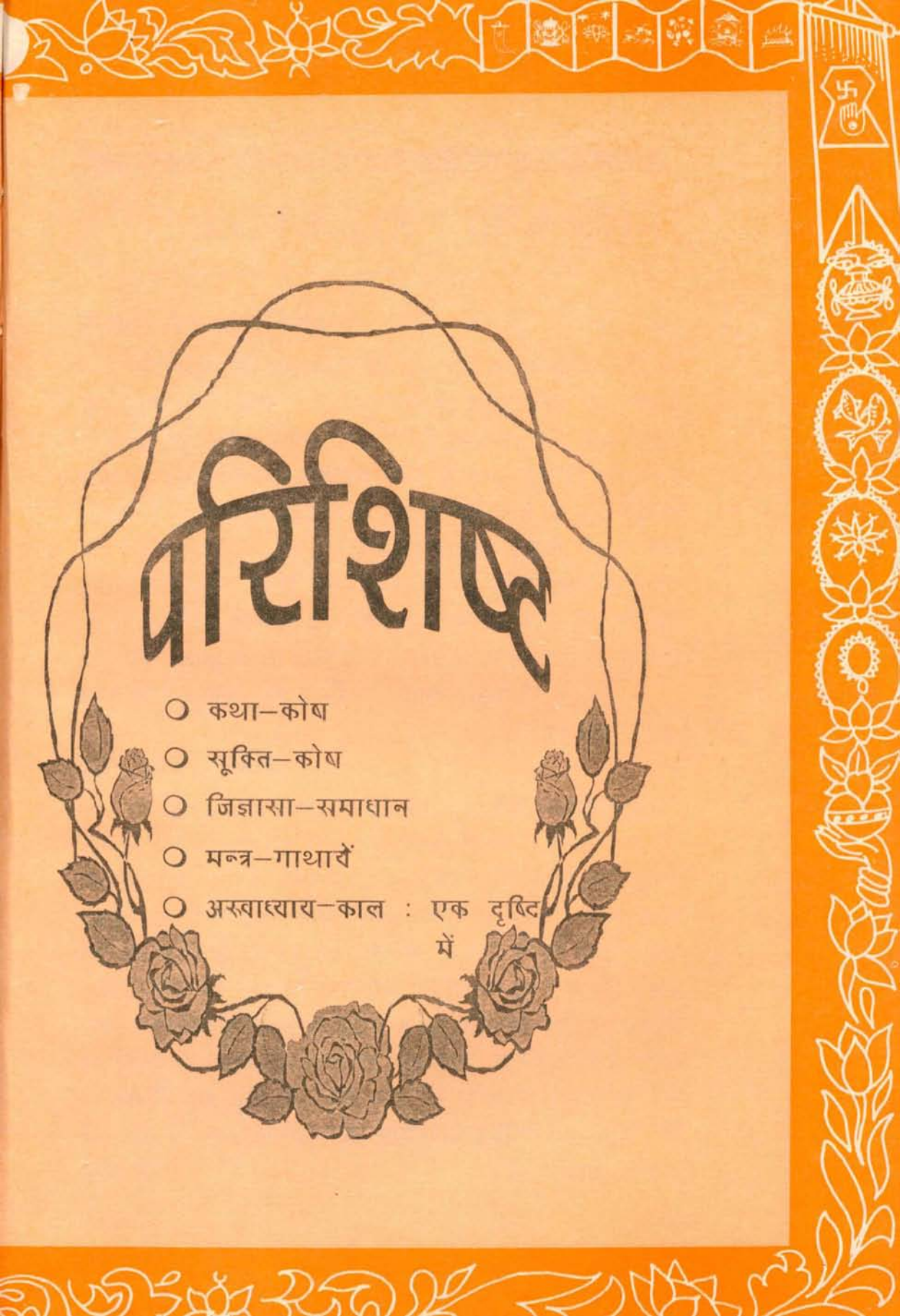

परिशिष्ट

- कथा–कोष
- सूक्ति–कोष
- जिज्ञासा–समाधान
- मन्त्र–गाथायें
- अस्वाध्याय–काल : एक दृष्टि में

उत्तराध्ययन सूत्र : कथा-कोष

विषयासक्ति का परिणाम

एक धनिक ने गाय-बछड़े और मेंढ़े, दोनों को पाला। वह मेढ़े को सुस्वादु/पौष्टिक आहार देता और बछड़े को रूखा-सूखा चारा। बछड़े ने अपनी मां से इस सौतेले व्यवहार की शिकायत की। गाय ने उसे समझाया और परिणाम की प्रतीक्षा करने को कहा। कुछ ही समय बाद धनिक के घर अतिथि आये तो खा-पीकर मोटे-ताजे हो चुके मेंढ़े को मार कर उसका मांस उन्हें परोसा गया। बछड़ा यह देख भय से कांप उठा। उसने अपनी मां से पूछा, "क्या मुझे भी यूं ही मारा जायेगा?" मां ने उत्तर दिया, "तुम ने तो रूखा-सूखा चारा खाया है। तुम नहीं मारे जाओगे।" सचमुच! जो इन्द्रियों के सुखों या काम-भोगों में आसक्त रहता है, उसे बड़ा दुःखद परिणाम भोगना पड़ता है।

(अध्ययन-7/1)

लोभ से क्या मिला !

एक भिखारी ने परदेश में जैसे-तैसे एक हज़ार कार्षापण(मुद्रा) इकट्ठे किये। लौटते हुए उसने एक कार्षापण अलग निकाला व शेष पोटली में बांध लिये। मार्ग में उसे भुनाया। उसकी बीस काकिणियां आयीं। उन में से उसने खर्च किया। आगे जाने पर उसे ध्यान आया कि एक काकिणी वह विश्राम-स्थल पर ही भूल आया। उसने पोटली वृक्ष के नीचे गढ़ा खोदकर गहरे छिपा दी। छिपाते हुए एक चोर ने उसे देख लिया। विश्राम-स्थल पर पहुंचा तो वह काकिणी नहीं मिली। लौटा तो पोटली भी गायब थी। उसने सर पीट लिया। सचमुच! लोभ व्यक्ति से उसकी मूल पूंजी भी छीन लेता है। सांसारिक सुखों की एक काकिणी के चक्कर में वह हज़ार कार्षापणों-सा दिव्य धर्म-आनन्द खो बैठता है।

(अध्ययन-7/11)

रसलोलुपता

एक राजा को आम बड़े प्रिय थे। अत्यधिक आम-सेवन से वह बीमार पड़ गया। उपचार से स्वस्थ करने वाले चिकित्सकों ने उसे आम न खाने को कहा। कुछ दिन बाद राजा व मंत्री जंगल में गये। राजा आम के पेड़ के नीचे, मंत्री के रोकने पर भी, सुस्ताने लगा। तभी एक आम राजा के निकट गिर पड़ा। सुगंध आई। प्रियतम स्वाद की कल्पना जागी। 'एक आम से कुछ नहीं बिगड़ेगा', राजा ने सोचा और खा लिया। खाते ही भयंकर उदर-शूल ने उसके प्राण ले लिये। सचमुच! रसलोलुपता दुर्लभ मानव-जीवन को खा जाती है। *(अध्ययन-7/11)*

दुर्लभ मनुष्य-जीवन

एक सेठ ने अपने तीनों पुत्रों को समान धन दे कर विदेश भेजा। बड़ा पुत्र विषय-भोगों में सारी पूंजी गंवा कर लौट आया। मंझले ने उसके ब्याज से निर्वाह किया और पूंजी ज्यों की त्यों ले आया। छोटे ने व्यापार द्वारा उसे कई गुना बढ़ाया। सेठ ने योग्यता परख कर छोटे को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। सचमुच! कुछ लोग मानव-जीवन-रूपी मूलधन नष्ट कर देते हैं। विषयासक्ति के परिणामस्वरूप वे नरक पाते हैं। कुछ पुनः मनुष्य-भव पा कर मूलधन को ज्यों का त्यों रखते हैं और कुछ तप-त्याग-संयम से मानव-जीवन-रूपी मूलधन को देव गति में रूपान्तरित कर मोक्ष (परम लाभ) की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

(अध्ययन-7/14)

परम सार्थकता

कौशाम्बी नगरी के काश्यप नामक स्वर्गीय राजपुरोहित के पुत्र कपिल ने नये राजपुरोहित की भव्य सवारी देख अपनी मां को रोते हुए पाया तो कारण पूछा। मां ने बताया, "तेरे पिता की सवारी भी यूं ही निकला करती थी। तू पढ़ा-लिखा होता तो राजपुरोहित तू ही बनता।" कपिल ने विद्वान् बनने का संकल्प करते हुए मां के आंसू पोंछे। दरिद्रता में उसके पिता के मित्र श्रावस्ती के उपाध्याय इन्द्र दत्त ने उसकी सहायता की। कपिल श्रावस्ती जाकर सुख-सुविधाओं सहित अध्ययन

करने लगा। एक दासी उसकी सेवा में रहने लगी। आरम्भ में वह ज्ञान-क्षेत्र में आगे बढ़ा किन्तु बाद में दासी के प्रेम में पड़ कर वह ज्ञान से विरक्त हो गया। एक उत्सव में भाग लेने के लिये दासी ने उस से धन की मांग की और उपाय बताया कि यहां का राजा नित्य प्रति प्रातः सर्वप्रथम आशीर्वाद देने वाले ब्राह्मण को दो माशा सोना देता है। कपिल सर्वप्रथम पहुंचने के लिये अर्द्धरात्रि में ही चल पड़ा। प्रहरियों ने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया। राजा के सम्मुख पेश किया। कपिल ने सब सत्य कह दिया। तब राजा ने उसे निर्दोष समझा। उसे मनचाही सम्पत्ति मांगने की छूट भी दी। राजा से विचार करने का समय लेकर कपिल सोचने लगा—मैं क्या मांगूं? उसके मन की मांग बढ़ती गई। बढ़ते-बढ़ते वह पूरा साम्राज्य मांगने तक जा पहुंची। तभी उसने अनुभव किया कि वह उपकारी का भी अपकार करने पर तुला है। धिक्कार है उसे। अंतर्नेत्रों से स्वयं को देखते-देखते कपिल को वहीं केवल ज्ञान हो गया।

देव-दुन्दुभियां बज उठीं। राजा यह देख मोक्ष-मार्ग-यात्री मुनि बन गया। कपिल केवली ने व्यापक धर्म-प्रभावना करते हुए अपना और दूसरों का उद्धार किया। सचमुच! मनुष्य अपनी वास्तविकता पहचान कर सम्यक् पथ पर अग्रसर हो जाये तो परम सार्थकता तक भी पहुंच सकता है। *(अध्ययन-8)*

सम्यक् बोध

मिथिला नगरी के राजा थे—नमि। वे दाहज्वर से आक्रान्त हो गये। छह माह तक दाहज्वर से पीड़ित मिथिलानरेश नमि को अन्ततः चिकित्सकों ने देह पर गोशीर्ष चन्दन-लेप करने का परामर्श दिया। राजा के लिये रानियां स्वयं चन्दन घिसने लगीं। उनके कंगन बजने लगे। यह शोर राजा को असह्य हो गया। राजा के मना करने पर रानियों ने सौभाग्य-सूचक एक-एक कंगन रख कर शेष सब उतार दिये। शोर बन्द होने का कारण राजा को ज्ञात हुआ तो सोचा—'जहां एक है, वहां न कोई पीड़ा है, न कोई शोर। शान्ति एक में ही है। आत्मा एकाकी रहे तो सभी पीड़ायें शान्त हों।' इस विचार से राजा स्वयं-संबुद्ध हुए।

दाह-ज्वर का शमन हो गया। पुत्र को राज-सिंहासन दे निर्ग्रन्थ बन गये। देवराज इन्द्र (शक्रेन्द्र) ने उनके वैराग्य की परख वार्ता द्वारा की। उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे। अन्ततः वार्ता में सांसारिकता पर सम्यक् दृष्टि की और श्रमण संस्कृति की विजय हुई। चार प्रत्येक बुद्धों में से एक नमि राजर्षि ने स्व-पर कल्याण किया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। सचमुच! सम्यक् बोध मिल जाये तो परम कल्याण दूर नहीं रह जाता।

(अध्ययन-9)

हरिकेशबल मुनि

मृतगंगा नदी के तट पर स्थित चाण्डाल बस्ती में हरिकेश गोत्रीय 'बलकोट्ट' नामक चाण्डाल की पत्नी गांधारी के गर्भ से हरिकेशबल नामक कुरूप बालक ने जन्म लिया। बड़ा होने पर कुरूपता व क्रोधी स्वभाव के कारण वह सबका उपेक्षा-पात्र बना। एक उत्सव में बच्चों को खेलते देखते हुए वह एक ओर बैठा था। देखा कि एक विषधर निकला। सबने उसे मार दिया। दूसरा (दुमुही या अलसिया नामक) विषरहित सर्प निकला तो उसे जीवित ही दूर छोड़ दिया। हरिकेशबल ने सोचा-'सर्प का वास्तविक शत्रु विष है और मेरा क्रोध।' तब उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। ज्ञान से जाना कि रूप व जाति-मद के कारण वह निम्न कुल, देह व स्वभाव का पात्र बना। वैराग्य जागा। दीक्षा ली। वाराणसी में उनकी साधना से अभिभूत तिन्दुक यक्ष उनकी सेवा में रहने लगा। यक्षमन्दिर में पूजा हेतु आई राजकुमारी भद्रा ने ध्यानस्थ मुनि की कुरूपता से घृणापूर्वक उन पर थूक दिया। यक्ष राजकुमारी की देह में प्रविष्ट हुआ। वह बीमार हो गई। असफल उपचारों से चिंतित राजा कौशलिक को यक्ष ने सत्य बताया। कहा कि मुनि से विवाह करने पर ही वह स्वस्थ होगी। राजा उसे लेकर मुनिश्री के चरणों में आया। सम्यक्-चारित्र-संपन्न मुनिराज ने कहा-संसार की सभी स्त्रियां मेरी माता-बहिन हैं। राजकुमारी स्वस्थ हुई। मुनि-त्यक्त राजकुमारी का विवाह राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण से कर दिया गया। ब्राह्मण ने विशाल यज्ञ किया। मासखमण के पारणे हेतु मुनिराज उसी यज्ञशाला में पहुंचे। वहां ब्राह्मणों ने अपमान करते हुए उन्हें खदेड़ने का प्रयास किया तो यक्ष फिर कुपित हो गया। उस ने मुनि का अपमान करने वालों

को मारा। उनके मुख से रक्त बहने लगा। रक्त-वमन करते हुए उन्होंने क्षमा मांगी। ब्राह्मण स्वस्थ हुए। राजकुमारी ने मुनिराज का प्रभा-परिचय वहां आकर सभी को दिया। आहार हेतु प्रार्थना की। भिक्षा ग्रहण कर मुनि चले गये। निरन्तर साधना से उन्होंने कैवल्य व मुक्ति पाई। सचमुच! जाति व रूप से कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। परम पद के अधिकारी सभी हैं। *(अध्ययन- 12)*

विषयासक्ति और सम्यक् साधना

चित्त व सम्भूति वाराणसी के समृद्ध चाण्डाल भूतदत्त के पुत्र थे। राजा शंख ने मंत्री नमुचि को अपनी रानी पर कुदृष्टि रखने के कारण प्राण-दण्ड सुनाया। यह दायित्व उसने भूतदत्त को सौंपा। वध-स्थल पर पहुंचकर नमुचि ने भूतदत्त से उसके पुत्रों को पढ़ाने का प्रस्ताव रखा तथा उसे प्राण दण्ड न देने को कहा। भूतदत्त ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। तब नमुचि तलघर में रहते हुए चित्त-सम्भूति को विद्या-अध्ययन कराने लगा। दोनों अध्ययन में आगे बढ़ने लगे। कालान्तर में नमुचि चाण्डाल-पत्नी पर कुदृष्टि रखने लगा। भूतदत्त को पता लगा तो उसने नमुचि को पुनः प्राण-दण्ड देने की सोची। तब नमुचि को चित्त-सम्भूति ने सुरक्षित भगा दिया। आगे जाकर वह हस्तिनापुर के राजा सनत्कुमार का मंत्री बन गया। राज्य में वसन्तोत्सव था। चित्त-सम्भूति ने अपनी गायन-प्रतिभा की धाक जमा दी तो जाति-द्वेषियों ने दोनों को अपमानित किया। दोनों ने वेश बदल कर पुनः सबको आकर्षित किया। भेद खुलने पर उन्हें इस बार मारा-पीटा भी गया। दोनों आत्महत्या करने पर्वत-शिखर पर गये तो एक मुनि से मानव-भव का महत्त्व जान कर दीक्षा ले ली। कठोर साधना से अनेक लब्धियां पाईं। विचरते हुए दोनों मुनि हस्तिनापुर पहुंचे। वहां भिक्षार्थ जाते हुए सम्भूति मुनि को नमुचि ने पहचानकर उन्हें प्रताड़ित करवाया ताकि वे उसका भेद न खोल दें। मुनि ने समता से प्रताड़ना सही किन्तु प्रताड़ना बढ़ती गई तो तेजोलेश्या छोड़कर उन्होंने नगर को दग्ध कर दिया। राजा-रानी सहित सभी ने क्षमा मांगी। चित्त मुनि ने भी समझाया तो उनका क्रोध शान्त हुआ। राजा-रानी चरणों में गिरे। रानी के स्निग्ध

केश मुनि के चरणों को छू गये। सम्भूति मुनि का मन डोला। निदान किया कि साधना का फल मुझे भोग-वैभव-रूप में मिले। आयुष्य पूर्ण कर दोनों भाई देव बने। फिर सम्भूति कांपिल्यपुर नरेश ब्रह्म की रानी चुलनी के गर्भ से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में जन्मे। चित्त पुरिमताल के श्रेष्ठी के घर पुत्र-रूप में जन्म लेकर मुनि बने। राजा ब्रह्मदत्त को नाटक देखते हुए जातिस्मरण ज्ञान हुआ। जाना कि चित्त गत पांच भवों के साथी हैं। उन्हें खोजने के लिए आधा श्लोक बनाकर घोषित किया कि जो इसे पूरा करेगा, आधा राज्य पायेगा। चित्त मुनि जब कांपिल्यपुर पधारे तो उन्होंने श्लोक पूरा किया। उनसे राजा ब्रह्मदत्त ने राज-भोग भोगने की प्रार्थना की। मुनि श्री ने उन्हें सम्यक् मार्ग पर आने की प्रेरणा दी पर वे नहीं समझे। दोनों अपने-अपने ढंग से जीते रहे। मुनिराज आयुष्य पूर्ण कर मोक्ष और राजा सप्तम् नरक में गये। सचमुच! विषयासक्ति चरम विनाश और सम्यक् साधना परम मंगल है।

(अध्ययन-13)

इषुकार नगर की छह वन्दनीय आत्मायें

इषुकार नगर के समृद्ध राजपुरोहित भृगु व उनकी पत्नी यशा संतानहीन थे। दो देवों ने श्रमण-रूप में आकर उन्हें बताया कि उनके दो पुत्र होंगे जो बाल-अवस्था में मुनि बन जायेंगे। यथा समय पुत्रों का जन्म हुआ। पुत्रों के बड़ा होने पर भृगु ने उन्हें कहा कि मुनि लोग झोली में शस्त्र रखते हैं। बच्चों को मारते हैं। उनसे दूर रहना। एक बार दोनों पुत्र जंगल में गये। उन्होंने दूर से मुनि देखे। वे डर कर पेड़ पर चढ़ गये। पेड़ के नीचे ही मुनि आ ठहरे। बच्चों ने देखा कि मुनि चींटियों तक को बचा रहे हैं। चिंतन गतिशील होने पर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उन्होंने जाना कि वे स्वयं भी मुनि थे। फिर देव बने। फिर भृगु व यशा के पुत्र। शिवभद्र व यशोभद्र नामक दोनों कुमारों ने मुनि-दीक्षा का संकल्प किया। माता-पिता ने उन्हें रोकने का प्रयास किया किन्तु बालक अविचल रहे। अन्ततः भृगु व यशा ने भी दीक्षा संकल्प किया। अपनी सारी सम्पत्ति राज-कोश हेतु भेज दी। सम्पत्ति देख रानी कमलावती को वैराग्य हुआ। उसने सोचा-जब पुरोहित व उसका परिवार दीक्षा ले रहा है तो हम ही भोगों में क्यों फंसे रहें! फिर रानी

ने राजा को समझाया। रानी की सम्यक् वार्ता से राजा इषुकार को वैराग्य हुआ। एक साथ छहों भव्य आत्माओं ने अभिनिष्क्रमण किया। दीक्षा ली। साधना की। छहों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। सचमुच! सारी सम्पत्ति, सारे सम्बन्ध और सारे सुख-भोग आत्मा के लिए पराये होते हैं। *(अध्ययन- 14)*

संजय राजर्षि

काम्पिल्य नगर के राजा थे संजय। एक बार वे केसर नामक वन में शिकार खेलने गये। एक मृग को राजा ने बाण मारा और उसका पीछा करते-करते वे श्रमण-श्रेष्ठ ध्यानलीन गर्धभाली मुनि के पास पहुंचे। मृग ने वहां दम तोड़ दिया। राजा यह सोचकर कि मृग मुनिराज के हैं, मुनि-श्राप से भयभीत हो गये। मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने पर राजा ने क्षमा व अभय देने की प्रार्थना की। मुनिराज ने सम्यक् पथ उन्हें दिखाया। उन्होंने दीक्षा ली। एक बार संजय राजर्षि को क्षत्रिय मुनि मिले। उन दोनों में परस्पर ज्ञान की गम्भीर वार्तायें हुईं। क्षत्रिय मुनि प्रभावित हुए। संजय राजर्षि ने साधना की। निज-पर कल्याण किया। सचमुच! सम्बोधि-प्राप्ति से हिंसक, अहिंसक और उन्मार्गी, दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाने वाले बन जाते हैं। *(अध्ययन- 18)*

भरत चक्रवर्ती

वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पुत्र व बारह चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे भरत। उन्हीं के नाम पर यह देश भारत कहलाया। सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर उनका स्वामित्व था। चौदह रत्न व नव निधियां उन्हें समृद्ध करती थीं। अपार ऐश्वर्य के स्वामी भरत को एक बार तीन शुभ संवाद एक साथ मिले। उन्होंने आयुधशाला में चक्र-रत्न अवतरित होने व पुत्र-रत्न प्राप्त होने के समारोह बाद में और भगवान् ऋषभदेव के केवल ज्ञान का महोत्सव पहले मनाया। एक दिन शीशमहल में अपने सौन्दर्य पर मुग्ध होते हुए उन्होंने देखा कि अंगूठी कहीं गिर जाने के कारण एक उंगली श्री-हीन हो गई है। एक-एक कर सारे आभूषण उन्होंने उतार डाले और पाया

कि उनका सौंदर्य आभूषणों पर निर्भर है। चिन्तन गतिशील हुआ। शरीर व संसार की नश्वरता अनुभव की। वहीं सब कुछ त्याग दिया। ज्ञान-दर्शन-चारित्र व मोक्ष की ओर बढ़े। केवल ज्ञान पाया। अनेक वर्षों तक ज्ञान-सुधा से धरा सिंचित् की। अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

(अध्ययन-18/34)

सगर चक्रवर्ती

भगवान् ऋषभदेव के इक्ष्वाकु वंश व अयोध्या में युवराज सुमित्र व युवराज्ञी यशोमती के घर सागर-पर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने वाले द्वितीय चक्रवर्ती जन्मे। द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ ने अपने चचेरे भाई व युवराज सगर को शासन सौंप कर दीक्षा ली थी। सम्राट् सगर ने विशाल सेना सहित छहों खण्डों पर विजय पताका फहरा कर विश्व को एक सूत्र में पिरोया। उनके साठ हज़ार पुत्र थे। एक बार वे अष्टापद पर्वत पहुंचे। उस की सुरक्षा के लिये पर्वत के चारों ओर दण्डरत्न से खाई खोदने लगे। खाई इतनी गहरी खुदी कि पृथ्वी के नीचे नागकुमार देवों के भवन क्षतिग्रस्त होने लगे। वे कुपित हुए। दृष्टि-विष सर्पों के माध्यम से सभी को स्वाहा कर दिया। साठ हज़ार पुत्रों के वियोग ने सम्राट् सगर को शोकाकुल कर दिया। उन्होंने अनुभव किया-'एकोऽहं' अर्थात् मैं अकेला हूं। ममत्व छूट गया। आंसू सूख गये। श्रमण-दीक्षा ली। कठोर साधना की। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर वे परम सार्थकता पा गए। *(अध्ययन-18/35)*

मघवा चक्रवर्ती

तृतीय चक्रवर्ती सम्राट् मघवा श्रावस्ती-नरेश समुद्रविजय व महारानी भद्रा के यहां जन्मे। पिता के छोटे से राज्य को इन्होंने अपने पराक्रम से छह खण्ड के साम्राज्य में रूपान्तरित किया। विश्व के सर्वोत्तम कहे जाने वाले सुख भोगते हुए इन्होंने आचार्य धर्मघोष का प्रवचन सुन सत्य को पहचाना। विरक्त हुए और साम्राज्य को एक क्षण में छोड़ कर श्रमण-धर्म के महामार्ग पर बढ़ चले। शुद्ध संयम की आराधना की। अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। अन्त में आयुष्य पूर्ण कर तृतीय देवलोक में सनत्कुमार देव-रूप में जन्म लिया। अगले ही भव में वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे। *(अध्ययन-18/36)*

सनत्कुमार चक्रवर्ती

हस्तिनापुर नरेश अश्वसेन व महारानी सहदेवी के पुत्र चतुर्थ चक्रवर्ती सम्राट् सनत्कुमार थे। अन्य चक्रवर्तियों के समान उनके जन्म से पूर्व उनकी माता ने भी चौदह शुभ स्वप्न देखे थे। सनत्कुमार अलौकिक देह-सौंदर्य से सम्पन्न थे। चक्र-रत्न-सम्पन्न दिग्विजयी सम्राट् के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा सौधर्मेन्द्र ने देवलोक में करते हुए कहा–सनत्कुमार का सौंदर्य अनुपम है। दो देव ब्राह्मण-रूप में सम्राट् सनत्कुमार को देखने आये। तैल-मर्दन कराते सम्राट् को देख देव विस्मय-विमुग्ध रह गये। सम्राट् ने कहा, "अभी क्या देखा है! मेरा रूप तो राज-सभा में देखना।" ब्राह्मण राज-सभा में गये। चक्रवर्ती को देख कर वे बोले, "अब पहले वाली बात नहीं।" सम्राट् ने कारण पूछा तो उन्होंने कहा, "अपना थूक देखो।" सम्राट् ने थूक कर देखा तो थूक में खून व कीड़े दिखाई दिये। उन्हें तत्क्षण विरक्ति हो गई। साम्राज्य छोड़ दीक्षा ले ली। कठोर साधना से अनेक लब्धियां पाईं। देवलोक में उनकी तितिक्षा व समता की प्रशंसा होने लगी। इस बार वही दो देव वैद्य-रूप में परीक्षा लेने आये। उन्होंने अनेक व्याधियों से ग्रस्त मुनि सनत्कुमार की देह को स्वस्थ करने को कहा तो मुनिराज बोले–कर्म-रोग की दवा हो तो दे दो। देवों ने अपनी असमर्थता व्यक्त की। मुनि ने तभी अपना थूक लगा कर चर्म-रोग ठीक कर दिया। काया पुनः कुन्दन सी दमक उठी। देव चकित हो 'धन्य-धन्य' कहते चले गये। अनेक व्याधियों में साम्य भाव रखते हुए मुनि सनत्कुमार ने देह त्याग कर तृतीय देवलोक में जन्म लिया। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे। तत्पश्चात् सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे। *(अध्ययन-18/37)*

भगवान् श्री शान्ति नाथ चक्रवर्ती

लौकिक व धार्मिक, दोनों क्षेत्रों में शिखर पर सुशोभित पंचम चक्रवर्ती सम्राट् और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ को जन्म देने का गौरव हस्तिनापुर नरेश विश्वसेन व महारानी अचिरा देवी को मिला। गर्भ में आते ही चतुर्दिक् फैली महामारी के शान्त होने से 'शांति' उनके नामकरण का आधार बना। इस से पूर्व भव में सर्वार्थ सिद्ध विमान के

वे देव थे। उस से पूर्व वे मेघरथ नामक राजा रहे जो करुणा के साक्षात् प्रतिरूप थे। सम्राट् मेघरथ ने शरणागत कबूतर की शिकारी बाज से रक्षा करने के लिये बाज को अपनी देह का मांस स्वयं काट कर दिया। देव-माया से वजन बराबर न होने पर अंततः वे स्वयं पलड़े में बैठ गये। परीक्षा लेने आया देव पराजित होकर चरण-नत हुआ। महाराज मेघरथ की त्रिलोक व्यापी जय-जयकार हुई। उसी भव में उन्होंने तीर्थंकर नाम-गोत्र उपार्जित किया। शांतिनाथ भव में हस्तिनापुर-नरेश बनने पर छह खण्डों पर विजय पताका फहरा कर चक्रवर्ती पद पाया। सुदीर्घ काल तक राजनीति का आदर्श जीने के उपरान्त लोकांतिक देवों की प्रार्थना पर राज्य समृद्धि त्याग कर श्रमण-दीक्षा ली। अल्प काल में ही कैवल्य-ज्ञान का परम प्रकाश पाया। चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना कर सुदीर्घ काल तक जीव-जीव का कल्याण किया। अन्त में सम्मेद शिखर पर नौ सौ सन्तों के साथ देह विसर्जित की और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

(अध्ययन-18/38)

भगवान् श्री कुन्थुनाथ चक्रवर्ती

हस्तिनापुर के ईक्ष्वाकुवंशीय सम्राट् सूर एवम् महारानी शिवादेवी के पुत्र और परम गौरव थे–कुन्थनाथ। प्रभु के गर्भ में आते ही हस्तिनापुर राज्य के विरोधी सभी राजा कुन्थु के समान निस्तेज हो गए। इस कारण उनका नाम कुन्थुनाथ रखा गया। हस्तिनापुर सम्राट् के रूप में महाराज कुन्थुनाथ ने छह खण्डों का स्वामित्व पाकर पृथ्वी को सुव्यवस्थित शासन प्रदान किया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से जगत्-कल्याण के लिये महान् ऋद्धि-समृद्धि को तृणवत् त्याग कर आर्हती दीक्षा अंगीकार की। अल्प समय में कैवल्य पाया। धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। रूखी-सूखी धरा पर धर्म-सुधा बरसाई। एक हज़ार सन्तों के साथ सम्मेद शिखर पर देह विसर्जित की। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो उन्होंने परम पद पाया।

(अध्ययन-18/39)

भगवान् श्री अरनाथ चक्रवर्ती

सातवें चक्रवर्ती सम्राट् श्री अरनाथ को जन्म देने का सौभाग्य हस्तिनापुर नरेश सुदर्शन व महारानी देवी को प्राप्त हुआ था। उनके गर्भ में आने पर चौदह महास्वप्नों के साथ-साथ रत्नमयी आरक को देखने पर महारानी ने पुत्र-नामकरण प्रस्तुत किया। राजा बनने पर अरनाथ ने सम्पूर्ण पृथ्वी को एक सूत्र में पिरोने का महती कार्य छह खण्डों पर स्वामित्व पाकर किया। अनेक वर्षों तक राज्य किया। लोकांतिक देवों की प्रार्थना पर वर्षीदान करते हुए संपूर्ण वैभव का सुख त्यागा। महाभिनिष्क्रमण कर संयम-पथ पर बढ़े। शिखर तक पहुंचे। कैवल्य पाया। धर्म-तीर्थ स्थापित किया। अनेक भव्य जीवों को भव-सागर से तारा। एक हज़ार श्रमणों के साथ सम्मेद शिखर पर नश्वर देह विसर्जित की। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। *(अध्ययन-18/40)*

महापद्म चक्रवर्ती

ईक्ष्वाकुवंशीय, हस्तिनापुर-नरेश पद्मोत्तर व महारानी ज्वाला ने चौदह महास्वप्न देख कर महापद्म को जन्म दिया। आचार्य धर्मघोष का प्रवचन सुन उनके बड़े भाई विष्णुकुमार व पिता, दोनों मुनि बन गये। मुनि विष्णुकुमार को कठोर साधना से अनेक लब्धियां प्राप्त हुईं। महापद्म ने राजा बन कर छह खण्डों पर शासन स्थापित किया। महापद्म चक्रवर्ती के शासन में सिंहबल नामक लुटेरे ने अशान्ति फैलायी थी, जिसे पकड़ा न जा सका। नमुचि नामक श्रमण-द्वेषी व्यक्ति ने उसे छल-बल से पकड़ लिया और सम्राट् का विश्वास पात्र बना। पुरस्कार में सम्राट् ने मंत्री-पद और एक मुहमांगा वचन प्रदान किया। एक बार महाश्रमण सुव्रताचार्य अपने शिष्यों सहित हस्तिनापुर पधारे। नमुचि ने सम्राट् से मुंहमांगे वचन के रूप में एक सप्ताह का शासन मांगा। शासक बन कर उसने सभी श्रमणों को अपनी राज्य-सीमा से निकल जाने या मृत्यु-दण्ड स्वीकार करने की आज्ञा दी। सात दिन की निर्धारित सीमा से पूर्व ही मुनि विष्णुकुमार लब्धि-बल से हस्तिनापुर पहुंचे। बहुत समझाने पर नमुचि ने तीन पग भूमि श्रमणों को

दी। विष्णुकुमार मुनि ने अपनी देह एक लाख योजन लम्बी-चौड़ी बना कर एक पांव चूलहेम पर्वत तथा दूसरा जम्बू-द्वीप की जगती पर रख कर तीसरा कदम रखने की जगह मांगी। नमुचि भयभीत हो कर छिप गया। श्रमणों पर आई विपत्ति दूर हुई। महापद्म चक्रवर्ती ने नमुचि को देशनिकाला दिया। लम्बे समय तक शासन कर सम्राट् को मुनि प्रवचन से वैराग्य हुआ। महान् ऋद्धि-समृद्धि छोड़ कर दीक्षा ली। दस हज़ार वर्ष तक संयम पाला। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो उन्होंने परम पद को प्राप्त किया। *(अध्ययन-18/41)*

हरिषेण चक्रवर्ती

काम्पिल्यपुर के महाराजा महाहरि व महारानी मेरा के यहां हरिषेण चक्रवर्ती जन्मे। पिता के प्रव्रजित होने पर वे राजा बने। छह खण्डों पर आधिपत्य स्थापित किया। दसवें चक्रवर्ती सम्राट् रूप में अनेक वर्षों तक विपुल ऐश्वर्य भोगा। अंततः विरक्ति हुई। राज-पाट छोड़ मुनि बने। संयम-साधना की। कैवल्य पाया। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

(अध्ययन-18/42)

जय चक्रवर्ती

ग्यारहवें चक्रवर्ती जय, राजगृह के राजा समुद्रविजय व रानी वप्रा के यहां जन्मे। राजा बनकर छह खण्डों पर अखण्ड शासन स्थापित किया। देव-दुर्लभ सुख भोगे। प्रतिबोधित होकर श्रमण-धर्म अंगीकार किया। एक हज़ार अन्य राजा भी संयम पथ पर उनके साथ अग्रसर हुए। श्रमण श्रेष्ठ जय ने साधना-पराक्रम से कैवल्य पाया। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर वे परम पद पर आसीन हुए।

(अध्ययन-18/43)

दशार्णभद्र राजा

दशार्णपुर-अधिपति महाराज दशार्णभद्र भगवान् महावीर के अनन्य उपासक थे। एक बार प्रभु दशार्णपुर पधारे तो अभूतपूर्व तथा अद्वितीय ऐश्वर्य के साथ प्रभु-दर्शन की इच्छा राजा के मन में जागी। वे अपने समस्त सैन्य, मंत्री, सभासद, श्री के बल के साथ प्रभु-दर्शन करने गये।

इन्द्र ने प्रभु-भक्ति को अहं-रहित करने के लिये कैलाश पर्वत जितने ऊंचे चौंसठ हाथियों व सभी के आठ-आठ दांतों पर नृत्यलीन देवबालाओं की विकुर्वणा की व विशाल ऋद्धि सहित दशार्णभद्र राजा के सामने आकाश से उतरे। इन्द्र वैभव के सम्मुख राजा का ऐश्वर्य फीका पड़ गया। दोनों समवशरण में पहुंचे। राजा ने प्रभु-सान्निध्य में श्रमण-दीक्षा का गौरव प्राप्त किया। इन्द्र आये। उनके चरणों में झुक गये। बोले—मैं आप की समानता नहीं कर सकता। राजा दशार्णभद्र ने साधना की। कैवल्य पाया। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

(अध्ययन-18/44)

प्रत्येकबुद्ध करकण्डू

प्रत्येकबुद्ध करकण्डू कलिंग नरेश दधिवाहन व महारानी पद्मावती के पुत्र थे। जब वे गर्भ में थे तो माता गर्भावस्था में उत्पन्न दोहद पूर्ण करने राजा के साथ वन-विहार को गईं। उनका पट्टहस्ति मदमत्त हो दौड़ने लगा। महाराज ने आगामी वृक्ष की शाखायें महारानी से मजबूती के साथ पकड़ने को कहा ताकि हाथी नीचे से निकल जाये और वे बच जायें। महाराज ने शाखा पकड़ ली परन्तु महारानी न पकड़ सकीं। रानी हाथी पर ही रह गयीं। आगे एक जलाशय के पास हाथी रुका। वे उतरीं। जंगल में राह ढूंढ़ते उन्होंने एक तापस से पथ-ज्ञान पाया। तापस ने उन्हें भद्रपुर तक पहुंचाकर दन्तपुर होते हुए राजधानी चम्पानगरी पहुंचने को कहा। दन्तपुर पहुंच कर उन्हें जैन साध्वियों के दर्शन का सौभाग्य मिला। दर्शन से वैराग्य मिला। वैराग्य के आवेग में अपनी गर्भावस्था भूल कर उन्होंने दीक्षा ली। प्रवर्तिनी आर्या को पता चला तो उन्हें खेद हुआ। अन्ततः एक श्रमणोपासिका के घर प्रसव-व्यवस्था करवा दी। वहां करकण्डू जन्मे। उन्हें वे श्मशान में एक घास-फूस के बिछौने पर लिटा छिप गईं। श्मशान रक्षक चाण्डाल ने शिशु को देखा तो देव-प्रसाद-रूप में शिशु स्वीकार कर लिया। साध्वियां निश्चिंत लौटीं। विमाता का दूध पीने से उसे सूखी खुजली हो गई। इस कारण शिशु को करकण्डू नाम मिला। करकण्डू बड़ा होकर श्मशान-रक्षा करने लगा। एक बार श्मशान में ध्यान हेतु आये दो मुनियों की वार्ता से उसने जाना कि 'इस बांस के वृक्ष का दण्ड अपने पास

रखने वाला राजा होगा।' एक ब्राह्मण-पुत्र ने भी यह सुना। उस वृक्ष को लेकर उसके व करकण्डू के मध्य विवाद हुआ। न्यायाधीश ने कहा–राजा बनने पर ब्राह्मण-पुत्र को एक गांव दे देना। यह वचन लेकर बांस का दण्ड करकण्डू को दिया। ब्राह्मणों की शत्रुता के कारण चाण्डाल-परिवार को वह नगर छोड़ना पड़ा। यह परिवार कांचनपुर पहुंचा। कांचनपुर के नि:संतान राजा के देहावसान पर निश्चित हुआ कि पट्टहस्ति जिसे फूलमाला पहना देगा, वही राजा होगा। हाथी ने माला करकण्डू के गले में डाल दी। वह राजा बन गया। ब्राह्मण-पुत्र को पता चला तो उसने एक गांव-विशेष मांगा, जो महाराज दधिवाहन की राज्य-सीमा में था। राजा करकण्डू ने उस गांव के बदले अपने राज्य का गांव लेने का प्रस्ताव महाराजा को दिया, जिसे अपमान समझ वे युद्ध हेतु आ डटे। सूचना पाकर दोनों सेनाओं के बीच महासती पद्मावती पहुंची और पिता-पुत्र का मिलन कराया। दधिवाहन ने पुत्र को राज्य सौंपा। दीक्षा ली। सम्राट् करकण्डू ने गो-वंश की विशेष सेवा की। एक बछड़ा उन्हें बहुत प्यारा था। उस का पूरा ध्यान रखने की आज्ञा दी। मां का पूरा दूध पीकर हृष्ट-पुष्ट होते बछड़े को देख राजा के नेत्र शीतल होते। समय अभाव में करकण्डू कई वर्ष तक गोशाला नहीं आ सके। जब आये तो वह बैल बूढ़ा व अशक्त हो चुका था। यह देख वे विरक्ति से भर गये। उन्होंने दीक्षा ले ली। वे स्वयंबुद्ध बने। उन्होंने कठोर साधना से कैवल्य प्राप्त किया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। *(अध्ययन-18/46)*

पांचाल–नरेश द्विमुख

पांचाल देश में काम्पिल्यपुर-नरेश जय वर्मा महारानी गुणमाला सहित श्री-सम्पन्न नगर के सुख भोगा करते थे। नगर-सौंदर्य में चित्रशाला के अभाव की ओर एक विदेशी दूत द्वारा संकेत किये जाने पर उन्होंने मनोरम चित्रशाला बनवाई, जिसकी नींव खोदते हुए बहुमूल्य मुकुट निकला। उसके हीरे-मोतियों की प्रभा में राजा के दो मुख दिखाई दिया करते, जिसके कारण वे राजा द्विमुख नाम से प्रसिद्ध हुए। नगर में अष्ट-दिवसीय इन्द्रध्वज महोत्सव था। उन्हें इन्द्रध्वज के सौंदर्य ने

अभिभूत कर दिया। महोत्सव-समाप्ति के कुछ दिन बाद उन्होंने उसी इन्द्रध्वज को एक ठूंठ के रूप में बालकों द्वारा घसीटे जाते देखा। नश्वरता पर चिंतन करते हुए वे विरक्त हुए। राज-पाट छोड़ आर्हती दीक्षा ली। कठोर-संयम-साधना की। कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर वे परम सार्थकता पा गये।

(अध्ययन-18/46)

प्रत्येकबुद्ध नग्गति

सिंहरथ महाराजा दृढ़ सिंह के पुत्र थे। उनका विवाह वैताढ्य तोरणपुर के राजा दृढ़शक्ति व रानी गुणमाला की पुत्री कनकमाला से हुआ। पूर्व-भवों में भी वे पति-पत्नी थे। कनकमाला विवाहोपरान्त भी वैताढ्य पर्वत से राग के कारण वहीं रहीं। राजा सिंहरथ द्वारा नित्य वहां जाने के कारण उनका नाम नग्गति पड़ा। वैताढ्य पर्वत पर सुन्दर नगर बसा वे सुखपूर्वक वहीं रहने लगे। एक दिन वन-विहार करते हुए उन्होंने सुन्दर आम्र-वृक्ष का एक पत्ता तोड़ा। उनके साथ चल रहे सभी लोगों ने यही किया। वापसी में उन्होंने उस मनोरम वृक्ष को ठूंठ रूप में पाया। कारण जाना। जगत् की नश्वरता अनुभव की। समस्त बन्धन तोड़ दीक्षा ली। जप-तप-संयम-साधना की। केवली हुए। अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। *(अध्ययन-18/46)*

उदायन राजा

सिन्धु सौवीर देश की राजधानी वीतभय नगर के धार्मिक व न्यायप्रिय सम्राट उदायन की पटरानी प्रभावती थीं। वे गणाध्यक्ष महाराज चेटक की पुत्री थीं। उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत द्वारा अपनी दासी सुवर्णगुलिका का अपहरण करने पर उदायन राजा ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर चण्डप्रद्योत को बन्दी बना उसके माथे पर 'दासीपति' अंकित करवा दिया। महापर्व संवत्सरी के दिन उन्होंने सभी जीवों के साथ चण्डप्रद्योत से भी क्षमा मांगी। उसने उस क्षमा को नाटक कहा। राजा उदायन ने उसे मुक्त कर उसका राज्य लौटा दिया। क्षमावीर उदायन ने भगवान् महावीर के दर्शन कर कृतकृत्य होने की भावना की। भगवान् इसे जान वीतभयनगर पधारे। उनके दर्शन-प्रवचन से विरक्त हो

राजा ने दीक्षा ली। पुत्र को सत्ता-विष से बचाने के लिए भानजे केशी को राज्य दिया। केशी ने अन्याय व क्रूरता-पूर्ण शासन दिया। कालान्तर में मुनि उदायन वीतभयनगर पधारे तो उसके क्रूर आदेश से राजर्षि को कहीं ठहरने को स्थान न मिला। एक कुंभकार ने राजाज्ञा-उल्लंघन कर स्थान दिया। केशी ने क्षमा का नाटक रच उन्हें राजोद्यान में आमंत्रित किया और विषमिश्रित भोजन बहराया। भयंकर उदरशूल होने पर महामुनि सब समझकर समभाव-लीन रहे। कर्म शृंखलायें टूटीं। केवल-ज्ञान केवल-दर्शन प्रकट हुआ। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर उन्होंने परम सार्थकता प्राप्त की। *(अध्ययन-18/48)*

काशीराज नन्दन

अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरनाथ के शासन-काल में वाराणसी नरेश अग्निशिख को रानी जयन्ती से नन्दन तथा रानी शेषवती से दत्त नामक पुत्रों की प्राप्ति हुई। नन्दन को बलदेव तथा दत्त को वासुदेव पद प्राप्त हुआ। वासुदेव दत्त के संसार से विदा होने पर इस काल के सातवें बलदेव नन्दन विरक्त हो श्रमण बने। साधना से कर्म-क्षय कर केवली हुए। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। *(अध्ययन-18/49)*

विजय राजा

भगवान् वासुपूज्य के शासन-काल में सौराष्ट्र देश की द्वारिका नगरी के राजा ब्रह्मराज को रानी सुभद्रा से विजय तथा रानी उमा से द्विपृष्ठ नामक पुत्रों की प्राप्ति हुई। तारक नामक प्रतिवासुदेव को परास्त कर द्विपृष्ट ने वासुदेव तथा विजय ने बलदेव पद पाया। द्विपृष्ट से अतिशय स्नेह के कारण उन की मृत्यु के बाद इस काल के दूसरे बलदेव विजय का मन संसार में न लगा। सत्य समझ कर वे दीक्षित हुए। लम्बे समय तक शुद्ध संयम साधना से उन्होंने कैवल्य पाया। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बने। *(अध्ययन-18/50)*

राजर्षि महाबल

भगवान् विमलनाथ के शासन-काल में हस्तिनापुर नरेश बल व महारानी प्रभावती को सुन्दर व बुद्धिमान पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम

महाबल रखा गया। कला-निपुण हो आठ सुन्दर व शीलवती बालाओं से विवाह कर महाबल दीर्घकाल तक देवदुर्लभ सुख भोगते रहे। आचार्य धर्मघोष द्वारा प्रवाहित ज्ञान-गंगा में निमज्जित हो महाबल विरक्त हुए। सभी सुख छोड़ दीक्षा ली। शुद्ध संयम साधना करते हुए संल्लेखना-समाधि सहित देह विसर्जित कर पांचवें देवलोक गये। वहां दस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर भगवान् महावीर के शासन-काल में वाणिज्य ग्राम के श्रेष्ठी के यहां सुदर्शन नामक पुत्र-रूप में जन्मे। अनेक वर्षों तक श्रावक-धर्म का तथा तदुपरान्त बारह वर्षों तक श्रमण-धर्म का पालन कर कर्म-क्षय किये। कैवल्य-सूर्य उनकी आत्म-धरा पर चमका। सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर उन्होंने परम सार्थकता को प्राप्त किया। *(अध्ययन-18/51)*

मृगापुत्र

सुग्रीव नगरी के राजा बलभद्र व रानी मृगा के पुत्र का नाम बलश्री था। वह मृगापुत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनेक राजकन्याओं से पाणिग्रहण कर सुख भोगते मृगापुत्र ने महल के झरोखे से उत्सव का सौंदर्य निहारते हुए एक श्रमण को देखा। विचार किया। उन्हें जातिस्मरण ज्ञान व सम्यक् बोध प्राप्त हुआ। श्रमण-जीवन के लिये माता-पिता से अनुमति मांगी। तब उन की माता-पिता से अनेक चर्चाएं हुईं। मृगापुत्र ने उनकी सभी आशंकायें निर्मूल सिद्ध कीं। आज्ञा पाई। दीक्षा ली। साधना की। सभी बंधन तोड़ वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। सचमुच! सम्यक् ज्ञान व दर्शन के बल से सभी बाधायें भी निज-पर-कल्याण में सहयोग देने लगती हैं। *(अध्ययन-19)*

अनाथी मुनि

मगध-नरेश श्रेणिक मण्डितकुक्षि उद्यान में विहार हेतु गये। वहां उन्होंने एक युवा मुनि को देखा। राजा ने मुनि को कठोर संयम-साधना के स्थान पर यौवन-सुखों का उपभोग करने के लिये कहा। मुनि द्वारा स्वयं को अनाथ कहने पर राजा ने स्वयं उनके नाथ बनने का प्रस्ताव रखा। मुनि बोले-"जो स्वयं अनाथ हो, वह किसी का नाथ नहीं हो सकता।" इसका स्पष्टीकरण देते हुए बताया कि मैं कौशाम्बी के

कोटीश्वर सेठ धनसंचय के पुत्र-रूप में अपार सुख भोग रहा था। मेरे नेत्रों में भयंकर पीड़ा हुई, जिसका उपचार देश-विदेश के वैद्य न कर सके। वह अनाथ अवस्था थी। श्रमण-दीक्षा संकल्प से पीड़ा शांत हुई। मेरा धर्म 'नाथ' बना। इस से श्रेणिक के अंतः चक्षु खुले। जैन धर्म में आस्था जागी। कालान्तर में उन्होंने तीर्थंकर नाम-गोत्र उपार्जित किया। सचमुच! सांसारिकता की अनाथता सहते व्यक्ति के लिये धर्म ही शरण है। *(अध्ययन-20)*

समुद्रपाल

चम्पा नगरी के सम्पन्न श्रावक थे–पालित। एक बार वे व्यापार हेतु समुद्रपार देश में गये। वहां पिहुण्ड नगर वासी व्यापारी ने अपनी पुत्री का उन सें विवाह कर दिया। व्यापार सम्पन्न कर वे लौट रहे थे। सागर-यात्रा-रत जहाज में उनकी पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। युवा होने पर समुद्रपाल ने देवतुल्य सुख भोगते हुए महल के गवाक्ष से एक मृत्युदण्ड-प्राप्त अपराधी को वध-स्थल की ओर ले जाये जाते देखा। कर्म और उनके फल के विषय में चिन्तन करते हुए वैराग्य का अमृत-स्पर्श पाया। दीक्षा ली। साधना की। सभी कर्मों का क्षय कर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। सचमुच! भव्य आत्माओं के सम्यक् राह पर बढ़ने के लिये एक दृश्य भी पर्याप्त होता है। *(अध्ययन-21)*

राजीमती–रथनेमि

शौर्यपुर-नरेश समुद्रविजय व रानी शिवादेवी के पुत्र थे–अरिष्टनेमि। इन की माता ने चौदह दिव्य स्वप्न देखे थे जो इनके तीर्थंकर होने की सूचना थे। अरिष्टनेमि के युवा होने पर उनके मौन को स्वीकृति मान उनका विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती से निश्चित कर दिया गया। वधू-पक्ष ने बाराती-सत्कार व भोजन हेतु बाड़ों-पिंजरों में पशु-पक्षी बन्द कर रखे थे। पशु-पक्षियों की भयातुर चीख-पुकार को अरिष्टनेमि ने सुना। उन्होंने सब पशु-पक्षियों को मुक्त करवा दिया। भय और हिंसा का मूल नष्ट करने अरिष्टनेमि निकल पड़े। वे दीक्षित हो

गये। राजीमती ने उन्हीं का अनुसरण किया। उसने भी दीक्षा ली। रैवतक पर्वत पर विराजित भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनों के लिये अपनी सखियों के साथ वे जंगल से जा रही थीं। तभी तेज़ आंधी-तूफान आया। राजीमती एक गुफा में चली गईं। वहां पर प्रभु के सांसारिक-भ्राता मुनि रथनेमि ध्यानस्थ थे। आकाशीय बिजली के प्रकाश में रथनेमि ने राजीमती को देखा। उन का मन डावांडोल हो उठा। राजीमती ने उन्हें कहा, "अगंधन कुल का सर्प आग में जल जाता है किन्तु वमित विष को पुनः नहीं पीता। वमन को खाने की चाह श्वान-वृत्ति है और संयम पथ पर अविचलित रहना सिंह-वृत्ति।" बोध पाकर रथनेमि के मन-प्रान्तर से वासना के विचार लुप्त हुए। वे पुनः संयम में स्थिर हुए। साधना-लीन होकर दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। सचमुच! सन्मार्ग पर आस्था की दृढ़ता से व्यक्ति स्वयं भी परम लक्ष्य तक पहुंचता है और दूसरों को भी पहुंचाता है। *(अध्ययन-22)*

केशी–गौतम

भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा के श्रमण थे–केशीकुमार। एक बार वे श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक वन उद्यान में तथा भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी श्रावस्ती नगरी के ही कोष्ठक उद्यान में पधारे। दोनों के वेश व सिद्धान्तों में तनिक अन्तर देख जन-मानस सशंकित हुआ। शंका-समाधान हेतु तिन्दुक वन में दोनों महामुनियों के मध्य ऐतिहासिक वार्ता हुई। गौतम स्वामी ने सभी प्रश्नों का समाधान करते हुए बतलाया कि प्रभु पार्श्वनाथ के समय में ऋजु या सरल जन-मानस था, जो अपरिग्रह में ही नारी-भोग-त्याग को सम्मिलित मानता था परन्तु भगवान् महावीर के युग में वक्र जनमानस को समझाने के लिये भगवान् ने ब्रह्मचर्य महाव्रत की पृथक् स्थापना की है। बाह्य वेशभूषा से या नग्नता से कोई मोक्ष प्राप्त नहीं करता। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है। इस वार्ता से केशीकुमार श्रमण ने शिष्यों सहित भगवान् महावीर का धर्म-संघ अपना लिया। समभाव के सुमन चारों ओर खिल उठे। जनमानस की शंकायें निर्मूल हुईं। सचमुच! महापुरुषों की वार्ता से धर्म की बड़ी व्यापक प्रभावना हुआ करती है। *(अध्ययन-23)*

जयघोष–विजयघोष

वाराणसी-वासी काश्यपगोत्रीय वैदिक संस्कृति के अनुयायी जयघोष ने एक सुबह गंगा-तट पर देखा–कीड़े-मकोड़ों को मेंढ़क, मेंढ़क को सर्प और सर्प को कुरर पक्षी ने खाने के लिये दबोच रखा है। सोचा–काल सबके पीछे है। कब किसको दबोच ले, कुछ पता नहीं। सोचते हुए वे सत्य की खोज में निकले और अहिंसा-मार्ग को अपनाया। मुनि दीक्षा ली। मासखमण तप करने लगे। पारणे हेतु अपने संसार-पक्षीय अनुज विजयघोष की यज्ञ-शाला में पहुंचे। कृश होने से पहचाने न गये। ब्राह्मणों ने उनका तिरस्कार किया। यज्ञ-कर्त्ताओं के उद्धार हेतु मुनि ने धर्म चर्चा की। बतलाया कि वास्तविक यज्ञ क्या है और सच्चा ब्राह्मण कौन होता है। ज्ञान-लाभ पाकर यज्ञ-कर्त्ताओं ने समझा कि ब्राह्मण जन्म से नहीं, कर्म से होता है। हिंसा से यज्ञ नहीं, तप से यज्ञ होता है। सम्बोधि पाकर विजयघोष ने श्रमण-दीक्षा ली। जयघोष-विजयघोष, दोनों ने घोर तप किया। दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। सचमुच! खुले मन से सत्य-ज्ञान पर ध्यान दिया जाये तो आत्म-कल्याण में देर नहीं होती।

(अध्ययन-25)

गर्गाचार्य

स्थविर गर्गाचार्य रत्नत्रय-धारक मुनिराज थे। ज्ञान के वे सागर थे। उनके पांच सौ शिष्य थे। उन में से एक भी सुविनीत न था। उनमें से किसी ने भी गुरु-सेवा न की। गुरु-आज्ञा व गुरु-प्रेरणा का उनके लिये कोई अर्थ न था। वे स्वाध्याय, ध्यान आदि से विहीन हो गये थे। गर्गाचार्य ने चिन्तन कर शिष्यों को उसी प्रकार छोड़ दिया जैसे घर-संसार छोड़ा था। शिष्यों को छोड़ वे एकाकी शुद्ध संयम-साधना करने लगे। अन्ततः उन्हें कैवल्य व मोक्ष प्राप्त हुआ। सचमुच! मोह-तिमिर से निकल कर ही परम प्रकाश पाया जाता है।

(अध्ययन-27)

❑❑

उत्तराध्ययन सूत्र : सूक्ति कोष

अज्ञान :

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगोणाऽऽलस्सएणय।। ११/३

अहंकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति), रोग और आलस्य-इन पांच कारणों से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नहीं कर सकता।

,,

आसुरीयं दिसं बाला गच्छंति अवसा तमं। -७/७०

अज्ञानी जीव-विवश हुए अंधकाराच्छन्न आसुरीगति को प्राप्त होते हैं।

अदीनता :

अदीणमणसो चरे। -२/३

अदीनभाव से जीवनयापन करना चाहिए।

अनासक्ति :

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं।। २५/२७

ब्राह्मण वही है जो संसार में रह कर भी काम-भोगों से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल, जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता।

,,

विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए। -२५/४३

मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कहीं भी चिपकता नहीं है, अर्थात् आसक्त नहीं होता।

अपरिग्रह :

धणेण किं धम्मधुराहिगारे। -१४/१७

धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है?

,,

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था। -४/५

प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकता, न इस लोक में, न परलोक में।

अभय :

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया। -५/२६

ज्ञानी और सदाचारी आत्माएं मरणकाल में भी त्रस्त (भयाक्रांत) नहीं होतीं।

अभय : सीहो व सद्देण न सन्तसेज्जा। -२१/१४

(साधक) सिंह के समान निर्भीक रहे।

अविनीत : हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो। -१/२८

प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाएं बुरी लगती हैं।

अस्तेय : दन्तसोहण-माइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं। -१६/२८

दांत शोधन के लिये तिनका भी (साधक) बिना पूछे न ले।

अहिंसा : न य वित्तासए परं। -२/२०

किसी भी प्राणी को त्रास नहीं पहुंचाना चाहिए।

आत्मा : अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ।। -२०/३७

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

,, अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं।। -२०/३६

आत्मा स्वयं ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान (दुःखप्रद) है और आत्मा ही कामधेनु और नन्दन वन के समान (सुखदायी) भी है।

,, अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे,
धम्मस्स आराहए भवइ। -२९/४८

दम्भरहित, अविसंवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है।

,, एगप्पा अजिए सत्तू। -२३/३८

अपना ही अविजित असंयत आत्मा अपना शत्रु है।

,, नत्थि जीवस्स नासोत्ति। -२/२७

आत्मा का कभी नाश नहीं होता।

,, नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो। -१४/१९

आत्मा आदि अमूर्त तत्त्व इंद्रियग्राह्य नहीं होते और जो अमूर्त होते हैं वे अविनाशी-नित्य भी होते हैं।

आत्मा : **सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।** -३/१२
सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।

इच्छा-जय : **छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं।** -४/८
कामनाओं के निरोध से मुक्ति प्राप्त होती है।

ऋजुता : **मायाविजएणं अज्जवं जणयई।** -२९/६९
माया को जीत लेने से ऋजुता (सरल भाव) प्राप्त होती है।

कर्त्तव्य : **किरिअं च रोयए धीरो।** -१८/३३
धीर पुरुष सदा कर्त्तव्य में रुचि रखते हैं।

कर्म : **कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।** -२९/६९
कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

,, **कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।** -१३/२३
कर्म कर्त्ता का अनुसरण करते हैं–उसका पीछा नहीं छोड़ते।

,, **कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।**
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।। -२५/३३
कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

,, **विहुणाहि रयं पुरे कडं।** -१०/३
पूर्वसंचित कर्म-रूपी रज को झटक दो।

,, **सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।** -४/३
पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है।

कषाय : **कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं।** -२३/५३
कषाय को अग्नि कहा गया है। उसको बुझाने के लिए ज्ञान, शील, सदाचार और तप जल है।

काम-भोग : **कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं।** -९/५३
काम भोग की लालसा में प्राणी, एक दिन उन्हें बिना भोगे ही दुर्गति में चला जाता है।

काम-भोग : **खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा।** -१४/१३
संसार के विषय-भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक दुःखदायी होते हैं।

,, **सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,**
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं। -३२/१६
देवताओं सहित समग्र संसार में जो भी दुःख हैं, वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं।

क्रोध : **अप्पाणं पि न कोवए।** -१/४०
अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो।

,, **अहे वयइ कोहेणं।** -९/५४
क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है।

,, **न हु मुणी कोवपरा हवन्ति।** -१२/३१
ऋषि-मुनि कभी किसी पर क्रोध नहीं करते।

,, **कोहविजएणं खंतिं जणयई।** -२१/६७
क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है।

क्षमा : **खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ।** -२९/१७
क्षमापना से आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

चारित्र : **सरिसो होइ बालाणं।** -२/२४
बुरे के साथ बुरा होना, अज्ञानता है।

जागृति : **सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी।** -४/७
प्रबुद्ध साधक सोये हुए (प्रमत्त मनुष्यों) के बीच भी सदा जागृत अप्रमत्त रहते हैं।

तप : **असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो।** -१९/३८
तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

,, **:** **भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।** -३/६
करोड़ों भवों में संचित कर्म तप के द्वारा क्षीण हो जाते हैं।

तपस्वी : कुसचीरेण न तावसो। -२५/३१
वल्कल वस्त्र धारण करने से कोई तापस नहीं होता।

,, तवेणं होइ तावसो।। -२५/३२
तपस्या से (साधक) तापस होता है।

तृष्णा : जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति।। -३२/६
जिस प्रकार बलाका (बगुली) अंडे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से, इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से।

,, भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया। -२३/४८
संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल है।

दोष-दर्शन : न सिया तोत्तगवेसए। -१/४०
दूसरों के छल-छिद्र नहीं देखने चाहियें।

द्वेष : वेराणुबद्धा नरयं उवेंति। -४/२
जो वैर की परम्परा को लम्बी किये रहते हैं, वे नरक प्राप्त करते हैं।

नश्वरता : अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि? -१८/११
जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है। फिर क्यों हिंसा में आसक्त होता है?

,, घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते। -४/६
काल भयंकर है और शरीर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। अतः भारंड पक्षी की तरह सदा सावधान होकर विचरण करना चाहिए।

नश्वरता : जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं। -१८/१३
जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चंचल हैं।

नश्वरता : **वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!** -१३/२६
राजन्! जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है।

पांडित्य : **न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।** -६/११
विविध भाषाओं का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकता। फिर विद्याओं का अनुशासन–अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा?

" **वेया अहीया न हवन्ति ताणं।** -१४/१२
अध्ययन कर लेने मात्र से वेद (शास्त्र) रक्षा नहीं कर सकते।

पाप श्रमण : **असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई।** -१७/११
जो श्रमण असंविभागी है (प्राप्त सामग्री को साथियों में बांटता नहीं है, और परस्पर प्रेमभाव नहीं रखता है), वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।

" **भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई,**
पावसमणे त्ति वुच्चई। -१७/३
जो श्रमण खा-पीकर खूब सोता है, समय पर धर्माराधना नहीं करता, वह पाप श्रमण कहलाता है।

प्रज्ञा : **पन्ना समिक्खए धम्मं।** -२३/२५
साधक स्वयं की प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करे।

प्रमाद : **असंखयं जीवियं मा पमायए।** -४/१
जीवन का धागा टूटने पर पुनः जुड़ नहीं सकता–वह असंस्कृत है, इसलिए प्रमाद मत करो।

बन्धन : **अज्झत्थ हेउं नियस्स बंधो।** -१४/१९
अंदर के विकार ही वस्तुतः बंधन के हेतु हैं।

ब्राह्मण : **न ओंकारेण बंभणो।** -२५/३१
ओंकार का जाप करने से ही कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता।

ब्राह्मण : **बंभचेरेण बंभणो।** -२५/३२
ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण (पद प्राप्त) होता है।

भवसागर : **सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।**
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।। -२३/७३
यह शरीर नौका है, जीव-आत्मा उसका नाविक है और संसार समुद्र है। महर्षि इस देह रूप नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते हैं।

मनुष्य : **अणेगछन्दा इह माणवेहिं।** -२१/१६
इस संसार में मनुष्यों के विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

मनुष्य-जन्म : **दुल्लहे खलु माणुसे भवे।** -१०/४
मनुष्य जन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।

मर्यादा : **माइन्ने असणपाणस्स।** -२/३
खाने-पीने की मात्रा-मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए।

मान : **माणेणं अहमा गई।** -६/५४
मान से अधम गति प्राप्त होती है।

माया : **माया गइपडिग्घाओ।** -६/५४
माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

मुनि : **न मुणी रण्णवासेणं।** -२५/३१
जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता।

,, : **नाणेण य मुणी होई।** -२५/३२
ज्ञान से मुनि पद प्राप्त होता है।

भोजन : **न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी।** -३५/१७
साधु स्वाद के लिए नहीं, किन्तु जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए भोजन करे।

मोक्ष : **अउलं सुहसंपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ।** -३६/६६
मोक्ष में आत्मा अनन्त सुखमय रहता है। उस सुख की कोई उपमा नहीं है और न कोई गणना ही है।

मोह : **दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।** -३२/८
जिसे मोह नहीं होता उसका दुःख नष्ट हो जाता है।

,, **ममत्तं छिन्दए ताहे, महानागोव्व कंचुयं।** -१६/८७
आत्मसाधक ममत्व के बंधन को तोड़ फैंके, जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई कैंचुली को उतार फैंकता है।

राग-द्वेष : **रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।** -३२/७
राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज हैं।

लोभ : **जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।**
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं।। -८/१७
ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है। इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है। दो मात्रा सोने की अभिलाषा करने वाला करोड़ों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता।

,, **लोभाओ दुहओ भयं।** -६/५४
लोभ से इस लोक और परलोक-दोनों में ही भय-कष्ट होता है।

,, **लोभाविले आययई अदत्तं।** -३२/२६
जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है तो चोरी करने में प्रवृत्त होता है।

वचन गुप्ति: **खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए।** -१/६
क्षुद्र लोगों के साथ संपर्क, हंसी मजाक, क्रीड़ा आदि नहीं करनी चाहिए।

,, **नापुट्ठो, वागरे किंचि,**
पुट्ठो वा नालियं वए। -१/१४
बिना बुलाये बीच में कुछ नहीं बोलना चाहिए, बुलाने पर भी असत्य जैसा कुछ न कहे।

,, **बहुयं मा य आलवे।** -१/१०
बहुत नहीं बोलना चाहिए।

वचन गुप्ति : वयगुत्तयाए णं णिव्विकारत्तं जणयई। -२१/५४

वचन गुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है।

विनय : अणुसासिओ न कुप्पिज्जा। -१/६

गुरुजनों के अनुशासन से कुपित–क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

,, नच्चा नमइ मेहावी। -१/४५

बुद्धिमान ज्ञान प्राप्त करके नम्र हो जाता है।

,, माणविजएणं अज्जवं जणयई। -२१/६८

अभिमान को जीत लेने से ऋजुता (सरल भाव) प्राप्त होती है।

,, विणए ठविज्ज अप्पाणं,
इच्छंतो हियमप्पणो। -१/६

अपना हित चाहने वाला साधक स्वयं को विनय में स्थिर करे।

विवेक : अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए। -१/८

अर्थयुक्त (सारभूत) बातें ही ग्रहण करें, निरर्थक बातें छोड़ दें।

,, विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छिउं। -२३/३१

विज्ञान (विवेक ज्ञान) से ही धर्म के साधनों का निर्णय होता है।

वैयावृत्य : वेयावच्चेणं तित्थयर-
नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ। -२९/४३

वैयावृत्य से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है।

शंका : संकाभीओ न गच्छेज्जा। -२/२१

जीवन में शंकाओं से ग्रस्त–भीत होकर मत चलो।

शिक्षा : पियंकरे पियंवाई,
से सिक्खं लद्धुमरिहई। -११/१४

प्रिय (अच्छा) कार्य करने वाला और प्रिय वचन बोलने वाला अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त करने में अवश्य सफल होता है।

श्रद्धा : सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं। -१४/२८

धर्म-श्रद्धा हमें राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है।

श्रमण : **न वि मुंडिएण समणो।** -२५/३१
सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता।

,, **समयाए समणो होई।** -२५/३२
समता से श्रमण होता है।

संयम : **असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं।** -३१/२
असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

,, **इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं।** -१९/४५
जो व्यक्ति संसार की पिपासा-तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।

सत्कर्म : **कंखे गुणे जाव सरीरभेओ।** -४/१३
जब तक जीवन है सद्गुणों की आराधना करनी चाहिए।

,, **सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।** -१३/१०
मनुष्य के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते हैं।

सत्य : **अप्पणा सच्चमेसेज्जा** -६/२
अपनी आत्मा के द्वारा, स्वयं की प्रज्ञा से सत्य का अनुसंधान करो।

,, **आहच्च चंडालियं कट्टु,**
न निण्हविज्ज कयाइवि। -१/११
यदि साधक कभी कोई चाण्डालिक-दुष्कर्म कर ले, तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे।

,, **कडं कडे त्ति भासेज्जा,**
अकडं नो कडे त्ति य। -१/११
बिना किसी छिपाव या दुराव के किये हुए कर्म को किया हुआ कहिये, तथा नहीं किये हुए कर्म को न किया हुआ कहिये।

,, **कम्मसच्चा हु पाणिणो।** -७/२०
प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं।

,, भासियव्वं हियं सच्चं। -१६/२७
सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिये।

संतोष : लोभविजएणं संतोसं जणयई। -२६/७०
लोभ को जीत लेने से संतोष की प्राप्ति होती है।

,, सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं। -३२/४२
शब्द आदि विषयों में अतृप्त और परिग्रह में आसक्त रहने वाला आत्मा कभी संतोष को प्राप्त नहीं होता।

समभाव : पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा। -२६/७०
प्रिय हो या अप्रिय, सब को समभाव से सहन करना चाहिए।

,, मेत्तिं भूएसु कप्पए। -६/२
समस्त प्राणियों पर मित्रता का भाव रखना चाहिए।

,, समो य जो तेसु स वीयरागो। -३२/६१
जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में सम रहता है, वह वीतराग है।

समय : काले कालं समायरे। -१/३१
समयोचित कर्त्तव्य समय पर ही करना चाहिए।

,, जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ।। -१४/२५
जो रात्रियां बीत जाती हैं, वे पुनः लौट कर नहीं आतीं। किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रियां सफल हो जाती हैं।

सम्यक्त्व : नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं। -२८/२६
सम्यग्दर्शन के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता।

सुव्रती : गिहिवासे वि सुव्वए। -५/२४
धर्मशिक्षा संपन्न गृहस्थ गृहवास में भी सुव्रती है।

सुव्रती : **भिक्खाए वा गिहत्थे वा,**
सुव्वए कम्मई दिवं।। -५/२२
भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती है वह देवगति प्राप्त करता है।

स्वयं-जेता : **जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।**
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।। -९/३४
भयंकर युद्ध में लाखों दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीत लेना ही बड़ी विजय है।

,, **सव्वं अप्पे जिए जियं।** -९/३६
एक अपने (विकारों) को जीत लेने पर सभी को जीत लिया जाता है।

स्वाध्याय : **सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।** -२९/१८
स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादित करने वाले) कर्म का क्षय होता है।

,, **सज्झाएवा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे।** -२९/१०
स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है।

,, **सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं।** -२९/३७
स्वाध्याय सब भावों (विषयों) का प्रकाश करने वाला है।

❑❑

उत्तराध्ययन सूत्र : जिज्ञासा-समाधान

जिज्ञासा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। यह मनुष्य के ज्ञान का आधार भी है। ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया जिज्ञासा से ही आरम्भ होती है। यूं तो इसका सम्बन्ध त्रिकाल से है परन्तु विशेष रूप से भविष्य को जानने के लिये मनुष्य सदैव उत्सुक रहता है। वह जानना चाहता है कि कल क्या होगा? उसका सोचा हुआ कार्य सिद्ध होगा या नहीं? आगामी समय उसके लिये कैसा है? भविष्य के गर्भ में क्या है? उसकी अमुक समस्या या प्रश्न का क्या समाधान होगा?

ये तथा इसी प्रकार की अन्य जिज्ञासाओं के समाधान पाने के लिये मनुष्य विविध प्रयास करता है। भविष्यवक्ताओं के पास जाता है। पुस्तकें पढ़ता है। चर्चायें करता है। वार्तायें सुनता है। इस प्रयास में वह भटकता भी है। ठगा भी जाता है। उसका समय और धन भी व्यर्थ होता है परन्तु इतना सब होने पर भी वह प्रयास नहीं छोड़ता। कारण यह है कि जिज्ञासा उक्त सभी दुर्घटनाओं से कहीं अधिक प्रबल होती है।

भवितव्यता विचित्र होती है। वह अपने अनुसार ही घटित होती है। मनुष्य की इच्छा से उसका नियंत्रण/संचालन नहीं होता। यदि वह सुखद हो तो मनुष्य उसके प्रति आकर्षित होता है। प्रसन्नतापूर्वक उस से समायोजित हो जाता है परन्तु यदि वह दु:खद हो तो मनुष्य उस से प्राय: विचलित हो जाता है। वेदना भोगता है। उस से समायोजित नहीं हो पाता। अपनी मन: स्थिति को सम्भाल नहीं पाता। इस से उसकी वेदना और बढ़ जाती है। यदि वह भविष्य को जान ले या भवितव्यता (कर्म-विधान) को समझ ले तो अपनी मन: स्थिति को सुलझा सकता है। सम्भाल सकता है। मन के सुलझ जाने पर घटना, चाहे अनुकूल घटे या प्रतिकूल, उसके लिये उतनी कष्टकारी नहीं रह जाती। भवितव्यता से समायोजित होने के लिये व्यक्ति

स्वयं को तैयार कर सकता है। इस प्रकार अपनी वेदना को कम कर सकता है। भविष्य-दर्शन का यह एक मुख्य प्रयोजन है।

तीर्थंकर त्रिकालदर्शी होते हैं। सृष्टि का एक भी रहस्य, एक भी अणु उनके अनन्त ज्ञान से बाहर नहीं होता। तीर्थंकर-वाणी वस्तुत: त्रिकाल का दर्पण हुआ करती है। जो त्रिकाल का दर्पण हो, उसमें सभी के सभी प्रश्नों व समाधानों का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। इन प्रतिबिम्बों को जानना और समझना सम्भव है। हम भी अपने उपयोग को एकाग्र कर अपनी समस्या या प्रश्न का समाधान पा सकते हैं। भविष्य को जान सकते हैं।

'उत्तराध्ययन सूत्र' भगवान् महावीर की अंतिम वाणी है। त्रिकाल का निर्मल दर्पण है। इस में भविष्य को देखा जा सकता है। यह कैसे सम्भव है? इसकी विधि क्या है? पूज्य गुरुदेव योगिराज के मुखारविन्द से मुझे यह भी सुनने का सुअवसर मिला। वह यहां प्रस्तुत है–

सर्वप्रथम अपने मन में जो शंका/समस्या या प्रश्न हो उसे गम्भीरता से स्थिर कर लें। इसके बाद आसन बिछा कर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख कर बैठना चाहिए। तत्पश्चात् शासनपति भगवान् महावीर को वन्दन कर, ध्यान में पांच बार नमोकार मन्त्र पढ़ें। फिर 'उत्तराध्ययन सूत्र' के छत्तीस अध्ययनों तक कोई एक संख्या सोच लें। सोची गयी संख्यानुसार अध्ययन निकाल कर यह देखना चाहिये कि उस अध्ययन में कितनी गाथायें हैं। उन गाथाओं की संख्या तक पुन: एक कोई भी संख्या सोचनी चाहिये। जो संख्या सोची है, अब वह गाथा निकाल कर उसका अर्थ पढ़ें। अर्थ गम्भीरता के साथ मनन करें। यह अर्थ ही आप के मन के प्रश्न का उत्तर होगा। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति ने कार्य सिद्धि के लिये विचार किया और उपरोक्त प्रक्रियानुसार उसने 15 वें अध्ययन की 14वीं गाथा सोची। इस गाथा का भाव है– "संसार में देव, मनुष्य, तिर्यन्च सम्बन्धी अनेक भीषण, रौद्र शब्द होते हैं। उन शब्दों को सुनकर जो भयभीत नहीं होता वह भिक्षु है।" इस गाथा के अनुसार व्यक्ति के प्रश्न का समाधान इस प्रकार होगा–उस व्यक्ति के कार्य में अनेक बाधायें हैं परन्तु उनसे भयभीत नहीं होना चाहिये! संकल्प की ओर आगे बढ़ना चाहिये।

उस प्रसंग में गुरुदेव ने यह भी कहा था, "उत्तराध्ययन सूत्र के द्वारा किसी भी प्रश्न का समाधान और उत्तर पाया जा सकता है। शर्त सिर्फ यह है कि पूछने वाला श्रद्धानिष्ठ हो। गम्भीर हो। शास्त्र के साथ कोई किसी भी स्थिति में खिलवाड़ न करे, अन्यथा उसका अनिष्ट हो सकता है।"

इस प्रकार गुरुदेव योगिराज ने मुझे 'उत्तराध्ययन सूत्र' के विषय में एक नया ज्ञान प्रदान किया। पूर्ण आस्था के साथ इसका उपयोग किया जाये तो यह निश्चित रूप से फलित होता है। कोई भी श्रद्धालु इसका उपयोग कर अपनी समस्या या प्रश्न या शंका का समाधान पा सकता है। व्यक्ति को यदि स्वयं अपने विषय में जानना हो तो विधि के साथ किसी अबोध बालक के द्वारा अथवा किसी धर्मनिष्ठ व्यक्ति के द्वारा शान्त, सहज व श्रद्धा भाव से अध्ययन व गाथा पूछ कर उसका अर्थ पूर्ण विवेक का उपयोग करते हुए समझना चाहिये। वह अर्थ ही समाधान का संकेत होगा। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि यदि उस गाथा में अनेक प्रकार के भाव हों तो उन में से अपने प्रश्न-सम्बन्धी भाव को ही ग्रहण करना चाहिये। भाव स्पष्ट न हो तो किसी स्वाध्याय-सम्पन्न व्यक्ति से पूछ लेना चाहिये। और अन्त में—यह सब कहने के पीछे भाव यह है, जिन-धर्मानुयायी को इतस्ततः मिथ्यात्व में फंस कर भटकना नहीं चाहिये। प्रभु वाणी पर ही अपनी श्रद्धा केन्द्रित रखनी चाहिये।

❑❑

उत्तराध्ययन सूत्र : मंत्र-गाथाएं

तीर्थंकर-वाणी के अनन्त अर्थ एवम् अनन्त भाव होते हैं। सृष्टि में यह विशेषता केवल तीर्थंकर-प्रभु की वाणी में ही उपलब्ध होती है। अन्य किसी भी वाणी में नहीं। प्रभु-वाणी के अनेक अर्थ एक साथ अनेक जीवों के संशयों का समाधान करने में सक्षम होते हैं। एक ही समय में प्रभु-वाणी को अनेक भव्य जीव अपनी-अपनी दृष्टि से श्रवण करते हैं। उसी समय उसी वाणी से सभी जीवों की शंकाओं का समाधान होता है। अत: तीर्थंकर-प्रभु की वाणी सभी सम्यक्त्वी जीवों के प्रश्नों का समाधान एक साथ करती है।

आगम प्रभु-वाणी के ही लिखित रूप हैं। अत: आगम-गाथाओं में भी वही विशिष्टता या अतिशय या सामर्थ्य उपलब्ध है, जो तीर्थंकर-प्रभु की उच्चारण-बेला में थी। यहां हम प्रभु-वाणी की उसी दिव्य सामर्थ्य की ओर संकेत कर रहे हैं, जिस का साक्षात्कार अनेक पुरातन एवम् पूज्य मुनिराजों द्वारा किया गया है।

'उत्तराध्ययन' की गाथाओं में भी उस दिव्य सामर्थ्य ने आकार ग्रहण किया है। अत: आगम की प्रत्येक गाथा अपने-आप में एक परम पावन मंत्र है। 'मंत्र' शब्द का अर्थ 'कार्य-सिद्धि का उपाय' भी है। श्रद्धा व एकाग्रतापूर्वक स्मरण या जप करने से कार्य-सिद्धि का उपाय सिद्ध होता है। उपाय सिद्ध हो जाने पर कार्य स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। कर्मों के उदय से मनुष्य के जीवन में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। समस्या ग्रस्त मनुष्य समाधान हेतु इतस्तत: भ्रमित होता है। भ्रमित होने से समस्याएं और अधिक उग्र हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उपयुक्त यही है कि मिथ्यात्व के शिकंजे में न फंस कर व्यक्ति तीर्थंकर-प्रभु की वाणी का अवलम्बन ले। आगम-गाथाओं का पावन स्मरण व जप करे। इस से उस के कर्मों का क्षय

होगा। कर्म-क्षय होते ही समस्या स्वत: विलीन हो जायेगी।

जीवन की विशेष परिस्थितियों में आगम की विशेष गाथाओं का स्मरण व जाप करने से विशेष प्रयोजन सिद्ध होते हैं। इस प्रक्रिया में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मनुष्य का (हमारा) मूल उद्देश्य कर्म-निर्जरा व मुक्ति प्राप्त करना है, संसार या सांसारिक पदार्थ प्राप्त करना नहीं। विशेष वांछनीय उद्देश्यों के लिये 'उत्तराध्ययन' की विशेष गाथाओं का एक चयन यहां प्रकाशित किया जा रहा है। किस उद्देश्य के लिये कौन-सी मंत्र गाथा का जप उपादेय होगा, यह निम्न तालिका से समझें :

क्रम संख्या	वांछनीय उद्देश्य	अध्ययन, गाथा संख्या व गाथा पंक्ति*
1.	वैमनस्य-निवारण	एक, 39,I
2.	क्रोध-शमन	एक, 40, I
3.	ज्ञान-लाभ	एक, 46; ग्यारह, 14
4.	वासना-शान्ति	दो, 16; आठ, 6; आठ, 18
5.	कलह-निवारण	दो, 24; छत्तीस, 63
6.	श्रद्धा-वृद्धि	दो, 45, 1; बीस, 59; पच्चीस, 2
7.	धर्म-वृद्धि	तीन, 12; बीस, I
8.	लोभ-मुक्ति	चार, 5; नौ, 48
9.	कष्ट-रहित-मृत्यु	पांच, 18
10.	पुण्य-वृद्धि	सात, 14; ग्यारह, 26; अट्ठारह, 34; बाईस, 5
11.	सद्गति-प्राप्ति	पांच, 22, II; सात, 29
12.	पाप-निवृत्ति	आठ, 9
13.	चारित्र-दृढ़ता	आठ, 19; दस, 30; इक्कीस, 13
14.	वैराग्य-वृद्धि	नौ, 4; नौ, 15; दस, 29
15.	स्वप्न-दर्शन	नौ, 6

* जहां I लिखा है, वहां गाथा की पहली, और जहां II लिखा है, वहां गाथा की दूसरी पंक्ति से अभिप्राय है। जहां कुछ नहीं लिखा, वहां सम्पूर्ण गाथा मंत्र-गाथा है।

16.	कषाय-शमन	नौ, 54; तेईस, 53
17.	समाधि-मरण	नौ, 58; तेईस, 68
18.	मार्ग-बाधा-निवारण	दस, 32; उन्नीस, 21; उन्नीस, 22
19.	समुद्र-यात्रा-क्षेम	दस, 34; इक्कीस, 5
20.	विहार-क्षेम	दस, 36
21.	यश-वृद्धि	ग्यारह, 17; ग्यारह, 25; बाईस, 11; तेईस, 5
22.	विवाद-जय	ग्यारह, 18
23.	पराक्रम-वृद्धि	ग्यारह, 20
24.	प्रभाव-वृद्धि	ग्यारह, 21; ग्यारह, 22; इक्कीस, 23
25.	भय-निवारण	ग्यारह, 23; पन्द्रह, 14
26.	तेज-वृद्धि	ग्यारह, 24
27.	देव-प्रसन्नता	ग्यारह, 27
28.	रोग-निवारण	ग्यारह, 29; अट्ठारह, 38; तेईस, 83
29.	देव-दर्शन	सोलह, 16
30.	आत्म-कल्याण	सोलह, 17: छत्तीस, 260
31.	चित्त निर्मलता	उन्नीस, 7
32.	समता-वृद्धि	उन्नीस, 93
33.	आनन्दानुभूति	बीस, 36, II; बीस, 59
34.	आततायी से सुरक्षा	बीस, 42
35.	परकृत्य-निवारण	बीस, 45; छत्तीस, 264
36.	दुष्टता-निवारण	बीस, 47, II; बीस, 50, II; छत्तीस, 266
37.	ईष्ट-सिद्धि	बीस, 55; छत्तीस, 56
38.	मोह-निवारण	इक्कीस, 11; बत्तीस, 8
39.	कष्ट-निवृत्ति	इक्कीस, 17
40.	मंगल-करण	बाईस, 12
41.	चित्त-स्थिरता	बाईस, 22; बाईस, 42-43-44; बाईस, 48; तेईस, 58

42.	मनोकामना-पूर्ति	तेईस, 1
43.	अक्षीण-ऋद्धि	तेईस, 6-7
44.	सभा-तोष	तेईस, 20; तेईस, 89
45.	राजभय-निवारण	तेईस, 36
46.	बंधन-मुक्ति	तेईस, 41
47.	राग-द्वेष-निवारण	तेईस, 43
48.	तृष्णा-शान्ति	तेईस, 48
49.	प्रवचन-प्रभावना	तेईस, 85
50.	मानसिक-तनाव-मुक्ति	बत्तीस, 2
51.	रस-तृष्णा-शान्ति	बत्तीस, 10
52.	औषधि प्रभावक हो	बत्तीस, 12, II
53.	देव-बाधा-शान्ति	छत्तीस, 207
54.	ग्रह-शान्ति	छत्तीस, 208
55.	आरोप-निवारण	छत्तीस, 265

जप-विधि :

आप जिस मंत्र-गाथा की साधना करना चाहते हैं, उसे तथा उसकी जप-विधि को गुरु-मुख से ग्रहण करें। यह मंत्र-गाथा-साधना की सर्वोत्तम विधि है। यदि किसी कारण से गुरु-सान्निध्य उपलब्ध न हो तो इस विधि से साधना करें :-

वांछनीय उद्देश्य की पूर्ति करने वाली गाथा उक्त तालिका से चुनें। उसे शुद्ध याद कर लें। किसी शुभ दिन व शुभ समय में साधना प्रारम्भ करें। जीव-रहित व स्वच्छ स्थान व आसन पर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह कर बैठें। सर्वप्रथम पांच बार नमोक्कार महामंत्र का जाप करें। तत्पश्चात् **'ॐ भगवते श्री महावीराय नमः'**, इस मंत्र का 27 या 108 बार जाप करें। फिर तीन बार गुरु-वन्दना करें। इसके बाद शास्त्र की, याद की हुई गाथा का 27 या 108 या गुरु-निर्देशानुसार संख्या में जाप करें। जप-साधना पूर्ण आस्था एवं एकाग्रता के साथ करें।

❑❑

'अस्वाध्याय काल' एक दृष्टि में

1.	किसी बड़े तारे का टूटना	एक प्रहर तक
2.	दिशा-दाह	जब तक रहे
3.	अकाल मेघ-गर्जना	दो प्रहर तक
4.	अकाल बिजली चमकना	एक प्रहर
5.	अकाल बिजली कड़कना	दो प्रहर
6.	शुक्ल पक्ष की एकम, दूज व तीज	एक प्रहर रात्रि
7.	आकाश में यक्ष का चिन्ह	जब तक रहे
8.	धूमिकाकृष्ण	जब तक रहे
9.	मिहिकाश्वेत	जब तक रहे
10.	धूलाच्छादित आकाश-मण्डल	जब तक रहे
11,12,13	स्वाध्याय-स्थल के 60 हाथ तक पंचेन्द्रिय तिर्यंच व 100 हाथ तक मनुष्य की हड्डी, मांस व रक्त	जब तक रहे
14.	अशुचि का दृश्य या अशुचि की दुर्गंध	जब तक रहे
15.	स्वाध्याय-स्थल के 100 हाथ तक श्मशान-भूमि हो	सदैव
16.	चन्द्र-ग्रहण	जघन्य-आठ, मध्यम: बारह, उत्कृष्ट: सोलह प्रहर
17.	सूर्य-ग्रहण	जघन्य-आठ, मध्यम: बारह, उत्कृष्ट: सोलह प्रहर
18.	राष्ट्राध्यक्ष की मृत्यु	नवीन राष्ट्राध्यक्ष बनने तक
19.	युद्धस्थल के निकट	युद्ध-समाप्ति तक
20.	स्वाध्याय-स्थल पर पंचेन्द्रिय का शव	जब तक रहे
21-25	आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, चैत्र की पूर्णिमा	एक दिन-रात
26-30	उक्त पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदाएं	एक दिन-रात
31-34	प्रात:, मध्यान्ह, संध्या व अर्धरात्रि	एक-एक मुहूर्त्त

लेखक की अन्य कृतियाँ

काव्य :

तीर्थंकर महावीर	: सुभद्र मुनि	400.00

चरित :

भगवान् पार्श्वनाथ	: सुभद्र मुनि	10.00
विश्ववंद्य महावीर	: सुभद्र मुनि	10.00
भगवान् महावीर (लघु)	: सुभद्र मुनि	5.00
महाप्राण मुनि मायाराम	: सुभद्र मुनि	200.00
तपोंकेसरी मुनि केसरीसिंह	: सुभद्र मुनि	10.00
अद्‌भुत तपस्वी	: सुभद्र मुनि	10.00
गुरुदेव योगिराज	: सुभद्र मुनि	20.00
श्रमण धर्म के मुकुट गुरुदेव (लघु)	: सुभद्र मुनि	5.00
प्रज्ञा पुरुषोत्तम मुनि रामकृष्ण	: सुभद्र मुनि	150.00

कथा कहानी :

गुरुदेव योगिराज की कहानियां	: सुभद्र मुनि	20.00
गुरुदेव योगिराज की बोध कथायें	: सुभद्र मुनि	10.00

बाल-साहित्य :

बच्चों की धार्मिक कहानियां	: सुभद्र मुनि	15.00
धर्म नाव के बाल-यात्री	: सुभद्र मुनि	15.00
जैन कथामृतम्	: सुभद्र मुनि	15.00
महावीर के उपासक	: सुभद्र मुनि	15.00
सुभद्र कहानियां	: सुभद्र मुनि	15.00
सुभद्र कथायें	: सुभद्र मुनि	15.00
सचित्र महावीर कथा	: सुभद्र मुनि	15.00
सुभद्र शिक्षा (5 भाग)	: सुभद्र मुनि	15.00 (प्रत्येक)
हरियाणवी जैन कथायें	: सुभद्र मुनि	25.00
क्षमा है धर्म हमारा	: सुभद्र मुनि	15.00
जैन पर्व कथायें	: सुभद्र मुनि	15.00
जैन पशु-पक्षी कथायें	: सुभद्र मुनि	15.00
जैन सचित्र कथायें	: सुभद्र मुनि	15.00
सचित्र भगवान् ऋषभदेव	: सुभद्र मुनि	15.00
मुक्ति के राही	: सुभद्र मुनि	15.00
जैन बाल-रामायण	: सुभद्र मुनि	20.00

प्रवचन :

जीवन है एक मन्दिर	: सुभद्र मुनि	25.00
पतित से पावन	: सुभद्र मुनि	25.00
उजालों की ओर	: सुभद्र मुनि	25.00
सूरज ढलने से पूर्व	: सुभद्र मुनि	25.00
दया पालो	: सुभद्र मुनि	25.00
सेवा-धर्म	: सुभद्र मुनि	25.00

सागर कहने को 'रत्नाकर' है परन्तु सब जानते हैं कि रत्न, उसकी गहराई में खोजने पर ही प्राप्त होते हैं। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में रत्न खोजने की आवश्यकता नहीं। इसकी तो प्रत्येक पंक्ति रत्न है। एक–एक शब्द अमूल्य है। एक–एक वाक्य परिपूर्णकारी ज्ञान का पर्याय है। एक–एक पद समग्र जीवन–दर्शन का द्वार है। आंखें खोलते ही स्वयमेव खुल जाने वाला द्वार है। कदम बढ़ाते ही प्रशस्त हो जाने वाला पथ है यह शास्त्र। साधना से साध्य तक, कर्म से फल तक तथा जीव से अजीव तक विस्तृत ज्ञान के गहनतम विपुल भण्डार का नाम है—'उत्तराध्ययन सूत्र'। आत्म–परिचय से आत्मोपलब्धि तक, सभी सिद्धि–दायक प्रक्रियाओं की सम्पूर्ण विवेचना है यह। इसका पठन–पाठन, चिन्तन–मनन व आचरण पारस के समान है। इसके सम्पर्क से असंख्य लौह, स्वर्ण बन गये, असंख्य अज्ञानी, ज्ञानी हो गये और असंख्य बंधन, मुक्ति हो चले।

—सुभद्र मुनि